

अथ

श्रीधनञ्जयविरचित

दशरूपकम्

घनिषट्ठमयाज्वलोकव्याख्यया समतम्

[ममीदारमकभूमिका भाषानुवाद व्याख्यात्मक टिप्पणी सहितम्]

दुर्गादेविवरिद्यामपरायापवन

१५० श्रीनिवासशास्त्रिणा

सम्पादितम्



साहित्य भण्डार

विश्वेश्वरिच्यदेवप्रकाशक

मुद्रणालय १९५०

प्रकाशक ।

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष

साहित्य मण्डार,

सुभाय बाजार मेरठ ।

दूरभाष ७७६५४ ।

लेखक द्वारा सम्पादित अन्य उपयोगी पुस्तकें

१ कादम्बरी (पूर्वाह्न)

२ काव्यप्रकाश

३ मिशुपालवध (प्रथम सर्ग)

४ एम ए सम्युक्त ध्याकरण

५ सस्युतरचनानुवादप्रभा

६ मृच्छकटिक

७ कुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्या

८ पायबिन्दुटीका

९ वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का

विवेचन

१० तकभाषा

प्रथम संस्करण १९६९ ई०

द्वितीय संस्करण, १९७३ ई०

तृतीय संस्करण, १९७६ ई०

चतुर्थ संस्करण १९७९ ई०

पञ्चम संस्करण, १९८३ ई०

षष्ठ संस्करण १९८६-८७ ई०

मूल्य : पञ्चीस रुपये मात्र [२५ ००]

मुद्रक

सर्वोदय प्रेस, मेरठ ।

दूरभाष ७४३५२

पूज्य माता-पिता

को

विनयी प्रणम एवं प्रयाग के
विशिष्ट छात्रों के अध्ययन का शोचान्व प्रोत्सा
हता

स्मरणीय गुरुजनों

को

विनये चरणों में बँटकर
आपों का आनन्द एवं विवेकम दिया
बहुत बड़ा ही है। २०२२ की
एह विनम्र भेंट

सादर समर्पित

शुद्धि-कथन

दशरूपक की यह हिन्दी व्याख्या पाठको की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ भूमिका में नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय देते हुए घनञ्जय एवं घनिक का समय निर्धारण, दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय, महत्त्व तथा रस सिद्धान्त आदि पर विचार किया गया है। विस्तार भय से कई अंश छोड़ दिये गये हैं। हिन्दी-व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है—प्रथमतः कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। अनुवाद में स्पष्टता के लिये कहीं-कहीं आवश्यक शब्द या किसी शब्द की व्युत्पत्ति तथा विग्रह आदि कोष्ठक में रख दिये गये हैं, कहीं किसी अंश का भावानुवाद भी कर दिया गया है। संस्कृत के जो शब्द हिन्दी में उसी रूप में प्रचलित हैं उनका ज्यों का त्यों प्रयोग किया गया है, किन्तु जो शब्द अपने रूप में प्रचलित नहीं हैं, उनका प्रचलित शब्दों द्वारा अनुवाद किया गया है। फलतः कहा अविफलता की दृष्टि से अथवा कहीं स्पष्टता की दृष्टि से कमी भी दिखाई दे सकती है।

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिये आवश्यकतानुसार व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। इनमें कठिन शब्द, समासों आदि के अर्थ तथा व्याख्या दिखलाई गई है, गहन विषय के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है, विवादास्पद विषयों के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को सरल शब्दों में प्रस्तुत किया गया है और यथासम्भव किसी लक्षण को उसके उदाहरणों में घटित करके दिखलाया गया है। अधिकांश प्रसङ्गों में यह दिखलाया गया है कि दशरूपक का कोई-विषय अथ प्रमुख नाट्य सम्बन्धी प्रश्न या प्रश्न नहीं मिलता है। इसके सन्दर्भ मात्र दे दिये गये हैं, जहाँ विशेष अन्तर है उसे स्पष्ट कर दिया गया है। संक्षेपतः अनुवाद तथा टिप्पणियों के द्वारा मूल ग्रंथ के अभिप्राय को स्पष्ट करने एवं इसकी विषय वस्तु का तुलनात्मक अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि दशरूपक के कई एक अनुवाद तथा व्याख्याओं के हाते हुए इस नवीन व्याख्या की क्या आवश्यकता है। इस विषय में यही नम्र निवेदन है कि सरस्वती की पूजा विविध जन अपने-अपने भाव से किया करते हैं, उनकी दृष्टि तथा शक्ती में भी भेद हुआ करता है। अतः यह सम्भावना है कि यह नवीन व्याख्या दशरूपक के पाठको के लिये अवश्य उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

इस व्याख्या में आवश्यकतानुसार साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्य एवं नाटक आदि के अनेक मूल ग्रंथों का आशय लिया गया है। विविध ग्रंथों की

भूमिकाओं, अंग्रेजी तथा हिन्दी में लिखे गये संस्कृत साहित्य के इतिहास एवं समा-लोचना सम्बन्धी ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। उनमें अधिकार का यथास्थान उल्लेख किया गया है, जिनका उल्लेख नहीं किया गया उनका भी यह लेखक ऋणी तो है ही। इसलिये उन सभी ग्रन्थों के प्रणेता विद्वानों का यह लेखक हृदय से आभार स्वीकार करता है। वस्तुतः दशरूपक के सध्यों की अभिव्यञ्जना में उन सभी विद्वानों की कृतियों ने प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया है। उनके कृपा प्रसाद से ही यह ग्रन्थ पूरा किया जा सका है इसमें जो भी ग्राह्य है वह उनका ही है जो अग्राह्य है वह लेखक का असफल प्रयास मात्र है।

अन्त में साहित्य भण्डार के अध्यक्ष रतिराम शास्त्री जी को भी धन्यवाद एवं साधुवाद देना लेखक अपना परम कर्तव्य समझता है, जिनके अनुरोध से ही इस कार्य का समापन हो सका है। साथ ही प्रिय वत्स राजकिशोर शर्मा को भी साधुवाद देना आवश्यक है जिन्होंने मुद्रण के कार्य में अथक परिश्रम किया है।

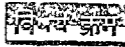
ग्रन्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाने का पूरा ध्यान रक्षित किया है तथापि साधनाभाव अथवा दृष्टि दोष के कारण कुछ कमियाँ रह जाना सम्भव ही है। स्नेहशील विद्वज्जनों के सत्परामर्श से उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा। यदि इससे पाठक जन का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

—लेखक

पुनश्च

हिन्दी व्याख्या सहित इस दशरूपक का पाठकवृन्द ने यथेष्ट स्वागत किया है। साथ ही अपने सत्परामर्श से हमारा महान् उपकार किया है। एतदर्थं हम पाठकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि आप भविष्य में भी हमारा उत्साह सर्वाधिक करते रहेंगे।

—लेखक



प्रमुख सहायक ग्रंथों के संकेत तथा विवरण

भूमिका

१ सस्कृत नाट्यविद्या का परिचय, भरत के पूर्ववर्ती आचार्य, भरत का नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र के कर्ता तथा समय, भरत के परवर्ती आचार्य नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार, नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गये स्वतंत्र ग्रंथ, काव्यशास्त्र के ग्रंथ जिनमें नाट्यसम्बन्धी विवरण है।

२ धनञ्जय और उसका दशरूपक, धनञ्जय का समय, दशरूपक का आधार, दशरूपक की शैली, दशरूपक की टीकाएँ और धनिक का दशरूपावलोक, धनिक का समय तथा कृतियाँ आदि।

३ दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि।

४ रस सिद्धांत और दशरूपक का मत, आचार्य भरत, अलङ्कारवादी आचार्यों का रसविषयक दृष्टिकोण ध्वनिवादी आचार्य तथा रससिद्धांत, ध्वनिविरोधी किंतु रसवादी आचार्य, भरत के रससूत्र की विविध व्याख्याएँ [भट्टलोत्पल, श्रीशङ्कर भट्टनायक अभिनवगुप्त], दशरूपक का रसविषयक मतव्य।

५ सस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाट्यशास्त्र को दशरूपक की दृष्टि।

प्रथम प्रकाश—नायक नायिका भेद

मङ्गलाचरण १ ग्रंथ का प्रयोजन ३ नाट्य का स्वरूप ६ रूपका के भेद ८, नाट्य, नत्त एव नृत्य का अन्तर ८ रूपको के भेदक तत्त्व १२, वस्तु के भेद प्रभेद १२, प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद १३, इतिवत्त का फल १७, अथ प्रकृतियाँ १८ कायावस्थायें २१, संधियाँ २४ मुख संधि तथा उसके अङ्ग २६, प्रतिमुख संधि तथा उसके अङ्ग ३६ गमसंधि तथा उसके अङ्ग ५० अवमग संधि तथा उसके अङ्ग ६३, निवहण संधि तथा उसके अङ्ग ८१, सध्यङ्गी का प्रयोजन ९५ वस्तु निवहण की दृष्टि से वस्तु विभाजन ९६, घिष्कम्भक आदि अर्थोपलक्षण ९०, नाट्योक्ति की दृष्टि से वस्तु के भेद (जनान्तिक इत्यादि) १०२।

द्वितीय प्रकाश—नायक-नायिका भेद

नायक के गुण १०६ नायक के प्रकार (धीरोदात्त इत्यादि) ११३, नायक की शृङ्गाररससम्बन्धी अवस्थायें (दापिण्य आदि) १२२, नायक के सहायक १२७, नायक के सात्त्विक गुण १२९, नायिका भेद (स्वकीया इत्यादि) १३४, नायिका के अथ भेद (स्वाधीनपतिका आदि अवस्थायें) १५, नायिका की सहायिकाएँ १६०, नायिकाओं के अलङ्कार १६१, नायक के अथ सहायक १७६, भारती आदि कृतियाँ

१८२ (वृत्तियाँ के विषय में) उद्भट के अनुयायियों के मत का निराकरण १६७,
नाट्य प्रवृत्तियाँ (भाषा आदि) १६६ ।

तृतीय प्रकाश—रसों के प्रकार

नाटक २०६ भारती वृत्ति, २१०, भारती वृत्ति के अङ्ग (प्रस्तावना तथा उसके अङ्ग कथोद्घात, बीच्यङ्ग आदि) २१०, नाटक का वस्तु योजना २३० (सिधियाँ, अङ्गविभाजन अनुचित इतिवृत्ताश का त्याग रस योजना अङ्क सख्या) प्रकरण २३७ नाटिका २३६, भाण २४२, प्रहसन २४६, डिम २४८, व्यायोग २४६, समवकार २५०, वीथी २५३, अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क) २५४, ईहामृग २५५ ।

चतुर्थ प्रकाश—रस विवेचन

रस लक्षण २५६ विभाव २५८, अनुभाव १६१, सात्त्विक भाव २६४, यमिचारी भाव २६७, स्थायी भाव (भावों के विरोधाविरोध पर विचार) ३०१, स्थायी भावों की सख्या २१३ नाट्य में शात रस का निषेध ३१३, स्थायी भाव तथा रस का सम्बन्ध ३१७ ध्वनिवादी का (ध्वज्जघव्यञ्जक भाव) पूर्व पक्ष ३१८ दशरूपक का सिद्धांत (मायभावक सम्बन्ध) ३३२ रसास्वाद रसिक को होता है (रस का आशय) ३४२ रस की प्रक्रिया तथा स्वरूप ३४८, रसास्वाद म चित्त का विकास आदि चार अवस्थायें ३४८ सभी रसों की आनन्दरूपता ३५०, शात रस का भी विवास आदि चार अवस्थाओं में अतर्भाव ३५२, रस प्रक्रिया तथा रस स्वरूप का उपसंहार ३५४ रसों के लक्षण भेद तथा उदाहरण ३५७, शृङ्गार रस ३५८ शृङ्गार के भेद (अयोग विप्रयोग सम्भाग) ३६५ वीर रस ३८५, वीररस रस ३८७, रौद्र रस ३८६ हास्य रस (६ प्रकार का हास) ३६१, अद्भुत रस ३६४ भयानक रस ३६५ कर्ण रस ३६६, उक्त रसों में भक्ति आदि अन्य रसों का अतर्भाव ३६७, नाट्यलक्षण तथा नाट्यालङ्कारों का अतर्भाव ३६८ श्रय का उपसंहार ३६६ ।

परिशिष्ट १ दशरूपकावलीके समुपमस्ताना श्रयाना श्रयकाराणा चानुक्रमणिका

परिशिष्ट २ उदाहृतपद्यानुक्रमणिका ।

प्रमुख सहायक ग्रन्थो के संकेत तथा विवरण

- अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अभि० शा०), कालिदास, साहित्य भण्डार, मेरठ,
अभिनवदपण, नन्दिकेश्वर, के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९५७
अभिनव भारती (अभि० भा०), अभिनवगुप्त, गायकवाड आरियण्टल सीरीज,
बडौदा
- अमरशतक (अमर०), अमर, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद १९६१
उत्तररामचरित (उत्तर०), भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९५३
कर्पूरमञ्जरी, राजशेखर, रूपरेल कालेज, बम्बई १६
कादम्बरी, बाणभट्ट, साहित्य भण्डार, मेरठ,
कामसूत्र वास्त्यायन, निणयसागर प्रेस बम्बई १८९१
काव्यप्रकाश (का० प्र०), मम्मट साहित्य भण्डार मेरठ १९६७
काव्यादश, दण्डी, जीवानन्दविद्यासागरव्याख्यासहित चेल्लपुरी १९५२
काव्यानुशासन (का० यानु०) हेमचन्द्र, महावीर जनविद्यालय, बम्बई १९३८
काव्यालङ्कार, धामह विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना,
काव्यालङ्कार, छट्ट, धासुदेव प्रकाशन दिल्ली, १९६५
काव्यालङ्कारसंग्रह उद्भट, निणयसागर प्रेस, बम्बई १९२८
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, धामन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १९५४
किरातार्जुनीय (किरात०) भारवि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५२
कुमारसम्भव (कुमार०) कालिदास, निणयसागर० १९५५
गाथासप्तशती (गाथा०) हाल, प्रसाद प्रकाशन पूना १९५६
दशरूपक (दश०) धनञ्जय तथा धनिक, (i) निणयसागर प्रेस, बम्बई १९४१
(अवलोकितसहित)
- (ii) प्रभा (स०) व्याख्यानहित गुजराती प्रेस बम्बई १९२७
(iii) अग्नेजी अनुवाद हास), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६२
(iv) हिंदी दशरूपक, साहित्य निकेतन बानपुर १९६६
(v) चन्द्रकला हिंदी व्याख्या चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६७
(vi) भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
- दी टाइपस ऑफ सस्कृत ड्रामा, मनकड,
ध्वयालोक (ध्व० या०), आनन्दवदन, गौतम बुक डिपो, दिल्ली १९५२
ध्वयालोकलोचन (लोचन) अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९६३
नामानन्द हृद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९५६
नाट्यदपण (ना० द०), रामचन्द्र, गुणचन्द्र, (हिंदा व्याख्या) दिल्ली विश्वविद्यालय,
१९६१

- नाट्यशास्त्र (ना० शा०) भरतमुनि गायकवाड आरिय टल सीरीज बडोदा
 नाट्य शास्त्र भाग १ (अनुवाद तथा व्याख्या सहित) मोतीलाल बनारसीदास,
 दिल्ली १९६३
- प्रतापरुद्रयशोभूषण (प्रता०), विद्यानाथ, बालमनोरमा प्रस, मद्रास १९५०
- भट्ट हरिणतक भट्टहरि
- भावप्रकाशन (भा० प्र०) शारदातनय आरियण्टल इन्स्टीट्यूट बडोदा १९३०
- भोजप्रबन्ध बल्लाल, साहित्य भण्डार मेरठ
- महावीरचरित (वीरचरित) भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५
- माघकाव्य (माघ), माघ, निणयसागर० १९५७
- मालतीमाधव (मालती०) भवभूति निणयसागर० १९३६
- मालविकाग्निमित्र कालिदास, निणयसागर० १९५०
- मुद्राराक्षस विशाखदत्त, साहित्य भण्डार मेरठ
- मच्छकटिक, शूद्रक साहित्य भण्डार मेरठ १९६८
- मेघदूत (मेघ०) कालिदास, साहित्य भण्डार मेरठ
- रघुवश (रघु०) कालिदास निणयसागर० १९४८
- रत्नावली हृष, साहित्य भण्डार, मेरठ
- रसगङ्गाधर, पण्डितराज जगन्नाथ चौखम्बा विद्याभवन बनारस १९५५
- रसतरङ्गिणी भानुदत्त वेङ्कटेश्वर प्रस प्रकाशन
- रसाणवमुद्याकर, शिञ्जभूपाल,
- वक्रोक्तिजीवित (वक्रोक्ति०) कु तक क० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६१
- विन्नमोवशीय (विन्नमोवशी) कालिदास चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९५३
- वेणीसंहार (वेणी०), भट्टनारायण साहित्य भण्डार मेरठ १६०
- व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस
- सरस्वतीकण्ठाभरण (सर० क०) भोजराज, निणयसागर प्रेस यम्बई
- साहित्यदपण (सा० द०) विश्वनाथ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९५७
- सगीतरत्नाकर, शाङ्ग देव, अडयार लाइब्रेरी १९८८
- संस्कृत नाटक ए० बी० कीष मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६५
- संस्कृत पोयटिक्स एस० के० ड० व० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६०
- हनुमन्नाटक (महानाटक) (दामोदर मिश्र ?) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८९०
- हिस्ट्री आफ् संस्कृत पोयटिक्स (HSP) पी० वी० काणे मोतीलाल बनारसीदास,
 दिल्ली

भूमिका

१ सस्कृत नाट्यविद्या का परिचय

लक्ष्यग्रन्थों की श्रीवृद्धि के उपगत ही लक्षण ग्रन्थों की रचना हुआ करता है। उन लक्षण ग्रन्थों में लक्ष्य ग्रन्थों का आश्रय लिया जाता है और उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर कुछ ऐसे नियमों का आवेपण किया जाता है, जो भावी कला-कृतियों के लिये मानदण्ड निर्धारित किया करते हैं। फलतः जिस प्रकार रामायण महाभारत तथा कालिदास आदि के काव्यों का आश्रय लेकर अनेक शिल्पशास्त्र का उद्भव तथा विकास हुआ होगा उसी प्रकार किसी समृद्ध रूपक परम्परा के आधार पर ही प्रथमतः नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना हुई होगी। यह कहना कठिन है कि भारतीय रूपक की प्राचीनतम रचनाएँ कौन सी थीं और उनके आधार पर सबसे प्रथम कौन सा नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा गया। भारतीय परम्परा के अनुसार वेदा युग में ब्रह्मा द्वारा नाटक की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर नाट्यवेद की रचना की। यह नाट्यवेद पञ्चम वेद है, जिसमें पाठ्य, गीत अभिनय तथा रस चारा तत्त्वों को क्रमशः श्रुत, साम यजुष तथा अथर्ववेद से लिया गया है। ब्रह्मा की प्रेरणा से विश्वकर्मा ने नाट्य गृह की रचना की और भरतमुनि ने अभिनय की व्यवस्था की। भरत ने अपने ही सिद्धांत तथा अप्सराओं को नाट्यकला की शिक्षा दी। नाट्यकला को पूर्ण बनाने के लिये शिव ने नाट्य के साथ ताण्डव का और गायत्री ने लास्य का समावेश कर दिया।

आधुनिक दृष्टि से यह समझा जाता है कि सम्भवतः भरत के नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये अब इसका माहात्म्य की वृद्धि के लिये ही इस आध्याय की कल्पना की गई होगी। फिर भी इससे कतिपय तथ्यों पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि भारत में अति प्राचीन काल में नाट्य काव्यों का विकास हो चुका था, जिनके आधार पर नाट्यकाव्य का शास्त्रीय विवेचन करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। किंतु प्रश्न यह है इस आवश्यकता का सबसे प्रथम किस आधाय ने अनुभव किया, क्या भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही नाट्यविद्या का प्रथम शास्त्रीय विवेचन है अथवा इससे पूर्व भी कोई नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होगी? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित रूप से तो देना कठिन है क्योंकि भारत के प्राचीन राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के समान साहित्यिक

इतिहास का भी बहुत घुसला सा आभास मिलता है। फिर भी नाट्य-साहित्य के विवेचन से इसके कुछ सनेत उपलब्ध हो सकते हैं।

नाट्य सम्बन्धी साहित्य के आचार्यों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है (मि०, ना० द० भूमिका पृ० ८८)—

(१) भरत के पूर्ववर्ती आचार्य जिनके यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं किन्तु रचनाएँ अप्राप्य हैं।

(२) भरत का नाट्यशास्त्र।

(३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अनुपलब्ध हैं किन्तु अथ आचार्यों ने उनका उल्लेख किया है अथवा कहीं कहीं उनके उद्धरण भी दिये हैं, जैसे कोहल आदि।

(४) नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार कीर्तिधर भट्टोद्भट भट्टलासलट तथा अभिनवगुप्त आदि।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले धनञ्जय आदि।

(६) काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य जिन्होंने कुछ अध्यायों में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है, जैसे भोजराज, विश्वनाथ इत्यादि।

(१) भरत मुनि के पूर्ववर्ती आचार्य—पाणिनि (४३ ११० १११) ने शिलालिपि और कृशापद के नटसूत्रों का उल्लेख किया है। प्रो० हिलब्राउट का सुझाव है कि ये कृतियाँ भारतीय नाट्य की प्राचीनतम पुस्तकें गानी जानी चाहिए। किन्तु वेबर तथा कोनो के अनुसार ये नतको तथा नट का काम करने वालों के लिये लिखे गये ग्रन्थ थे। कोय का भी वही मत है (स० नाटक पृ० ३०६)। दूसरी बार मनमोहन घोष (ना० शा० भूमिका पृ० LXIV) का विचार है कि यहाँ नट का अथ अभिनेता ही है। इस प्रकार पाणिनि के समय (चौथी शताब्दी ई० पू०) में नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थों का हाना बियादास्पद ही है। पतञ्जलिद्वारा महाभाष्य (लगभग १५० ई० पू०) में नाट्य कला के अधिक विकसित रूप के संकेत अवश्य मिलते हैं फिर भी उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय कोई नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रचा जा चुका था। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर सप्रह और दूसरे स्थान पर सप्रहकार का उल्लेख किया है। भरत ने भी सप्रह श्लोका का नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं (६३ १०)। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यविषयक सप्रह ग्रन्थ भरत से पूर्व ही प्रचलित रहा होगा और अभिनवगुप्त भी उससे परिचित रहे होंगे। भरत ने पूर्वाचार्यों की अथ कारिकाएँ भी भवति चान् श्लोका अथवा अत्रायै भवत इत्यादि प्रकार से उद्धृत की हैं। ऐसे लगभग १०० पद्य नाट्यशास्त्र में हैं। इनसे भी यह प्रकट होता है कि भरत से पहिले भा नाट्यविषयक ग्रन्थ लिख गये थे। यद्यपि कुछ उल्लेखों से यह विदित होता है कि भरत ने अग्निपुराण के आधार पर नाट्यशास्त्र की रचना की थी तथापि युक्ति और प्रमाणा के आधार पर यह सिद्ध किया जा

चुका है कि अग्निपुराण का साहित्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन बहुत बाद का है वह नाट्यशास्त्र का आधार नहीं हो सकता (HSP पृ० ३ ६)। इस प्रकार वर्तमान काल में उपलब्ध नाट्य विषयक ग्रंथों में भरत का नाट्यशास्त्र ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

(२) भरत का नाट्यशास्त्र—यह संस्कृत काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है। इसमें नाट्य, नृत्य, सङ्गीत तथा अलङ्कार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है नाट्य तथा रस का अत्यन्त विस्तृत विवेचन है। इसमें ३७ अध्याय हैं। विद्वानों का विचार है कि ३६ अध्याय प्राचीन हैं और ३७वाँ अध्याय बाद में जोड़ा गया है। यहाँ प्रथम अध्याय में नाटक तथा नाट्यवेद की उत्पत्ति का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में नाट्यग्रह की रचना आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय में महादेव ब्रह्मा विष्णु बहस्पति, गुह की पूजा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में देवों के समक्ष अमृत मन्थन और महादेव के समक्ष त्रिपुरदाह नामक रूपकों के अभिनय की कथा है तथा ताण्डव नृत्य के उद्भव एवं शिक्षण का निरूपण है। पञ्चम अध्याय में पूवरङ्ग, नाडी, प्रस्तावना आदि का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में स्थायी भाव रस आदि का विशद वर्णन है तथा सप्तम में भाव विभाव अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावा का निरूपण किया गया है। अष्टम में सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहाय चार प्रकार के अभिनयों का स्वरूप दिखाया गया है। आगे ६ से १८ तक के अध्यायों में आङ्गिक अभिनय का विस्तृत वर्णन है। अग्रिम अध्यायों के विषय निम्न प्रकार हैं—१३ भारती आदि वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का निरूपण। १४ १५ वाचिक अभिनय। १६ छन्द नाट्यलक्षण, अलङ्कार, काव्य के दोष तथा गुण आदि। १७ भाषाओं के लक्षण। १८ दशरूपकों के लक्षण। १९ २० वस्तु, सङ्घि सङ्घ्यङ्ग, भारती आदि वृत्तियों के अङ्ग। २१ आहाय अभिनय। २२ युवतियों के अलङ्कार, नायिका की अवस्थाएँ। २३ नारी की प्रवृत्ति। २४ नायक-नायिका के प्रकार। २५ अभिनय-सम्बन्धी निर्देश, नाट्योक्ति। २६ २७ नाट्य प्रयोग। २८ आतोद्य प्रयोग २९ आतोद्य विधान। ३० सुपिर आतोद्य का स्वरूप। ३१ ३२ ताल लय आदि ३३ गायक, वादक का गुणदोष विचार। ३४ मदङ्गो का वर्णन। ३५ पात्रों की भूमिका की व्यवस्था। ३६ पूवरङ्गविधानकथा। ३७ नाट्यभावतार, नाट्य-माहात्म्य।

गायकवाड ऑरियंटल सीरीज बड़ोदा के संस्करण के अनुसार उपर्युक्त विषय-सूची दी गई है। भिन्न भिन्न संस्करणों में अध्यायों की श्लोक संख्या तथा विषय प्रतिपादन में अंतर है।

नाट्यशास्त्र के कर्ता तथा समय—नाट्यशास्त्र के उपलब्ध स्वरूप में कई पाठ भेद मिलते हैं। अतः यह कहना कठिन है कि नाट्यशास्त्र का असल रूप क्या था, क्या यह समस्त नाट्यशास्त्र एक ही भरत नामक आचार्य की रचना है तथा

इसकी रचना का कोई एक निश्चित समय भी है। विद्वानों का विचार है कि वतमान नाट्यशास्त्र एक काल की रचना नहीं अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। नाट्यशास्त्र में तीन अंश हैं—(१) गद्य भाग—यह सूत्र तथा भाष्य के रूप में है। इसकी शली यास्क के निरुक्त की शली से मिलती है। जैसे—विभावानुभाव व्यभिचारिसयोगाद रसनित्यति । को या ह्यन्त इति चेद् उच्यते । रस इति क पदाय ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् (ना० शा० ६ श्लोक ३१ से आगे गद्य) । कुछ विद्वानों का विचार है कि यही अंश इस ग्रंथ का मूल भाग है अन्य अंश कालांतर में जोड़ गये हैं। (२) सूत्रविवरणस्वभावा कारिकायें—सूत्र तथा भाष्य के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक समझाने के लिये ५००० से ऊपर कारिकायें हैं जिनमें विविध शब्दांशों का समाधान भी किया गया है। (३) अन्य श्लोक जो तीन प्रकार के हैं—(क) आनुवश्य—भरत के नाट्यशास्त्र में १५ अनुष्टुभ और १६ आर्या 'छन्द' ऐसे हैं जिनका इस नाम से निर्देश किया गया है। अभिनव भारती (६ ३५) से ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य विषयक कुछ महत्वपूर्ण गुरुशिष्यपरम्परा से प्रचलित थे, उनका ही अत्रानुवश्यो भवत इत्यादि रूप से नाट्यशास्त्र में संग्रह कर दिया गया है (ख) सूत्रानुविद्ध (अनुवद्ध) श्लोक—अनेक पद्यों को सूत्रानुविद्धे आर्यो भवत इत्यादि प्रकार से उद्धृत किया गया है। इनमें सूत्र का भाव सरल रूप से प्रकट किया गया है। अभिनवभारती के अनुशीलन में प्रतीत होता है कि ये पद्य भरत रचित ही हैं। (ग) पूर्व्याचार्यों की कारिकायें 'भवति घात्र श्लोका' अथवा अत्रायो भवत इत्यादि कहकर भी लगभग १०० पद्य उद्धृत किये गये हैं। अभिनवभारती के अनुसार ये पद्य प्राचीन आचार्यों के हैं जिन्हें भरतमुनि ने यथास्थान रख दिया है—'ता एता ह्यार्या एकप्रघट्ट कतया पूर्व्याचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता मुनिना तु सुखसप्रहाय यथास्थान निवसिता (ना० शा० पृ० ३२७ ३२८)।

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र का वतमान रूप अनेक परम्परा प्राप्त विद्वानों का समन्वित रूप है तथा इसका मूल रूप भरत मुनि द्वारा रचा गया है। किन्तु अभिनवगुप्त के समय से ही यह शब्दा को जान लगी थी (जो आज भी की जाती है) कि भरत के किसी शिष्य ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने इस शब्दा का निराकरण किया है (अ० १७ पृ० ६)। भावप्रकाशन (दशम अधिकार पृ० २८७) में यह भी बतलाया गया है कि नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। एक द्वादश सहस्र (१२०००) श्लोकों का था जो 'द्वादशसहस्री' कहलाता है और दूसरा षट्सहस्र (६०००) श्लोकों का सगृहीत किया गया था जो षट्सहस्री कहलाता है। घनिक ने षट्सहस्रीहृत् के नाम से भरत का एक उद्धरण दिया है (अवलोक ४२)।

नाट्यशास्त्र के समय के विषय में विविध मत हैं। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका समय ई० पू० द्वितीय शती माना है। प्रो० लेवी के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचना काल क्षत्रपों के शासन का समय है। पी० वी० काणे ने लेवी के मत का खण्डन किया है (HSP पृ० ४०-४१)। कीच का विचार है कि इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता। उनके अनुसार बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर भी इसी मत की पुष्टि होती है (१) 'संस्कृत के रूपकों में पूवरङ्ग का एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु नाट्यशास्त्र में उसका विस्तृत विवरण दिया गया है, इस तथ्य से कम परिष्कृत रुचि वाले युग का सन्देह मिलता है। (२) 'जिन प्राकृतों से नाट्यशास्त्र परिचित है वे स्पष्टतया अश्वघोष की प्राकृतों के बाद की हैं और भास के नाटका में उपलब्ध प्राकृता के साथ उनका अधिक सादृश्य है। किञ्च नाट्यशास्त्र ने अधमागधी को मायता दी है जो इन दोनों में नाटककारों की रचनाओं में पायी जाती है किन्तु पश्चात्कालीन नाटककारों में नहीं' (३) भास ने एक नाट्यशास्त्र का स्पष्ट रूप में निर्देश किया है और बहुत सम्भाव्य है कि वे और कालिदास दोनों वर्तमान ग्रंथ के किसी पूर्व रूप से परिचित थे'। (४) 'भास ने अपने नाटकों के उपसंहार के आकार प्रकार में अथवा रङ्गमञ्च से मृत्यु के दृश्यों के बहिष्कार में नाट्यशास्त्र के नियमों का आँख मूद कर पालन नहीं किया है, इससे इतना ही सूचित होता है कि जिस समय उन्होंने अपने नाटकों की रचना की थी उस समय तक शास्त्र की नियामक शक्ति प्रतिष्ठित नहीं हुई थी (संस्कृत नाटक पृ० ३११)।

डॉ० पी० सी० सरकार ने वर्तमान नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्र और नेपाल के उल्लेख के आधार पर इसका समय दूसरी शती के बाद माना है क्योंकि नेपाल का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त प्रशस्ति में चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ है और महाराष्ट्र का प्रथम उल्लेख 'महावंश (पञ्चम शताब्दी) तथा ऐहोल अभिलेख (६३४ ई०) में हुआ है। काणे महोदय ने इस मत के आधार को युक्ति युक्त नहीं स्वीकार किया (HSP पृ० ४२)। मनमोहन घोष ने भरत के भाषावर्णनिका तथा छन्द-सम्बन्धी विवेचन केवल चार अलङ्कारों का वर्णन उपारूपान और भौगोलिक विवरण के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय १०० ई० पू० तथा २०० ई० के मध्य निर्धारित किया है (वही पृ० ४१)। पी० वी० काणे ने इन सभी मतों की परीक्षा करके अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र का समय तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता (वही पृ० ४७)। उनका विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र के पष्ठ सप्तम अध्याय अभिनय विषयक ८ से १४ तक के अध्याय तथा १७ से २५ तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित किये गये होंगे। पष्ठ और सप्तम अध्याय के गद्य-अंश और आर्याण्ड, जिन्हें अभिनवगुप्त ने प्राचीन आचार्यों से

लिया गया वतलाया है लगभग २०० ई० पू० में लिखी गई होंगी और जब अथ अद्ययाय लिखे गये तब उसमें जोड़ी गई होंगी । (वही पृ० १३)

(३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य—(जिनके उल्लेख या उद्धरण तो मिलते हैं कि तु रचनाएँ उपलब्ध नहीं) । इस युग में अनेक आचार्य हुए हैं उदाहरणार्थ कोहल दत्तिल, शालिकर्ण (शातकर्ण) बादरायण (बादरि), नखकुट्ट और अश्मकुट्ट आदि का नाम बाद के नाट्य विषयक ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यों के रूप में आता है । मी० बी० कार्णे ने वामन की काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति (१ ३ ७) कुट्टनीमत (५ १२३) तथा अभि० भा० (अ० ४) के साक्ष्य पर विशाखिल नामक एक पूर्ववर्ती नाट्याचार्य का भी उल्लेख किया है । उनका कथन है कि सम्भवतः अभिनव के विचार में भरत भी विशाखिल से परिचित थे (HSP पृ० ५६) । निश्चित रूप से कहना कठिन है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्ती है समकालीन हैं अथवा परवर्ती । ना० शा० (३६, ६३) में कोहल का उल्लेख भी मिलता है । अभिनव गुप्त ने भा अनकश कोहल का उल्लेख किया है और कोहल को उद्धृत भी किया है । भावप्रकाशन में अनेक बार कोहल के मत उद्धृत किये गये हैं । अभि० भा०, रसायन सुधाकर कामशास्त्र और कुट्टनीमत में दत्तिल या दत्तकाचार्य का उल्लेख मिलता है । रामकृष्ण कवि (J Andhra H R S Vol III p 24) ने उनके ग्रन्थ गद्य वेदसार का भी उल्लेख किया है (मि० HSP पृ० ५७) । सागरनदी तथा विश्वनाथ ने अश्मकुट्ट एवं नखकुट्ट का भी नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है । सागरनदी के अनुसार बादरायण या बादरि भी कोई नाट्याचार्य हैं (वही पृ० ६२) । इसी प्रकार अथ भी कुछ आचार्यों का उल्लेख मिलता है । उनकी कृतियाँ कौनसी थीं तथा उनका समय क्या था ? यह कहना कठिन है ।

(४) नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार—समय समय पर नाट्यशास्त्र की अनेक व्याख्याएँ की गईं जिनमें आज किन्हीं केवल नाम या सबेते ही मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र पर कोई वार्तिक था, जिसके कर्ता श्रीहप या हप थे । उनका वार्तिककृत्य या श्रीहप के नाम से अनेक बार उल्लेख मिलता है (HSP पृ० ५६) । भावप्रकाशन (प० २३८) में सुबधु का भी नाट्यविषय के आचार्य के रूप में उल्लेख है (सुबधुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा) । नायपति ? या नायदेव को भरत भाष्य के कर्ता के रूप में स्मरण किया जाता है । शाङ्ग देव के सङ्गीत रत्नाकर में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में लोल्लट उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर का उल्लेख है । अभिनवगुप्त ने भट्टमन्त्र तथा भट्टनायक का भी उल्लेख किया है । म० मा० घोष के अनुसार अभिनवगुप्त ने भट्ट उद्भट के मत को तीन बार, भट्ट लोल्लट को ग्यारह बार और शङ्कुक को पंद्रह बार उद्धृत किया है ।

उद्भट के मत की भट्टलोल्लट ने आलोचना की है अतः उनका समय सप्तम-अष्टम शताब्दी मानना हाया क्योंकि भट्टलोल्लट का समय अष्टम शती माना जाता है। शङ्कुक का समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। भट्टनायक का अभिनव-भारती म कई बार (म० मो० घोष के अनुसार ६ बार) उल्लेख किया गया है विशेष रूप से रस के प्रसङ्ग में। इनका समय नवम-दशम शताब्दी माना जाता है। इनका 'हृदयदपण' नामक ग्रन्थ था जो उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थों के उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के अर्थ भी टीकाकार हुए होंगे। आज तो अभिनव गुप्त को 'अभिनव भारती' नामक टीका ही उपलब्ध है। इसे 'नाट्यवेदविवृति' भी कहा जाता है। इसका समय दशम शताब्दी वा अंतिम तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। (मि० HSP पृ० ४७ तथा आगे, डा० रघुवश ना० शा० भू०, पृ० XVII)। अभिनवभारती में नाट्यशास्त्र के अर्थ सभी विषयों के साथ साथ रूपक एवं नाट्य सम्बन्धी मतध्यों का भी विशद विवेचन है। भारतीय वाक्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के अध्ययन में अभिनवभारती का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गये स्वतंत्र ग्रन्थ—भरत के नाट्यशास्त्र की जटिल एवं विस्तृत सामग्री के सरल सभिप्त विवेचन के लिये कुछ स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना भी की गई, धनञ्जय का दशरूपक उनमें से ही अत्यन्त है जिसका विशद विवेचन आगे किया जा रहा है। यहाँ इस प्रकार के अर्थ ग्रन्थों का सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

नदिकेश्वर वा अभिनयदपण—सगीतरत्नाकर (१४६) में मतङ्ग के साथ नदिकेश्वर के मत का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार नदिमत या नदि केश्वर के अर्थ भी उल्लेख मिलते हैं। (HSP, पृ० ५६ ६१)। नदिकेश्वर के समय आदि के विषय में विशद है। रामकृष्ण कवि के अनुसार नदीश्वरसहिता के लक्षक और अभिनयदपण के कर्ता नदिकेश्वर एक ही व्यक्ति हैं। नदिकेश्वर को सगीत के विषय में आचार्य मतङ्ग ने उद्धृत किया है। मतङ्ग का समय चतुर्थ शताब्दी वा लगभग है। इस प्रकार नदिकेश्वर का समय तृतीय शताब्दी वा लगभग हो सकता है। दूसरे विद्वान् नदीश्वरसहिता के कर्ता को अभिनयदपण के कर्ता नदिकेश्वर से भिन्न मानते हैं। म० मो० घोष ने अभिनयदपण के समय की परीक्षा करते हुए युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि अभिनय दपण १६ वीं शती के आरम्भ में विद्यमान था यह तो निश्चित है किन्तु ५ वीं शती से पूर्व इसकी विद्यमानता में सन्देह है। (अभि० द० इन्द्रोडकशन)

डा० मनमोहन घोष ने अभिनयदपण (प्रथम संस्करण १९२४, द्वितीय संस्करण १९५६ प्रकाशक के० एल० मुखोपाध्याय, बलकत्ता) का सम्पादन किया है। कुछ समय पूर्व (१९५७) नदिकेश्वर का एक अर्थ ग्रन्थ भरताणव भी अंग्रेजी

एव तामिल के अनुवाद सहित तञ्जार सरस्वती महल सीरीज से प्रकाशित हुआ है जिसमें नतन (नृत्य) का विवेचन है (H S P-पृ० ५८) । अभिनयदपण में कुल ३८४ श्लोक हैं । ग्रन्थ का विभाजन अध्याया आदि में नही किया गया । आरम्भ में शिव को नमस्कार करके नाट्य की उत्पत्ति का वर्णन है, फिर नाट्य प्रशंसा की गई है । तदनंतर नाट्य नृत्य, नत्त सभा पाय आदि का लक्षण करके पूवरङ्ग का सक्षिप्त निरूपण किया गया है । फिर आङ्गिक अभिनय का विशद विवेचन है । यही अभिनयदपण का मुख्य विषय है । इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ना० शा० के अष्टम तथा नवम अध्याय के समान है । यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि नाट्य शास्त्र के इस विवेचन पर अभिनयदपण का प्रभाव है अथवा अभिनयदपण का विवेचन नाट्यशास्त्र से प्रभावित है (विशेष द्र० अभि० द० इन्द्राङ्कणन) ।

(ii) सागरतटो का नाटकलक्षणरत्नकोश—इसका समय क्या है ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । सम्भवतः इसका समय घनञ्जय के पास पास ही है । इस ग्रन्थ में दशरूपक के समान ही नाट्यसम्बन्धी विवेचन है कहीं कहीं अभिनय सम्बन्धी चर्चा भी है । अनेक स्थलों पर नाट्यशास्त्र की सामग्री को ज्या का त्या प्रस्तुत कर दिया गया है । इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें ह्य वार्तिक, मातृगुप्त, गग अश्मकुट्ट नखकुट्ट तथा वादरि नामक नाट्यकारों का उल्लेख किया गया है (म० मो० घोष नाट्यशास्त्र का अनुवाद भू० पृ० L X V III, मि०, रघुवर्ष ना० शा० भू० पृ० XV) । आचार्य विश्वेश्वर का अनुमान है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाट्यदपण में नाटकलक्षणरत्नकोष के कुछ मता की ओर संकेत किया गया है । नाटकलक्षणरत्नकोष को सबसे प्रथम सिलवा लेवी ने (१९२२) प्रकाशित कराया था ।

(iii) रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदपण—रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्र के शिष्य माने जाते हैं । इनका समय १३ वीं शताब्दी है । नाट्यदपण में मुख्यतः नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय के आधार पर रूपको का वर्णन किया गया है यह भी कहा जाता कि घनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्विदिता में यह ग्रन्थ लिखा गया है । यह ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति के रूप में है । समस्त ग्रन्थ चार विवेको में विभक्त किया गया है । इसमें नाट्यसम्बन्धी विषयों का विशद वर्णन है । नाट्यशास्त्र के साथ साथ अभिनयभारती का भी पूरा उपयोग किया गया है । नाट्य विषय के अन्य लेखकों के मतों की आलोचना भी की गई है । विशेषकर दशरूपककार के मतों की अनेक स्थलों पर आलोचना की गई है । आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यहाँ १३ बार अथे केचित् आदि शब्दों से घनञ्जय के मतों का उल्लेख किया गया है । इनमें से दो स्थानों पर तो उनके मतों की आलोचना करते हुए उन्हें 'न मुनिसमया ध्यवसायिन' और बद्धसम्प्रदायवध्य अर्थात् भरत मुनि के अभिप्राय को न समझने वाला' कहा है (ना० द० भूमिका पृ० २१), यत्र तत्र भरत मुनि से मतों का भी परिष्कार किया गया है उदाहरणार्थ भारतीय वृत्ति के विवेचन में उनका मत भरत

से भिन्न है। सधेप में संहृत नाट्यशास्त्र को उनकी विशेष देन इस प्रकार हैं—
 (क) नाटिका तथा प्रकरणिका को जोड़कर १२ रूपक मानना। (ख) कौशिकी आदि
 वृत्तियों के आधार पर रूपका का वर्गीकरण। (ग) रसों का सुखात्मक तथा दुःखा
 त्मक दो वर्गों में विभाजन, शृङ्गार, हास्य वीर अद्भुत और शान्त सुखात्मक हैं,
 किंतु कर्षण रौद्र भीमस रौर भयानक दुःखात्मक हैं। (घ) नौ रसों के अतिरिक्त
 स्नेह रस, व्यसन रस आदि की कल्पना। (ङ) नाट्य-सम्बन्धी लक्षणों में नवीन दृष्टि,
 जैसे उनका 'अङ्क' का लक्षण भरत तथा घनञ्जय आदि से अधिक परिष्कृत है।
 (च) 'देवीचन्द्रगुप्त' इत्यादि के उद्धरण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

वस्तुतः रामचन्द्र गुणचन्द्र को संहृत नाट्यशास्त्र को अपूर्व देन है। उन्होंने
 अनेक अलम्ब्य रूपकों के उद्धरण दिये हैं। नाट्य सम्बन्धी विषय का नवीन ढंग से
 चिन्तन किया है। विरक्ति प्रधान जन समाज में शृङ्गार प्रधान नाट्य साहित्य का
 आदर यथाया है। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत लक्षणा की आलोचना तथा उसमें सशोधन
 करके नाट्यशास्त्र में स्वतन्त्र विचार का भाग प्रशस्त किया है (भि० ना० ६०
 भूमिका)। सम्भवतः इसलिये वे अब वे साथ अपनी रचना को सर्वथा मौलिक
 मानते हैं।

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्या रूपाणि भूरिश।

स्वयं च कृत्वा, स्वोपन नाट्यलक्ष्म प्रचक्षमे ॥ (१/२)

(IV) शारदातलय का भावप्रकाशन—पी० वी० काणे (पृ० ४२७) के अनुसार
 इसका समय ११७५ तथा १२५० के मध्य है। यह अद्भुत शास्त्र और नाट्यशास्त्र
 का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्य-सम्बन्धी
 विषयों का निरूपण किया गया है। शारदातलय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार
 लिया है और अपनी मौलिक दृष्टि भी रखी है। यहाँ भरत के अतिरिक्त, कौहल
 मातृगुप्त, ह्य सुवर्ण आदि के मतों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही ध्वनि
 कार रुद्रट घनञ्जय धनिक अभिनवगुप्त, भाज और मम्मट आदि के मत भी दिये
 गये हैं। यहाँ दशरूपक कारिका तथा अवलोक टीका के अनेक उद्धरण दिये गये हैं
 कहीं कहीं उन्हें स्पष्ट करने का भी प्रयास परिलक्षित होता है। एक स्थल पर
 सदाशिव का नामोल्लेख करके घनञ्जय की कारिका उद्धृत की गई है (पृ० १५२)
 जो चिन्तनीय है।

भावप्रकाशन में नाट्य की रचना नायक नायिका तथा रसों का ही विशेष
 रूप से विवेचन किया गया है। अभिनय आदि का भी संक्षिप्त वर्णन है। यहाँ
 रूपका तथा उपरूपकों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यत्र तत्र दार्शनिक विषयों की
 सतक भी दृष्टिगोचर होती है (जैसे सप्तम अंगिकार पृ० १८१)। भारत
 के विषय प्रदेशों का भी वर्णन किया गया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसका

दस अधिकारो (अध्याया) में विभाजन किया गया है। इन अधिकारो में क्रमशः निम्न विषयों का निरूपण है — (१) भावनिर्णय (२) रस—स्वरूप रस का आश्रय, सक्षिप्त रस प्रक्रिया (३) रस के प्रकार तथा रसों का स्वरूप । (४) शृङ्गार के आत्मन्वन नायक नायिका का स्वरूप निर्णय । (५) नायिका की अवस्थाएँ नायिकाओं के अवातर भेद आदि । (६) शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध शब्द वृत्तियों के भेद धाव्य आदि अर्थ का स्वरूप मकथित अर्थ के भेद दशरूपक की रस प्रक्रिया (पृ० १५२-१५४) इत्यादि । (७) नाट्य का लक्षण नाट्य नृत्य तथा नत्त का भेद रङ्ग-भूवरङ्ग तथा सङ्गीत का सक्षिप्त परिचय, कथावस्तु वस्तुविभाजन आदि । (८) रूपको के प्रकार उनके लक्षण उदाहरण आदि (दशरूपकलक्षण) । (९) वीस उपरूपको का वर्णन, पात्रों की भावा सम्बोधन के प्रकार तथा कतिपय काव्य-परम्पराओं (कविसमयों) का उल्लेख । (१०) नाटक की उत्पत्ति तथा भारत के नाट्यशास्त्र की रचना का सक्षिप्त निरूपण, अभिनय की सक्षिप्त प्रक्रिया रस के माग तथा देशी भेदों का प्रयोग, विविध प्रदेशों के आकार वष आदि का निरूपण । (विशेष द्र० भावप्रकाशन Preface)

(V) शिङ्गभूपाल की नाटकपरिभाषा—इसका समय १३३० ई० क लगभग है (HSP पृ० ४२३) । शिङ्गभूपाल के रसाणव सुधाकर तथा नाटक परिभाषा दो ग्रन्थ हैं । नाटकपरिभाषा में केवल नाट्य विषय का वर्णन किया गया है तथा रसाणव सुधाकर में काव्य के अर्थ विषयों के साथ साथ नाट्य का भी सक्षिप्त वर्णन है ।

(VI) रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका—इसका समय १६वीं शताब्दी है । रूपगोस्वामी चतुर्थ महाप्रभु ने अनुयायी थे उन्होंने 'भक्तिरसाभूतिसंघु तथा उज्ज्वलनीलमणि' नामक दो काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की है और नाटक चन्द्रिका नामक नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थ की भी । इस ग्रन्थ के आरम्भ में रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि उन्होंने भारत तथा 'रसाणवसुधाकर का अनुसरण किया है और साहित्यदपण के मतों का निराकरण किया है क्योंकि उममें भारत के मतधर्मों के विपरीत मत हैं । इसमें नाट्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया गया है जैसे नायक नायिका नाटी संधि पताका, विष्कम्भक भाषा इत्यादि । यहाँ भारती आदि वृत्तियों और रसों के साथ उनके सम्बन्ध का भी विवेचन है । अधिकांश उदाहरण यत्नव ग्रन्थों से लिये गये हैं (HSP पृ० ३१३) । इसमें साहित्यदपण से भी बहुत सी सामग्री ली गई है और उसकी आलोचना भी की गई है । परन्तु जसा कि कीय का विचार है नाटकचन्द्रिका साहित्यदपण की अपेक्षा कुछ सुधरी हुई या उत्कृष्ट नहीं है (मि०, स० नाटक पृ० ३१४) ।

(VII) सुन्दरमिथ का नाट्यप्रदीप—सुन्दर मिथ का समय १७वीं शताब्दी का आरम्भ है । नाट्यप्रदीप का रचनाकाल १६१३ ई० है (स० नाटक पृ० ३१४)

तथा HSP पृ० ४२३)। यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है।

उपयुक्त नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त त्र्यम्बक के नाटकदीप, रम्यक की नाटकमीमांसा, पुण्डरीक वा नाटकलक्षण, त्रिलोचनादित्य का नाट्यालोचन तथा नन्दिकेश्वर का नाट्याणव इत्यादि ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं (HSP, पृ० ४२३-४२४)।

(६) काव्यशास्त्र के ग्रन्थ, जिनमें नाट्य-सम्बन्धी विवेचन है—जिन ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन के साथ साथ नाट्य विषयों का भी विवेचन किया गया है उनमें भोजराज के ग्रन्थ प्राचीन कहे जा सकते हैं।

(1) भोजराज का शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण—भाजराज का समय ११वीं शताब्दी है। शृङ्गारप्रकाश काव्यशास्त्र का एक सुविशाल ग्रन्थ है। इसमें ३६ प्रकाश हैं। इनमें ११वें प्रकाश से आठ तक रस तथा भावों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी बीच १२वें प्रकाश में रूपकों का निरूपण है तथा २१ वें में नायक नायिका का। डॉ० राघवन् ने शृङ्गारप्रकाश का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में ५ परिच्छेद हैं। इसके पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिका और उनके भेद तथा विशेषताओं, मुख आदि सन्धियों तथा भारती आदि चार वृत्तियों का निरूपण किया गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं जो धनिक की वृत्ति में हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वहाँ सभी पद्य धनिक की वृत्ति में ही लिये गये हैं। किन्तु उनमें एक पद्य ऐसा भी है (लक्ष्मीपमोघरो० दश० ४७२) जिसे धनिक ने अपना कहकर (ममव) उद्धृत किया था। इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण का लेखक किसी अश में दशरूपक का श्रुणी है।

(1) हम्चन्द्रसूरि का काव्यानुशासन—हम्चन्द्र विविध विषयों के अनेक ग्रन्थों के कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका समय १२वीं शताब्दी है। काव्यानुशासन का रचना काल ११३६-११४३ ई० माना जाता है। यह ग्रन्थ सकलन मात्र है। ग्रन्थ के तीन अंश हैं—सूत्र वृत्ति तथा उदाहरण। समस्त ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिनमें काव्य के सभी अङ्गों का वर्णन किया गया है नाट्य सम्बन्धी विवेचन केवल तीन अध्यायों में है। द्वितीय अध्याय में रस, स्थायी भाव व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावों का विवेचन है। सप्तम में नायक-नायिका का तथा अष्टम में दृश्य (प्रेक्ष्य) और श्रव्य वाक्य और उनके भेद एवं लक्षण आदि का निरूपण किया गया है। काव्यानुशासन में अनेक आचार्यों तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है किन्तु दशरूपक अथवा धनञ्जय या धनिक का कोई उल्लेख नहीं।

(11) विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण—इसका समय चतुर्दश शताब्दी माना जाता है। ग्रन्थ के तीन अंश हैं पारिका वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण

की लेखक ने स्वयं रचना की है, जिनमें, तलगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव की प्रज्ञासा की गई है। इस ग्रंथ में नौ प्रकरण हैं जिनमें प्रथम प्रकरण में नायक तृतीय में नाट्य तथा चतुर्थ में रस का विवेचन है। इस भाग में दशरूपक का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। तम्रमग १० उद्धरण दशरूपक से लिये गये हैं (Haas Intro P xxviii)। इसके अतिरिक्त दशरूपक के मन्तव्यों की छाया भी कतिपय स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

(iv) विश्वनाथ का साहित्यदपण—विश्वनाथ का समय चतुर्दश शताब्दी है। १३००-१३८४ ई० के मध्य साहित्यदपण की रचना की गई होगी। अतः साध्य तथा बाह्य साध्य के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है (HSP पृ० २६६-३०२)। साहित्यदपण में काव्यशास्त्र के सभी विषयों का सरल सुश्रोत्र भाषा शली में विवेचन किया गया है। यह काव्यप्रकाश की शली पर लिखा गया ग्रंथ है। इसमें काव्यप्रकाश की अपेक्षा नायक नायिका वचन तथा नाट्य विषय का विवेचन अधिक है। इसमें रस परिच्छेद हैं। नाट्य विषय की दृष्टि से तृतीय तथा षष्ठ परिच्छेद का ही महत्त्व है। तृतीय परिच्छेद में नायक नायिका तथा रस का विवेचन है तथा षष्ठ परिच्छेद में रूपक उपरूपक एवं उनके विविध अङ्गों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इसके नाट्य सम्बन्धी विवेचन में भरत से नाट्यशास्त्र की सामग्री का उपयोग करते हुए दशरूपक और इसकी टीका का पर्याप्त आधार लिया गया है। कहीं-कहीं दशरूपक की पदावली को ज्यों का त्यों और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ ल लिया गया है। धनिक के नाम से दशरूपक को उद्धृत भी किया गया है (६६४)।

करण विप्रलम्भ रस के विवेचन में (३२०६) अभियुक्ता' (=विद्वान्) शब्द का प्रयोग करके दशरूपक के मत का उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि दशरूपककार के प्रति विश्वनाथ का समादर भाव था। यह दूसरी बात है कि विश्वनाथ ने यत्र तत्र दशरूपक के मन्तव्यों की आलोचना भी की है। (उदाहरणार्थ दश० २४३ का सा० द० ३४३ में आलोचना की गई है)। इसके अतिरिक्त साहित्यदपण में दशरूपक की अपेक्षा कुछ अधिक नाट्य विषयों का निरूपण किया गया है, जैसे वहाँ नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार का विवेचन किया गया है जिसे दशरूपक में छोड़ दिया गया है।

इसी प्रकार कतिपय अन्य ग्रंथों में भी नायक के विविध अङ्गों का विवेचन करते हुए नाट्य विषय का निरूपण किया गया है। प्रायः सबत्र ही नाट्यविषयक विवेचन का मुख्य आधार भरत का नाट्यशास्त्र रहा है। अन्य नाट्यग्रंथों का भी आश्रय लिया गया है जिनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं। कहीं-कहीं नवीन माग का भी ग्रहण किया गया है। फलतः नाट्य सम्बन्धी परवर्ती ग्रंथों में पर्याप्त मात्रा में मतभेद मिलता है। अपने पूर्ववर्ती सख्तों से सामग्री ग्रहण करना, यत्र-तत्र उनकी

आलोचना करना तथा नवीन स्थापना करना—इसी माग से संस्कृत नाट्यशास्त्र का विकास होता रहा है। इस विकास परम्परा में धनञ्जय ने दशरूपक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखा है।

२ धनञ्जय और उनका दशरूपक

(१) धनञ्जय का समय—धनञ्जय का समय निश्चित सा ही है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं ही लिखा है कि उन्होंने राजा मुञ्ज की समा में वैदग्ध्य प्राप्त किया था, मुञ्जराज की पण्डित परिषद् में उनकी धारणा थी। इतिहासकारों ने राजा मुञ्ज का समय निश्चित करने का प्रयास किया है। यह भी माना गया है कि 'गोडवहो' के लेखक मुञ्ज से ये मुञ्जराज भिन्न हैं। 'गोडवहो' के लेखक मुञ्ज तो महाराज यशोवर्मन् की समा के पण्डित थे। उनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है (द० Haas Introduction to Dasalupa p xxii)। दूसरी ओर मुञ्जराज का समय दशम शताब्दी माना जाता है। एपिग्राफिका इण्डिका (१ २२६) से विदित होता है कि मुञ्जराज के लिये, विविध अभिलेखा में अनेक नामों तथा उपाधियाँ का प्रयोग किया गया है, जैसे वाकपति, वाकपतिराज, उपलराज, अमोघवय, पृथिवीवल्लभ, इत्यादि। धनिक ने भी 'प्रणयकुपिताम् इत्यादि पद्य को एष स्थल पर (४५८) वाकपति के नाम से तथा दूसरे स्थल पर (४६०) मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है। बाद में परमार राजा अजुनव (१३ वीं शती) ने भी अमरकान्तक की टीका में एक पद्य उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट ही लिखा है कि यह पद्य हमारे पूर्वज महाराज मुञ्ज जिनका दूसरा नाम वाकपतिराज था, का रचना हुआ है (अस्मत्पूर्वजस्य वाकपति राजापरनाम्नोमुञ्जदत्तस्य)।

वाकपतिराज मुञ्जदेव मालवा के परमारवंशी राजा थे। वृहत्तर के अनुसार वे अपने पिता (सीया) के बन् ६७४ ई० में मिहासनारुड हुए और ६८५ तक राज्य करते रहे। ६६५ में चातुर्ष्य राजा तलप द्वितीय ने उन्हें पराजित कर दिया और उनकी हत्या कर दी (कीर्तहोम एपिग्राफिका इण्डिका २ २१४—२१५)।

१ इस समय की पुष्टि निम्न आधार पर भी होती है—(१) इण्डियन एंटीक्वेरी भाग ६ पृ० ५१४२, वाकपतिराज का एक अभिलेख ६७४ ई० (स० १०३१) का है। इसमें लिखा है कि अहिच्छत्र देश से आये धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को वाकपतिराज ने भूमि दान में दी थी। (ii) इण्डियन एंटीक्वेरी भाग १४ पृ० १५६—१६१ के अनुसार वाकपतिराज ने सन् ६७६ ई० (स० १०३६) में उज्जयिनी में भट्टेश्वरी को एक ग्राम पुरस्कार में दिया था। (iii) इण्डियन एंटीक्वेरी भाग ३६ पृ० १७० के अनुसार तलप द्वितीय ने मुञ्ज को हराया था। तलप द्वितीय का मृत्युकाळ शक संवत् ६१६ (६६७—६८ ई०) है (iv) अमितगति नामक विद्वान् ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' नामक ग्रन्थ की संवत् १०५० (६६३—६४) में मुञ्ज के शासनकाल में रचना की थी। इस प्रकार मुञ्ज ६६३ तथा ६६७ के बीच मारा गया (मि० HSP, पृ० २४६)।

शाकपतिराज मुञ्ज विख्यात योद्धा थे। वे अच्छे कवि थे और कवियों का आदर भी करते थे। यद्यपि आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि अनेक प्रमाणों के द्वारा उनका कवि होना सिद्ध होता है, जसा कि अभी ऊपर कहा गया है धनिक ने उनका एक पद्य द्वा बार दो नामों से उद्धृत किया है। दोमैत्र (१०३७-१०६६) न तीरा पद्य उत्पलराज के नाम से उद्धृत किये हैं। धनञ्जय और धनिक के अतिरिक्त उनकी सभा को अनेक विद्वान् सुशोभित करते थे। तिलकमञ्जरी के लेखक धनपाल उनकी सभा के पण्डित थे। प्रसिद्ध कोपकार हलामुघ ने भी अपना अंतिम समय उनकी सभा में बिताया था। नवसाहस्राष्ट्रचरित के रचयिता पद्मगुप्त ने भी उनका अनुग्रह प्राप्त किया था। फलतः अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य रुचि तथा गुणप्राप्ति का वर्णन किया है। पद्मगुप्त ने उन्हें सरस्वती कल्पलता का बाद, कविबाधव (१७,८) तथा कविमित्र (११ ६३) बतलाया है। हलामुघ ने पिङ्गल की टीका में उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। बल्लाल के भोजप्रबन्ध तथा मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध चिन्तामणि से भी उनके स्वयं कवि होने तथा कवियों को प्रोत्साहन देने के प्रमाण मिलते हैं।

विद्या तथा विद्वानों के प्रति मुञ्ज का यह अनुराग इस वंश में बाद में भी चलता रहा। उनके भतीजे भोजराज, शृङ्गार प्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता के रूप में विख्यात हैं, जसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। इस वंश के एक राजा अजुनदेव ने अमरकान्तक पर टीका लिखी है।

ऐसे विद्यानुरागी महाराज मुञ्ज के राज्यकाल में ही धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि दशरूपक का रचना काल ६७४ और ६६४ के मध्य रहा होगा।

अन्य प्रमाणों के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है। दशरूपक लोक टीका में रुद्रट की एक कारिका ('रसनाद्रसत्वम् काव्यालङ्कार १२४ तथा दश० ४३५) उद्धृत की गई है तथा दश० की कारिका (४३६) में भी रुद्रट के मतव्य की ओर संकेत है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक की कारिका भी धनिक ने उद्धृत की है। पी० वी० काणे के अनुसार रुद्रट का समय ८५० ई० से पूर्व है तथा ध्वन्यालोक का समय ८६० तथा ८६० ई० के मध्य है। इस प्रकार दशरूपक (कारिका तथा वृत्ति) की रचना का समय इनके पश्चात् ही हो सकता है। दूसरी ओर दशरूपक में अभिनवगुप्त के मतों का उल्लेख नहीं मिलता न ही अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में दशरूपक मतों का कोई संकेत है। इससे विनिश्चित होता है कि अभिनवगुप्त और धनञ्जय के समय में बहुत अंतर नहीं रहा होगा (मि०HSP पृ० २४७ २४८)।

इस प्रकार दशरूपक का रचनाकाल प्रायः निश्चित सा ही है। यह सुनिश्चित है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही दशरूपक के अन्तिम श्लोक में उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त धनञ्जय की जीवनी आदि के विषय में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं होता, न ही यह विदित होता है कि दशरूपक के अतिरिक्त धनञ्जय ने किसी और ग्रन्थ की भी रचना की थी या नहीं।

(२) दशरूपक का आधार—दशरूपक नाट्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, (नाट्य=रूप—रूपक)। इस ग्रन्थ में दश मुख्य रूपा या रूपकों का वर्णन है। अतः यह दशरूपक कहलाता है। हाँस (Haas) का सुझाव है कि इसका नाम दशरूप रहा होगा, क्योंकि धनञ्जय ने अन्तिम श्लोक में दशरूप नाम ही दिया है (दशरूपम्) एतत्, ग्रन्थ ने भी टीका का नाम दशरूपावलीक ही रखा है (Introduction, P XXVII) किन्तु आज यह ग्रन्थ 'दशरूपक' नाम से प्रसिद्ध है। नाट्यशास्त्र में अत्यन्त विस्तार से वर्णित नाट्य सम्बन्धी सामग्री को संक्षेप में किन्तु विशद रूप से प्रस्तुत करना ही धनञ्जय का लक्ष्य है। नाट्यशास्त्र में नाट्यविषयक मत्तव्य इधर उधर बिखरे हैं, विविध विषयों के विवचन में यत्र तत्र उलभे हैं तथा अत्यधिक विस्तार से प्रस्तुत किये गये हैं। इसलिये मूल ही विद्वज्जन नाट्यशास्त्र के द्वारा नाट्यविद्या का ज्ञान प्राप्त कर सकें, अल्प-बुद्धि जनो के लिये तो वह दुरुह ही है। जो नाट्यविद्याबोधगम्य बनाने के लिये ही धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र के मत्तव्यो का प्रायः नाट्यशास्त्र के शब्दों में ही संक्षेप में प्रयुक्त किया है—तस्याथस्तत्पदस्तेन सक्षिप्य त्रियतेऽञ्जसा' (दश० १५)। नाट्यशास्त्र का आधार लेते हुए भी धनञ्जय ने यथासम्भव नवीन उद्भावनाएँ की हैं जसा कि उन्होंने स्वयं ही बतलाया है—'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि (दश० १४)।

वस्तुतः धनञ्जय ने उस समय उपलब्ध समस्त नाट्य सम्बन्धी सामग्री का भली भाँति उपयोग किया है, पूर्ववर्ती आचार्यों के मत्तव्यो का परिष्कार किया है और यथावसर आलोचना भी की है। 'उदाहरणाय दशरूपक में उद्भट के वृत्तिविषयक मत की (३६१) तथा रुद्रट (४३६) एवं ध्वनिकार (४३७) के रसविषयक मत की आलोचना की गई है। अनेक स्थलों पर नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त नाम, लक्षण तथा विभाजन को परिष्कृत किया गया है। भरत ने चार प्रकार की नायिका (दिव्या, नपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका) का निरूपण किया था किन्तु धनञ्जय ने नायिका के तीन प्रकार बतलाये हैं—स्वकीया, अया (परकीया) और साधारणी। इसी प्रकार भरत ने शृङ्गार रस के दो भेद किये थे—सम्भोग तथा विप्रलम्भ, किन्तु धनञ्जय ने अयाग, विप्रयोग तथा सम्भोग नाम से तीन भेद किये हैं। धनञ्जय ने कहीं पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में परिवर्तन किया है। (द० प्रकाश १ सूत्र ३१, ७६ ८०, ९६, १०७, १२०, तथा प्र० २ सूत्र ८० ८६, आदि), कहीं लक्षण में परिष्कार किया है (द० प्र० १ सूत्र ४१, ४८, ५०, ६२, १०२,)। सम्भवतः इन परि-

वतनी और ससोधनी में उन नाट्यशास्त्रियों के मतों का भी प्रभाव पड़ा होगा जो भरत तथा धनञ्जय के मध्य के युग में रहे होंगे ।

(३) दशरूपक की शली— इसकी शली भरत व नाट्यशास्त्र से निता त भिन्न है । नाट्यशास्त्र में कोई बात अनेक वाक्यों में विस्तार से कही गई है श्लोकपूर्ति के लिये बहुत में शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है । इसके विपरीत दशरूपक में गिने चुने शब्दों में नाट्य के मत या को कह दिया गया है । इसकी कारिकाएँ सूत्र रूप में ही तथ्य को प्रकट कर देती हैं । कहीं विवश होकर ही भर्तृ के शब्दों या वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है । यह अवश्य है कि कहीं कहीं अत्यन्त संक्षेप के कारण अर्थ की स्पष्टता में बाधा पड़ती है । फलतः वृत्ति की सहायता के बिना अनेक लक्षण स्पष्ट नहीं होते । जहाँ कहीं नाट्यशास्त्र के विस्तृत विषय को प्रकट करने के लिये केवल एक शब्द का प्रयोग कर दिया है, वहाँ तो नाट्यशास्त्र अथवा अन्य किसी व्याख्या की सहायता से ही अर्थ समझा जा सकता है ।

पारिभाषिक शब्दों के लक्षण करते समय धनञ्जय ने कहा कहीं निवचन शली का भी प्रयोग किया है । सम्भवतः नाट्यशास्त्र से प्रभावित होकर ही उन्होंने इस शली का अपनाया है । उदाहरणार्थ 'अधिकार पलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु (११२) विशेषादाभिमुख्येन चरतो व्यभिचारिण' (४७) । किसी विषय के भेद प्रभेद दिखाकर उनकी व्याख्या करना यह भारतीय प्रतिपादक शली की प्रमुख विशेषता है जो दशरूपक में आरम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होती है । नायक नायिका तथा रस आदि के जो भेद प्रभेद धनञ्जय की सम्भव प्रतीत हुए हैं, विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं । फिर भी धनञ्जय ने परवर्ती लेखकों की अपेक्षा समय से काम लिया है ।

दशरूपक पद्यमय रचना है । इसमें अधिकतर अनुष्टुभ छन्द (श्लोक) का प्रयोग है । चारों प्रकारों के अन्तिम पद्या में तथा अन्त भी १८ बार अन्य छन्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे—आर्या वृत्त (१३ ४ ३३, ४ ३५ ४ ७६—) + ३ स्रग्धरा (१८, ४८, ४२८) + इन्द्रवज्रा (१६ ४ ४६ --६ धरण ४ ८६) + ४ वसन्ततिलका (१६८ ३ ७६ ४ ७२ ४ ८५) + १ उपजाति (२ ७२) + २ शादूल विक्रीडित (४ ७३, ४ ७८) ।

छन्दों के निर्वाह के लिये माया में भी परिवर्तन करना पड़ा है । कहीं छोटे शब्दों का तथा कहीं बड़े शब्दों का प्रयोग किया गया है कहीं छोटे छोटे समास हैं तो कहीं दीर्घ समास भी । समासों की विविधता छन्द निर्वाह में बहुत सहायक हुई है । कभी कभी छन्द का पूर्ति के लिये आवश्य (११८) तथा अन्य इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है । धनञ्जय ने स्यात् भवेत् इव्यत्, स्मृत इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके भी भर्तृ के शब्दों को बचा दिया है । इसके अतिरिक्त छन्द निर्वाह

के लिये (i) वही प्रसिद्ध शब्द क अथ म काई अप्रसिद्ध शब्द रख दिया गया है, जैसे सूत्रधार क लिये सूत्रघत् या सूत्रिन् निद्रा के स्थान में स्वाप (८८२) ध्यायि क लिये आति (४७३) (ii) वही समस्त पद के लिये केवल पद था, जैसे विरहोत्कण्ठता के लिये उक्ता (४६८) वही क्वल पद क लिये समस्त पद हा, जैसे शांत के लिये शम प्रवप (४४५) का प्रयोग किया गया है। (iii) वहा उपसग जोड़ दिया गया है, जैसे ह्य क स्थान पर प्रह्य (४७२) कही उपसग पृथक् कर दिया गया है, जैसे आवेग के स्थान पर वेग (४७५), वही उपसग बदल दिया गया है, जैसे अवमश के स्थान पर विमश (३६०—६१), (iv) वही एव अथ के मिश्र मिश्र प्रत्यया से निष्पन्न शब्दा का प्रयोग किया गया है, जैसे आलय के लिये अलसता (४८), भाषण क लिये भाषा (१५०) अनुमान क लिये अनुमा (१५०) और (v) वही शब्द के अंत से 'क' को पृथक् कर दिया गया है जैसे उद्घात्यक के स्थान पर उद्घात्य (३१४) जनान्तक के स्थान पर जनान्त (१६५) (मि० Haas intro)। इसी प्रकार के कुछ अर्थ परिवर्तन भी करते पड़े हैं। वस्तुतः पद्य बद्ध जो शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे जाते हैं उनमें इस प्रकार के भाषागत परिवर्तन अनिवार्य ही हो जाया करते हैं। फिर भी वही कहाँ ऐसा आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि सावधानी रक्खी जाती तो भाषा को और अधिक सरल बनाया जा सकता था।

कुछ दोषों के हाते हुए भी अपने अपूर्व गुणों के कारण यह दशरूपक नाट्यविद्या के जिनामुआ के लिये उपादेय बन गया। पठन पाठन की दृष्टि से ही यह लोक प्रिय नहीं हुआ, प्रत्युत परवर्ती नाट्य विषयक कृतियों में इसका अनुसरण किया गया तथा कहाँ कहाँ प्रतिद्विद्विता के भाव से इसकी आलोचना भी की गई, जसा कि ऊपर दिखलाया गया है, भावप्रकाशन प्रताप रश्मिशोभूपण तथा साहित्यरत्न के नाटक सम्बन्धी विवेचन पर इसका आधिक्य प्रभाव परिलक्षित होता है दूसरी ओर नाट्य दपण में इसके लिये प्रतिद्विद्विता की भावना दृष्टिगोचर होती है। (भा० प्र०, ना० द० प्रता० तथा सृ० द० में दशरूपक की अपेक्षा जो विशेष अंतर हैं उनमें से अधिकांश का टिप्पणी में यथावसर उल्लेख किया गया है)।

(४) दशरूपक की टीकाएँ और धनिक का दशरूपकालोक—भारत के नाट्यशास्त्र क पश्चात् धनञ्जय का दशरूपक ही भारतीय नाट्यविद्या का प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। यह अत्यन्त सक्षिप्त है। इसलिये इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं होगी ऐसा सम्भावना है। किन्तु वे सभी टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं, न ही उन सभी के काइ सकेत मिलते हैं। आज तो नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम तथा बहुरूपमिश्र की टीकाएँ हस्तलिपि में मिलती हैं। इनमें बहुरूपमिश्र की टीका बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है (दलदेव उपाध्याय भा० सा० शा० पृ० ८३, डॉ० राघवन् J O R vol VIII pp 321 334) हाल (preface पृ० ४ नोट्स) ने क्षोणीधर मिश्र की टीका का भी उल्लेख किया है। उपरिनिर्दिष्ट टीकाओं में से नृसिंह की टीका धनिक

की अवलोक टीका पर है (Bulletin of London School of O studies vol IV p २८० मि० पी० वी० काणे HSP पृ० २४७) ऐसा प्रतीत होता है की ये सभी टीकाएँ अभी तक अप्रकाशित ही पड़ी हैं सम्भवत बहुरूप मिश्र की टीका प्रकाशित हो रही है (द० HSP पृ० २४७)। इस समय केवल धनिक की दशरूपावलोक (अवलोक) वृत्ति ही उपलब्ध है, जो अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। वस्तुतः आज इस वृत्ति के कारण ही दशरूपक के महत्त्व को समझा जा सकता है। दशरूपक के मतव्यो को स्पष्ट करने का काय इस वृत्ति ने ही किया है। कारिका और वृत्ति दोनों मिलकर ही दशरूपककार धनञ्जय के उद्देश्य को सिद्ध करते हैं।

(५) धनिय का समय तथा कृतियाँ आदि—धनिक भी विष्णु के पुत्र थे। अवलोक टीका के अंत में यह लिखा मिलता है— 'इति विष्णु सूनोधनियस्य कृतौ दशरूपावलोकै रसविचारो नाम चतुथ प्रकाश । इसके विदित होता है कि धनिक विष्णु के पुत्र थे, वे धनञ्जय के अनुज रह होंगे। किंतु कुछ उल्लेखा के आधार पर यह प्रकट होता है कि धनञ्जय और धनिय दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। साहित्यदपणकार विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि ने दशरूपक की कारिकाओं को धनिक के नाम से उद्धृत किया है—'यदुक्त धनिकेन न चातिरसो लक्षण,' [दश० ३ २२—३३ तथा सा० द० ६ ६४]

सम्भवत इन विद्वानों की दृष्टि में धनञ्जय तथा धनिक एक ही व्यक्ति थे। इस मत का समर्थन इन युक्तियों से किया जा सकता है—(i) दशरूपक की कारिकाओं से पृथक वृत्ति में कोई मङ्गलाचरण नहीं किया गया। प्रायः यह देखा जाता है कि यदि वृत्ति, भाष्य या टीका का लेखक कोई भिन्न व्यक्ति होता है तो वह पृथक मङ्गल किया करता है। (ii) परवर्ती आचार्यों ने धनिक की वृत्ति के रूप में दशरूपक के उद्धरण दिये हैं जसा अभी विश्वनाथ और विद्यानाथ के विषय में कहा गया है। (iii) यह वृत्ति दशरूपक की कारिकाओं का अभिन्न अङ्ग सा प्रतीत होती है इसके बिना दशरूपक अधूरा सा है।

दूसरी ओर विद्वानों का विचार है कि धनञ्जय और धनिक दो भिन्न भिन्न व्यक्ति ही हैं, क्योंकि (i) कारिका तथा वृत्ति में कतिपय स्थलों पर मत भेद दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ २२२ में 'सुखाय' शब्द के अर्थ में धनिक ने दो सम्भावनाएँ दिखाई हैं—अप्रयासावाप्तधन या सुखप्रयोजन किंतु वहाँ कोई निगम नहीं किया। इससे विदित होता है कि वृत्तिकार कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति है। इसी प्रकार ३४० में त्याग्यम् आवश्यक न च' यहाँ कारिकाकार का अभिप्रेत यह प्रतीत होता है कि कथावस्तु के विकास के लिये जो आवश्यक हो उसे नहीं छोड़ना चाहिये किंतु वृत्ति में इसका अर्थ किया गया है—'आवश्यक तु देवपितृ कार्याद्यवश्यमव श्वचित् कुर्यात्, (२) हस्तलिखित प्रतियाँ में यह लिखा मिलता है—

'धनिकस्य कृती दशरूपायलोकै' तथा दशरूपक की कारिकाओं के अंत में यह लिखा है— धनञ्जयेन आविष्टुसम् दशरूपमेतत्'। इससे स्पष्ट विदित होता है कि दशरूपक के कर्ता धनञ्जय हैं और दशरूपायलोक नामक वृत्ति के कर्ता धनिक हैं। हाँ धनिक जो वृत्तिकार हैं वे धनञ्जय के तात्पर्य से भली भाँति परिचित रहे होंगे तभी तो दुरुह कारिकाओं की भी स्वष्ट व्याख्या कर दी है। सम्भवतः कारिकाओं की रचना में धनिक का भी सहयोग रहा होगा (इस विषय में विशेष द्र० Dr De, S P vol I PP 131—134)।

धनिक की जीवनी के विषय में हमारी अधिक जानकारी नहीं है डॉल ने अपनी भूमिका (पृ० ३ नोटस) में लिखा है कि अवलोक की एक हस्तलिपि के अनुसार धनिक उत्पलराज के यहाँ एक आफिसर थे। बुह्लर (उदयपुरप्रशास्ति E I vol I P 227) का कथन है धनिक उत्पलराज के महासाध्यपाल, ये। मि० काणे HSP पृ० २४४—२४५ टिप्पणी ३)। जसा कि ऊपर कहा जा चुका है उत्पलराज मुञ्जराज का ही औपाधिक नाम माना जाता है जिसका राज्यकाल ६६४ तक रहा। तब क्या इससे पूर्व ही अवलोक वृत्ति भी लिखी जा चुकी होगी? किंतु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि धनिक ने पद्यगुप्त केनवसाहसाङ्कचरित का एक (पद्य उदा० १६५) उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्कचरित की रचना सिधुराज के समय में हुई और मुञ्जराज सिधुराज के बाद सिंहासन पर बैठे। इसके अतिरिक्त जसा कि ऊपर कहा जा चुका है, किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचाय को मुञ्ज ने भूमि दान में दी थी। यदि लेखपत्र का धनिक पण्डित और अवलोक वृत्ति का कर्ता धनिक एक ही व्यक्ति है तो इन सब घटनाओं का सामञ्जस्य करने में कठिनाई है। इसलिये यह मानना उचित प्रतीत होता है कि अवलोक टीका सिधुराज के राज्यकाल में लिखी गई होगी। इसकी रचना धनिक ने अपनी वृद्धावस्था (लगभग ८० वर्ष की आयु) में की होगी फलतः इसका रचनाकाल दशम शती का अंत या एकादश शती का आरम्भ माना जा सकता है। इस प्रकार धनिक को धनञ्जय का अनुज मानने में भी कोई कठिनाई नहीं है। किञ्च, दशरूपक तथा अवलोक टीका के समय में थोड़ा ही अंतर रहा होगा।

धनिक गम्भीर विद्वान् थे तथा कवि भी। अवलोक टीका में पदे पदे उनकी विद्वान्ता झलकती है, साहित्यशास्त्र नाट्यशास्त्र तथा मीमांसा आदि के विषय में उनका पण्डित्य प्रकट होता है। धनिक ने कारिकाया की व्याख्या के साथ-साथ उदाहरणों द्वारा भी नाट्य के नियमों को स्पष्ट किया है। काव्य तथा रूपकों से अवसर के अनुसार उद्धरण प्रस्तुत करना एक ओर तो उनके विस्तृत अध्ययन का सूचक है दूसरी ओर उनके सूक्ष्म निरीक्षण एवं मनन को प्रकट करता है। अवलोक टीका में ६०० से अधिक उद्धरण दिये गये हैं जिनमें कुछ गद्य में भी हैं। यहाँ २४ उदाहरण धनिक के स्वरचित हैं जिनमें चार प्राकृत के हैं। इससे विदित होता है कि धनिक प्राकृत तथा संस्कृत के अच्छे कवि थे। वे साहित्यशास्त्र के भी उच्चकोटि के

विद्वान् ये । अवलोक टीका के एक उद्येय में विदित होता है कि उन्होंने 'वाच्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ भी लिखा था । उस ग्रन्थ के मात पद्य अवलोक टीका में उद्धृत किये गये हैं । किन्तु दशरूपक यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है ।

अवलोक टीका में धनिक ने अनेक ग्रन्थों का आधार लिया है । आज उपलब्ध पुस्तकों से उनका उद्धरण में कहां पाठ भेद भी मिलता है । सम्भवतः उन्होंने अपनी स्मृति के आधार पर ही उदाहरण दिये होंगे, अथवा हस्तलिपियों में ही पाठभेद रहा होगा । धनिक न कहीं-कहीं पूरा उदाहरण न देकर प्रतीक मात्र ही उद्धृत की है । कहीं एक ही पद्य को कई नाट्य नियमों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । कहीं प्रागुदाहृतम् कहकर पहले उदाहरण की ओर संकेत कर दिया है । कहीं उद्येय नचरित आदि उपाख्यानों को भी उदाहरण के रूप में दिखलया है । उद्धरणों के विषय में धनिक की यह विशेषता है कि उन्होंने अधिभाग स्थला पर ग्रन्थ या कवि का नामोल्लेख किया है^१ जिससे संस्कृत कवियों के काल निगम में बड़ी सहायता मिलती है । इसका अतिरिक्त धनिक न कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है । उनमें कहीं नामत उल्लेख किया है कहीं नहीं भी (इन सबका परिशिष्ट एक में विवरण दिया गया है) ।

दशरूपक की वृत्ति हाते हुए भी दशरूपकालोक का अपना निजी महत्त्व है । इसमें अनेक विवादास्पद विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है उदाहरणार्थ नाट्य में शांतरस की योजना रसों का विरोध तथा अविरोध, काय का रस भाव आदि के साथ सम्बन्ध इत्यादि । इस प्रकार दशरूपक के दुरूह स्थलों का भी स्पष्टीकरण करने हुए उन्हें उचित उदाहरणों द्वारा हृदयगम कराने का प्रयत्न किया गया है । फिर भी यह टीका सबका निर्दोष नहीं कही जा सकती । कहीं कहीं स्पष्ट मतव्याप्ति की भी विस्तृत व्याख्या कर दी गई है दूसरी ओर तुर्बोध यातों को भी 'स्पष्टम्' कहकर छोड़ दिया गया है । कतिपय स्थलों पर पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया । वहाँ उदाहरण दिखलाये गये हैं किन्तु शब्दों के स्पष्टीकरण के बिना वास्तविक अर्थ सिद्ध नहीं रह जाता है । वस्तुतः इस प्रकार के दाप नगण्य हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यह वृत्ति दशरूपक विद्या संस्कृत नाट्यशास्त्र को अवलोकित करती है ।

६ दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि—

दशरूपक में नाट्यविषय का संक्षिप्त निरूपण किया गया है । इसमें चार प्रकाश हैं । प्रथम प्रकाश के आरम्भ में गणेश विष्णु तथा शिव (द्र० टि० १२) और भरत मुनि को नमस्कार करके सरस्वती की कृपा से ग्रन्थ रचना में प्रवृत्ति रचना का उद्देश्य तथा नाट्य (एव वाच्य) का प्रयोजन बताया गया है यहाँ भामह के मत पर उपा

१ हिंदी अनुवाद में अधिकांश उद्धरणों के सन्दर्भ दिखलाये गये हैं । जहाँ सन्दर्भ नात नहीं हो सका है वहाँ प्रश्नचिह्न (?) रख दिया है । अथवा छोड़ दिया गया है ।

लम्ब करत हुए मुख्यत आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन माना गया है (१६)। फिर नाट्य (=रूप=रूपक) का लक्षण करते हुए उसका नत्त तथा नृत्य से भेद प्रकट किया गया है। साथ ही दस प्रकार के रूपको (१ नाटक २ पकरण ३ भाण, ४ प्रसहन ५ डिम ६ ध्यायोग ७ समवकार, ८ वीथी ९ अङ्क और १० ईहासृग) का उल्लेख करते रूपको के भेदक तीन तत्त्वो वस्तु नेता और रस का निर्देश किया गया है। यहाँ तक इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश कहा जा सकता है।

प्रथम प्रकाश का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रूपक की वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की होती है आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रधान कथावस्तु (इतिवृत्त) को आधिकारिक कहते हैं और सहायक को प्रासङ्गिक। प्रासङ्गिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—पताका और प्रकरी। मुख्य कथा का दूर तक साथ दन वाली प्रासङ्गिक कथा पताका कहलाता है, जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव की कथा है। मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलने वाली प्रकरी होती है, जैसे रामायण की कथा में श्रवण या जटायु की कथा है (१ १३, १४)। पताका के प्रसङ्ग से धनञ्जय ने पताका स्थान का भी निरूपण किया है। जहाँ समान विशेषणों के द्वारा या अयोक्ति से आगे आन वाले प्रस्तुत अर्थ की सूचना दी जाती है वह पताकास्थान या पताकास्थानक कहलाता है (१ १५)। भावप्रकाशन में इसे तीसरे प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त ही बतलाया गया है। किंतु धनञ्जय ने ऐसा कुछ नहीं कहा। य पताका इत्यादि मुख्य कथा के विकास में सहायक होते हैं। किंतु यदि कथावस्तु सरल है तो इनके बिना भी हो सकती है। अतः ये कथावस्तु के अनिवाय अङ्ग नहीं। यथाधिकाधिक और प्रासङ्गिक कथाएँ भी तीन तीन प्रकार की होती हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिथित (१ १५)। इनमें से किसी प्रकार की कथावस्तु का आश्रय लेकर रूपक की वस्तु-योजना की जाती है।

वस्तु योजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

इतिवृत्त नाट्य का शरीर है। कवि इतिवृत्त की सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित योजना करता है और क्रमिक विकास का ध्यान रखता है। इसी से कथावस्तु रोचक और ग्राह्य बनती है। नाट्यशास्त्र (१६१) के अनुसार इतिवृत्त का विभाजन ५ संधियों के आधार पर किया जाता है। ये ५ संधियाँ हैं—मुख्य प्रतिमुख, गभ, अवगम और उपसंहार। संधि का अर्थ है—इतिवृत्त के विभाग जो कि अथप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के आधार पर किये जाते हैं। नाटक आदि में इतिवृत्त के नायक का कोई लक्ष्य होता है वही फल कहलाता है। उस फल सिद्धि के उपाय ही अथ प्रकृतियाँ कहलाती हैं। ये अथप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज बिंदु पताका प्रकरी तथा काय (१ १८)। फल को लक्ष्य करके किया गया जो नायक का व्यापार (=काय) है, उसकी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ कहलाती हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार ये अवस्थाएँ पाँच हैं—आरम्भ, व्यत्न, प्राप्त्पारा नियताप्ति तथा फलागम

(११६२२)। दशरूपक (एव साहित्यदपण आदि) के अनुमार अयप्रवृत्तियों का कार्यावस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सद्य का उद्भव होता है। किंतु इसमें कुछ दोष प्रतीत होता है अतः धनञ्जय का सद्य का सक्षण विचारणीय ही है (१२४ टि०)। इन सद्यों के ६४ अङ्ग हैं। उसका रूपक के विभिन्न प्रकारों में यथासम्भव प्रयोग किया जाता है। सभी रूपकों में समस्त सद्यों या सध्यङ्गों का प्रयोग अनिवार्य नहीं है (विशेष द्र० १२४ टि०)। कीध का विचार है कि इन सध्यङ्गों के बटन (विभाजन) का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। (स० नाटक पृ० ३२०)। किंतु दशरूपक के अनुसार रूपकों में इन सध्यङ्गों की योजना के ६ प्रयोजन हैं (११५)। इनकी योजना से कथावस्तु में क्रमबद्धता रोचकता, प्रवाह तथा रसास्वादकता की अभिवृद्धि हुआ करती है।

वणन की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

रूपको का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन कराना है किंतु इतिवृत्त की सभी घटनाएँ सरस नहीं हुआ करती। साथ ही कतिपय घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका रङ्गमञ्च पर दिखलाना वाञ्छनीय नहीं होता। इसीलिये कथावस्तु के दो भाग किये गये हैं—सूच्य और दृश्य। जो घटनाएँ नीरस या अनुचित होती हैं, किंतु कथा प्रवाह के लिये उनका जानना आवश्यक होता है उनकी केवल सूचना दी जाती है (विस्तृत वणन नहीं) वही सूच्य इतिवृत्त है। जो रोचक तथा सरस घटनाएँ होती हैं उनका विशद वणन किया जाता है और रङ्गमञ्च पर अभिनय भी, वही दृश्य इतिवृत्त है। सूच्य इतिवृत्त की सूचना देने के लिये रूपकों में पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपको (अर्थ के सूचक) का प्रयोग किया जाता है—विष्कम्भक चूलिका अङ्कास्य अङ्कावतार और प्रवेशक (१५८-६२)। दृश्य इतिवृत्त का रूपक में अङ्को में विभाजन किया जाता है। अङ्को की संख्या सभी रूपको में समान नहीं होती (द्र० दश० ३)।

नाटयधम (= नाटयोक्ति = नाटकीय सवाद) की दृष्टि से वस्तु विभाजन—

भारत के नाटयशास्त्रियों ने पाश्चात्य नाटयशास्त्र के समान सवाद की पृथक नाटक का तत्त्व नहीं माना, अपितु वस्तु के अङ्ग के रूप में ही सवाद का विचार किया है। सवाद (कथोपकथन) की दृष्टि से वस्तु तीन प्रकार की होती है—सवधाव्य नियतध्राव्य और अध्राव्य। सवध्राव्य को रूपको में 'प्रकाशम्' शास्त्र के द्वारा प्रकट किया जाता है। नियतध्राव्य दो प्रकार का होता है जनातिक और अपधारित। अध्राव्य को 'स्वगत भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त आकाशभाषित नामक एक अर्थ प्रकार की नाटयोक्ति भी होती है। (द्र० १६३-६७)।

द्वितीय प्रकाश, नायक-नायिका के भेद प्रभेद—

नायक शब्द का मुख्य अर्थ है नाटक आदि का मुख्य पात्र। किन्तु कभी कभी नायक शब्द का सामान्यतः किसी भी पात्र के लिये प्रयोग कर दिया जाता है। इस प्रकाश के आरम्भ में नायक के सामान्य गुणों का वणन किया गया

(२१-२) । फिर नायक के चार प्रकार (धीरोदात्त धीरललित, धीरप्रशांत और रोद्धत) और उनके लक्षण बतलाकर शृङ्गारी नायक की चार अवस्थाओं (दक्षिण, ठ, घट्ट तथा अनुकूल) का निरूपण किया गया है (२६-७) । यहाँ नायक के हाथको का निरूपण भी है । इनमें पताका नामक इतिवृत्त का नायक 'पीठमद' हलाता है जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव है (०८) विट और विद्रुपक नायक के शृङ्गारी सहायक हैं (२६) । मन्त्री इत्यादि कायसिद्धि में, पुरोहित आदि घम में, अमृत सैनिक आदि दण्ड में और वपवर आदि अंत पुर में नायक के सहायक होते हैं (२४२-४६) । यहाँ कञ्चुकी का उल्लेख नहीं किया गया । रूपक में नायक के रिश्ते को निखारने के लिये प्रतिनायक की योजना की जाती है अतः उसके स्वरूप का भी निरूपण किया गया है (२६) । तदनन्तर नायक के शोभा आदि आठ सात्त्विक गुणों का निरूपण है (११०-१४) ।

नायिका भी सामान्यतः नायक के गुणों से युक्त होती है । वह तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया, तथा साधारण स्त्री (वेश्या) स्वकीया भी तीन प्रकार की होती है मुग्धा, मध्य, प्रगल्भा । नायिका की स्वाधीनपनिका आदि आठ अवस्थाएँ बतलाकर दृश करती है (२२३-२८) । नायक के समान नायिका की भी सहायिकाएँ होती हैं जो प्रायः दासी, सखी, पडोसिन भिक्षुणी आदि होती हैं और दूती का काम भी करती हैं (२२६) नायिका के सौंदर्य में युवतियों के २० सात्त्विक अंगशुद्धि का भी वर्णन किया गया है । हाव, भाव, हेला इत्यादि युवतियों के शरीर की शोभा बढाते हैं, इसी हेतु इन्हें युवतियों के अलङ्कार कहा जाता है (२३०-४२) ।

इसके पश्चात् नाट्यवृत्तियों का वर्णन है । नायक आदि के मानसिक, वाचिक और कामिक व्यापार ही नाट्य में वृत्तियाँ कहलाती हैं । नाट्यवृत्तियाँ चार हैं—सात्त्वती, भारती, वशिकी तथा धारभटी । इनमें भारती विशेषकर शब्दवृत्ति है और शेष तीनों उभयवृत्तियाँ कहलाती हैं । उद्भट के अनुयायी अथवृत्ति नाम की एक उभय वृत्ति मानते रहे घनञ्जय ने उनके मत का निराकरण किया है (२६०-६१) । दशरूपक में अङ्गो सहित चारों वृत्तियों का निरूपण करते हुए यह भी दिखलाया गया है कि किस रस में कौन सी वृत्ति हुआ करती है (२४७-६२) ।

द्वितीय प्रकार के अंत में प्रवृत्तियों का वर्णन है । प्रवृत्ति का अभिप्राय है, दश भेद के कारण पात्रों के भिन्न भिन्न वेप भूषण तथा भाषा आदि होना । यहाँ अन्यतः सलोप में भाषा प्रयोग तथा सम्बोधन के प्रकार दिखलाये गये हैं । इस विषय का नाट्यशास्त्र तथा साहित्यदर्पण आदि में विशद विवरण है । दशरूपक का यह निरूपण उनके सामने अधूरा ही है । इस प्रकार द्वितीय प्रकार में नायक-नायिका तथा उनके विविध व्यापारों का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त ना० शा०

तथा साहित्यदपण आदि मे ३३ नाट्यालंकारो तथा ३६ नाट्यलक्षणो का भी वर्णन किया गया है, जिनका पृथक् वर्णन करना धनञ्जय को अभीष्ट नहीं (४८४)।

तृतीय प्रकाश, नशरूपकों का स्वरूप निरूपण—

यहाँ प्रथमतः नाटक का वर्णन किया गया है, क्योंकि दस रूपको मे नाटक ही प्रमुख है। नाटक के रचना विधान पर विचार करते हुए नाटक की ल्यापना इत्यादि नाट्य प्रयोग का भी निरूपण किया गया है किंतु पूर्वरङ्ग का वर्णन यहाँ नहीं किया गया। नादीपाठ का तो यहाँ उल्लेख भी नहीं है। वस्तुतः दशरूपक का उद्देश्य रूपक के रचना विधान का विवेचन करना है नाट्य प्रयोग का विवेचन नहीं। तदनंतर नाटक की स्थापना के प्रसङ्ग में भारती वृत्ति का अङ्गों सहित वर्णन किया गया है (३४२१)। फिर नाटक के नायक वस्तु सघटन (दशनीय तथा वर्जित घटनाओं का निर्देश) और रस योजना आदि का विशद निरूपण किया गया है (३२२३८)। इसके उपरांत प्रकरण भाण प्रहसन डिम, व्यायोग, समवकार वीथी, उत्सृष्टिकाङ्क (अङ्क) और ईहामृग नामक रूपको का निरूपण किया गया है। नाटक और प्रकरण का निरूपण करते हुए प्रसङ्ग से इन दोनों के सङ्कीर्ण रूप नाटिका का भी निरूपण किया गया है (३४३, ४८)। दशरूपक के अनुसार प्रकरणिका को नाटिका से भिन्न नहीं माना जाता (३४४-४५)।

उपरोक्त रूपको के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने उपरूपको का भी विवेचन किया है जैसे भावप्रकाशन के अनुसार २० उपरूपक हैं साहित्यदपण के अनुसार १८ इत्यादि। नाट्यशास्त्र मे उन भेदा का उल्लेख नहीं किया गया तथापि उनमे से कुछ का सकेत अवश्य मिल सकता है। ना० शा० (१८५७) मे जो नाटिका का वर्णन किया गया है उसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि नाटिका का लक्षण करक भरतमुनि ने अथ सङ्कीर्ण रूपकों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि धनञ्जय एव घनिक भी उपरूपको से परिचित थे। घनिक न शङ्का के रूप मे डोम्बी इत्यादि सात अथ रूपको का उल्लेख किया है (१८)। किंतु धनञ्जय तथा घनिक डोम्बी आदि को, 'नृत्य कहते हैं। वे इन्हें रूपका से पृथक् मानते हैं क्योंकि ये रसास्वादन के अनुकूल (रसाश्रय) नहीं होते (१९)। उनके विचार में सङ्कीर्ण रूपका में केवल नाटिका ही वाञ्छनीय है, अथ नहीं (४४३)।

दशरूपक में प्रतिपादित रूपका मे वस्तु नायक, वृत्ति तथा रस आदि की दृष्टि से परस्पर भेद है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

१ नाटक—प्रख्यात (ऐतिहासिक या पौराणिक) वस्तु पाँचो संधियाँ ५ से १० तक अङ्क धीरोदात्त (नप या दिव्य) नायक, चारो (कशिकी आरभटी

सात्वती और भारती) वनिया, अङ्गी रस वीर या शृङ्गार तथा अङ्ग अय सभी रस) । द्र० चारिका ३ १ ३८) ।

२ प्रकरण—कल्पित (उत्पाद्य) वस्तु पांचो संधियाँ, ५ से १० तक अङ्क धीर प्रशात (अमात्य विप्र, वाणिक) नायक, (कुलस्त्री या गणिका या दोनो नायिका), वृत्तियाँ तथा रस नाटक के समान । (३ ३६-४२) ।

[नाटिका—कल्पित (प्रकरण के समान) वस्तु पाँचा संधियाँ किंतु अवमश संधि अत्यंत सक्षिप्त, चार अङ्क धीरललित (प्रख्यात नप नाटक के समान), देवी तथा प्राप्या कुलीन नायिकाएँ, विशेष रूप से कशिकी वृत्ति, शृङ्गार रस । (३ ४३ ४८) ।]

३ भाण—धूतचरित विषयक कल्पित वस्तु, मुख निवहण संधि एक अङ्क । कुशल तथा बुद्धिमान् विट नायक, अधिकतर भारती वृत्ति, वीर या शृङ्गार की सूचना मात्र, आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन तथा कथोपकथन, लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग । (३ ४९ ५३) ।

४ प्रहसन—कल्पित वस्तु मुख निवहण संधि, एक अङ्क पाखण्डी विप्र कामुक आदि पात्र अधिकतर भारती वृत्ति अङ्गी हास्य रस भाण के समान लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग । (३ ५४ ५६) ।

५ टिम—प्रख्यात वस्तु मुख प्रतिमुख गर्भ निवहण चार संधियाँ, चार अङ्क १६ उद्वत पात्र (पिशाच आदि) कशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ, अङ्गी रस रोद्र तथा अङ्ग रस वीर, वीभत्स अद्भुत, करुण और भयानक । (३ ५७ ६०) ।

६ ध्यायोग—प्रख्यात वस्तु, मुख प्रतिमुख निवहण संधियाँ, एक अङ्क उद्वत प्रख्यात अधिक पुरुष पात्र, कशिकी भिन्न वृत्तियाँ, हास्य शृङ्गार से भिन्न ६ रस (३ ६० ६२) ।

७ समवकार—प्रख्यात वस्तु (देव तथा असुरों) से सम्बद्ध, विमश से भिन्न ४ संधियाँ, तीन अङ्क विख्यात उदात्त प्रकृति के देव और दानव बारह नायक कशिकी की अल्पता के साथ चारों वृत्तियाँ, वीर रस की प्रधानता अय सभी रस विशेष रूप से शृङ्गार अङ्ग रूप में । (३ ६२ ६८) ।

८ वीथी—कल्पित वस्तु मुख निवहण दो संधियाँ एक अङ्क एक या दो पात्र, कशिकी वृत्ति, प्रधानत सूच्य रस शृङ्गार अय रसों का स्पशमात्र । (३ ६८ ७०) ।

९ अङ्क—(उत्पृष्टिकाङ्क—प्रख्यात वस्तु मुख निवहण संधि एक अङ्क, गधारण जन नायक अधिकतर भारती वृत्ति (भागवत्), अङ्गी रस करुण । (३ ७० ७२) ।

ईहामृग—मिश्रित वस्तु, मुख प्रतिमुख निवहण तीन संधियाँ, चार अङ्क नायक धीरोद्वत प्रख्यात देव तथा नर सभी वृत्तियाँ (?), शृङ्गार (शृङ्गारामास भौ) रस (३ ७२ ७५) ।

उपयुक्त विषया मे आचार्यों का कुछ मत भेद भी है जो भा० प्र० ना० द० तथा सा० द० आदि से जाना जा सकता है। (विशेष द्र० Mankad, The Types of Sanskrit Drama)।

चतुर्थ प्रकाश रस विचार

रस के विषय मे भी दशरूपक का कुछ मौलिक उद्भावनाएँ हैं जिनका अग्रिम पृष्ठा मे विशद विवेचन किया जायेगा। चतुर्थ प्रकाश मे प्रथमतः यह बतलाया है कि विभाव अनुभाव सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। इसका आस्वादन सहृदय सामाजिक को होता है अनुकाय को नहीं (४१ ३०-३६)। यहाँ विभाव अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के स्वरूप तथा प्रकारों का निरूपण किया गया है (४० ३३)। तदनन्तर स्थायी भाव का लक्षण करते हुए (अवलोक टीका मे) रसा क विरोध अविरोध का विवेचन किया गया है [४ ३४]। यह विवेचन परवर्ती ग्रन्थों के विवेचन के समान स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। दशरूपक मे आठ स्थायी भाव माने गये हैं। शम नामक स्थायी भाव की पुष्टि रूपक मे नहीं हो सकती, अतः नाट्य मे शान्त रस नहीं होता, इस मत का व्याख्या अथ मतो का निराकरण करते हुए की गई है। यह भी दिखलाया गया है कि नागानन्द का नायक जीमूत बाह्यन धीरोदात्त नायक है धीरप्रज्ञात नहीं [४ ३५ ३६]। इसके उपरान्त विशेषकर वृत्ति मे विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है कि रस भाव आदि गौर काव्य का व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है अपितु भाव भावक सम्बन्ध है, रस आदि भाव्य हैं और काव्य भावक है [४ ३७] यहाँ रस प्रक्रिया भी दिखलाई गई है [४ ४०-४२]। साथ ही रसों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। फलतः धनञ्जय एवं घनिक के अनुसार काव्याय से होने वाली आत्मानन्द की अनुभूति ही रस है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसों मे समान रूप से हुआ करती है। फिर भी भावक सामग्री [विभाव आदि] के भेद से इनमें चित्त की चार अवस्थाएँ हो जाती हैं—विकास विस्तार, क्षोभ और विलेप। शृङ्गार मे चित्त का विकास होता है, वीर में विस्तार वीरस मे क्षोभ और रौद्र मे विलेप। हास्य अद्भुत मगानक और करुण मे भी क्रमशः विकास आदि चारों हुआ करते हैं। इनमें से एक एक अवस्था का दो-दो रसों से सम्बन्ध है इसलिये आठ ही रस होने हैं (४ ४३-४५)। प्रीति, भक्ति तथा मृगया लस आदि को भी किन्हीं आचार्यों ने भाव तथा रस के रूप मे माना था। उनका दशरूपक मे हृष्य उरसाइ आदि मे ही अन्तर्भाव किया गया है [४ ६३]। नाट्य मे तो शांत रस होता नहीं यदि श्रेय्य काय मे शांत रस होता भी है तो उसमे मुदिता मन्त्री, कदगा तथा उपेक्षा ये चार चित्त की अवस्थाएँ हुआ करती हैं जिनका विकास आदि चार अवस्थाओं मे ही समावेश हो जाता है [४ ४५]। घनिक ने यह भी स्पष्ट बतलाया है कि सभी रस आनन्दरूपक होते हैं।

करण आदि में भी सुखदुःखात्मक एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। साथ ही काव्य नाट्य से भावित करण आदि रस लौकिक शोक आदि की अपेक्षा नितान्त भिन्न होना है (४४३-४५)। कोई स्यायी भाव आस्वादनोप-
आस्वादन = आस्वादनयोग्य होकर ही रस कहलाता है अतः अवस्था का भेद है ही (मि० ४४६ ४७)। इसके पश्चात् शृङ्गार आदि आठ रसों के लक्षण भेद तथा उदाहरण दिखलाते हुए चतुर प्रकाश समाप्त होता है। ग्रन्थ के अन्त में धनञ्जय ने अपना अत्यन्त संक्षेप में परिचय भी दिया है।

४ रस सिद्धांत और दशरूपक का मन्तव्य

(१) आचार्य भरत—महदयो को रस की अनुभूति कराना ही नाट्य का मुख्य प्रयोजन है। अन्त रूपको में रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथमतः नाट्य के प्रसङ्ग में ही रस सिद्धांत की उद्भावना की गई थी। आज भरत के नाट्यशास्त्र में रस का सर्वप्रथम विवेचन उपलब्ध होता है। किन्तु नाट्यशास्त्र में रस का स्वरूप पर्याप्त विकसित अवस्था में मिलता है। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इससे पूर्व ही रस सिद्धांत की उद्भावना हो चुकी थी। भरत से पूर्व रस सिद्धांत का विकास किस प्रकार हुआ, यह आज विदित नहीं है। भरत के अनुसार नाट्य के ११ तत्त्व हैं—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मा, वृत्तिप्रत्यय ।

सिद्धि स्वरास्तपाताद्य गान शृङ्गारश्च सप्रह ॥६१०॥

इनमें रस ही प्रधान है। भरत ने रस स्वरूप, सङ्घा तथा, भाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावा का विस्तार से विवेचन किया है (ना० शा० अ० ६, ७)। भरत का रस-मूल है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति। नाट्यशास्त्र में रूपको के ८ रसों का उल्लेख किया गया है, किन्तु पाठान्तर के अनुसार वहाँ सात रस का भी वचन है। कहा जाता है कि अभिनवगुप्त ने इस पाठान्तर को प्रामाणिक माना है और उद्भिने विस्तार के साथ सात रस का विवेचन किया है (अभि० भा० अ० ६ का अन्त)।

(१) अलङ्कारवादी आचार्यों का रसविषयक दृष्टिकोण—भरत के अनन्तर साहित्याचार्यों ने रस सिद्धांत को इतना महत्त्व नहीं दिया। आज जो उस समय के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें रस सिद्धांत का स्पष्ट निरूपण नहीं किया गया। सम्भवतः उस समय के कुछ ग्रन्थों में रस सिद्धांत का विकसित रूप अवश्य रहा होगा किन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। उस समय के उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे प्राचीन भामह का काव्यालङ्कार माना जाता है जिसमें रस को नगण्य सा स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् दण्डी ने यद्यपि अलङ्कार और रीति को ही अधिक महत्त्व दिया है तथापि आठों रसों का उदाहरण सहित वचन करते हुए काव्य में रसों के महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन ने 'शान्ति' नामक गुण के नाम से काव्य में रस

की महत्ता स्वीकार की है (दीप्तरसत्व कान्ति, काव्यालङ्कारसूत्र ३२ १४)। उद्भट की रचनाओं में रस सिद्धांत के प्रति कुछ अधिक आदर भाव परिलभित होता है। उद्भट ने समाहित नामक रसालङ्कार की नवीन उद्भावना की है तथा यह भी दिखलाया है यह कि नाटक में भी शा त रस होता है—

शृङ्गारहास्य-करण रोद्र-वीर भयानका ।

बीभत्साद्भुत शा ताश्च नव नाट्ये रसा स्मता ॥

(काव्यालङ्कारसंग्रह ४४) ।

सङ्गीतरत्नाकर (व्याख्यातारो भारताय लोल्लटाद्भट्टशङ्कुका ११६) से विदित होता है कि उद्भट की नाट्यशास्त्र पर कोई टीका थी। सम्भवत उसमें उद्भट ने रस सिद्धांत का विशद विवेचन किया होगा। भामह से उद्भट पद्यन्त के युग में रस का विशेष सम्बन्ध नाट्य से ही माना जाता रहा। नाट्य से भिन्न काव्य में रस का विचार 'अलङ्कार आदि न रूप में ही विशेषतः किया गया। फिर भी कही कही महाकाव्य के लिये रस को आवश्यक तत्व बतलाया गया है, जैसे 'युक्त लोकस्वभावेन रसश्च सकल पृथक्' (भामह, काव्या० १२१) तथा (अलङ्कृत मसक्षिप्त रसभावनिरतरम्' (दण्डी काव्यादश ११८)।

इसके पश्चात् रुद्रट ने काव्य में रस के महत्त्व की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया। उन्होंने बतलाया कि कवि को महान् प्रयास करके काव्य को रसमय बनाना चाहिये। उन्होंने शा त रस को भी स्वीकार करते हुए प्रेयान् नामक एक अर्थ रस का उल्लेख किया (काव्यालङ्कार १२२ ३)। साथ ही यह भी बतलाया कि निर्वेद आदि सभी भाव रसरूपता को प्राप्त कर सकत हैं (वही १२४)। दशरूपक में इस मत को उद्घृत करते हुए इसका निराकरण किया गया है (दश० ४ ३६)। फिर भी रुद्रट अलङ्कारवादी आचार्य माने जात हैं उन्होंने प्रासङ्गिक रूप से ही रस का विवेचन किया है। किन्तु रुद्र भट्ट नामक एक अर्थ आचार्य ने शृङ्गारतिलक में नव रसों का विशद विवेचन किया है। इसमें प्रकट होता है कि उस समय रस के प्रति आचार्यों का आदर भाव बढ़ रहा था।

(३) ध्वनिवादी आचार्य तथा रससिद्धान्त—इसके उपरांत ध्वनिवादी आनन्दवदन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए रस योजना में ही कविया को विशेष रूप से उद्यत रहने की प्रेरणा दी—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।

रसादिमय एकस्मिन् कवि स्मादवधानवान् ॥ ध्वन्या० ४५ ॥

उन्होंने रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप बतलाया तथा यह भी कि रस काव्य का व्यङ्ग्य ही हो सकता है। वाच्य या लक्ष्य नहीं। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के महत्त्व को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए दशरूपक में इसका खण्डन किया गया

है (४ ३६-३७)। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव की अभिनवगुप्त ने विशद व्याख्या की तथा ध्वनिसिद्धान्त और रस सिद्धांत का सामञ्जस्य करके रससिद्धांत का परिनिष्पन्न रूप प्रस्तुत किया। धनञ्जय तथा धनिक की धृतियों में अभिनवगुप्त के मतव्यो का कोई सकत नहीं मिलता, यह ऊपर कहा जा चुका है।

४ ध्वनि विरोधी किंतु रसवादी आचार्य—यद्यपि ध्वनिकार ने अत्यंत दृढ़ आधारों पर ध्वनिवाद की स्थापना की थी तथापि ध्वनिवाद का अनेक आचार्यों ने विरोध किया। वे आचार्य नाट्य एव काव्य में रस की महत्ता तो स्वीकार करते रहे, किंतु रस आदि काव्य द्वारा व्यङ्ग्य हैं, इस मतव्य का उद्धाने खण्डन किया है। इन आचार्यों की एक शक्तिशाली परम्परा रही है, जिसमें प्रतिहारेदुराज, भट्टलोल्लट, शङ्कुव, भट्टनायक, कृतक, धनञ्जय तथा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इत्यादि आचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रतिहारेदुराज भामह एव उद्भट के अतकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे। व मुकुल भट्ट के शिष्य थे। उनका मत है कि वस्तु, अलङ्कार तथा रस तीनों प्रकार की ध्वनियों का पर्यायोक्त, श्लेष तथा रसवद् आदि अलङ्कारों में समावेश किया जा सकता है अत व्यङ्ग्य अथ को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। साथ ही वे रस को काव्य की आत्मा मानना उचित ही समझते हैं। (काव्यालङ्कार सग्रह लघुवृत्ति ६७ ८, मिभा प्र भूमिका पृ० २४)। वक्रोक्तिकार कृतक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' बतलाते हुए भी रस को काव्य का अमृत माना है, जिससे काव्य में आंतरिक क्षमत्कार का आधान हुआ करता है—काव्यामतरसेनाऽतश्चमत्कारो वितमते, वक्रोक्ति० १५। कृतक ने ध्वनि का वक्रोक्ति में ही समावेश किया है—उपचार-वक्रताभि सर्वा ध्वनि प्रपञ्च स्वीकृत, वक्रोक्ति०। महिमभट्ट ने रस को काव्य का मुख्य तत्त्व माना है, किन्तु यह स्वीकार नहीं किया कि रस व्यङ्ग्य है, वे ध्वनि (या व्यञ्जना) का एक विशेष प्रकार के अनुमान (कायानुमिति) में अंतर्भाव करते हैं।

भट्टलोल्लट, शङ्कुव तथा भट्टनायक तीनों ध्वनि विरोधी आचार्य रस के व्याख्याकार के रूप में विद्यमान हैं। उनके रस-सम्बन्धी मतव्यो पर कुछ विस्तार से विचार करना वाञ्छनीय है, तभी दशरूपक के रस सम्बन्धी मतव्य के साथ उनके मतव्य का तुलनात्मक अनुशीलन किया जा सकता है। भट्टलोल्लट आदिके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्यप्रकाश आदि के आधार पर ही उनके रस-सम्बन्धी मतव्यो का निरूपण किया जा सकता है। संक्षेप में उनके मतव्यो का स्वरूप इस प्रकार है—

५ भरत के रससूत्र की विविध व्याख्यायें—भरत के रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव व सम्योग से रस निष्पत्ति होती है। रस सूत्र की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने तीन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया है—

(क) रस किसमें रहता है (अर्थात् रस का आस्वादन किस होता है) ? (ख) रस का स्वरूप क्या है ? और (ग) रस प्रक्रिया क्या है ? या रस निष्पत्ति कैसे होती है ,

(1) भट्टसोल्लट—इका रस निष्पत्ति विषयक मत रसोत्पत्तिवाद कहलाता है । यह मत मीमांसा सिद्धांत पर आधारित समझा जाता है । इसके अनुसार रस (= रति आदि स्थायी भाव) मुख्य रूप से ऐतिहासिक या आख्यान प्रसिद्ध राम आदि (अनुकाय) में रहता है । सीता आदि तथा उद्यान आदि लौकिक कारण ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव हैं । वे राम आदि के चित्त में रति आदि भाव क उत्पत्तिक तथा उद्दीपन विभाव हैं । राम आदि के मुज पडवना आदि अनुभाव हैं । उनके द्वारा राम आदि के चित्त में स्थित रति आदि भाव प्रतीति योग्य हुआ करता है । निर्वेद चित्ता इत्यादि सङ्कारी कारण ही व्यभिचारी भाव कहलाते हैं जिनकी महायता से रति आदि स्थायी भाव पुष्ट हो जाता है । राम आदि क चित्त में पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस कहलाता है । यह मुख्य रूप से राम आदि (अनुकाय) में रहता है । किन्तु राम आदि के समान वेश भूषा से सुसज्जित होकर कोई अभिनेता (नट) राम का अभिनय करता है और राम सम्बन्धी वाक्य का पाठ करता है तो सामाजिक जन उस अभिनेता को राम समझ लेते हैं और उसमें भी रति आदि भाव की प्रतीति होने लगती है । यह ध्रति से होने वाली प्रतीति ही सामाजिक को आनन्द प्रदान करती है । इस प्रकार विभावो से उत्पन्न तथा उद्दीप्त होकर, अनुभावों से प्रतीतियोग्य होकर तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुकाय के चित्त में स्थित (लौकिक) रति आदि भाव ही रस है ।

परवर्ती शङ्कुक आदि आचार्यों ने इस मत की आलोचना की है । इसके अनुसार रस का आश्रय सामाजिक नहीं हो सकता । फिर राम आदि में स्थित या नट में प्रतात होने वाल रस में सामाजिक को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है ? किञ्च, इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस प्रतीति ध्रतिमात्र होगी और काव्य आदि भ्रमोत्पादक होंगे अन् उपादेय न होंगे । धनञ्जय ने भी रस के अनुकाय गत होने का विरोध किया है, क्योंकि (i) रसानुभूति के समय अनुकाय राम आदि तो विद्यमान नहीं होते (ii) उनके रसास्वादन के लिये काव्य लिखे भी नहीं जाते, नहीं उनके लिये नाट्य का अभिनय किया जाता है । (iii) यदि अनुकाय राम आदि में रस माना जाय तो श्रोता या दशक को 'इसमें रति भाव है इस प्रकार की प्रतीति मात्र होगी तथा लज्जा, ईर्ष्या और राग-द्वेष आदि होने लगेंगे (४ ३८ ३९) । लोल्लट द्वारा निरूपित विभाव आदि का स्वरूप भी दशरूपक की अभिमत नहीं कहा जा सकता । लोल्लट के मत की केवल यही बात धनञ्जय की अभिमत कही जा सकती है कि रति आदि स्थायी भाव पुष्ट होकर रस कहलाता है । किन्तु उसकी पुष्टि की प्रक्रिया में तो दोनों आचार्यों का नितान्त भिन्न मत है ।

(111) श्रीशङ्कुक —रस के दूसरे व्याख्याकार श्रीशङ्कुक हैं उनका मत रसानुमितिवाद कहलाना है। यह याय सिद्धांत पर आधारित माना जाता है। उनके अनुसार जब अभिनेता जन निपुणता के साथ राम आदि का अभिनय करते हैं और तत्सम्बन्धी काव्य का पाठ करते हैं तो सामाजिक उस अभिनेता को चित्र तुरग याय से (जसा चित्र मे चित्रित अश्व को अश्व कह दिया जाता है वस्तुन वह अश्व नही होता) 'यह राम है' एसा समझ लेते है तथा उस काव्याय का अनुसंधान करते हुए अभिनय द्वारा प्रदर्शित नायिका आदि (कारण), मुजाक्षेप आदि (काय) एव औत्सुक्य इत्यादि (सहकारी) को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नही समझते। इस प्रकार के ये नायिका आदि हो काव्य-नाटय मे विभाव आदि कहलाते है। इन विभाव आदि के द्वारा अभिनेता म रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमित रति आदि भाव कलात्मक होने के कारण अय अनुमित वस्तुओ से विलक्षण होता है तथा सौन्दर्यमय होने के कारण आस्वादनोप हो जाता है इसलिये सहृदय सामाजिक अपनी वासना द्वारा इसका आस्वादन कर लेते हैं। इस प्रकार अभिनेता तथा सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि भाव ही रस है। विभाव आदि के संयोग अर्थात् अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (अनुमिति) होती है।

इस मत के अनुसार वस्तुतः रति आदि स्थायी भाव अनुकाय राम आदि मे ही होता है किंतु घ्राति से उसका नट में अनुमान कर लिया जाता है। फिर भी (क) लौकिक कारण आदि से भिन्न विभाव आदि की कल्पना तथा (ख) सामाजिक के द्वारा अपनी वासना से रस चवणा—इस मत की ये दोनों बातें सिद्धांत मत की ओर ले जाने वाली हैं। अभिनवभारती आदि मे इस मत के दोष दिखलाये गये हैं। मुख्य दोष यह है कि प्रत्यक्ष अनुमृति ही चमत्कार या आस्वादन उत्पन्न कर सकती है केवल रति आदि भाव की अनुमिति से सामाजिक को आस्वादन नही हो सकता। किञ्च सहृदयों का अनुभव बतलाता है कि रस का साक्षात्कार होता है (रस साक्षात् करोमि) अनुमान नहीं। धनञ्जय के अनुसार इस मत का निराकरण इसी कथन से हो जाता है कि रसिक में ही रस रसा करता है (४३८-३९)। यदि नट भी काव्याय की भावना से आस्वादन करता है तो वह रसिक ही है, अथवा उसमें रस नही रहता। शङ्कुक की विभाव आदि के स्वरूप की कल्पना कुछ अंश में धनञ्जय के मत की ओर ल जाने वाली अवश्य है फिर भी दोनों के विभाव आदि के स्वरूप मे अन्तर प्रतीत होता है, शङ्कुक के मत मे कृत्रिम कारण आदि ही विभाव आदि कहलाते हैं किन्तु धनञ्जय के मत मे काव्य के अतिशयोक्ति व्यापार के द्वारा विशिष्ट हो जाने वाले कारण आदि विभाव इत्यादि कहलाते हैं। शङ्कुक के चित्र तुरग याय और धनञ्जय के मिट्टी के हाथी के उदाहरण को समान नही कहा जा सकता। चित्र-तुरग याय हो यह बतलाता है कि राम का अभिनय करने वाले

नट को सामाजिक जन राम कसे समझ लेते हैं। दूसरी ओर मिट्टी के हाथी आदि का दृष्टांत इस प्रश्न के उत्तर में दिया गया है कि यदि काव्य में राम एव सीता आदि केवल (उदात्त आदि अवस्था वाले) पुरुष एव स्त्री के रूप में होते हैं तो राम तथा सीता के रूप में उनका वणन क्यों किया जाता है (द० ४४१)।

(iii) भट्टनायक—रस के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं। उन्होंने भट्ट लोत्तल तथा शङ्कुक दोनों के मत के दोष दिखलाकर अपने मत की स्थापना की है। उनके मतानुसार विभाव आदि के द्वारा भोग्य भोजक भाव सम्बन्ध से (सयोगात्) सामाजिक को रस का भोग = आस्वादन (= निष्पत्ति) होता है। इसीलिये यह मत रसमुक्तिवाद कहलाता है। यह साङ्ख्यसिद्धांत पर आधारित समझा जाता है। तदनुसार काव्य-नाट्य में शब्द के अभिधा व्यापार के समान ही भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो अर्थ व्यापार होते हैं। काव्याय का बोध हो जाने के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्य-नाट्यगत नायक नायिका आदि विभाव का, गुणाक्षय आदि अनुभाव का तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है, अर्थात् सीता आदि की सामान्य नायिका के रूप में (= साधारणीकृत) प्रतीति होती है (प्रदीप) अथवा उनकी केवल शृंगार रस के आलम्बन विभाव आदि के रूप में प्रतीति होती है (उद्योत)। साधारणीकृत विभाव आदि के द्वारा भावित हुए रति आदि स्थायी भाव का भोजक व्यापार द्वारा सामाजिक को आस्वादन होता है। रस का आस्वादन (= रस भोग) यही है कि सहृदय के चित्त में सत्त्व का उद्रेक होकर आनन्दमय एव प्रकाशात्मक अनुभूति हुआ करती है।

भट्टनायक ने रसिक में ही रस माना है, रस की अलौकिक अवस्था की ओर भी संकेत किया है। साथ ही विभाव आदि के साधारणीकरण की नवीन उद्भावना की है। यह भट्टनायक की रस सिद्धांत को अपूर्व देन है। ध्वन्यालोकलोचन (रसरच व्यङ्ग्य एव तस्य च शब्दवाच्यत्व तेनापि शोपगतम् पृ० १२६) से यह विदित होता है कि भट्टनायक रस को वाच्य नहीं मानते। फिर क्या उन्होंने रस को व्यङ्ग्य माना है? नहीं वे रस को भावकत्व व्यापार का विषय मानते हैं।¹ भावकत्व व्यापार से रस भावित होता है और भोजकत्व व्यापार से रस का आस्वादन होता है—

1 पी० वी० काने का यह कथन 'It appears from the Locana that Nayaka accepted that Rasa was the soul of poetry or drama and that it was व्यङ्ग्य (H S P 371) विचारणीय है।

कित्वयशदवलक्षण्य काव्यात्मन शब्दस्य त्र्यशताप्रसादात् । तथाभिधायकत्व वाच्यविषयम्, भावकत्व रसविषयम्, भोगकृत्व सहृदयविषयम् इति त्रयोशभूता यापारा (लोचन २४) ।

इस प्रकार भट्टनायक ध्वनि को नहीं स्वीकार करते । हा, यह अवश्य मानते हैं कि सहृदयता को रसास्वादन कराना ही काव्य का प्रयोजन है ।

भट्टनायक के मत का दोष यह है कि यहाँ भावकत्व और भोजकत्व नामक दो ऐसे काव्य-यापारा की कल्पना की गई है, जिनमें कोई प्रमाण नहीं । किञ्च मुक्ति या भोग अनुभूति मात्र है इसका अभिव्यक्ति में ही अंतर्भाव हो सकता है । इसके अतिरिक्त भट्टनायक ने सामाजिक के चित्त में रति आदि भाव की स्थिति का उल्लेख भी नहीं किया ।

वी० पी० काणै का विचार है कि धनिक का रस सम्बन्धी मत कुछ अशाम भट्टनायक के मत के समान प्रतीत होता है । (H S P p २४६) । वस्तुतः यह समानता आपाततः प्रतीत होती है । एक तो धनिक ने भावकत्व व्यापार की अलग से कल्पना नहीं की, इतना अवश्य कहा है 'काव्य हि भावकम्, भाव्या रसादय । किंतु यहाँ तो काव्य तात्पर्य वक्ति के द्वारा रस आदि का भावक होता है, भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा नहीं । किञ्च, भट्टनायक का भावकत्व-यापार तो साधारणीकरण के रूप में है (साधारणीकरणरूपतया भावकत्वव्यापारेण, का० प्र० वक्ति ४२८) दशरूपक में ऐसा नहीं है । इसके अतिरिक्त दोनों को रसानुभूति की प्रक्रिया में भी अन्तर है भट्टनायक के अनुसार ता भोजकत्व नामक व्यापार के द्वारा सत्त्व का उद्रेक होकर आनन्दमय अनुभूति होती है, किंतु धनिक के अनुसार काव्य के अर्थ के साथ सहृदय के चित्त की तमयता होने से आत्मानन्द की अनुभूति होनी है । यह केवल शब्दों का भेद नहीं है धारणा का भेद है ।

(iv) अभिनवगुप्त—रस-सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त हैं । उनकी व्याख्या ही यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत होती रही है । तदनुसार स्थायीभाव का विभाव शादि के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध होने से रस की अभिव्यक्ति होती है । यह मत रसाभिव्यक्ति या रसव्यक्तिवाद कहलाता है और शयागम पर आधारित माना जाता है । इसके अनुसार रस सहृदय के चित्त में अभिव्यक्त हुआ करता है । रस प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप इस प्रकार है—सहृदयता के चित्त में रति आदि स्थायी भाव वासना के रूप से विद्यमान होत हैं । सहृदय जन लोक में भी सलना आदि कारणों के द्वारा रति आदि भाव का अनुमान करने में निपुण हुआ करते हैं । वे समझते हैं कि जहाँ प्रमदा इत्यादि कारण, काय तथा सहृदयता होत हैं वहाँ लोक में रति आदि भाव का उद्भव देखा जाता है । फिर वे वाच्य पढ़त हैं सुनते हैं या नाटक देखते हैं तो वहाँ प्रमदा आदि का विभाव आदि के रूप में अनुभव करत हैं [अर्थात् काव्य-नाट्य में प्रमदा आदि रति आदि भाव के कारण के रूप में नहीं होत अपितु अपने विभावन (= रति आदि में

आधार पर परिकल्पित दशरूपक के रस सिद्धांत में शवागम की भित्ति पर स्थापित अभिनवगुप्त के रस सिद्धांत के साथ ऊपरी समानता ही है। दशरूपक में रस सम्बन्धी मन्तव्य का अपना एक विशिष्ट रूप ही है।

५. संस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाट्यशास्त्र को दशरूपक की देन

दशरूपक का लक्ष्य है रूपक के मुख्य तत्त्व—वस्तु नायक और रस का विवेचन तथा रूपक के दस भेदों का निरूपण। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये विशेष रूप से भारत के नाट्यशास्त्र का आशय लिया गया है। साथ ही उस समय उपलब्ध नाट्य विद्या के अन्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है। सम्भवतः कौहल इत्यादि के मन्तव्य का भी इस पर प्रभाव पड़ा है इसके अतिरिक्त भामह उद्भट आनन्दवदन रद्रट आदि के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है उस समय उपलब्ध रूपकों तथा काव्यों से यथावसर उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। तथा नाट्य सम्बन्धी विषयों के स्पष्टीकरण में भी उनसे सहायता ली गई, जैसे दूती के गुणों का निरूपण करते हुए मालतीमाधव को उद्धृत किया गया है (२२६ वक्ति)। यहाँ पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का बुद्धिपूर्वक स्वीकरण अथवा आवश्यकतानुसार युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है साथ ही नवीन मन्तव्यों की उद्भावना भी की गई है। संक्षेप में दशरूपक की विशिष्ट देन इस प्रकार है—

(i) नाट्य सम्बन्धी सामग्री का नवीन ढङ्ग से विश्लेषण करना।

(ii) मुख्य रूप से परमानन्द रूप रसास्वादन ही रूपकों का प्रयोजन है, यह स्थापना करना (१६)। (iii) नृत्य तथा नृत्त से भेद दिखलाते हुए नाट्य का लक्षण (iv) रूपक के भेदक तत्त्वों का निर्देश। (V) विविध दृष्टियों (योजना, वणन नाट्योक्ति) से वस्तु विभाजन। (VI) नायक नायिका और उनके सहायकों का सरल सुबोध वणन। (VII) भारती आदि वृत्तियों तथा देश भेद से भिन्न भिन्न भाषा आदि की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त निरूपण (VIII) उद्भट के अनुयायियों के मत का निराकरण करते हुए यह स्थापना करना कि कश्चिकी सात्वती तथा आरभटी अथवर्तियाँ हैं इनसे भिन्न कोई अथवर्ति नहीं है (२६०-६१)। (IX) रस प्रक्रिया विषयक मौलिक मत की उद्भावना, रस आदि तथा काव्यों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध है ध्वनिवादियों के इस मत का निराकरण करते हुए भाव भावक सम्बन्ध दिखलाना। (X) नाट्य में शांत रस का निषेध (४३५—४५)। (XI) रसास्वादन के क्रम में मानसिक प्रक्रिया के यथाय स्वल्प से निरूपण का प्रयास 'उत्तरे आधार पर रसों के भेद बतलाय गये हैं। शृङ्गार, वीर वीभत्स और रौद्र—य चार रस मूल रस माने गये हैं। इन चारों का सम्बन्ध चार

चित्तभूमिया से है—विकास, विस्तर, क्षोभ और विभेद। स्पष्ट है कि इन चित्त-भूमियों तक अतदशन के द्वारा पहुँचा जा सकता है। इनकी यह विशेषता नाट्यशास्त्र में वर्णित चार मुख्य (मूल) और चार गौण रसा के सिद्धांत का अर्थ—मनोवैज्ञानिक तार्किक आधार प्रस्तुत करती है।' (बीय, संस्कृत नाटक, पृ० ३४३) (XII) रस दस होते हैं, या इनसे भी अधिक हो सकते हैं इत्यादि रुद्रट (काव्यालङ्कार १२ ३ ४) के मत का निराकरण करके 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता' की स्थापना (दश० ३ ३५, ३६), (XIII) प्रीति, भक्ति आदि अन्य भाव तथा रसा का ह्य उल्लाह आदि में अंतर्भाव दिखलाना (४ ८३)। (XIV) नाट्यालङ्कार तथा नाट्य लक्षणों का उपमा आदि अलङ्कारों तथा ह्य उल्लाह आदि भावों में अंतर्भाव मानना (३ ८४) जब कि भरतमुनि ने इसका पृथक्श निरूपण किया था और धनञ्जय के परवर्ती विश्वनाथ इत्यादि ने भी पृथक् निरूपण किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि दश रूपक की प्रवृत्ति सरलता और सुबोधता की ओर रही है। (XV) नाटक आदि के लक्षणों में भी दशरूपक की अपनी विशेषताएँ हैं। (जिनका मयावतर निर्देश किया गया है) उदाहरणार्थ 'प्रवरण का नायक धीर प्रशांत ही होता है, यह स्थापना, ना० द० (३ ११७) में इसका, विरोध किया गया है। (XVI) प्रसङ्गवश रूपक के किसी तत्त्व की समीक्षा, जैसे नागानन्द में शांत रस नहीं, अपितु दयावीर है उसका नायक जीमून्वाहत धीरप्रशांत नहीं, अपितु धीरोदात्त है तथा परोपकार में प्रवृत्ति भी विजिगीषा बड़ी जा सकती है (२ ४-५ तथा ४ ३५)। (XVII) नामोल्लेख करके रूपकों तथा काव्या के उदाहरण प्रस्तुत करना, जसा कि कम आचार्यों ने किया है। इससे अनेक कवियों तथा ग्रंथों के समय निर्धारण में सहायता मिलती है। इसी प्रकार दशरूपक की अर्थ देन भी खोजी जा सकती हैं।

कतिपय परवर्ती आचार्यों ने यत्र-तत्र दशरूपक के मत-ग्रंथों की आलोचना अवश्य की है। किंतु उनके ग्रंथों के परिशीलन से विदित होता है कि वे किसी न किसी अर्थ में दशरूपक के श्रेणी हैं। जसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भाव प्रकाशन में दशरूपक का पर्याप्त आधार लिया गया है, नाट्यदण भी किसी रूप में दशरूपक से प्रभावित है, यद्यपि प्रतिद्विद्धता की भावना के कारण यहाँ धनञ्जय के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है (द्र० ऊपर)। प्रतापरुद्र यशोधूपण में दशरूपक का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है तथा साहित्यदण में भी। भानुदत्त की रसतरङ्गिणी भी दशरूपक की श्रेणी प्रतीत होती है। सम्भवत यहाँ लौकिक रस और अलौकिक रस का भेद दशरूपक के आधार पर किया गया है। इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने जाने, अनजाने में दशरूपक का महत्त्व स्वीकार करके अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है। धनञ्जय एवं धनिक की यह कृति अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। उनका दशरूपक नाट्यशास्त्र का अपूर्व ग्रंथ है।



घ्नय
धनञ्जयविरचित

दशरूपकम्

घनिकृतावलोकमहित हि दीव्याग्योपत च

प्रथम प्रकाशः

इह सदाचार प्रमाणयद्भिरविधेन प्रकरणस्य समाप्त्यभिप्रेत्यो प्रकृताभिमत देवतयोर्नमस्कार क्रिमत् श्लोकद्वयन—

(१) नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठ पुष्करायते ।

मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥१॥

यस्य कण्ठ पुष्करायत = मृदङ्गवृदाचरति, मदाभोगेन घनध्वान = निविड ध्वनि, नीलकण्ठस्य = शिवस्य ताण्डवे = उद्धत नत्ते तस्म गणेशाय नम । अत्र खण्डश्लेषा शिष्यमाणोपमाच्छायालङ्कार, नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मघ ध्वनि पुष्करायत इति प्रतीते ।

आचार्य धनञ्जय का दशरूपक नाटक (रूपक) की विवेचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है । इसमें रूपक क विविध अङ्गों का संक्षिप्त किन्तु विस्तृत विवेचन है । प्रतिपाद्य विषय का चार प्रकाशों में विभाजन किया गया । प्रथम प्रकाश में मङ्गल से आरम्भ करके ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक का लक्षण तथा रूपक के भेदक तत्त्वों (वस्तु नेता तथा रस) का निरूपण करते हुए 'वस्तु' तन्त्र का ध्यान किया जा रहा है ।

मङ्गलाचरण

शिष्टों के आचार को प्रमाण मानते हुए इस प्रकरण ग्रन्थ की निदिधन समाप्ति के लिये (धनञ्जय ने) दो श्लोकों द्वारा अनीष्ट = प्रकृत और अभिमत (दो) देवताओं को नमस्कार किया है—

जिन गणेश जी का मद की परिपूर्णता (आभोग) से गम्भीर ध्वनि वाला कण्ठ, नीलकण्ठ (शिव) के ताण्डव (नृत्य) में मृदङ्ग का काम करता है, उन गणेश जी को नमस्कार है ॥१॥ (अनुष्टुभ वृत्त)

जिन (गणेश) का कण्ठ मृदङ्ग (=पुष्कर) के समान काम करता है (पुष्करायते पुष्कर इव आचरति) क्योंकि यह मद के आभोग (परिपूर्णता, वृद्धि) से गम्भीर (=घन) ध्वनि वाला है कहा ? नीलकण्ठ अर्थात् शिव के ताण्डव (उद्धत) नृत्य में उन गणेश जी के लिये नमस्कार है । यहाँ खण्डश्लेष के द्वारा उपमा अलङ्कार की छाया प्रकट हो रही है क्योंकि नीलकण्ठ अर्थात् नीले कण्ठ वाले मयूर के ताण्डव में जैसे मघ की ध्वनि मृदङ्ग का काम करती है (उसी प्रकार शिव के ताण्डव नृत्य

(२) दशरूपानुकारेण यस्य माद्यति भावका ।
नम सवविदे तस्म विष्णवे भरताय च ॥२॥

मे गणेश की कण्ठध्वनि मद्भङ्ग का काम करती है) — यह प्रतीति हो रही है ।

टिप्पणी (१) मङ्गलाचरण करन में शिष्टाचार ही मुख्य प्रमाण है । शिष्ट जन ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण किया करते हैं । उनके आचरण को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थकार (धनञ्जय) भी यहाँ मङ्गलाचरण कर रहे हैं । मङ्गलाचरण का फल है—ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति (विशेष द्र० 'यायमुक्तावली मङ्गलश्लोक दिन करी तथा रामगद्दी टीका) । (२) प्रकरण—दशरूपक एक प्रकरण ग्रन्थ है । जिस रचना में किसी शास्त्र के एक अंश का व्यवस्थित सक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन होता है वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है । दशरूपक में साहित्य शास्त्र या कहिये कि नाट्यशास्त्र के अंश दशरूपक का सक्षिप्त तथा विशद विवेचन है । (३) प्रकृत भिमतदेवतयो—इष्ट देवता को नमस्कार करना ही मङ्गलाचरण का स्वरूप है । यहाँ इष्ट देवता दो प्रकार के हैं—(क) प्रसङ्ग के अनुवृत्त = प्रकृत = प्रकरण प्राप्त (ख) अभिमत = पूजनीय । प्रथम तथा द्वितीय श्लोक में अभिमत देव गणेश तथा विष्णु को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है किन्तु साथ ही दो प्रकृत देवों—नाट्य में नत्त (एक नृत्य) के प्रवतक शिव को तथा प्रयोग के प्रवतक भरत को भी नमस्कार किया जा रहा है (४) खण्डश्लेष—श्लेष दो प्रकार का है अखण्ड और सखण्ड (या खण्डश्लेष) ; जहाँ किसी पद के खण्ड मात्र में श्लेष होता है वहाँ खण्ड श्लेष कहलाता है यहाँ पर मदाभागपाध्वान इस पद के धनध्वान इस खण्ड में ही श्लेष है अतः खण्डश्लेष है । (५) उपमाच्छाया—जहाँ उपमा शब्दों द्वारा कही जाती है वहाँ उपमा वाच्य या अभिधेय होती है तथा स्पष्ट होती है । किन्तु जहाँ उपमा केवल तात्पर्य (तात्पर्यवृत्ति) द्वारा जानी जाती है वहाँ उपमाच्छाया (= अस्पष्ट उपमा या तात्पर्य से प्रतीत होने वाली उपमा) कहलाती है । इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के विषय में भी कहा जा सकता है । यहाँ उपमाच्छाया का अर्थ उपमा-व्यञ्जना या उपमाध्वनि नहीं है क्योंकि धनञ्जय एक धनिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते (द्र० आगे ४ ३७) ।

उन सर्वविद् (१ सवन् तथा २ नाट्य विद्या में पूर्ण ज्ञाता) विष्णु तथा आचार्य भरत को नमस्कार है जिनके दशरूपा (१ दश अवतारो, २ नाटक आदि दशरूपको) व अनुमार (१ ध्यान, २ अभिनय) के द्वारा भावक जन (१ ध्यान करने वाले, २ रसिक) प्रसन्न हो जाते हैं (माद्यति) ॥२॥ (अनुवृत्त वृत्त)

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अथत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका = ध्यातारो रसिकाश्च माद्यति = हृष्यति, तस्म विष्णवेऽभिमतया प्रकृताय भरताय च नमः ।

श्रोतु प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्शयते—

(३) कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषय सरस्वती विदुषः ।

घटयति कमपि तमयो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

त कञ्चिद्विषय = प्रकरणादिरूप कदाचित्तेव कस्यचिदेव कवे सरस्वती योजयति येन = प्रकरणादिना विषयेणाप्यो जनो विदग्धो भवति ।

एक (विष्णु) पक्ष में (दशरूपानुकारेण का अर्थ है—मत्स्य, कूर्म आदि रूपों (प्रतिमा) को लक्ष्य करके, दूसरे (भरत) पक्ष में अनुकृति रूप जो नाटक आदि रूपक ह उनके द्वारा । जिसके भावक = (१) (विष्णु-पक्ष में) ध्यान करने वाले (३) (भरत पक्ष में) रसिक जन । माद्यति = हर्षित हो जाते ह । उन विष्णु के लिये जो अभिमत वेध हं तथा भरत के लिये जो प्रकृत (प्रकरण के अनुकूल) हे नमस्कार है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ श्लिष्ट विशेषणों द्वारा नाट्य शास्त्र के प्रवक्त भरत मुनि की स्तुति की गई है, 'दशरूपानुकारेण' तथा 'भावक' दोनों पदों में श्लेष है (द० अनुवाद) । (२) विष्णु शब्द के प्रयोग द्वारा यहाँ प्रायकार धनञ्जय ने अपने पिता को नमस्कार किया है । (द० भूमिका) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन

किसी रचना के दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं—१ पाठकों की दृष्टि से और २ लेखक की दृष्टि से । दोनों का क्रमशः निरूपण किया जा रहा है ।

धोता (पाठक) की (इस प्राय में) प्रवृत्ति का प्रयोजन दिखलाया जाता है—

सरस्वती कृपा करके कभी किसी विद्वान् को किसी ऐसे विषय से घटित कर देती है, जिससे अन्य जन भी पाण्डित्य को प्राप्त हो जाते हैं ॥३॥ (आयवृत्त)

अर्थात् उस किसी विषय को = प्रकरण आदि के विषय को, कभी ही किसी प्रतिभाशाली जन के लिये (कवे) सरस्वती घटित करती है, जिस प्रकरण आदि से अन्य जन विद्वान् हो जाते ह ।

प्रायकार (इस प्राय की रचना में) अपने प्रवक्त होने का प्रयोजन दिखलाते ह—

स्तप्रवृत्तिविषय दशयति

(४) उद्धृत्य सार यमखिलनिगमानाटघवेद विरिञ्चि

श्चक्रे यस्य प्रयोग मुनिरपि भरतस्ताण्डव नीलकण्ठ ।

शर्वाणी लास्यमस्य पतिपदमपर लक्ष्म क वर्तुमीष्टे

नाटयानां किंतु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि ॥४॥

य नाटघवेद वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्सवद्धमभिनय भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत् हरस्ताण्डवमुद्धत नत्त कृतवान्* लास्य मुकुमार नत्त पावती कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षण फल व शक्त तदेकेशस्य त दशरूपस्य सक्षेप क्रियेन इत्यप ।

ब्रह्मा ने समस्त वेदा का सार निकाल निकाल कर जिस नाटघवेद की रचना की, मुनि होकर भी भरत ने जिसका प्रयोग (अभिनय) किया, शिव (नीलकण्ठ) ने जिसका ताण्डव तथा पावती ने जिसका लास्य किया, उस (नाटघवेद) का प्रतिपद (प्रत्येक अङ्ग का) लक्षण कौन कर सकता है ? तथापि किसी प्रकृष्ट गुण वाली अथवा सरल (प्रगुण) रचना के द्वारा मैं नाटघ के कुछ लक्षणा को सक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥४॥

जिस = नाटघ वेद को वेदों से सार लेकर ब्रह्मा ने रचा जिसका अभिनय = करण तथा अङ्गहार भरत ने किया शिव ने ताण्डव = उद्धत नत्त और पावती ने लास्य = मुकुमार नत्त किया उसका पूरणरूप से (सामस्त्येन = प्रतिपदम्) लक्षण कौन कर सकता है । किंतु यहाँ उस (नाटघवेद) के एक भाग दशरूपक का सक्षेप (से निरूपण) किया जा रहा है ।

शर्वाणी—(?) यहाँ नाटघवेद की रचना के विषय में प्रचलित भारतीय परम्परा की ओर संकेत किया गया है । भरत के नाटघशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटघ की उत्पत्ति तथा अभिनय आदि के प्रवर्तन की यह कहानी कही गई है । (द्र० भ० पृ० ?) (२) करण और अङ्गहार—हाथ-पैर इत्यादि को व्यवस्थित करने का क्रम ही करण कहनाता है—हस्तपादसमयोगो नृत्यस्य करण भवेत् (भरत) । कलात्मक अङ्ग में अङ्गों का विनोद ही अङ्गहार है—अङ्गहारोऽङ्गविनोद (भरत) ।

[शब्द ही कहती है कि जब इसी विषय का नाटघवेद में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है तो इस शब्द की रचना पिच्छेपण (पुनरुक्ति) मात्र है] । अतः विषय की रचना के कारण होने वाली पुनरुक्ति का परिहार भरत ने —

विषयव्यप्रसक्त पौनरुक्त्य परिहरति—

(५) व्याकीर्णं मद्बुद्धीना जायते मतिविभ्रम ।

तस्याथस्तत्पदैस्तेन सक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥५॥

“व्याकीर्णं=विक्षिप्त विस्तीर्णं च रसशास्त्रे मद्बुद्धीना पुसा मतिमोहो भवति तेन तस्य नाट्यवेदस्यायस्तत्पदैरेव सक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।

इद प्रकरण दशरूपानामफलम् । दशरूप कि फलमित्याह—

(६) आनन्दनिस्यदिपु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि ।

योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम स्वादुपराडमुखाय ॥६॥

तत्र केचित्—

धर्मायकाममोक्षेषु वचक्षय्य कलायु च ।

करोति कीर्ति प्रीति च साधुकायनिपवणम् ॥

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्वमच्छति तन्निरासन स्वसवेद्य परमा तद्द्रूपो रसास्वादा दशरूपाणा फल न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

विस्तृत अथ मे मद्बुद्धि वाले जनो का बुद्धि भ्रम (Confusion) हो जाता है इसलिये उस (नाट्यवेद) का विषय (अथ) यहा सक्षिप्त करके उसी के शब्दो द्वारा सरल रीति से (निरूपित) किया जा रहा है ॥५॥ (अनुष्टुभ्)

व्याकीर्ण—बिखरे हुए तथा विस्तृत रसशास्त्र (नाट्यवेद) में, मद्बुद्धि वाले जनों का मतिमोह हो जाता है इसलिये उस नाट्यवेद का अथ नाट्यवेद के शब्दो के ही द्वारा सक्षिप्त करके सरल रीति से (अञ्जसा=ऋजुवृत्त्या) प्रतिपादित किया जा रहा है ।

इस प्रकार इस प्रकरण ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपकों का ज्ञान । दशरूपकों का क्या प्रयोजन होता है यह बतलाते हैं—

जो अल्पबुद्धि वाला आनन्द को प्रवाहित करने वाले रूपका का फल भी इतिहास आदि के समान केवल व्युत्पत्ति (धर्म आदि का ज्ञान) को ही बतलाता है उस रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है ॥६॥ (इन्द्रवज्रा)

सत् काव्य का सेवा (रचना तथा अनुशीलन) धर्म, अथ काम, मोक्ष (क विषय) का ज्ञान तथा कलाओं में प्रवीणता, (कवि की) कीर्ति एव, (पाठक के हृदय में) प्रीति को उत्पन्न करता है इस प्रकार कहते हुए कुछ आचार्यों (मामह काव्या लङ्कार १२) ने त्रिवर्ग (धर्म अथ काम) आदि के ज्ञान को ही काव्य का प्रयोजन माना है । उसका निराकरण करके (धनञ्जय ने) यह दिखलाया है कि (सहृदयो की) अपनी अनुभूति का विषय (स्वसवेद्य) जो परम आनन्द रूप रसास्वादन है वह दशरूपको का प्रयोजन है इतिहास आदि के समान त्रिवर्ग आदि का ज्ञान ही इनका प्रयोजन नहीं है । “रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है” यह कथन उपालम्भ के लिये है ।

नाटयानां सक्षण सक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तत्राटयमित्याह—

(७) अवस्थानुवृत्तिर्नाट्य—

वाच्योपनिबद्धधीराणांसाद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ।

टिप्पणी— (१) प्राचीन काल से ही आचार्यों ने वाच्य तथा रूपका के प्रयोजन पर विचार किया है। इस विषय में आचार्यों के विविध दृष्टिकोण हैं यही भामह (१०) के मत का निराकरण किया गया है। धनञ्जय के मत में रूपका का मुख्य प्रयोजन है—परम आनन्द की अनुभूति कराना, किन्तु त्रियम आदि का ज्ञान कराना वाच्य या रूपक का गौण प्रयोजन है ही। व्युत्पत्तिमात्रम् में प्रयुक्त मात्र पद से यह तथ्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। दूसरी बार भामह के अनुसार धम आदि का ज्ञान कराना का ये वाच्य या रूपक का मुख्य प्रयोजन है साथ ही प्रीति भी वाच्य का प्रयोजन है ही। यदि प्रीति का अभिप्राय आनन्द लिया जाता है तो भामह के अनुसार आनन्दानुभूति भी वाच्य का प्रयोजन होगा। चाहे वह गौण ही क्या न हो। सब तो धनञ्जय ने भामह को स्वादुराहमुख कहते हुए जो उन पर आप्नेप किया है इसका तात्पर्य यह है कि धनञ्जय के अनुसार परम आनन्द की प्राप्ति ही वाच्य का मुख्य प्रयोजन है (२) इस प्रकार ग्रन्थकार ने अनुवृत्तचतुष्टय का सक्षण में निरूपण किया है। अनुवृत्तचतुष्टय है—विषय, अधिकारी सम्बन्ध और प्रयोजन। इस ग्रन्थ का विषय दशरूपक है। दशरूपका के ज्ञान का इच्छुक जन इसका अधिकारी है। विषय और प्रकरणग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है, अर्थात् दस प्रकार के रूपक प्रतिपाद्य हैं और ग्रन्थ उनका प्रतिपादक। इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन है—रूपका का स्पष्ट तथा सक्षिप्त विवेचन जिससे मन्दबुद्धि वाले जन भी दशरूपक का ज्ञान प्राप्त कर सकें। पाठक की दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपक का ज्ञान। किन्तु इस ज्ञान का भी कुछ फल होना चाहिये? क्योंकि दशरूपका से परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये दशरूपकों का ज्ञान भी सप्रयोजन ही है। इस प्रकार परम आनन्द की अनुभूति ग्रन्थ के प्रयोजन का प्रयोजन है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति शोना को आकृष्ट करने के लिए ही यह विवेचन किया गया है।

नाटय या रूपक का स्वरूप

नाटय के सक्षणों को सक्षिप्त करना हैं' यह कहा गया है अब 'यह नाटय क्या है?' यह बतलाते हैं—

अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है।

वाच्य में वर्णित (नायक की) धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अर्थात् चार प्रकार के अभिप्राय द्वारा (अनुवाच्य के साथ) एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है।

टिप्पणी—नाटय (१)—नट का भाव या कम नाट्य कहलाता है। वह कम है—नायक की उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अथवा अभिनय-कीर्तन के

(८) —रूप दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाटय दृश्यमानतया रूपमित्युच्यत, नीलादिरूपवत् ।

(९) रूपक तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वतमानत्वाद्वारूपक मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन् नर्ते प्रवत मानस्य शब्दत्रयस्य इन्द्र पुरन्दर शक्र इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शित ।

द्वारा नट का अनुकाय (राम आदि के साथ तादात्म्य (नट म 'यह राम है' इस प्रकार की एकरूपता) प्राप्त करना । जो काव्य अभिनय के योग्य (अभिनेय) होता है वह भी नाटय या रूपक कहलाता है । फलतः अभिनेय काव्य = नाटय = दृश्य = रूप = रूपक ।

(11) अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और नाट्विक । भुजा आदि अङ्गों द्वारा अभिनय आङ्गिक है । वचन के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक है, इसे पाठ्य भी कहते हैं । आहार्य = ग्राह्य, नाटय के योग्य अलङ्कार आदि धारण करना वेश रचना आदि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है वह आहार्य कहलाता है । दूसरे के सुख दुःख का भावना से भावित अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं । सत्त्व से निष्पन्न होने वाले भाव सात्त्विक कहे जाते हैं । उन स्तम्भ स्वेद आदि सात्त्विक भावा के द्वारा किया गया अभिनय सात्त्विक कहलाता है ।

दृश्य होने के कारण यह नाट्य 'रूप' भी कहलाता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार दृश्य (चाक्षुष ज्ञान का विषय) होने के कारण नील इत्यादि रूप कहलाते हैं उसी प्रकार दृश्य होने के कारण नाट्य भी 'रूप' कहलाता है ।

आरोप किया जाने के कारण वह (तत्) नाट्य 'रूपक' कहलाता है ।

जिस प्रकार मुख में चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुखचन्द्र' में रूपक (अलङ्कार) कहलाता है इसी प्रकार नट में राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण नाटय को भी 'रूपक' कहते हैं इस प्रकार एक ही अर्थ (दृश्य काव्य) में प्रयुक्त होने वाले नाटय, रूप और रूपक—इन तीनों शब्दों का इन्द्र पुरन्दर तथा 'शक्र आदि के समान प्रवृत्तिनिमित्त का भेद दिखलाया गया है ।

टिप्पणी—(१) घनञ्जय के अनुसार 'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति होगी रूप्यते दृश्यत इति । नाटयदपण के अनुसार—रूप्यत अभिनीयत इति रूपणि नाटकादीनि (पृष्ठ १२) । (२) रूपक—रूपम् एव रूपकम् (रूप + कम्) या, रूपयति इति अथवा आरोपयति इति (√रूह + णिच्) । नट में राम आदि (अनुकाय) के रूप का आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है । (३) प्रवृत्तिनिमित्त—जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्द प्रवृत्तिनिमित्त कहलाता है, जैसे गोत्व के कारण गायो म गो शब्द का प्रयोग होता है अन्त 'गोत्व' गा शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है । एक ही अर्थ (वस्तु) के लिये भिन्न भिन्न निमित्त स

(१०)—दणधव रसाश्रयम् ॥८॥

रसानाश्रित्य वतमान ऽशप्रकारकम् एवत्यवधारण शुद्धाभिप्रायण । नाटिकाया सकीणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानव दशभदानुद्दिशति—

(११) नाटक सप्रकरण भाण प्रहसन डिम ।

व्यायोगसमवकारौ वीच्यङ्केहामगा इति ॥८॥

अनक शब्दा का प्रयोग किया जाता है । वहा उन शब्दों के अर्थ में तो भेद नहीं होता किंतु उन शब्दों का प्रयोग का निमित्त भिन्न भिन्न हो सकता है । जैसे एक ही व्यक्ति परम एषवयवान् होने के कारण इन्द्र तथा पुरा को विदीन करने का कारण पुरंदर कहलाता है । ऽमी प्रकार अभिनय या दृश्य काय में उन्नत आदि अवस्थाओं का अनुस्मरण किया जाता है अतः ये नाट्य कहलाते हैं, व दृश्य हैं इसी से व रूप कहलाते हैं और वहाँ नट म राम आदि के रूप का आगेप किया जाता है इसलिये वे रूपक कहलाते हैं य तीना पञ्च एवाथवाचक हैं कि तु प्रवृत्तिनिमित्त का भेद है ।

नाट्य के प्रकार (भेद)

रस पर आश्रित होने वाला यह रूपक दस प्रकार का ही होता है ॥७॥

चाव यह है रूपक रसों पर आश्रित होते हैं वे दस प्रकार के ही हैं (अधिक नहीं) । यहाँ शुद्ध रूपक की दृष्टि (अभिप्राय) से ही एव (—ही) शब्द द्वारा अवधारण (रूपक दस प्रकार के ही है इस प्रकार का नियम) किया गया है क्योंकि सकीण रूपक के रूप में आगे नाटिका कही जायगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रथमतः रूपक दो प्रकार के हो सकते हैं—१ शुद्ध और २ सकीण । धनञ्जय के अनुसार वस्तु नता और रस का आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप बाने दस ही रूपक हैं । ये रूपक के शुद्ध भेद हैं । इनमें से दो या तीन के वृत्तिपर लक्षणा का मिश्रण (सकीणता) जिस रूपक में पाया जाता है वह रूपक का सकीण भेद है तब नाटिका एक सकीण रूपक है, यह आगे (३४३) बतलाया जायगा । यह नाटिका भी रस पर आश्रित होती है तथापि यह रूपक का शुद्ध भेद नहीं है अपितु सकीण भेद है । इस प्रकार धनञ्जय का अभिप्राय यह है कि रस पर आश्रित होने वाले अभिनय रूपक कहलाते हैं । इन रूपकों के दो प्रकार हैं—शुद्ध और सकीण । शुद्ध रूपक १० प्रकार के ही होते हैं । इनके अनिरिक्त सकीण रूपक (नाटिका) आदि भी हात हैं ।

उन दस भेदों का निर्देश करते हैं—

१ नाटक २ प्रकरण, ३ भाण ४ प्रहसन, ५ डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार ८ वीची, ९ अङ्क और १० ईहामृग ।

ननु—

‘दोम्बी श्रीगदित भाणा भाणीप्रस्थानरासका ।

काय च सप्त नृत्यस्य भेदा स्युस्तत्रपि भाणवत् ॥”

इति रूपकांतराणामपि भाषादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

(१२) अयद्भावाश्रय नृत्यम्—

रसाश्रयमात्राट्टाद्भावाश्रय नृत्यमयदव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदानत्यमिति नतगात्रविशेषाद्यत्वेनाङ्गिकावाहुल्यात् तत्कारिण्यु च नतकव्यपदेशाल्लोकैःपि च अत्र प्रेम्णोपयुक्तम् इति व्यवहारान्नाटकान्तरयन्त्यम् । तद्दे दत्वाङ्गीगदिना रेवधारणोपपत्ति नाटकादि च रसविषयम् रसस्य च पदार्थोभूतविभावादिससर्गात्मकवाक्याय हेतुकत्वाद्वाक्यार्थोभिनयात्मकत्व रसाश्रयमित्यनेन दक्षितम् । नाट्यमिति च नाट्यव्यपदाने इति नटे किञ्चिच्चलनापह्वात्सात्त्विकवाहुल्यम अत एव तत्कारिण्यु नटव्यपदेश । यथा च गात्रविशेषाद्यत्वे समानेष्वनुकारात्मकत्वेन नत्तादयन्त्य तथा

(शङ्कर) दोम्बी, श्रीगदिन, भाण, भाणी प्रस्थान रासक और काव्य—ये नृत्य क सात भेद होते हैं । ये सभी भाण के समान हैं । इस प्रकार अय प्रकार क रूपक भी विद्यमान हैं अत दस प्रकार के ही रूपक हैं इस प्रकार का अवधारण (नियम) नहीं बन सकता ?

इस प्रकार की शङ्का उठाकर कहते हैं—

भाव पर आश्रित होने वाला नृत्य (नाट्य से) भिन्न होता है ।

नाट्य रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर आश्रित है अत नाट्य से नृत्य भिन्न ही होता है । यथा भावाश्रय इस शब्द से विषय का भेद और नृत्य इस शब्द से आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता दिखलाई गई है क्योंकि (नृत्य शब्द नृत्य धातु से बना है) नृत्य धातु का अर्थ है—गात्र विशेष—अङ्गी का चलाना । साथ ही नृत्य करने वाले के लिये ‘नतक शब्द का प्रयोग होता है और सूक्त में भी यथा (नृत्य में) वशनीय है—यह व्यवहार होता है । अत नृत्य नाटक आदि रूपकों से भिन्न ही है । क्योंकि श्रीगदित आदि नृत्य के भेद ह (तद् भेदत्वात्) (नाट्य के नहीं) इसलिये (यम ही रूपक ह यह) नियम ठीक बन जाता है ।

दूसरी ओर नाटक आदि (रूपक) रसपरक होते हैं । ‘रसाश्रयम् इस कथन से यह दिखला दिया गया है कि रूपक वाक्याय के अभिनय रूप में हुआ करता है क्योंकि विभाव आदि पदों के अर्थ (पवाय) ह और उन पदार्थों का ससर्ग (अवय) वाक्याय है तथा वही वाक्याय रस निवृत्ति का (रसस्य) हेतु होता है । किञ्च, ‘नाट्य इस शब्द से प्रकट होता है कि नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता हुआ करती है, क्योंकि (नाट्य शब्द की निवृत्ति नटधातु से होती है) नट अव्यपदाने’ इस धातु का अर्थ है—कुछ चलना (अत नाट्य में आङ्गिक क्रिया कम ह और सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती ह) इसीलिये अभिनय (नाट्य) करने वाले के लिये नट शब्द का प्रयोग होता है (नतक शब्द का नहीं) और नित प्रकार (नृत्य तथा नृत्य में) गात्र विशेष अर्थ की समानता होने पर भी नृत्य से नृत्य इसलिये भिन्न

शब्दार्थाभिनयात्मका नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकम् यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गानुत्त व्युत्पादयति—

(१३) —नृत्त ताललयाश्रयम् ।

तालश्चञ्चल्पुटादि लयो द्रुतादि, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविभोऽभिनयशून्यो नत्तमिति ।

अनन्तरं द्वितीय व्याचष्टे—

(१४) आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥८॥

नृत्य पदार्थाभिनयात्मक माग इति प्रसिद्धम्, नत्त च दशोति । द्विविधस्यापि द्विविध्यं दशयति—

(१५) मधुरोद्धतभेदेन तद द्वयं द्विविधं पुनः ।

लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१०॥

सुकुमार इयमपि लास्यम् उद्धत द्वितीयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दशयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य स्वविधवान्तरपदार्थाभिनयेन नत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।

है क्योंकि उस (नृत्य) में अनुकरण होता है (नत्त में नहीं) उसी प्रकार नाट्य से भी नृत्य भिन्न है क्योंकि नाट्य में वाक्याय का अभिनय होता है किन्तु नृत्य में पदाय का अभिनय ।

प्रसङ्गवशान्त का स्वरूप बतलाते हैं—

नृत्त ताल और लय पर आश्रित होता है ।

चञ्चल्पुट (हाथ की तासी) इत्यादि ताल है । द्रुत (मध्यम, विलम्बित) इत्यादि लय है । केवल उहीं (ताल, लय) पर आश्रित होने वाला अङ्ग-विशेष (अङ्गों का संचालन) नृत्त कहलाता है उसमें अभिनय बिल्कुल नहीं होता ।

अभी कहे गये दोनों (नृत्य तथा नृत्त) की ध्याना करते ह—

इनमें से पहिला (नृत्य) पदार्थाभिनय है जो माग कहलाता है और दूसरा (नृत्त) देशी कहलाता है ॥८॥

अर्थात् नृत्य में पदार्थों का अभिनय होता है । वह माग' नाम से प्रसिद्ध है और नत्त 'देशी' नाम से ।

उन दोनों के ही दो दो प्रकार होते हैं यह दिखलाते हैं—

वे दोनों (नृत्य और नृत्त) मधुर तथा उद्धत भेद से लास्य और ताण्डव रूप में दो दो प्रकार के होते हैं, जो नाटक आदि (रूपका) के उपकारक हुआ करते हैं ॥१०॥

अर्थात् दोनों (नृत्य तथा नृत्त) ही सुकुमार होने पर लास्य और उद्धत होने पर ताण्डव कहलाते हैं । प्रसङ्ग से कहे गये नृत्य और नृत्त का नाटकाद्युपकारकम् इस कथन द्वारा नाट्य में उपयोग दिखाया गया है । भाव यह है कि कहीं कहीं नाटक आदि में अवान्तर पदार्थों से अभिनय रूप में नृत्य का और शोभा बढ़ाने के लिये नृत्त का उपयोग किया जाता है ।

टिप्पणी—१—यहाँ प्रसङ्ग से ही नाट्य, नृत्य और नृत्त का निरूपण किया गया है। घनञ्जय और घनिक न इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हुए इनका अंतर भी दिखलाया है। सक्षेप म यह कहा जा सकता है—(क) नाट्य और नृत्य दोनों म अभिनय होता है, किन्तु (१) नाट्य म अवस्था की अनुवृत्ति होती है, नृत्य में भावा की। (२) नाट्य मे वाक्याय का अभिनय होता है क्योंकि इसे रसाश्रित कहा गया है और दशरूपककार के अनुसार रस निष्पत्ति वाक्याय रूप मे होती है। (द्र० अ० मे ४३७)। दूसरी ओर नृत्य म पदार्थों का अभिनय होता है। (३) नाट्य मे सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है किन्तु नृत्य मे आङ्गिक अभिनय की। (४) नाट्य शब्द नट धातु से निष्पन्न होता है। नट धातु का अर्थ है—कुछ-कुछ चयना, फलत नाट्य मे बाह्य अङ्गविक्षेप की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता होती है किन्तु नृत्य शब्द नृ धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—गात्रविक्षेप। इस प्रकार नृत्य मे आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता होती है। (५) नाट्य रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर। (६) नाट्य मे अभिनय के साथ साथ पाठ्य (काव्य) भी होना है जो श्रय होता है किन्तु नृत्य मे सुनने के लिये कुछ नहीं होता इसलिय यह कहा जाता है कि नृत्य केवल दशनीय होता है। (७) नाट्य के कलाकार को नट और नृत्यकार को नतक कहते हैं।

(ख) नय और नृत्त—(१) दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति नृ धातु से की जाती है। नृ धातु का अर्थ है—गात्रविक्षेप। इन दोनों म ही अङ्गों का विक्षेप होता है। (२) दोनों मे दो दो भेद हैं सुकुमार (लास्य) और उद्धत (ताण्डव)। (३) साथ ही ये नाट्य म उपयोगी हैं अर्थात् पदार्थों का अभिनय करके नृत्य किसी नाट्य को पूरा करता है और नृत्त किसी अभिनय की शोभा बढ़ाता है। इन दोनों मे अंतर यह है—(१) नृत्य म शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पदार्थ का अभिनय होता है इसी से इसे माग भी कहा जाता है। किन्तु नृत्त म कोई अभिनय नहीं होता। इसमें जो अङ्ग-विक्षेप होता है वह शास्त्रीय पद्धति के अनुसार नहीं अपितु लोकसंस्कार के अनुसार, इसीलिये इसे देशी कहा जाता है। (२) नृत्य भाव पर आश्रित है किन्तु नृत्त भाव पर आश्रित है।

२-दशरूपक के परवर्ती ग्रन्थों में भी नाट्य तथा नृत्त का विवेचन उपलब्ध होता है, जिनमे शारदातनय का भावप्रकाशन, विद्यानाय का प्रतापछ्दीय तथा शाङ्ग दस का सङ्गीतरत्नाकर आदि उल्लेखनीय हैं। सिद्धान्तकौमुदी म भी 'नट नृत्तौ' धातु के प्रकरण मे इन तीनों शब्दों की व्याख्या मिलती है। प्रता० स० रत्ना० तथा सिद्धान्त कौमुदी की व्याख्या में दशरूपक का अनुसरण किया गया है किन्तु भावप्रकाशन का एतद्विषयक विवेचन दशरूपक से निराश्रित भिन्न है (विशेष द्र० The types of Sanskrit Drama पृ० १२-२२) ३-नृत्य और नृत्त का विस्तृत विवेचन सङ्गीत शास्त्र के प्रथो में द्रष्टव्य है।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्तद्विभेद इत्याशङ्क्याह—

(१६) वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक —

वस्तुभेदात्नायकभेदात् रसभेदात् रूपाणामभेदोऽयं भेद इति ।

यस्तुभेदमाह—

(१७) —वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह—

(१८) तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥११॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तात्, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणमुपीषाण्वृत्तात् इति ।

निरवत्याऽऽधिकारिकं लक्षणमिति—

(१९) अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु ।

तन्निवृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥

रूपका के भेदक तत्त्व

सभी रूपक अनुकरणारमक हैं अतः उनमें कोई भेद न होगा फिर उनमें भेद किस निमित्त से किया जाता है ? यह शङ्का होने पर कहने हैं—

वस्तु, नायक और रस उन (रूपका) के भेदक तत्त्व हैं—

कथावस्तु के भेद से, नायक के भेद से और रस के भेद से रूपकों का परस्पर भेद हो जाता है ।

टिप्पणी—इन तीन भेदक तत्त्वा (वस्तु नेता तथा रस) के विषय में यह समझा जाता है कि ये वस्तु द्वारा उचितपादित पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के ६ तत्त्वों (१ कथावस्तु २ चरित्र चित्रण ३ शली ४ विचार (संवाद) ५ अभिनेयता और ६ गीत) के समान ही हैं और इनमें उन सभी का समावेश हो जाता है । वस्तु न होना में कुछ समानता होते हुए भी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं

वस्तु (कथावस्तु) के भेद प्रभेद—

वस्तु के भेद बतलाते हैं—वस्तु दो प्रकार की होती है ।

किस प्रकार ? यह बतलाते हैं—

उनमें मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अङ्ग रूप वस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं ।

प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कहलाती है, जैसे रामायण में राम और सीता का वृत्तान्त है । उस प्रधान कथावस्तु को अङ्गरूप वस्तु प्रासङ्गिक है जैसे रामायण में है विभीषण तथा सुग्रीव आदि का वृत्तान्त ।

टि०—मि० नाट्यशास्त्र १६२ तथा सा० द० ६४२ ।

व्युत्पत्ति दिखलाते हुए आधिकारिक कथावस्तु का लक्षण करते हैं—

अधिकार का अर्थ है फल का स्वामी होना । उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है । उस अधिकार के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध काव्य में अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है ॥१२॥

टि०—नाट्यशास्त्र १६३—५ सा० द० ६४३ ।

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकार फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निवृत्तम् फलपर्यन्तता नीयमानमिति वृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिक व्याचष्टे—

(२०) प्रासङ्गिक परीथस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गत ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सनस्तप्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमिति वृत्त प्रसङ्गनिवृत्ते ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

(२१) सानुबन्ध पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३॥

दूर यदनुबन्धे प्रासङ्गिक मा पताका सुग्रीवादिवृत्ता तवत्, पताकेवासाधारण नायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् । यदल्प सा प्रकरी श्रवणादिवृत्ता तवत् ।

भाव यह है कि फल के साथ स्व स्वामि भाव सम्बन्ध (फल का स्वामी होना) अधिकार कहलाता है और फल का स्वामी अधिकारी । उस अधिकार या अधिकारी के द्वारा किया गया, फल प्राप्ति तक पहुँचने वाला जो वस्तु या कथा है वही आधिकारिक वस्तु है ।

प्रासङ्गिक वस्तु की व्याख्या करते हैं ।

जो इतिवृत्त दूसरे (आधिकारिक कथा) के प्रयोजन की सिद्धि के लिये होता है किन्तु प्रसङ्ग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है, वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहलाता है, क्योंकि उसकी प्रसङ्ग से सिद्धि होती है ।

दूसरे (प्रधान प्रयोजन) की सिद्धि के लिये होने वाली जिस (कथा) का प्रसङ्ग से अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासङ्गिक है ।

टि०—(१) ना० शा० १६३—४ सा० द० ६४३—८४, भा० प्र० २०१ प० १—२ ।

प्रासङ्गिक—प्रसङ्गात् निवृत्तम्—प्रासङ्गिकम्, प्रसङ्ग से होने वाला । इस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुबन्ध ही प्रासङ्गिक वस्तु का लक्षण किया गया है । यह कथा वस्तु आधिकारिक कथा की फलसिद्धि में सहायक होती है किन्तु प्रसङ्ग से इसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाया करता है । उदाहरणार्थ रामकथा में राम की कथा मुख्य (आधिकारिक) है उसका फल रावण-वध तथा सीता की प्राप्ति आदि है । सुग्रीव की कथा इस प्रधान फल की प्राप्ति में उपकरण है किन्तु उन कथा का फल वालि वध और राज्य लाभ भी प्रसङ्ग से सिद्ध हो जाता है ।

प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद (पताका और प्रकरी)

प्रासङ्गिक इतिवत्त भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है—

इनमें अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है और एक प्रदेश में रहने वाला प्रकरी ॥१३॥

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानक व्युत्पादयति—

(२०) प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽयोक्तिसूचकम् ।

पताकास्थानक तुल्यसविधानविशेषणम् ॥१४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽयस्य सूचक रूप पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम् अयोक्तिसमासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम्—

जो प्रासङ्गिक वस्तु (प्रधान इतिवृत्त के साथ) दूर तक चलता है यह पताका कहलाता है, जैसे सुग्रीव आदि का वृत्तांत (जो रामकथा के साथ दूर तक चलता है) । जिस प्रकार पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और उसका उपकार करती है इसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक (तथा तत्सम्बन्धी कथा) का उपकार करता है इसीलिये इसे पताका कहते हैं । जो प्रासङ्गिक वस्तु थोड़ी दूर तक चलता है, वह प्रकरी कहलाता है, जैसे (रामायण आदि में) श्वषण आदि का वृत्तांत है ।

टि०—(१) ना० शा० १६ २४—२५ सा० द० ६ ६८—६९, भा० प्र० पृ० २०१—२०२ ।

(२) सानुवध—अनुवध सहित, अनुवध—पीछे बधना, अनुवतन दूर तक साथ चलना अथवा फल । इस प्रकार जो प्रासङ्गिक कथा प्रधान कथा का दूर तक अनुवतन करती है, जिसका अपना भी प्रयोजन होता है वह पताका कहलाती है ।

(३) पताका और प्रकरी दोनों ही प्रासङ्गिक कथावस्तु हैं दोनों आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देती हैं और प्रधानफल की सिद्धि में सहायक होती हैं, फिर भी दोनों में अंतर है—(क) पताका नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है । वह अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ साथ प्रधान नायक के काय की सिद्धि में सहायक होता है जैसे 'रामचरित' में सुग्रीव है जो बालि वध या राज्यप्राप्ति के रूप में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये राम का सहायक होता है । दूसरी ओर प्रकरी का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है जैसे रामचरित में जटायु है (ख) पताका की कथा काव्य या नाट्य में बहुत दूर तक चलती है किन्तु प्रकरी की कथा एकदेशी होती है ।

पताकास्थानक

पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का निरूपण करते हैं ।

जो किसी अन्य वस्तु के कथन द्वारा आगतुक प्रस्तुत वस्तु का सूचक होता है वह पताकास्थानक कहलाता है, वह समान इतिवृत्त (सविधान) तथा समान विशेषण (भेद से दो प्रकार का) होता है ॥१४॥

प्राकरणिक किन्तु आगे आने वाले अय का सूचक इतिवृत्त जो पताका के समान होता है पताकास्थानक कहलाता है । वह अयोक्ति तथा समासोक्ति के भेद से दो प्रकार का है, अर्थात् १ समान इतिवृत्त के द्वारा (प्रस्तुत आगतुक अय का सूचक) २ सम विशेषणा के द्वारा । (समान इतिवृत्त द्वारा) जस रत्नावली (३ ६) में—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममय सुप्ता भयव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितौव सरोरुहिण्या सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकर करोति ॥१॥

यथा च तुल्यविशेषणतया—

उदामोत्कलिका विपाण्डुररुच प्रार घजम्भा क्षणा

दामास श्वसनोद्गमरविरलेरातवतीमात्मन ।

अद्योद्यानलतामिमा समदना नारीमिवाया ध्रुव

पश्य कोपविपाण्डुति मुख देव्या करिष्याम्यहम् ॥२॥

'हे कमलनयने, मेरे जाने का समय है, मैं जा रहा हूँ । सोती हुई तुमको प्रातः मुझे ही जगाना है, इस प्रकार अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणों को निविष्ट करने वाला यह सूर्य भानों कमलिनी को आशवासन (प्रत्यायना) दे रहा है ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इसमें सूर्य और कमलिनी के वृत्तान्त द्वारा राजा उदयन और रत्नावली के भावी मिलन की सूचना दी गई है । सूर्य और कमलिनी का पुनर्मिलन तथा उदयन और रत्नावली का मिलन समान घटनाएँ हैं । यहाँ उदयन तथा रत्नावली की कथा प्रस्तुत है, उसकी दृष्टि से सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त अर्थ (अप्रस्तुत) ही है । इसलिये यह अयोक्ति के आधार पर पताकास्थानक का उदाहरण है ।

(२) यहाँ अयोक्ति का अर्थ है—समान इतिवृत्त द्वारा प्रस्तुत अर्थ का कथन । इसी प्रकार समान विशेषण द्वारा प्रस्तुत अर्थ की सूचना यहाँ समासोक्ति कही गई है । अयोक्ति और समासोक्ति अलङ्कारों के लक्षण इन पर घटित करना वाञ्छनीय नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः अयोक्ति और समासोक्ति अलङ्कार हैं, यह निश्चित नहीं ।

समान विशेषणों के द्वारा (प्रस्तुत अर्थ की सूचना) जैसे—रत्नावली २४)—
चटक्षती बलियों वाली (भाषिणा पक्ष मे—उत्कट अमिलाया वाली), (पुष्पों से या विरह से) पाण्डुर वण वाली अभी-अभी खिलती हुई (जम्माई लेती हुई) निरन्तर वायु के सञ्चार से अपना विस्तार (आयास) करती हुई [—निरन्तर विवाहों के निबलने से अपनी पीडा (आयास) को प्रकट करती हुई], मदननामक वृक्ष के आश्रित (—कामभावना से युक्त) दूसरी नारी जसी इस उद्यानलता को देखता हुआ मैं आज अवश्य ही देवी (वासवदत्ता) के मुख को कोप से आरक्त कान्ति वाला कर दूंगा ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इसमें तुल्य विशेषणों द्वारा रत्नावली सम्बन्धी भावी वृत्त की सूचना दी गई है । आगे चलकर जो रत्नावली (सागरिका) और राजा के मिलन के निमित्त से देवी वासवदत्ता के क्रोध का वधन किया जायेगा, उसी की ओर यहाँ संकेत किया गया है । इस प्रकार यह सूर्य विशेषणों के द्वारा भावी प्रस्तुत अर्थ का सूचक द्वितीय पताकास्थानक है ।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रिविध्यमाह—

(२३) प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्य कविकल्पितम् ॥१५॥

मिश्र च सङ्करात्ताभ्या दिव्यमर्त्यादिभेदत ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

(२) यहाँ घनिक ने जो अयाक्ति तथा समासोक्ति शब्दों का प्रयोग किया है वह भ्रामक है। न तो घनिक से पूव ना० शा० में ही इन शब्दों का प्रयोग है न ही अर्वाचीन ग्रंथों नाट्यदपण या साहित्यदपण आदि में ही, हाँ भा० प्र० (२०२-१६) में इन शब्दों का प्रयोग अवश्य किया गया है। (३) पताका और पताकास्थानक—इन दोनों में ही नामसाम्य ही नहीं है अपितु पताका के समान ही पताकास्थानक भी प्रधानफल में उपकारक इतिवृत्त ही होता है (नाट्यदपण १३०)। भा० प्र० (२०१११) के अनुसार तो प्रासङ्गिक इतिवृत्त ३ प्रकार का है। पताका, प्रवरी और पताकास्थानक। इसलिये यहाँ पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का वणन किया गया है। इसमें पताका से अंतर यह है—(क) यह पताका के समान दूर तक चलन वाला इतिवृत्त नहीं होता। (ख) अय के वणन द्वारा प्रधान इतिवृत्त सम्बन्धी किसी भावी घटना की सूचना देता है उसका शब्दों से वणन नहीं करता (ग) पताका के समान क्रमवद्ध इतिवृत्त नहीं होता अपितु की बीच बीच में इसका एक बार या अनेक बार निबन्धन किया जाता है। यह नाट्य और काव्य का अलङ्करण माना जाता है (द्र० ना० द० १३०)। (४) घनञ्जय और घनिक ने केवल दो प्रकार का पताकास्थानक बतलाया है किन्तु नाट्यशास्त्र (१६३१-३४) में चार प्रकार का पताकास्थानक बतलाया गया था। बाद में नाट्यदपण (१३१) तथा साहित्यदपण (६४४-४६) में भी चार प्रकार के पताकास्थानक का उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। दशरूपक का जो (उद्दामोत्कलिकाम्) तृतीय पताकास्थानक है विश्वनाथ ने उसे चतुर्थ पताकास्थानक माना है। किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार यह पताकास्थानक का उदाहरण ही नहीं है (अभि० १६३४)। इसके अतिरिक्त दशरूपक के प्रथम उदाहरण को साहित्यदपण आदि ने लिया ही नहीं है। इसका य तभाव साहित्यदपण के किस पताकास्थानक में हो सकेगा, यह कहना कठिन ही है। यह भी चि तनीय है कि घनञ्जय ने भरत द्वारा कथित चारों प्रकार का विवेचन क्यों नहीं किया।

इस प्रकार एक प्रकार का आधिकारिक और दो प्रकार के प्रासङ्गिक (कुल मिला कर) इस तीन प्रकार के इतिवृत्त के फिर तीन तीन प्रकार घनलाते हैं—

वह तीन प्रकार का (इतिवृत्त) भी फिर १ प्रख्यात, २ उत्पाद्य और ३ मिश्र भेद से तीन-तीन प्रकार का होता है। इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि द्वारा (स्वयं) कल्पित उत्पाद्य तथा इन दोनों के मिश्रण से मिश्र कहलाता है। ये सभी इतिवृत्त 'दिव्य, मर्त्य, (अदिव्य) आदि भेद से भी भि न भिन्न होते हैं।

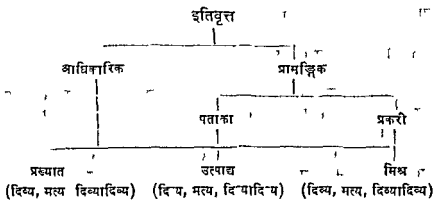
इस [कारिका] को ग्रंथ में ही व्याख्या हो गई है।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

(२४) कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६॥

धर्माधिकारमा फल तच्च शुद्धमेकमेकानुबन्धि द्विन्यनुबन्धि वा ।

(१) टिप्पणी—(१) दिव्यमत्यादिभेदत—यहाँ आदि शब्द से दिव्यादिव्य का ग्रहण होता है। जैसा कि साहित्यदपण (६६) में बतलाया गया है श्रीकृष्ण आदि का वृत्त दिव्य का उदाहरण है। जो दिव्य होकर भी अपने आपको मानव समझते हैं वे श्री रामचन्द्र आदि दिव्यादिव्य के उदाहरण हैं। मत्स्य कथावस्तु का उदाहरण मृच्छकटिक इत्यादि हैं। प्रख्यात आदि इतिवृत्त के उदाहरण आगे यथावसर लिखलाये जायेंगे। उस प्रकार इतिवृत्त के अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे—



इतिवृत्त का फल

उस इतिवृत्त का क्या फल होता है यह बतलाते हैं—

उसका फल त्रिवर्ग होता है। यह कभी तो शुद्ध (त्रिवर्ग में से कोई एक ही) और कभी (अथ) एक से अनुगत तथा कभी अनेक (दो) से अनुगत होता है ॥२६॥

धर्म अथ और काम (मुख्य) इतिवृत्त का फल होता है। यह फल कभी तो केवल शुद्ध अर्थात् तीनों में से कोई एक कभी एक से अर्थात् एक (जैसे अथ से अनुगत धर्म आदि) कभी दो से अर्थात् एक (जैसे अथ, और काम से अर्थात् धर्म आदि) और कभी तीन से अर्थात् एक (जैसे अथ, काम और मोक्ष से अर्थात् धर्म आदि) होता है।

टिप्पणी—पुरुषाय चार हैं—धर्म अथ काम और मोक्ष। किन्तु केवल मोक्ष कभी भी रूपक के इतिवृत्त का फल नहीं हो सकता। इसी हेतु शास्त्र रस को रूपक में स्वीकार नहीं किया गया है। और इसी से त्रिवर्ग को इतिवृत्त का फल माना

तत्साधन व्युत्पादयति—

(२५) स्वरपोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्वीज विस्तारनेवघा ।

स्तोकोद्दिष्ट कायसाधक पुरस्तादनेवप्रकार विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीज यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदवो योगधरायणव्यापारी विष्कम्भके यस्त । योगधरायण—क सवेह (द्वीपादयस्मात्—इति पठति) इत्यादिना प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावा तरकायभेदादनेकप्रकारमिति ।

गया है मोक्ष को नहीं । फिर भी मोक्ष से अनुगत घम आदि तो रूपक के इतिवृत्त का फल हो ही सकता है । घनिक की याख्या का यही स्वारस्य प्रतीत होता है । भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने तथा विश्वनाथ (सा० द० १ २) इत्यादि अर्वाचीन आचार्यों ने चतुर्वर्ग प्राप्ति को काव्यो का फल स्वीकार किया भी है ।

फल प्राप्ति के साधन (अर्थप्रकृतिर्या)

उस फल के साधन बतलाते ह —

उस फल का निमित्त बीज कहलाता है, जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से सकेत किया जाता है और (आगे चलकर) अनेक प्रकार से विस्तार होता है ।

विशेष प्रकार का (इतिवृत्त के) फल (काय का निमित्त) जो किसी बीज के समान आरम्भ में सूक्ष्म रूप से कहा जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है वह बीज कहलाता है जैसे रत्नावली नाटिका (१६७) में वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति फल है उसका हेतु है—दव की अनुकूलता से युक्त योगधरायण का उद्योग उसे विष्कम्भक में (बीज रूप से) रखवा गया है—योग धरायण कहता है इसमें क्या सवेह है ? (द्वीपा० १६) 'अनुकूल दव दूसरे द्वीप से भी सागर के मध्य से भी दिशाओं के छोर से भी यमोद वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है । इस उक्ति से लेकर (प्रारम्भे १७) स्वामी के अभ्युदय के लिये प्रारम्भ किये गये इस काय में दव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया । अतः सचमुच ही इसकी सिद्धि में सवेह नहीं है । फिर भी अपनी इच्छा से ही सब कुछ करने वाला मैं स्वामी से डर रहा हूँ । इस कथन तक बीज का निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार वेणीसंहार (अङ्क १) में द्रौपदी का केश सयमन फल है । उसका हेतु है—भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह नहीं बीज है (जिसको स्वत्या भवति मयि जीवति घातराष्टा' १८ से लेकर मयावस्त० १-२२ तक सूचित किया गया है) ।

यह बीज महाकाय तथा अत्रा तर काय का हेतु होने से अनेक प्रकार का होता है ।

अत्रातर बीज का दूसरा नाम बतलाते ह—

अवातरबीजस्य सप्ता तरमाह—

(२६) अवान्तराथविच्छेदे विदुरच्छेदकारणम् ॥१७॥

यथा रत्नावल्यामवातरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्ती कथायविच्छेदे सत्यनतर कायहेतु—उदयनस्येदोरिवोद्दीक्षत । सागरिका—(श्रुत्वा) कह ऐसो सो उदयणण-रिदो जस्स अह तादेण दिण्णा ।' (कथमेप स उदयननरेद्रो यस्याह तातेन दत्ता) इत्यादि । विदु—जले तैलबिदुवत्प्रसारिवात् ।

— अवातर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के (मुख्य) प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद (सातत्य) का कारण होता है, वह बिदु कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (१ २३) में कामदेव की पूजा एक अवान्तर काय है । उसकी समाप्ति पर कथा के (मुख्य) प्रयोजन (रत्नावली समागम) का विच्छेद होने लगता है । तब उसके अनंतर होने वाले काय का हेतु है—मागधा की 'उदयनस्येदोरिवोद् दीक्षते' (जन समुदाय च द्रमा की किरणों के समान उदयन के चरणों की प्रतीक्षा कर रहा है) इत्यादि उक्ति । इसको सुनकर सागरिका कह उठतो है— क्या यही यह राजा उदयन है जिसके लिय मुझे पिता ने दिया है' इत्यादि ।

जिस प्रकार जल में तैल बिदु फैल जाता है उसी प्रकार यह (फलोपाय) नाट्य में फला होता है इसलिये यह बिदु कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६ २२) भा० प्र० (पृ० २०४) ना० द० (१ ३२) प्रता० (३ ७) तथा सा० द० (६ ६६) आदि प्रथा में भी बिदु का स्वरूप विवेचन किया गया है । भावप्रकाशन का लक्षण यह है—

फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावातरं फले ।

तस्याविच्छेदको हेतु विदुरित्याह काहुल ॥

ना० द० में प्राय नाट्यशास्त्र (अभि०) का अनुसरण किया गया है । इन सभी की व्याख्या में कुछ अपनी अपनी विशेषताएँ हैं तथापि ना० द० में इसका विशद वर्णन मिलता है । (२) बिदु का स्वरूप है—रूपक की कथावस्तु का एक प्रधान फल होता है जो महाकाय कहलाता है । इसके हेतु का सर्वप्रथम निर्देश किया जाता है । वह बीज कहलाता है । किंतु बीज बीज म कथाशो के अनेक प्रयोजन द्वारा करते हैं जो अवातर काय कहलाते हैं । जैसे रत्नावली नाटिका में महाकाय है—रत्नावली समागम तथा चरित्रातिवत् प्राप्त (काम तथा धर्म की सिद्धि) । किंतु इसकी कथावस्तु में अथ अनेक अवान्तर प्रयोजन हैं जैसे अनङ्गपूजा की घटना का प्रयोजन है—सागरिका के हृदय में विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि । इस प्रकार के अवातर प्रयोजन की समाप्ति हो जाने पर मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होना का अवसर उपस्थित हो जाता है किंतु उदयनस्येदोरिवोद्दीक्षत, इत्यादि कथन के द्वारा अग्रिम प्रयोजन

इदानीं पताकाद्य प्रसङ्गाद्बधुः प्रमोक्ष ब्रमायमुपसहरन्नाह— ।

(२७) बीजविन्दुपताकाख्यप्रकरीकायलक्षण ।

अथप्रकृतय पञ्च ता एता परिकीर्तिता ॥१८॥

अथप्रकृतय = प्रयोजनसिद्धिहेतव ।

की सिद्धि का निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता है । वह है—सागरिका के मन में 'औत्सुक्य उत्पन्न करना । इस प्रकार दशरूपक का दृष्टि से सागरिका के हृदय में औरसुक्य या अनुराग आदि की उत्पत्ति ही अर्थात् बीज (विन्दु) है । इसका द्वाग गाने कथा तथा तु अविच्छिन्न रूप में चलता रहता है । अमि० तथा ना० द० में विन्दु का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया गया है । तदनुसार अर्थात् कार्यों से मुख्यफल के विच्छिन्न हान लगने पर जो मुख्यपत्र या नायक आदि के द्वारा अनुसन्धान किया जाता है वही विन्दु कहलाता है । यह भी बीज के समान समस्त नाटक आदि में अन्त तक विद्यमान रहा करता है (ना० द० १३५) । तब विन्दु के समान इतिवृत्त में फल जाने के कारण से ही इस विन्दु कहते हैं (यह शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है) । यह विन्दु फल प्राप्ति के कारण का अनुपाहक है तथा स्वयं भी परम कारण है । इसका दूसरा नाम अर्थात् बीज भी है । नायक अथवा उसके सहायका के द्वारा अनेक फल का अनुसन्धान किया जा सकता है । अतः किसी नाटक आदि में अनेक बार विन्दु का प्रयोग हुआ करता है । (३) बीज और विन्दु—समानता (क) दोना फल प्राप्ति के उपाय (अथप्रकृति) हैं । (ख) फल की प्राप्ति तक दोना विद्यमान रहते हैं । अन्तर यह है—(क) सक्षय में निर्दिष्ट मुख्यफल का हेतु बीज रहनाता है जब रत्नावली की प्राप्ति का हेतु है—धव की अनुकूलता से युक्त योग धरायण का व्यापार दूसरी ओर मुख्य फल का अनुसन्धान करना विन्दु है जमे सागरिका का यह अनुसन्धान कि यही राजा उदयन है जिसके लिये मुख पिता ने दिया है । (ख) बीज का तो मुखसिद्धि के आरम्भ में निर्देश कर दिया जाता है किंतु विन्दु का निर्देश बाद में होता है ।

ऊपर प्रसङ्गवश बिना क्रम के ही पताका इत्यादि को बतला दिया गया है अब क्रमशः दिखलाने के लिये उपसहार करते हुए कहते हैं—

बीज, विन्दु पताका, प्रकरी और काय नामक ये पांच अथप्रकृतिया कही गई हैं ॥१८॥

अथप्रकृति का अभिप्राय है फल की सिद्धि के उपाय ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६ २०-२१) ना० द० (१२८) भा० प्र० (पृ० २०४ २०५) सा० द० (६४-६५) । (२) अथप्रकृति—यहाँ अथ शब्द फल या प्रयोजन का वाचक है । प्रकृति शब्द का अर्थ है—हेतु या कारण । इस प्रकार फल की सिद्धि के उपाय ही अथप्रकृतियाँ कहलाती हैं (अथ फल तस्य प्रकृतय उपाया

अथदवस्थापञ्चक्रमाह—

(२८) 'अवस्था पञ्च कायस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि ।

१ आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिकलागम ॥१६॥

यथादश लक्षणमाह—

(२९) औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे ।

इमह सपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—

प्राग्भे स्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतो दवे चेत्य दत्तहस्तावसम्ब । इत्यादिना सचिवायत सिद्धवत्सराजस्य कार्यारम्भा योग धरायणमुखन दर्शित ।

फलहेतव इत्ययं अभिनवभारती (१८, २०) । नाट्यदपण म भी अथप्रकृतियों का 'उपाय' कहा गया है (१ २८) । अभिनवभारती और नाट्यदपण व अनुसार इन पांच उपायों में से बीज और काय दोनों जड़ (अचेतन) हैं । तीन, बिन्दु पताका और प्रकरी चेतन हैं । किन्तु यह चेतन और अचेतन का विभाग युक्तिगुक्त नहीं कहा जा सकता । सम्भवत इसा हनु मा० द० (६ ४—६५) आदि में इसे छोड़ दिया गया है । (३) बीज बिन्दु और काय, ये तीन आवश्यक अथप्रकृतियों मानी गई है, पताका और प्रकरी का सभी रूपों में होना अनिवार्य नहीं है । जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नहीं होती वहाँ पताका और प्रकरी भी नहीं होते (मि० ना० द० १ ३५) । (४) यहाँ 'काय' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है । कारिका १६ में 'काय' शब्द का अर्थ इतिवृत्त का फल या प्रयाजन है जो त्रिवर्ग प्राप्ति के रूप में है । किन्तु अथप्रकृतियों में जिस 'काय' का समावेश है वह फल नहीं है अपितु फल प्राप्ति का उपाय है । इस प्रकार फल के अधिकारी व्यक्ति का व्यापार ही काय नामक अथप्रकृति है । यह काय (नायक-व्यापार) आरम्भ से लेकर फल प्राप्ति तक चलता रहता है इसी हनु काय शब्द का फल के अर्थ में भी प्रयोग कर दिया गया है ।

काय की पांच अवस्थाएँ

और भी पांच अवस्थाओं को बतलाते हैं —

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये काय की पांच अवस्थाएँ होती हैं— १ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ॥१६॥

नामनिर्देश के क्रम से इनका लक्षण बतलाते हैं —

१ प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता मान होना ही आरम्भ कहलाता है ।

भाव यह कि "इस काय को मैं करूँगा" इस प्रकार निश्चय करना ही आरम्भ कहलाता है, जने रत्नावली नाटिका (१ ७) में स्वामी क अभ्युदय के लिये किये गये तथा दय के द्वारा हाथ का सहारा दिये गये इस काय में 'आदि कयन के द्वारा यत्सराज उदयन के काय का आरम्भ योग धरायण म प्रा ५ मुख से दिखलाया गया है, क्योंकि उस (यत्सराज) की कायसिद्धि म श्री पर आधित है ।

अथ प्रयत्न —

(३०) प्रयत्नस्तु नदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वराचित ॥२२॥

तस्य फलस्याप्राप्तौ उपाययोजनादिरूपचेष्टाविशेष प्रयत्न । यथा रत्नावल्या मालेख्याभिसेखनादिवत्सराजसमागमोपाय — तर्हाव णत्थि अण्णो दसणुवाओ त्ति जहा तहा आलिहिअ जयाम्मीहिअ करिरसम् (तथापि नास्त्ययो दशनोपाय इति यथा तथानिख्य यथासमीहित करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादित ।

प्राप्त्याशामाह—

(३१) उपायापायशङ्काभ्या प्राप्त्याशा प्राप्तिः सम्भव ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादानर्धारितका ता फलप्राप्ति प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वपपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाय सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया — एव जदि अजालवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासव दत्ता । (एव यत्कालवातालावागत्यायतो न नष्यात् वासवदत्ता ।) इत्यादिना दक्षितत्वादिनिर्धारितका ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह—

(३२) अपायाभावत प्राप्तिनियताप्ति सुनिश्चिता ॥२१॥

१ प्रयत्न यह है —

फल के प्राप्त न होने पर (उसके लिये) अत्यंत वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है ॥२०॥

जब फल प्राप्त नहीं होता और उसके लिय अनेक साधनों को जुटाना इत्यादि विशेष प्रकार की चेष्टा की जाती है तो वही प्रयत्न कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका (अङ्क २) में (सागरिका द्वारा) चित्र बनाना इत्यादि वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय हैं— तथापि (वत्सराज) के दशन का दूसरा उपाय नहीं है इसलिये किसी प्रकार चित्र बनाकर मनचाही करूँगी ।

२ प्राप्त्याशा को बतलाते हैं—

उपाय के होने तथा विघ्न की शङ्का होने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना (मात्र) होती है, वह प्राप्त्याशा कहलाती है ।

उपाय होने पर भी विघ्न की शङ्का होने के कारण जब फलप्राप्ति का एका न्तत निश्चय नहीं होना वही अवस्था प्राप्त्याशा कहलाती है जैसे रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में (सागरिका द्वारा) वेष परिवर्तन और अभिसरण आदि मिलन के उपाय होने पर वासवदत्ता रूपी विघ्न की शङ्का इस प्रकार (विदूषक के कथन द्वारा) दिखलाई गई है— ऐसा ही है यदि अकाल की वायु के समान आकर वासवदत्ता इस बदल न दे । इस प्रकार यहाँ एकांतत निश्चित न की हुई (रत्नावली से) मिलने की प्राप्ति बतलाई गई है ।

४ नियताप्ति को बतलाते हैं—

विघ्ना के अभाव से फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है ॥२१॥

अपायाभावादवधारितकाता फलप्राप्तिनियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्याम्—
विद्रुपक —सागरिका दुष्कर जीविस्सदि' (सागरिका दुष्कर जीविष्यति) इत्युपक्रम्य
किं ण उपाय चित्तेसि' (किं नोपाय चित्तयपि ?) इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य '
देवीप्रसादनं मुक्त्वा नायमनोपायं पश्यामि । इत्यनन्तराङ्घ्रियविदुनानेन देवीलक्षणा
पायस्य प्रसादनेन निवारणानियता फलप्राप्ति सूचिता ।

फलयोगमाह—

(३३) समग्रफलसपत्ति फलयोगो यथोदित ।

यथा रत्नावल्या रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

विघ्नों के हट जान पर फल प्राप्ति का नितात निश्चय ही नियताप्ति है ।
जसे रत्नावली नाटिका (३ ११ १६) में (वागवदत्ता द्वारा सागरिका को यही बना
लिये जाने पर) 'सागरिका कठिनाई से जीवित रहेगी इस प्रकार आरम्भ करके
विद्रुपक (राजा से) कहता है—'उपाय क्या नहीं सोचते । इसके पश्चात् राजा उदयन
कहते हैं—मित्र देवी वासवदत्ता को प्रसन करने के अतिरिक्त मुझे कोई उपाय
दिखलाई नहीं देता' । यहाँ अप्रिम (चतुर्थ) अङ्क की कथा का बिन्दु जो देवी प्रसादन
है उसके द्वारा देवीरूपी विघ्न का निवारण हो जाने से निश्चित फलप्राप्ति की सूचना
दी गई है ।

५ फलागम को बतलाते हैं—

पूणरूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है, जसा कि पहले कहा गया
है ।

जसे रत्नावली नाटिका में (उदयन को) रत्नावली की प्राप्ति और चक्रवर्ती
पद की प्राप्ति (फलागम अवस्था) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६८—१४) भा० प्र० (पृ० २०६) ना० द०
(१ ३७—४२) सा० द० (६७० ७३) इत्यादि । (२) यथोदित—जसा कहा गया
है । यद्यपि फलागम का स्वरूप ऊपर नहीं कहा गया तथापि 'कार्ये त्रिविध (का०
१ १६) इत्यादि में यह बतलाया गया है कि कहीं तो फल धर्म, अर्थ काम में से कोई
एक (शुद्ध) होता है और कहा एक साथ अथ किसी एक का अथवा दो का अथवा भी
होता है । जिस रूपक का जो फल होता है शुद्ध या अथ से अचित (अनुबद्ध) उसकी
पूणन प्राप्ति ही फलागम है । रत्नावली नाटिका में काम सिद्धि का हेतु रत्नावली
समागम रूप फल है जो अथ सिद्धि के हेतु चक्रवर्तित्व प्राप्ति से समन्वित है । अतः
दोनों के प्राप्त होने पर ही फल की पूणत सिद्धि अर्थात् फलागम कहलाता है ।

(३) अथप्रकृतियों और कार्यावस्थाएँ—इन दोनों के स्वरूप विवेचन से यह
स्पष्ट है कि बीज, बिन्दु पताका, प्रवरो और काय—ये पाँच अथप्रकृतियाँ फल सिद्धि
के उपाय हैं । यहाँ काय—नायक वा व्यापार । फल को लक्ष्य करके किये गये काय
(अर्थात् नायक व्यापार) की पाँच अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ हैं । यद्यपि नाट्यशास्त्र
आदि में इतिवृत्त के सदृश में ही अथप्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थाओं का उल्लेख

सधिलक्षणमाह—

(३४) अथप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्थासमविता ॥२२॥

यथासुरयेन जायते मुखाद्या पञ्च सधय ।

अथप्रकृतीना पञ्चाना यथासुरयेनावस्थाभि रञ्चमिर्योगात् यथासहृद्येनव
वक्ष्यमाणा मुखाद्या पञ्च सधयो जायते ।

सधिमामायलक्षणमाह

(३५) अत्तरैकाथसम्बध सधिरेवाचये सति ॥२२॥

एवम प्रयाजोनाविताना कथाशापामवातरकप्रयोजनसबध सधि ।

के पुनस्ते सधय

(३६) मुखप्रतिमुख गभ सावमशोपसंहति ।

किया गया है तथापि अथप्रकृतिया का साक्षात् सम्बध इतिवृत्त के फल के साथ है य
उसी फल की सिद्धि के उपाय होत है । कार्यावस्थाओ का साक्षात् सम्बध नायक के
व्यापार (काय) के साथ है । इन दोनों का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बध नहा
किन्तु परम्परया सम्बध तो है ही । इसलिये भारतीय नाट्यशास्त्र में इन दोनों के
आधार पर इतिवृत्त का पांच भागों में विभाजन किया जाता है जिसे पञ्चसधि के
नाम से कहा जाता है । भरत मुनि ने बतलाया है— इतिवृत्त नाट्य का शरीर है,
उसका विभाग ५ सधियों द्वारा किया जाता है (ना० भा० १६१) । इस प्रकार
अथप्रकृति कार्यावस्था तथा सधि का भेद स्पष्ट हा है । अथप्रकृति फल सिद्धि के
उपाय । कार्यावस्था फल को लक्ष्य कर किय गय व्यापार की अवस्थाए । सधि =
अथप्रकृति और कार्यावस्थाओ के आधार पर किये गय इतिवृत्त के विभाग ।
पांच सधियाँ

सधि शब्द का अर्थ है—संधान मिश्रण, ठीक ढग से मिलाना । यहाँ पर
किसी रूपक की कथावस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम ही सधि है अर्थात् कथा
वस्तु को विभक्त करके ठीक रूप से संगठित करना । सधि के स्वरूप, सामाय लक्षण
प्रकार तथा अङ्गों का आगे निरूपण किया जा रहा है ।

सधि का लक्षण बतलाते ह—

पांच अवस्थाआ से समवि त होकर पांच अर्थप्रकृतियाँ ही क्रम से मुख
इत्यादि पांच सधिया बन जाती है ॥२३॥

(बाज बिन्दु, पताका प्रकरी और काय इन) पांच अथप्रकृतिया का क्रमश
आरम्भ आदि पांच अवस्थाओं के साथ योग होने से क्रमश आगे कही जाने वाली
मुख प्रतिमुख गभ, विमश और उपसंहति—ये पांच सधिया बन जाती हैं ।
सधि का सामाय लक्षण बतलाया है—

एक प्रयोजन से अचित होने पर किसी एक अवातर प्रयोजन के
साथ सम्बध होना ही सधि कहलाता है ॥२३॥

किसी एक (मुख्य) प्रयोजन से सम्बध रखने वाले कथामागों का दूसरे एक
अवातर प्रयोजन के साथ सम्बध होना ही सधि है ।

ये सधिया कौनसी ह ?

मुख, प्रतिमुख गभ, सावमश और उपसंहति ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० १६१ ३७, भा० प्र० पृ० २०८, ना० द० १३७, सा० द० ६५८१।

(२) धनञ्जय के अनुसार सधि का लक्षण है—किसी रूपक में कई कथाएँ होत हैं उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न भिन्न होते हैं किंतु वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से सम्बन्धित हैं और किसी अवातर-प्रयोजन के साथ भी उन सब का सम्बन्ध हुआ करता है। यही सम्बन्ध सधि कहता है अर्थात् मुख्य प्रयोजन से सम्बन्धित कथाओं का किसी एक अवातर प्रयोजन से सम्बन्ध। सधिया का रचनात्मक स्वरूप है—

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------------|
| १ बीज प्रारम्भ—मुखसधि, | २- बिदु + प्रयत्न = प्रतिमुख सधि, |
| ३ पताका + प्राप्त्याशा = गभ सधि | ४ प्रकरी + नियताप्ति = अवमण, |
| ५ काय + फलागम = उपसंहृति। | |

किंतु यदि अथप्रकृतियाँ का अवस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सधि का अतिमात्र होता है तो कठिनाई यह है कि अथप्रकृतियों में पताका के पश्चात् प्रकरी आती है, रामकथा में पताका का उदाहरण सुग्रीव, कथा है और प्रकरी का उदाहरण शबरी जटायु की कथा, किंतु सुग्रीव कथा या जटायु की कथा के बाद में वर्णन किया गया है अतः सधि में अथप्रकृतियों और अवस्थाओं का क्रमशः सम्बन्ध कस सम्भव है? इसके अतिरिक्त ये सधियाँ पताका में भी हाती हैं जिन्हें अनुसंधि कहा जाता है (ना० शा० १२८), फिर अथप्रकृति तथा अवस्थाओं के योग से सधि का आविर्भाव कस माना जा सकता है? तथ्य यह है कि सधियाँ कथावस्थाओं का अनुगमन करती हैं (ना० शा० १६३—४३ सभा ना० द० १३७)। इस प्रकार प्रारम्भ आदि अवस्थाओं के अनुसार क्रमशः मुख्य आदि पाँच सधियाँ होती हैं। विभिन्न सधियों में कथावस्तु का क्रमिक विकास निहित है और नायक का फल प्राप्ति की ओर अग्रसर होना भी। अथप्रकृतियों के साथ सधियों का क्रमिक सम्बन्ध नहीं बन सकता। हाँ बीज निदु और काय जो किसी भी रूपक के लिये अनिवार्य अथप्रकृतियाँ हैं और जो इतिवृत्त में व्याप्त ही रहती हैं उनकी विविध अवस्थाओं का पञ्च सधियों में योग अवश्य रहता है विशेषकर बीज तथा काय की अवस्थाओं का। इस प्रकार दशरूपक (तथा साहित्यदर्पण) का सधि का स्वरूप विवेचन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। किंतु इससे अथप्रकृतियों का विभाजन ध्यय नहीं हो जाता जसा कि कौय आदि विद्वानों ने कहा है (संस्कृत नाटक)। अथप्रकृतियाँ तो काय सिद्धि के उपाय हैं। कथावस्तु के संघटन तथा विकास में उनका अपना महत्त्व है। (३) प्रश्न यह है कि क्या ये पाँचों सधियाँ सभी प्रकार के रूपकों में अनिवार्य हैं? ना० शा० (१६१७४६) के अनुसार नाटक तथा प्रकरण में पाँचों सधियाँ अनिवार्य हैं किंतु अन्य रूपकों में इनमें से कुछ का छोड़ दिया जाता है। अविनायक भारता (१८१७) में उद्धृत उपाध्याय मत के अनुसार तो प्रत्येक इतिवृत्त पञ्चसधि-सम्बन्धित ही होता है।

यद्योद्देश लक्षणमाह—

(३७) मुख बीजसमुत्पत्तिर्नानाथरससम्भवा ।

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमवयात् ॥२४॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुमुखसर्षि धरिति व्याख्येयं तेनान्निवगफले प्रहसनानादी रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

नाम निर्देश के क्रम से (सर्षिधयो वा) लक्षण बतलाते हैं—

जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, वह मुखसर्षिध है। बीज और आरम्भ के समवय से इसके बारह अङ्ग हो जाते हैं ॥२४॥

जहाँ बीजों की उत्पत्ति होती है और जो अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस को निष्पत्ति वा निमित्त होती है वह मुख सर्षिध है—ऐसी व्याख्या करने की चाहिये। इस प्रकार जिनका त्रिवर्ग (धम अथ वाम) फल नहीं है ऐसे प्रहसन इत्यादि (रूपकों) में भी रसोत्पत्ति का हेतु ही बीज होता है।

टिप्पणी—नानाथसम्भवा—यहाँ अथ शब्द का अभिप्राय यदि त्रिवर्ग (धम, अथ, वाम) लिया जाये तो दोष यह आता है कि प्रहसन आदि जो रूपक हैं वे तो कवल रसनिष्पत्ति के हेतु हैं उनसे धम, अथ वाम इत्यादि की सिद्धि नहीं मानी जाती, फिर उनमें मुखसर्षिध का लक्षण कैसे घटित हो सकेगा ? इस दोष का दूर करने के लिये यहाँ अथ शब्द का तात्पर्य प्रयोजन माना गया है, त्रिवर्ग नहीं। फिर भी इस समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से हो सकता है (i) नानाध्याना प्रयोजनाना रसाना च सम्भवो यस्या बीजसमुत्पत्ते → जो बीजोत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजनों तथा रसा की हेतु होती है। (ii) नानाथस्य = अनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य सम्भवो यस्या = जिससे अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति होती है, यहाँ 'नानाथ' शब्द रस का विशेषण है (द्र० प्रता० टीका ३८)। धनिक की व्याख्या से ये दानो अथ निवृत्त सकते हैं। (i) भाव यह है कि जहाँ बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस निष्पत्ति का हेतु होती है, वह मुख सर्षिध है। (ii) अथवा रस निष्पत्ति के भी अनेक प्रयोजन हो सकते हैं जैसे आनन्दानुभूति तथा सुखपूर्वक त्रिवर्ग की व्युत्पत्ति आदि। प्रहसन आदि में भी आनन्दानुभूति होती है। यद्यपि यहाँ त्रिवर्ग की 'व्युत्पत्ति' नहीं होती तथापि अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति बन ही जाती है अतः कोई दोष नहीं। फिर भा यहाँ धनञ्जय का क्या आशय है यह विचारणीय ही है। भावप्रकाश (पृ० २०७-२०८) के अनुसार तो शृङ्गार आदि रस भी त्रिवर्ग प्राप्ति में उपयोगी हैं अतः यहाँ अथ शब्द का अभिप्राय त्रिवर्ग माना जाये तो भी कठिनाई नहीं।

अस्य च बीजारम्भाद्युक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तायाह—

(३८) उपक्षेप परिकर परिन्यासो विलोभनम् ॥२५॥

युक्ति प्राप्ति समाधान विधान परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणाववर्थावयव लक्षणम् ॥२५॥

एतेषा स्वस्वाध्याख्यातानामपि मुख्याय लक्षण क्रियते—

(४०) बीजायास उपक्षेप —

यथा रत्नावल्याम् (नेपथ्ये)

द्वीपाद्यस्मादपि मध्यादपि जलनिर्घोदशोऽप्यन्तात् ।

आनीय क्षटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥२॥

इत्यादिना यौगंधरायणे वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहतुभूतमनुकूलदव स्वव्या

पार बीजस्वेनोपधिप्तवानित्युपक्षेप ।

परिकरमाह—

(४०)—सद्दृष्टाहुत्य परिक्रिया

इस (मुखसिद्धि) के बीज, आरम्भ तथा प्रयोजन से सम्बन्धित बारह अङ्ग होते हैं । उनको बतलाते हैं—

१ उपक्षेप, २ परिकर, ३ परिन्यास, ४ विलोभन, ५ युक्ति, ६ प्राप्ति, ७ समाधान, ८ विधान, ९ परिभावना, १० उद्भेद, ११ भेद और १२ करण ये अवयव नाम हैं । इनके लक्षण ह ॥२५, २६॥

यद्यपि इनके नाम से ही इनकी व्याख्या हो गई है तथापि सुगमता के लिये इनका लक्षण किया जाता है ।

१ उपक्षेप

बीज का (शब्दा मे) रखना ही उपक्षेप है ।

जैसे रत्नावली नाटिका मे (नेपथ्य मे) द्वीपाद् इत्यादि १६ (अनुकूल दव वृत्तरे बीप से भी सागर के मध्य से भी दिशाओं क छोर से भी अघोष्ट वस्तु को लाकर शोध मिला देता है) में यौगंधरायण न वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति का हेतु जो दव की अनुकूलता सहित अपना (यौगंधरायण का) उद्योग है उसको बीज रूप मे रख दिया है अत यह उपक्षेप है ।

२ परिकर को बतलाते हैं—

उस (बीज) को वृद्धि ही परिकर है ।

जैसे यहीं (रत्नावली १५-७)—'यदि एसा (दव की अनुकूलता) न होता ता सिद्धों के कथन पर विश्वास करके (वत्सराज के लिये) मागी हुई सिंहलेखद

यथा तत्रैव अथवा नव सिद्धादशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहनेश्वरदुहितु समुद्र प्रवहणभङ्गमग्नातिथनाया फलकासादनम् ।' इत्यादिना सवधा स्पृशति स्वामिनमभ्यु दया । इत्यतन बीजोत्पत्तरेव बहकरणापरिकर ।

परि-यासमाह—

यथा तत्रैव

(४१) तनिष्पत्ति परि-यास —

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिना वृद्धिहेतौ दने चेत्य त्तद्वृत्ताबलम्बे ।

मिद्धेर्ध्नातिर्नास्ति सत्य तथापि स्वैच्छाकारा भोत एवास्मि भक्तु ॥४॥

इत्यनेन योग-घरायण स्व-यापारदवयोनिष्पत्तिमुत्त्वानिति परि-यास ।

विलाभनमाह -

(४२)—गुणाग्यान विलोभनम् ॥२७॥

यथा रत्नावल्याम्—

धम्तापास्नसमस्तभासि नभस पार प्रयात रवा

वास्थाना समये सम नपजन सायतनेऽपतत् ।

की पुत्री उत्सवान क दृष्ट जाने पर डूबती हुई उठकर तल्ले को कसे प्राप्त कर लेती ?
—यहाँ से लेकर स्वामी (य-मराज) को सब प्रवार स अभ्युदय प्राप्न हो रहे हैं ।
यहाँ तक बीज की उत्पत्ति का ही बाहृत्य विछलाया गया है अत यह परिकर है ।
° परि-यास को बतलाते हैं—

- उस (बीज) को निष्पत्ति (सिद्धि) परि-यास कहलाता है ।

जस वहाँ (रत्नावली १७ मे ही)—'स्वामा के अभ्युदय क लिये आरम्भ किये गय इस काय मे दव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया है अत सचमुच ही इसकी सिद्धि मे स-बह नहीं है । फिर भी अग्नी इच्छा से काय करने वाला मे स्वामी से डर रहा है । इसके द्वारा योग-घरायण ने अपने उद्योग और दव की सिद्धि बतलाई है अत यह परि-यास ३ ।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार सेत मे डाला गया बीज फूलकर अङ्कुरोत्पादन के लिय समय हो जाता है उसी प्रकार नाट्य का बाज भी उपश्रित हाकर तथा पुष्ट होकर फल ती सिद्धि में समय हो जाता है यही बीजनिष्पत्ति है जिसे परि-यास कहत है । (२) ना० द० (१५२) के अनुसार विनिष्पय परि-यास यह लक्षण है किन्तु तात्पर्य यही है ।

४ विलाभन को बतलाते हैं—

गुणा का वणन विलोभन कहलाता है ॥२७॥

जसे रत्नावली (१२३) म— समस्त किरणा को अस्तावन पर डाल चुकने वाले सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर समयकाल नप समुदाय एक साथ समा भवन की ओर जा रहा है—और इस समय बृह घ-डना की किरणा के समान कमल

सप्रत्येप सरोग्हृद्युतिमुप पादास्तवासेवितु

प्रीत्युत्कषकृतो दृशामुदयनस्ये दोरिवोद्दीधते ॥५॥

इति वैतालिकमुनेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणघर्षेणया सागरिकाया समागमहेत्वनु
राग बीजानुगुण्येनव विलोमनाद्विलोमनमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—

मथायस्ताणवाग्भ पुनतकुहुरवलमदरध्वानधीर

कोणाघातपु गजत्प्रलयघनघटायो यसघट्टचण्ड ।

कृष्णाक्रोधाप्रदूत कुक्कुलनिघनोत्पातनिघ तवात

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुदुभिस्ताडितोऽयम् ॥६॥

इत्यादिना यशोदुदुभि' इत्य तन द्रौपद्या विलोमनाद्विलोमनमिति ।

७य युक्ति —

(४३) सप्रधारणमर्थाना युक्ति —

यथा रत्नावल्याम् मयापि चना देवीहस्त सबहुमान निक्षिपना युक्तमेवा
नुष्ठितम् । कथित च मया यथा बाघ्रव्य कञ्चुकी सिंहशेखरामात्येन वनुभूतिना

की कांति को हरने वाले एव आनन्द का अतिशय उत्पन्न करने वाले तुम्ह उदयन के
चरणों की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रहा है ।

यहा वैतालिक के मुख से चन्द्रमा सदा वत्सराज के गुणों के घर्षण द्वारा
सागरिका का विलोमन किया गया है जो (उदयन और रत्नावली के) समागम के हेतु
अनुराग रूपी बीज का जनक है अतः यहाँ विलोमन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—अनुगुण्य = अनुकूलता = जनवता । रत्नावला समागम का अवातर
बीज है—अनुराग । वत्सराज के गुणों का श्रवण करके सागरिका (रत्नावली) के हृदय
में यह अनुरागरूपी बीज उत्पन्न होता है ।

और जैसे वेणीसंहार (१ २२) में—मदन से क्षुध सागर के जल से भरी
हुई गुफा वाले, घूमते हुए मन्वराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, वादन दण्ड के ताडन
के समय (कोणाघातेपु) गरजती हुई प्रलय काल की घन घटाओं के परस्पर टकराने के
समान प्रचण्ड द्रौपदी के क्रोध का अपदूत कुक्कुल के दिनाश के सूचक प्रचण्ड वायु के
समान हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि का मित्र यह नगाडा किसने पीटा है ?

यहाँ से आरम्भ करके यशोदुदुभि (१ २५) तक (पा अग) द्रौपदी का
विलोमन करने के कारण विलोमन (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) ६ ।

५ युक्ति

प्रयोजनों का निणय करना ही युक्ति है ।

जैसे रत्नावली (१ ६, ७) में योगधरायण कहता है—मैंने भी इस (सागरिका)
की आबरूवक देवी (वामदेवता) के हाथ में सौंकर उचित ही किया है । मैंने यह भी

सह कथकथमपि समुद्रादुत्तीय कोणलोच्छित्तये गतस्य ह्यमण्वतो घन्ति ।' इत्यनेन सागरिकाया अत पुरस्थाया वरतराजस्य सुखेन दशनादिप्रयोजनभावधारणाद् वाञ्छय सिंहलेश्वरामात्ययो स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वनावधारणाद्युक्तिरिति ।

अथ प्राप्ति —

(४४)—प्राप्ति सुखागम ।

यथा वेणीसंहारे—चेटी—भट्टिणि परिकुविदा विअ कुमारो लक्खीअदि ।' [भन्नि परिकुपित इअ कुमारो लदयते ।] इत्युपक्रमे भीम —

मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद् दुशासनस्य रुधिर न पिबाम्पुरस्त ।
सचूणयामि गदया न सुयोधनोरु सन्धि करोतु भवता नपति पणन ॥७॥

द्रौपदी—[श्रुत्वा सहपम्] नाघ अस्सुदपुव खुएद वअण ता पुणो पुणो भण ।

(नाथ, अश्रुतपूर्व खल्वेतद्वचन तत्पुन पुनभण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजावयेनव सुखप्राप्त्या द्रौपद्या प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—सागरिका—[श्रुत्वा सहप परिवृत्य सस्पृह पश्यती]

कथ अअ सो राजा उदयणो जस्स अह तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिद मे जीविद कह् दिपा ई कि वाञ्छव्य नाम का बञ्चुकी सिंहलराज के वसुभूति नामक अमात्य के साथ किसी प्रकार सागर से पार होकर कोशल के विनाश के लिये गये हुए ह्यमण्वान् से मिल गया है ।

इस कथन के द्वारा अत पुर में स्थित सागरिका का 'सुगमतापूर्वक वरतराज की दृष्टि में आ जाना इत्यादि प्रयोजन का निश्चय किया गया है तथा वाञ्छव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य (वसुभूति) इन दोनों का अपने नायक (उदयन) के समागम (रत्नावली मिलन) में हेतु होना आदि को प्रयोजन रूप में निश्चित किया गया है । अत यहाँ युक्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

६ प्राप्ति

(बीज के सम्बन्ध से) सुख का प्राप्त होना ही प्राप्ति है ।

जसे वेणीसंहार (१ १५) में चेटी (द्रौपदी से) कहती है—हे स्वामिनि कुमार (भीमसेन) क्रुद्ध से दिखाई दे रहे हैं । इस सन्धम में भीम कहता है—क्या मैं क्रोध से सौ कौरवों को युद्ध में न मारू ? दुशासन के वध स्थल से रक्त न पीऊँ ? दुयोधन को जघाओं को गदा से चूण न करूँ ? आप (सहदेव आदि) का राजा भले ही शत (पण) पर सन्धि कर ले ।

तब द्रौपदी (सुनकर हृय के साथ) कहती है—स्वामी यह वचन पहले कभी नहीं सुना था फिर से कहिये ।

यहाँ भीम के क्रोध रूपी बीज के सम्बन्ध से द्रौपदी को सुख की प्राप्ति होती है अत यह प्राप्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और जसे रत्नावली (१ २३-२४) में सागरिका (वतातिरों) का कथन सुनकर

एतस्स दसणेण बहुमद सजादम् । [कथमय स राजोदयनो यस्याह तातेन दत्ता तत्परप्रेषणद्वयित मे जीवितमेतस्य दशनेन बहुमत सजातम्] इति सागरिकाया सुधागमात्प्राप्तिरिति ।

(४२) बीजागम समाधानम्—

यथा—रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उअणेहि मे उवअरणाइ । [तेन ह्युपनय म उपकरणानि ।'] सागरिका—भट्टिणि एद सव सज्जम् । ['भक्ति एत त्सव सज्जम् ।'] वासवदत्ता—[निरूप्यात्मगतम्] अहो प्रमादो परिअणस्स जस्स एव दसणपहादा पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव वह दिट्ठीगोअर आअदा, भोदु एव्व दाव । [प्रकाशम्] हज्जे सागरिए कीस तुम अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअ मोत्तूण इहागदा । ता तहि ज्जेव गच्छ ।' ['अहो प्रमाद परिअणस्य यस्यव दशनपयात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता भवतु एव तावत् । चेति सागरिके, कथं त्वमद्य पराधीने परिअण मदनोत्सवे सारिका मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रव गच्छ ।] इत्युपक्रमे सागरिका—(स्वगतम्) सारिका दाव मए सुसङ्गदाए हत्ये समप्पिदा पेक्खिदु च मे कुतूहल, ता अलक्खिआ पक्खिस्सम् । (सारिका तावमया सुसङ्गताया हस्ते समपिता प्रेक्षितु च मे कुतूहल तदलभिता प्रेक्षिये ।) इत्यनेन ।

हय के साथ घूमकर स्पृहापूर्वक देखती हुई) कहनी है—'क्या यही वह राजा उदयन है जिसके लिये पिताजी ने मुझे दिया है तब तो दूसरे की चाकरी से दूषित हुआ भी मेरा जीवन इसके बशान से आदर-योग्य हो गया ।'

यहां सागरिका को (औत्सुक्य रूपी धीज के सम्बन्ध से) सुख की प्राप्ति होती है अतः यह प्राप्ति (नामक सुख सचि का अङ्ग) है ।

७ समाधान—

बीज का आगमन समाधान है ।

जैसे रत्नावली (११८-१९) में । वासवदत्ता—तब तो मेरी पूजा की सामग्री साओ ।

सागरिका—स्वामिनी यह सब तैयार है ।

वासवदत्ता—(देखकर मन ही मन) 'ओह वासियों का प्रमाद । जिस (राजा उदयन) के दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक बचाई जा रही है उसी की दृष्टि में पड़ जायेगी । अच्छा तब मैं इस प्रकार कहूँ (प्रकट रूप से) अरो सागरिका आज सेवकों के मदन महोत्सव में व्यस्त होने पर तुम सारिका को छोड़कर यहां कैसे आ गई ? इसलिये शीघ्र वहाँ जाओ ।

इस सदम में सागरिका (मन ही मन) कहती है—'सारिका तो मैंने सुसङ्गता के हाथ में सौंप दी है और मुझे देखने की उत्सुकता है । इसलिये छिपकर देखूगी ।'

वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोदशनप्रतीकारात्सारिकाया सुसङ्गतापणेनालम्बित
प्रेक्षणोऽथ च वत्सराजसमागमदत्ताबीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वणीसंहारे— भीम -भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन
चञ्चद्भुजध्रमितचण्डगदाभिघातमधूणिताच्युगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धधनशोणितशापाग्निरुत्सविप्यति कचास्तव तेषि भीम ॥२॥
इत्यनेन वणीसंहारहेतो ब्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम् ।

इस (कथन) के द्वारा (समाधान बिधत्ताया गया है)। यहाँ वासवदत्ता के द्वारा रत्नावली और वत्सराज के परस्पर दशन को रोका जाता है इसलिये सागरिका सारिका को सुसङ्गता के हाथों में सौंपकर छिपकर (राजा) के दशन करती है। इससे वत्सराज के समागम के हेतु रूप बीज का ग्रहण किया गया है अतः यह समाधान (नामक मुख संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—यहाँ सारिकाया सुसङ्गतापणेन + अलम्बितप्रेक्षण च बीजस्य उपादानात्—यह अर्थ है। सारिका के सुसङ्गता के हाथों सौंपन और छिपकर देखन इस सागरिका की चेष्टा द्वारा बीज का पुनः ग्रहण किया गया है। हम पकार यही चेष्टा वत्सराज से समागम का हेतु है तथा यही बीज है। इस चेष्टा से सागरिका का अतिमुग्ध प्रकट होता है। इसलिये कहीं कहीं 'अतिमुग्ध' को 'बीज' कह दिया गया है।

और जैसे वणीसंहार (१२१) में भीम कहता है—अच्छा पाञ्चाल की राजकुमारी, सुनिये। थोड़े ही समय में—

हे देवी फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई गई मीयण गदा के प्रहार से चूर चूर हुई जघाओं वाले दुर्योधन के चिकने (स्त्यान) अच्छी तरह लगे हुए (अनबद्ध) गाँठे रक्त से लाल हाथों वाला भीम तेरे केशों को अलङ्कृत करेगा।

इस (कथन) के द्वारा वणी को सवारने का हेतु जो (भीम का) क्रोध रूपी बीज है उसका फिर ग्रहण किया गया है अतः यह समाधान (नामक मुख संधि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१६८२) में 'बीजाथस्योपगमन समाधानम् यह लक्षण है। सा० द० (८५) में दशरूपक के समान ही लक्षण है। ना० द० (१५३) में पुनर्यास समाहित अर्थात् संक्षेप में उपनिमित्त बीज का। फिर स्पष्ट रूप से आधान ही समाधान है। यहाँ यह लक्षण अधिक स्पष्ट हो गया है। प्रता० (३१०) में भी यही भाव है (बीजसंनिधान समाधानम्)। ना० द० और मा० द० में दिये गये उदाहरण में दशरूपक से अन्तर है।

अथ विधानम्—

(४६)—विधानं सुखदुःखकृत् ॥२८॥

यथा मालतीमाघवे प्रथमेऽङ्क—माघव—

यात्या मुहुवलितकं धरमानन तदावृत्तवृत्तगतमत्रनिभं वहत्या ।

दिग्धोऽमृतेन च विषेण पद्मलाध्या गाढ निखात् इव मे हृदयं कटाक्ष ॥६॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितायभाव—

मानदमदममृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत्सनिधौ तदधुना हृदयं मदीय—

मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥१०॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्मानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्यैव माघवस्य सुखदुःखकारित्वाद्द्विधानमिति ।

यथा च वेणोसंहारे—द्रौपदी—णाघ पुणोवि तुम्मेहि अहं आञ्छिञ्च समासा-
सिदध्या । ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाशवासयित्तव्या ।' भीम—ननु पाञ्चाल
राजतनये किमद्याप्यलीकाशवासनया ।

भूय परिभवक्लातिलज्जाविधूरिताननम् ।

अनि शेषितकौरव्यं न परयसि धृकोदरम् ॥११॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्द्विधानमिति ।

८ विधान

सुख और दुःख (दोनों) को उत्पन्न करने वाला विधान कहलाता है ।

जैसे मालतीमाघव के प्रथम अङ्क (१ ३०) में माघव कहता है—'शुके वृत्त वाले कमल के सदरा दार दार वञ्चित प्रीया वाले मुख को धारण करती हुई रोमयुक्त नेत्रों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में चुम्पा हुआ कटाक्ष (रूपी घाण) भागों मेरे हृदय में गहरा गाढ़ बिधा है ।

माघव (मन ही मन) कहता है—(१ २०) जो मेरा हृदय मालती के समीप होने पर आश्चर्य से निरवल या, जिसमें अथ भावों का अस्त हो गया था जो भागों अमृत में स्नान करने के कारण आनन्द से स्तब्ध हो गया था वही मेरा हृदय अब अङ्गारों से छुआ गया सा पीडायुक्त हो रहा है ।'

यहाँ पर मालती का अवलोकन और (माघव का उसके प्रति) अनुराग (मालती तथा माघव के) समागम का हेतु है वह बीज के अनुकूल होकर ही सुख तथा दुःख करने वाला है अतः विधान (नामकं मुखसंघि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणोसंहार (१ २५ २६) में द्रौपदी कहती है—'नाथ फिर भी आप आकर मुझे सान्त्वना दीजियेगा ।' इस पर भीम कहता है—'पाञ्चाल की राजकुमारी अब झूठे आशवासन से क्या लाभ ?

अब फिर सुम भीम को कौरवों का नाश किये बिना तिरस्कार के कारण स्नान और सज्जा से हीन मुख वाला न देखोगी ।

अथ परिभावना—

(४७) परिभावोऽद्भुतावेश —

यथा रत्नावल्याम्—सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कथं पञ्चषष्ठो ज्जेव अण्डो पूअ पडिच्छेदि । ता अरूपि इध द्विदा ज्जेव ण पुजइस्सम । (कथं प्रत्यक्ष एवानङ्ग पूजा प्रतीक्षते । तद् अहमपीह स्थितवनं पूजयिष्यामि ।) इत्यनेन वत्तराजस्यानङ्गरूपतयापह्लवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वाद्भूतरसावेश परिभावना ।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमसलो खणो खणे समरदुदुभी ताडीअदि । [किंमिदानोमेष प्रलयबलधरस्तनितमासल क्षणे क्षणे समरदुदुभिस्ताडयते ।] इति लोकोत्तरसमरदुदुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्या परिभावना ।

यहाँ सप्राम सुख और दुःख का हेतु है अतः विधान (नामकं मुखं सद्यं का अङ्ग) है ।

६ परिभावना

अदभुत (भाव) का समावेश होना ही परिभावना है ।

जैसे रत्नावली (१२२-२३) में सागरिका (कामदेव पूजा में उदयन को देखकर आश्चर्य के साथ) क्या ! कामदेव प्रत्यक्ष होकर पूजा की ग्रहण कर रहा है । तो मैं भी यहाँ खड़ी होकर ही इसकी पूजा करूँगी ।

इसके द्वारा कामदेव के रूप में समझने के कारण वत्तराज (के अपने रूप) को छिपाया गया है तथा कामदेव का प्रत्यक्ष होकर पूजा ग्रहण करना लोकोत्तर काय है अतः यहाँ अदभुत रस का समावेश है और परिभावना (नामकं मुखं सद्यं का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (१२४-२५) में द्रौपदी कहती है—'इस समय यह प्रलयकालीन मेघध्वनि के समान गम्भीर रणभेरी क्षण क्षण में क्यों पीटी जा रही है ।'

यहाँ समरदुदुभि की ध्वनि लोकोत्तर है, उससे द्रौपदी (के हृदय) में अदभुत रस (विस्मय) का आवेश ध्वनित किया गया है अतः परिभावना (नामकं मुखं सद्यं का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६७३) में कुतूहलात्तरावेगो विज्ञेया परिभावना' अर्थात् जिनमें पश्चात् कुतूहल उत्पन्न हो जाता है ऐसे आवेग को परिभावना कहा जाता है । ना० द० (१४५) में भी विस्मय परिभावना कहकर यही भाव प्रकट किया गया है । दशरूपक के लक्षण का भी यही भाव है तथा प्रता० (३१०) में भी यही भाव है । सा० द० (६८६) में यह भाव अधिक स्पष्ट हो गया है—कुतूहलोत्तरायां प्रोक्ता तु परिभावना अर्थात् कुतूहलसहित वचन ही परिभावना कहलाती है ।

अयोद्भेद --

(४८) — उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपत्नेः गूढस्य वतालिकवचसा
अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यतन वीजानुगुण्येन योदभेदनादुद्भेद ।
यथा च वेणीसहार — 'आय किमिदानीमध्यवस्यति गृह । इत्युपक्रमे [नेपथ्ये]

यत्सत्यव्रतभङ्गभीष्मनसा यत्नेन मदीकृत

यद्विस्मृतुमपीदित शमयता शान्तिं कुलस्येच्छता ॥

तदद्युतारणिसभत नपसुताकेशाम्बराकपर्ण

क्रोधज्योतिरिद महत्कुर्वन् योधिष्ठिर जम्भते ॥१२॥

भीम — (सहयम) जम्भता जम्भता सप्रत्यप्रतिहतमायस्य क्रोधज्योति ।' इत्य
नेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसयमनहेतोयुधिष्ठिरक्रोधयोद्भेदनादुद्भेद ।

१० उद्भेद

(बीज के अनुकूल) किसी गूढ बात को प्रकट करना ही उद्भेद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज कामदेव के नाम से छिपे थे । वतालिक ने अस्तापास्त (१२३) इत्यादि से आरम्भ करके 'उदयनस्य इदोरियोदवीक्षते (१२३) यहाँ तक के कथन द्वारा (अनुराग रूपी) बीज के अनुकूल रूप में (उदयन की) प्रकट कर दिया । अतः यहाँ उद्भेद (नामक मुख सचि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसहार नाटक (१२४) में (भीमसेन के बचुकी से) यह कहने पर "आय अब ज्येष्ठ भ्राता (युधिष्ठिर) ने क्या निश्चय किया है ? नेपथ्य में कहा जाता है —

'द्रौपदी (नृपयधू) के केश और वस्त्रों को खींचने से छूतरूपी अरणि से उत्पन्न, युधिष्ठिर की यह भारी क्रोधाग्नि जिसे सत्य व्रत के भङ्ग से डरने वाले युधिष्ठिर ने, यत्नपूर्वक शांत कर रखा था और जिसे शान्तियुक्त तथा मुक्त की शान्ति के इच्छुक युधिष्ठिर ने भुलाना चाहा था अब कुर्वुप रूपी वन में प्रदीप्त हो रही है ।'

भीमसेन — आय के क्रोध की ज्वाला प्रदीप्त हो ऐसी प्रदीप्त हो कि उसकी गति कहीं भी न रहे ।

द्रौपदी के केशसयमन का हेतु जो युधिष्ठिर का क्रोध है वह पहले गूढ है उसका प्रकटन यहाँ हो रहा है अतः उद्भेद (नामक मुख सचि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी — (१) ना० शा० (१६७४) में यह लक्षण है — 'बीजायस्य प्ररोहो य उद्भेद स तु कीर्तित' (म० मो० सं० २१७४) । यही लक्षण सा० द० (६८६) में

अथ करणम् —

(४६) करण प्रकृतारम्भ —

यथा रत्नावल्याम् णमो दे कुमुमाउह ता अमोहदमणो मे भविस्ससि ति ।
दिठ्ठ पेक्खिद्व त्वा जाव ण कोवि म पेक्खिद्व ता गमिस्सम् ।' (नमस्ते कुसुमायुष,
तदमोषदशने मे भविष्यसीति । दृष्ट मत्प्रेक्षितव्य तद्यवन्न कोऽपि मा प्रेक्षते तदगमि-
ष्यामि) । इत्यनेनांतराङ्गप्रकृतिनिविध्नदशनारम्भणात्करणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानी कुरुकुलशाय
सहृद्वेव —आय गच्छाम इदानी गुरुजनानुज्ञाता वित्तमानुरूपमाचरितुम् । इत्यनेनान-
तराङ्गप्रस्तुतमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति । सवन्न चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवप्यम् क्रियाक्रम
स्याविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेद —

(५०) —भेद प्रोत्साहना मता ॥२६॥

यथा वेणीसंहारे— णाघ मा बह्नु अणसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिद-

हे । ना० ६० (१५४) में स्वल्प प्ररोह उदभेद , यह लगण देकर अधिक स्पष्ट किया
गया है अर्थात् बीज का थोडा सा विस्तार जो भूमि म बीये गये बीज के फूलने के
समान है उदभेद कहलाता है । स्पष्ट ही है कि दशरूपक का उभेद लक्षण उपयुक्त
लक्षणो से भिन्न है । यहाँ तो छिपे हुए बीज का प्रकट करना ही उदभेद कहा गया
है । प्रता० (३१०) मे इसी का अनुसरण किया गया है । (११) यहाँ जो उदभेद का
उदाहरण दिया गया है ना० ६० तथा सा० ६० में वह समाधान के उदाहरण के रूप
म प्रस्तुत किया गया है ।

११ करण

प्रस्तुत कार्य का आरम्भ करना करण कहलाता है ।

जसे रत्नावली (१२१ २३) में सागरिका कहती है तै कामदेव तुम्हें नमस्कार
है तुम्हारा बशान मेरे लिये सफल हो जो देखना था मैंने देख लिया । इसलिये जब
तक कोई मुझे नहीं देखता तब तक चली जाऊँ । इम (कथन) के द्वारा अग्रिम अङ्क
मे वणनीय जो (सागरिका और वत्सराज का परस्पर) निविध्न दशन है उसका
आरम्भ किया गया है अत करण (नामक मुख संधि का अङ्ग) है ।

और जसे वेणीसंहार (१२५ २५) में भीमसेन कहता है—अत पाञ्चाली
अब हम कौरवों के नाश के लिये जाते हैं ।' सहृद्वेव—'अब गुरुजनों की अनुमति पाये
हुए हम भी पराक्रम के योग्य कार्य करने के लिये जाते ह ।' इस (कथन) के द्वारा
अग्रिम (द्वितीय) अङ्क में वणनीय जो सग्राम है उसका आरम्भ किया गया ह । अत
करण (नामक मुख संधि का अङ्ग) ह ।

यहाँ सब जगह क्रिया का क्रम विवक्षित नहीं ह इसलिये उद्देश और प्रति
निर्देश (विधेय) का क्रम परिवर्तन (व्यगम्य) हो गया ह ।

शरीरा परिकरमिस्सद्य जदो अत्पमतमचरणीयाइ मुणीयां न रिउवसाइ । [नाथ, मा
खलु यागसेनोपरिभबोदोपितकोपा अनपेतिगतशरीरा परिकरमिध्यथ यतो प्रमत्तसञ्च
रणीयानि श्रूयन्ते रिपुवसानि ।] भीम — अयि सुधानिये,

अयो-यास्पालमिन्नद्विपरधिरवतासाद्रमस्तिष्कपद्मे

मग्नाना स्थदनानामुपरि शृत्पदयासपित्रातपत्तो ।

स्त्रीतामृक्पानगोष्ठीरसदन्निवनिवानुयनत्पत्वबधे

सहग्रामकाणवास्त पपसि विचरित्तु पण्डिता पाण्डपुत्रा ॥१२॥

इत्यनेन विषण्णाया श्लोपद्या शोधोत्साहबोजानुगुण्येनव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भघोतनानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि ।

एतेषामुपयोगपरिकरपरि यासमुक्त्वायुद्भेदसमाधानानामवश्यमायितेति ।

टिप्पणी—सर्वत्र—‘गच्छामो वयम् इदानीं पुरुकुलधाय’ यहाँ वयम् इत्यादि उद्देश है और ‘गच्छाम’ विधेय है और सामान्य नियम यह है कि वाक्य में उद्देश को पहले रखना चाहिये तथा विधेय को बाद में। अतः ‘इदानीं वयं पुरुकुलधाय गच्छाम’ । इस प्रकार की वाक्ययोजना होनी चाहिये। इस शब्दा का समाधान करने के लिये धनिक ने कहा है कि यहाँ क्रिया का क्रम विवर्णित नहीं है अथवा यह कहा जा सकता है कि यहाँ क्रिया की प्रधानता नहीं मानी गई अपितु ‘पुरुकुलधाय’ को ही प्रधान माना गया है और उस पर बल देने के लिये उसका बाद में प्रयोग किया गया है।

१२ भेद

प्रोत्साहन को भेद माना गया है ॥२६॥

असे वेणीसहार (१२६-२७) में नाथ, नहीं यातसेनी के अपमान से उड़ीप्त है कोधानि जिनकी ऐसे आप अपने शरीर की ओर असावधान होकर पराक्रम न दिखलाइयेगा, क्योंकि सुना जाता है कि शत्रु की सेना में सावधान होकर जाना चाहिये।

भीम—अयि श्रेष्ठ क्षत्राणी जहाँ परस्पर टकराने से विबीण हामियो के श्विर, चर्बाँ भांस और मस्तिष्क से (उत्पन्न) बीचइ में घँसे हुए रधों के ऊपर पर रखकर पबस घोड़ा पराक्रम दिखलाते हैं और जहाँ प्रचुर श्विर की पान-गोष्ठी से शम्भ करती हुई क्षमझलकारो भृगाली एपी तुरही पर कबध (घड़) नृत्य कर रहे ह उस समर रूपी अद्वितीय सागर के मध्य जल में विचरण करने में पाण्डु के पुत्र कुशल ह ।

इस (वचन) के द्वारा कोध और उत्साह रूपी बीज के अनुरूप ही विषाद युक्त श्लोपदी को प्रोत्साहित किया गया है अतः यह भेद (नामक मुख सधिका अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० के अनुसार ‘सघातभेदनायां य स भेद’ पात्रो का अपने अपने काय के अनुसार भिन्न भिन्न स्वानो में जाने का जो अभिप्राय होता है

अथ साङ्ग प्रतिमुखसंधिमाह—

(५१) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत् ।

विदुप्रयत्नानुगमादङ्गायस्य त्रयोदश ॥३०॥

वह अभिनेता (नटो) क रङ्गभूमि से निकलने का भी निमित्त हुआ करता है । पात्र सघात म भेद (पृथकता) का निमित्त होने के कारण वही भेद कहलाता है । ना० ८० (१४८) की वृत्ति म इस भेद (भेदन) का दूसरा प्रकार कहा गया है । ना० ८० के अनुसार भेद का प्रथम अभिप्राय है—पात्रो का रङ्गस्थल से बाहर जाना (भेदन पात्रनिगम) । दशरूपक क भेद लक्षण की ना० ८० मे सृतीय मत के रूप म उद्धृत किया गया है । सा० ८० म भी केचित्तु कहकर इस मत का उल्लेख किया गया है । प्रता० (३१०,) ने दशरूपक का ही अनुसरण किया है । सा० ८० (६८७) के अनुसार भेद सहतभेदनम् मिले हुआ को पृथक करना ही भेद कहलाता है । इस मत का उल्लेख ना० ८० में (चतुर्थ मत के रूप म) किया गया है ।

मुख संधि के ये १२ अङ्ग बीज (नामक अथप्रकृति) और आरम्भ (नामक कार्यावस्था) के सूचक होते ह । इनका (रूपक में) साक्षात् रूप से या परम्परा से विधान किया जाना है । इनमें से उपक्षय, परिकर, परिचास युक्ति, उद्भेद और समाधान का होना (प्रत्येक रूपक में) आवश्यक है ।

टिप्पणी—(१) लक्षण में रूपक के जितने कथाश म फल प्राप्ति के मुख्य उपाय बीज की सम्यक् उत्पत्ति हो जाती है तथा आरम्भ नाम की कार्यावस्था पूण हो जाती है वह मुखसंधि है । यह प्रसङ्ग क अनुसार रस निष्पत्ति का भी हेतु हुआ करती है । जैसे रत्नावली नाटिका का प्रथम अङ्क है । यहाँ दश की अनुकूलता से युक्त योग्य रायण का उद्योग ही बीज है । प्रथमत उस उद्योग का विषय है—सागरिका द्वारा राजा का दशन किया जाना । इसी अंश म इतिवृत्त की आरम्भावस्था समाप्त हो जाती है । यहाँ बीजयाप्त से लेकर भेद पय त १२ अवस्थाआ मे जाते हुए बीज की उत्पत्ति दिखलाई गई है । जसा कि १२ अङ्गो क उदाहरण से स्पष्ट है । साथ ही यह अङ्क नाना रसों की निष्पत्ति का भी हेतु होता है जैसे योग्यरायण के उत्साह वणन मे वीर रस, उदयन के वसत रूप विभाव के वणन मे शृङ्गार तथा पुरवासियो के प्रमोद क अवलोकन मे अङ्कृत रम की निष्पत्ति होती है । (२) मुखसंधि के उच्यक्त १२ अङ्गो का ही ना० भा० (१६२८) प्रता० (३६—१०) सा० ८० (६८१ ८२) म भी निरूपण किया गया है किन्तु क्रम म कुछ अलग है तथा किन्ही अङ्गो के लक्षण म भी जिसका यथावसर उल्लेख कर दिया गया है । ना० ८० (१४१-४२) म भी इही अङ्गो का वणन है किन्तु नाम तथा क्रम मे कुछ अधिक अंतर है । साथ ही कुछ विशद व्याख्या भी वही है ।

प्रतिमुख संधि

अथ प्रतिमुख संधि का अङ्गो सहित वणन करते ह—

जहा उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप मे और कुछ अलक्ष्य रूप मे उदभेद होता है वह प्रतिमुख संधि कहलाती है । विदु (नामक अथप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के योग से इसके तेरह अङ्ग होते हैं ॥३०॥

तस्य बीजस्य किञ्चित्त्वक्ष्य किञ्चिदलक्ष्य द्वयोर्दभेद — प्रकाशन तत्प्रति
मुखम् । यथा रत्नावल्या द्वितीयऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोनुरावीजस्य प्रथमा
ङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविद्रूपकाम्या पायमानाया किञ्चित्त्वक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्र
फलकवृत्तातेन किञ्चिदुनीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोर्दभेद प्रतिमुखसंघिरिति ।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चित्त्वक्ष्यस्य कर्णसिद्ध्याच्चा—
लक्ष्यस्य क्राधवाजस्यादभेद ।

सहभृत्यगण सङ्घव सहमित्र समुत सहानुजम् ।

स्वबलन निर्हात संयुगे न चिरात्पाण्डुमुत सुयाधनम् ॥१५॥

इत्यादिभि —

दु शासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपान

दुर्योधनस्य च यथा गदयारुमङ्गे ।

तजस्विना समरभूमिनि पाण्डवाना

जेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥१५॥

इत्यवमादिभिश्चोदभेद प्रतिमुखसंघिरिति ।

उस (तस्य) मुख संधि में निविष्ट बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ
अलक्ष्य रूप में उद्भेद अर्थात् प्रकट होना ही प्रतिमुख संधि है। जैसे रत्नावली नाटिका
क द्वितीय अङ्क में—जो वत्सराज और सागरिका के मिलन (फल) का हेतु अनुराग
रूपी बीज है उसका प्रथम अङ्क में उपक्षेप किया गया है। द्वितीय अङ्क में सुसङ्गता
और विद्रूपक के द्वारा यह जान लिया गया है। अत कुछ-कुछ लक्ष्य है और वासव
दत्ता के द्वारा चित्रफलक की घटना द्वारा वह कुछ कुछ समझा भर गया है (अत
अलक्ष्य है)। इस प्रकार यहाँ (अनुराग रूपी) बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में
प्रकट होता है तथा प्रतिमुख संधि है।

वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में भी (प्रतिमुख संधि है)। यहाँ क्रोध रूपी बाज
का भीष्म आदि के वध द्वारा कुछ कुछ लक्ष्य तथा कर्ण आदि का वध न होने के
कारण कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होना ही प्रतिमुख संधि है जैसे कि (२५) राजा
दुर्योधन कञ्चुकी से, कहते हैं शीघ्र ही पाण्डु का पुत्र अपन बल से समर में मृत्यवग,
वधुगण, मित्र पुत्र तथा अनुजों सहित दुर्योधन को मार देगा ।

इत्यादि (कथन) क, द्वारा तथा (दुर्योधन के भानुमती के प्रति २२७)
'दु शासन का हृदय से रुधिर रूपी जल को पीने और गदा से दुर्योधन की जङ्घा को
तोड़ देने के विषय में तेजस्वी पाण्डवों की जसी प्रतिज्ञा, भी वसी समरभूमि में
जयद्रथ वध के विषय में भी समझनी चाहिये ।' इत्यादि कथन के द्वारा भी, जो बीज
का प्रकटन होता है, यह प्रतिमुख संधि है ।

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षितविदुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि प्रयोदशाङ्कानि भवन्ति, तायाह—

(५२) विलास परिसपश्च विधूत शमनमणी ।

नर्मद्युति प्रगमन निरोध पर्युपासनम् ॥३१॥

वच्च पुष्पमुपयासो वणसहार इत्यपि ।

यथोद्देश सलक्षणमाह

(५३) रत्यर्थेहा विलास स्याद्—

यथा रत्नावल्याम् सागरिका—हिअअपसीद पसीद कि इमिणा आआसमत्त फलण दुल्लहजणप्पत्तणानुबधेण । (हृदय प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलन दुलभजनप्रापनानुबधेण ।) इत्युपक्रम तथावि आलखण्द त जण कदुअ जयासमीहिद करिस्सम् तथावि तस्स णिय अण्णो दसणोधारत्ति । (तथाप्यालखणत त जन कृत्वा यथासमीहित कारध्यामि । तथापि तस्य नास्त्य-यो दशानोपाय) । इत्येतैवत्सराजसमा गमरति चित्रादिअयामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगता विलास इति ।

जो प्रथम अङ्क में रखा गया है तथा अग्रिम अङ्क में बिदु रूप में आया है उस बीज तथा प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के आधार पर इस (प्रतिमुख संधि) के तेरह अङ्क होते हैं । उन्हें बतलाते हैं—

विलास, परिसप विधूत, शम, नम, नमद्युति, प्रगमन, निरोध, पयु पासन, वच्च, पुष्प, उपयास तथा वणसहार (ये १३ प्रतिमुख संधि के अङ्क हैं) ॥३१॥

नाम के क्रम से उनका सभण बतलाते हैं—

१ विलास

रति के लिये जो इच्छा होती है वह विलास कहलाता है ।

जसे रत्नावली नाटिका (अङ्क १ प्रवेशक के बाद) सागरिका कहती है हृदय प्रसन्न हो, प्रसन्न हो इस दुलभ जन (वत्सराज) की अभिलाषा के आग्रह से, जिसका केवल मात्र बुद्ध ही फल है क्या साम ? इससे आरम्भ करके तथापि उस व्यक्ति को चिन्तित करके मन चाही करूंगी । उसको देखने का अर्थ उपाय नहीं है ।

इन (कथनों) के द्वारा वत्सराज के समागम की रति के लिये (उद्दिश्य) सागरिका का चेष्टा रूपी प्रयत्न प्रकट हो रहा है यद्यपि यह रति चित्र आदि क द्वारा ही उत्पन्न हुई है । यह प्रयत्न अनुराग रूपा बीज (जो द्वितीय अङ्क में बिदु क रूप में है) से भी अनुगत है अतः विलास (नामक प्रतिमुख संधि का अङ्क) है ।

टिप्पणी—यहाँ 'रति' स्थायी भाव का उपलक्षण है । ईहा (=चेष्टा) रति आदि भाव के लिये नहीं अपितु तु रति आदि भाव के विषय के प्रति होती है । इस प्रकार रति आदि भाव के विषय के लिये जो चेष्टा है वही विलास है । शृङ्गार

अथ परिसप —

(५४) — दृष्टनष्टानुसपणम् ॥३२॥

परिसर्प —

यथा वणीसहारे कञ्चुकी—योऽयममुद्यतपु बलवत्सु अथवा कि बलवत्सु वासुदेव महापत्नरिष्वशाप्यत पुरमुखमनुभवति इदमपरमयातप स्वामिन —

आशस्त्रग्रहणादकुष्ठपरशोस्तस्यापि जेता भुन—

स्नापायास्य न पाण्डूसूनुभिरय भीष्म शरं शायित ।

प्रीदानेकधनुधरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो

बालस्यायमरातिलूनघनुप प्रीताभिमयोवधात् ॥१६॥

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमयुवधाश्रष्टस्य बलवता पाण्डवाना वासुदेव सहायाना सङ्ग्रामलक्षणविदुबीजप्रयत्नान्दयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसपण परिसप इति ।

यथा च रत्नावल्या सारिकावचनचित्रदशनाभ्या सागरिकानुरागबीजस्य दृष्ट नष्टस्य क्वासी' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसप इति ।

रस प्रधान रूपका मे रति के विषय (प्रमदा या पुष्ट्य) के लिये ईहा होती है किन्तु जहाँ बीर आदि रस प्रधान है वहाँ उत्साह आदि के विषय के प्रति ईहा होती है (द्र० ना० द० १ ६३) । उपयुक्त उदाहरण में सागरिका के प्रेम का विषय जो वत्सराज है, जो कि यहाँ चित्रगत ही है उसके प्रति सागरिका को ईहा का वणन है । यह ईहा ही यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है जो अनुराग रूपी अवातर बीज (= बिंदु) से अनुगत है । अत यहाँ प्रतिमुख सघि का प्रथम अङ्ग विलास है ।

२ परिसप

पहले देखे गये और फिर नष्ट हुए बीज का अवेपण परिसप कहलाता है ।

जसे वणीसहार (अङ्क २) में (आशराभाषित में दुर्घोषन को—सक्य करके) कञ्चुकी कहता है—[धय है, पतिव्रता भानुमती आप धय हैं, स्त्री होकर भी आप) अच्छी हैं किन्तु महाराज (अच्छे) नहीं] जो यह अब भी अन्त पुर में सुख का भोग कर रहे हैं जबकि बलवान् शत्रु पाण्डु के पुत्र, अथवा चाहे बलवान् न भी हो किन्तु जिनके सहायक वासुदेव हैं, युद्ध के लिये तत्पर ह । यह स्वामी का दूसरा अनुचित काय है—(वणीसहार २ २) ।

'शस्त्र-ग्रहण के आरम्भ से लेकर कभी जिसका पर्यु कुण्ठित नहीं हुआ उस प्रसिद्ध मुनि (परशुराम) को जीतने वाला यह भीष्म पाण्डु पुत्रों द्वारा बाणों से गिरा दिया गया और इससे यह (दुर्घोषन) दुःखी न हुआ । साथ ही जो बड़े बड़े धनुषारी शत्रुओं की विजय से थका था, शत्रुओं द्वारा जिसका धनुष काट दिया गया था ऐसे अकेले, बालक अभिमयु के वध से यह प्रसन्न हो रहा है ।

अथ विधूतम्—

(५५) विधूत स्यादरति —

यथा रत्नावल्याम्, 'सागरिका सहि अहिअ मे सतावो बाधदि । (सखि अधिक म सतापो बाधत ।)' (सुसङ्गता दीघिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्वानीयास्या अङ्के ददाति) सागरिका (तानि क्षिपती)—सहि अवणहि एदाइ कि अमारण अताण बायासति ण भणामि—(सखि, अपनपत्तानि क्रिमकारण आत्मानमायासपसि । ननु भणामि—)

दुल्लहज्जणाणुराओ लज्जा गरई परव्वसो अप्पा ।

पिअसहि विसम पेम्म मरण शरण णवर एवकम् ॥

(दुलभजनानुरागा लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।

प्रियसखि, विषम प्रेम मरण, शरण केवलमेवम् ॥१७॥)

इत्यनन सागरिकाया बीजावयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ॥

यथा च वेणीसहार भानुमत्या दु स्वप्नदशनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डव विजयशङ्कया वा रतौविधूननमिति ।

इस (कथन) के द्वारा शीघ्र आदि के यद्य से दिखलाई पड़ने वाले तथा अमिमपु के यद्य से नष्ट हो जाने वाले बीज का कृष्ण की सहायता से युक्त बलवान् पाण्डवों के सप्राप्त रूपी त्रिदु नामक बीज (अवातर बीज) और प्रयत्न के अवय से कञ्चुकी के द्वारा अशेषण किया गया है अतः परिसप (नामक प्रतिमुख सधि का अङ्ग है ।

और, जस रत्नावली (अङ्क २) में सागरिका के वचन और (चित्र दशन के द्वारा सागरिका का अनुराग, रूपी बीज प्रकट होकर नष्ट हो गया है उसका 'वह कहाँ है ? यह कहाँ है ?' इत्यादि (कथन) से वत्सराज के द्वारा अशेषण किया जाता है, अतः यहाँ परिसप (नामक प्रतिमुख सधि का अङ्ग) है ।

३ विधूत

(सुखप्रद पदार्थों के प्रति) अरुचि (अनादर) ही विधूत कहलाता है ।

जसे रत्नावली नाटिका (२६) में सागरिका कहती है—सखी, मेरा सताप अधिक घट रहा है* । (सुसंगता बावडी से कमलिनो के पत्ते और मृणालो को नाकर इसके अङ्गो पर रखती है) । सागरिका—(जहें फँकती हुई) सखी इहें हटा सो, क्यों श्यय हो, अपन को कष्ट दे रही हो ? मैं ठीक कहती हूँ—'दुलभ जन के प्रति प्रेम है अत्यधिक सज्जा है शरीर दूसरे के अधीन है । प्रिय सखी इस प्रकार प्रेम विषम है । अब तो देखल मृत्यु ही मेरी शरण है ।

यहाँ सागरिका (अनुराग रूपी) बीज के सम्बन्ध से शीतोपचार का अनादर करती है अतः विधूत (नामक प्रतिमुख सधि का अङ्ग) है ।

और जसे वेणीसहार (अङ्क २) में बुरा स्वप्न देखने के कारण दुर्योधन

*मण्डिकतर सतापो यद्यत, इति रत्नावल्या पाठ ।

अथ शम —

(५६)—तच्छम शम ।

तस्या अरतेरुपशम शमो यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य, अनया लिखितो ऽह्मिति यत्तत्पमात्मयपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे सागरिका—(आत्मगतम्) हिअथ, समस्सस । मनोरहोवि दे एत्तिअ भूमि ण गदो ।' (हृदय समाश्व सिहि । मनोरथोऽपि न एतावता भूमि न यत्) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ।
अथ नम—

(५७) परिहासवचो नम—

यथा रत्नावल्याम्—सुसङ्गता—सहि जस्स कए तुम आअदा सो अथ पुरदो चिट्ठत्ति ।' (सखि, वस्य इते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका—(साम्प्रयम्) सुसङ्गदे वस्स कए अह आअदा । (सुसङ्गते, वस्य कृतेऽइमागता) । सुसङ्गता—अह अप्सवदिदं ण चित्तफलअस्स ता गेण्ह—एदम् । ('अथि आत्मशङ्कितं ननु चित्रफलरूप्य तद्दृष्टाणतत् ।') इत्यनेन बीजावित परिहासवचनं नम ।

के अनिष्ट की आशङ्का से अथवा पाण्डवों की विजय की शङ्का से भानुमती ने रति का विध्वंसन कर दिया है । अतः यहाँ भी विध्वंस नामक प्रतिमुद्य सन्धि का अङ्ग है ।

४ शम

उस (अरति) की शान्ति शम कहलाती है ।

उस अरति का शान्त हो जाना शम है । जैसे रत्नावली (अङ्क २ ११-१२) में राजा विदूषक से कहता है—'मित्र' इमने मेरा चित्र बनाया है इससे सचमुच मुझे अपने आप पर भी बहुत गव हो गया है तो कैसे न देखू ? इस सन्दर्भ में सागरिका (मन ही मन) कहती है—'हृदय धीरज धर, तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था ।'

यहाँ (अपने प्रति राजा का प्रेम जानकर सागरिका की) अरति कुछ शांत हो जाती है, इसलिये शम (नामक प्रतिमुद्य सन्धि का अङ्ग) है ।

५ नम—

परिहास युक्त वचन ही नम कहलाता है ।

जस रत्नावली (अङ्क २ १५-१६) में सुसंगता सागरिका से कहती है—सखी, जिसके लिये तुम आई हो, वह यह सामने स्थित है ।' सागरिका (चिड़कर) सुसंगता, मैं किसके लिये आई हूँ ? सुसंगता—अरी, अपने पर शङ्का करने वाली चित्रफलरु के लिये ही तो तुम आई हो उसे ले लो ।

यथा च वेणीसंहारे—(दुर्योधनश्चेटीहस्तादघपात्रमादाय देव्या समपयति, पुन) भानुमती—(अघ दत्त्वा) हला उवणेहि मे कुसुमाइ जाव अवरण पि देवाण सवरिअ णिवत्तेमि । (हला उपनय म, कुसुमानि यावदपरेयामपि देवाना सपर्या निवतयामि ।) (हस्तो प्रसारयति दुर्योधन पुष्पाण्युपनयति—भानुमत्यास्तत्स्पशजातकम्पाया हस्ता त्पुष्पाणि पतति) इत्यनेन नमणा दु स्वप्नदशनोपशमाथ देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्व मुक्तमिति ।

(५८)—धतिस्तज्जा द्युतिमता ॥३३॥

यथा रत्नावल्यम्—सुसङ्गता—सहि अदिगिठठुरा दाणि सि तुमम् । जा एव पि भट्टिणा हत्यावलम्बिता कोप न मुञ्चसि । (सहि अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्व यवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोप न मुञ्चसि ।) सागरिका—(सध्रू भङ्गमीपद्मिहस्य) सुसङ्गते, दाणि पि ण विरमसि । (सुसङ्गत इदानीमपि न विरमसि ।) इत्यनेनानुरागबीजाद्घाटनात्तवेन धतिनमजा द्युतिरिति दशितमिति ।

इसके द्वारा जो (अनुराग रूपी) बीज से सम्बन्ध परिहास घचन कहा गया है वह नम (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (अङ्क २ १४-१५) में दुर्योधन (चेटी के हाथ से अघपात्र लेकर देवी भानुमती को देता है तब) भानुमती (अध्य देकर) 'सखी मुझे पुष्प हो जिससे दूसरे देवताओं का भी पूजन कर लू । (हाथ फलाती है, दुर्योधन पुष्प देता है दुर्योधन के स्पश से कम्पित भानुमती के हाथ से पुष्प गिर जाते हैं ।)

यहाँ दुस्वप्न-दशन की शान्ति के लिये जो देव पूजा की जा रही है उसमें विघ्न करने वाले परिहास के द्वारा बीज का उद्घाटन हो जाता है अतः यहाँ परिहास को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग मानना युक्त ही है ।

६ नमद्यति

उस (नम) में उत्पन्न धति ही नमद्युति मानी गई है ।

जैसे रत्नावली (२ १८—१९) सुसगता सागरिका से कहती है—'सखी तू अब बड़ी कठोर हो गई है जो इस प्रकार स्वामी द्वारा हाथ पकड़े जाने पर भी कोप नहीं छोड़ती । सागरिका (ध्रू भङ्ग के साथ कुछ मुस्करा कर) सुसगता तू अघ भी नहीं मानती ।'

इसके द्वारा (सागरिका के) अनुराग रूपी-बीज के उद्घाटन के सम्बन्ध से (सागरिका की) परिहास से उत्पन्न धति का अर्थ है अतः नमद्युति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) बिखसाई गई है ।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों के अनुसार दोष को आच्छादित करने वाला परिहास नमद्युति कहलाता है (३० नाट्यशास्त्र तथा नाट्यदर्पण) ।

अथ प्रगमनम्—

(५६) उत्तरा वाक्प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—भो वदस्व, दिठठया बढडसे । ('भो वयस्य, दिष्ट्या वधसे ।') राजा—(सकीतुकम्) वयस्य, किमेतत् । विदूषक—भो, एद क्खु त ज मए भणिद तुम एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह णवीअदि । ('भो, एतत्खलु तद्यमया भणित त्वमेवालिखित कोऽय बुसुमायुधपपदेशेन निह्णयते ।') इत्यादिना ।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्कि शोपमायासि मृणालहार,

न सूक्ष्मत तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवत किमु स्यात् ॥१८॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्यो यवचनेनोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति ।

अथ निरोध --

(६०)—हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूख ।

प्राप्ता कथमपि देवात्कण्ठमनीतव सा प्रकटरागा ।

रत्नावलीव कात्ता मम हस्ताद् भ्र शिता भवता ॥१९॥

७ प्रगमन

(बीज के सम्बन्ध में) उत्तरोत्तर वचन ही प्रगमन है ।

जैसे रत्नावली (२ ८ ६) में विदूषक राजा से कहता है—'हे मित्र भाग्य से बढ़ रहे हो । राजा—(कुतूहल से) मित्र, यह क्या है ? विदूषक—भाई यह वही है जो मैंने कहा था कि इसमें तेरा ही चित्र बनाया गया है कामदेव (पुष्प के घनुय वाले) के बहाने से और किसको छिपाया जा सकता है ? यहाँ से आरम्भ करके (२ १५) 'हे मृणालहार उसके स्तनरूपी कलशों के मध्य से गिरा हुआ तू क्यों सूख रहा है ? जहाँ तेरे सुख तबु के लिये भी जगह नहीं है यहाँ तेरे लिये कैसे हो सकती है ?'

यहाँ तक राजा, विदूषक, सागरिका और सुसङ्गता के परस्पर वचनों के द्वारा अनुराग बीज का उत्तरोत्तर उद्घाटन हो रहा है अतः प्रगमन (नामक प्रतिमुख संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र में प्रगमन के स्थान पर 'प्रगमण' नाम रक्खा गया है तथा नाट्य-रूपण में 'प्रतिवाक श्रेणी' ।

८ निरोधन

हित का रुक जाना निरोधन कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२ १६) में राजा विदूषक से कहता है—'मूख, धिक्कार है । किसी प्रकार सयोग से प्राप्त हुई, अनुराग को प्रकट करने वाली यह काव्य'

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशयूचकेन विद्रूपकवचसा निरोधानिरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम्—

(६१) पर्युपास्तिरनुनय —

यथा रत्नावल्याम्—राजा—

प्रसीनेति भ्रूयामिदमसति कोपे न घटते

करिष्याम्येव भो पुनरिति भवेदभ्युपगम ।

न मे दोषोऽस्तीति स्वमिदमपि हि नास्यसि मया

किमेतस्मिन् वक्तु क्षममिति न वेद्यि प्रियतमे ॥२०॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोदशनात्पिताया वामवदत्ताया अनुनयनं नायकयोर

नुरागोद्घाटनावयेन पयुपासनमिति ।

अथ पुष्पम्—

(६२)—पुष्प वाक्य विशेषवत ॥३४॥

यथा रत्नावल्याम्—‘(राजा सागरिका गृहीत्वा स्पश नाटयति) विद्रूपक—

भो, एषा अपुष्वा सिरी तए समासादिदा । (भो एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासा

स्फुट कान्ति वाली रानावली के समान, कण्ठ से न लगाई गई ही, आपने मेरे हाथ से गिरा दी ।

यहाँ वत्सराज का सागरिका समागम रूपी हित है जिसे वासवदत्ता प्रवेश की सूचना देने वाली विद्रूपक के वचन ने रोक दिया है अतः निरोधन [नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग] है ।

६ पयुपासन

(क्रुद्ध व्यक्ति को) मनाना ही पयुपासन कहलाता है ।

जैसे रत्नावली [२२०] में राजा (वासवदत्ता) से कहता है—‘हे देवी, यदि मैं यह कहूँ प्रसन्न हो जाओ’ तो यह कोप न होने पर सगत नहीं । यदि कहूँ कि ‘फिर ऐसा न करूँगा तो (अपने अपराध की) स्वीकृति हो जायेगी । यदि मेरा दोष नहीं है यह कहूँ तो तुम इसे झूठ मानोगी । प्रियतमे, इस दशा में क्या कहना उचित है यह मैं नहीं जानता ।

यहाँ पर चित्र में (एक साथ) नायक (वत्सराज) तथा नायिका (सागरिका) को देखने से कुपित होने वाली वासवदत्ता का अनुनय किया गया है जिसका नायक और नायिका के अनुराग (रूपी बीज) के उदघाटन से सम्बन्ध है अतः यहाँ पयुपासन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१० पुष्प

(बीजोदघाटन के सम्बन्ध में) विशेषतायुक्त कथन को पुष्प कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क २१८) में (राजा सागरिका को हाथ से पकड़कर स्पश

दिता । राजा—वयस्य सत्यम्—

श्रीरेणा पाणिरप्यस्या पारिजातस्य परलव ।

कुतोऽयथा रू येय स्वेदच्छ्यामतद्रव ॥२१॥^१

इत्यनेन नायकयोः साक्षादभ्योयदशनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम् ।

अधोपयास —

(६३) उपयासस्तु सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम्— सुसङ्गता—भट्टा बल सद्भाए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलद एध्व ता । कि कएण भ १ अदो वि मे गरुओ पसाओ ज कीस तए अह एत्थ आलिद्विअ त्ति कुविआ मे पिआही साअरिआ ता पसादीअदु । (भत बल-शङ्कया मयापि भतु प्रसादेन ब्रीडितमेव तर्कि कर्णाभरणन अतोऽपि मे गुरु प्रसादो यत्कय त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम् ।) इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपयासेन बीजोद्भू दादुपयास इति ।

का अभिनय करता है) । विदूषक—पाईं कुमने सचमुच ही यह अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली है ।' राजा—मित्र ठीक है यह लक्ष्मी है इसका हाथ पारिजात का पल्लव है नहीं तो स्वेद के ब्याज से यह अमृत रस को कहां से बहाता ?

इस कथन के द्वारा नायक और नायिका के परस्पर बंधन आदि के द्वारा विशिष्ट अनुराग प्रकट होता है अतः पुष्प (नामक प्रतिमुख सद्य का अङ्ग) है ।

११ उपयास

उपायसहित (= हेतुप्रदशक) कथन ही उपन्यास कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२१५-१६) में सुसङ्गता का कथन है— स्वामी, शङ्का न करें । मैंने भी स्वामी के प्रसाद से खेल ही किया है । इसलिये कर्णामूषण की क्या बात है ? इससे भी बड़ा मुक्ष पर वह प्रसाद होगा कि तूने इसमें मरा चित्र क्यों बनाया ? यह कहती हुई मरौ प्रिय सखी सागरिका कुपित हो गई है तो उसे आप प्रसन्न कर बीजिये ।

यहाँ (चित्रफलक में) सागरिका का चित्र मैंने बनाया है और तुम्हारा चित्र सागरिका ने यह सूचित करते हुए सुसङ्गता के वचन से (राजा के) प्रसाद का कथन करके (अनुराग रूपी) बीज का प्रकटन किया गया है अतः उपयास (नामक प्रतिमुख सद्य का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—बीज के उद्भेदन से सम्बन्ध रखने वाला हेतुप्रदशनपूषक या मुक्ति सहित कथन ही उपयास है । यहाँ सागरिका को प्रसन्न करने के लिये जो निवेदन किया गया है उसमें हेतु यह है कि सुसङ्गता ने चित्रफलक पर राजा के चित्र के साथ सागरिका का चित्र बना दिया है इसलिये वह कुपित है । इससे सागरिका का अनुराग भी प्रकट होता है ।

(६४)—वज्र प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—‘वासवदत्ता—(फलक निर्दिश्य) अज्जउत्त एसावि जा तुह समीवे एद कि वसतअस्स विण्णाणम् ।’ (आयपुत्र, एपापि या तव समीपे एतत्कि वसन्तकस्य विज्ञानम् ।) पुन ‘अज्जउत्त, ममावि एव चित्तकम्म पेक्खतीए सीसवेअणा । (आयपुत्र ममाप्येतच्चित्रकम पश्यत्या शीघ्रवदना समुत्पत्ता ।) इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं व्यथिति अथ वर्णसंहार—

(६५) चात्सुवर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इति ॥३५॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिपदियमृपीणामेव वृद्धो मुधाजित्

सह नपतिरमात्यलोमपादश्च वृद्ध ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पराण

प्रमुरपि जनकानामद्रो याचकस्ते ॥२२॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामा गदीना सङ्गताना वर्णाना वचसा रामविजयामसिन परशुरामदुष्यस्याद्रोहयाञ्चाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति ।

१२ वज्र

प्रत्यक्ष रूप मे निष्ठुर (कथन) ही वज्र कहलाता है ।

जसे रत्नावल्या (२ १६ २०) मे वासवदत्ता (चित्रफलक की ओर निर्देश करके) आयपुत्र यह भी जो तुम्हारे समीप है यह क्या आयवसन्तक की कला है ? फिर कहती है—‘आय, इस चित्रकाम को देखते हुए मेरे सिर मे पीडा हो गई है ।

इस (कथन) के द्वारा वासवदत्ता ने वत्सराज के सागरिका के प्रति अनुराग को प्रकट किया है जो प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर कथन है अत यहाँ वज्र (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१३ वर्णसंहार

[ब्राह्मण आदि] चारो वर्णों का एकत्रित होना ही वर्णसंहार कहलाता है ।

जसे महावीरचरित के तृतीय अङ्क (३५) मे ‘यह ऋषियों की सभा है यह वृद्ध मुधाजित् है और अमात्यों के साथ ये वृद्ध नपति लोमपाव हैं तथा यह निरन्तर यत्न करने वाला पुराना (प्रसिद्ध प्राचीन) ब्रह्मवादी जनकों (नामक जनपदों) का राजा, ये सब आपसे क्रोधशांति (अद्रुह = द्रोहभावस्य) की याचना करते हैं ।

यहाँ पर एकत्रित हुए ऋषि क्षत्रिय और अमात्य आदि का कथन करके क्रोधशांति की प्रायना के द्वारा राम की विजय को सूचित करने वाले परशुराम के

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंयुतक्षिप्तबिन्दुलक्षणावातरबीज महाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसपप्रशमवच्चोपयासपुष्पाणा प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भव प्रयोग इति ।

दुग्ध (दुग्धवहार अयाय) का प्रकटन किया है अतः वणसहार (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६८२), सा० द० (६६४) में यही लक्षण है । प्रता० (३, १३) में तथा भा० प्र० (पृ० २०६) में भी इसी प्रकार का लक्षण है । अभिनवगुप्त ने बताया है कि ब्राह्मण आदि वणचतुष्टय के एकीकरण को वणसहार मानना उचित नहीं अपितु यहाँ वण का अर्थ नाटकीय पात्र (नायक, प्रतिनायक, नायिका इत्यादि) हैं । किसी काय के लिये उनके एक साथ मिलने का वण ही वणसहार है । ना० द० (१६७) में यही लक्षण माना गया है तथा इसका विशद विवेचन किया गया है । वहाँ दशरूपक के मत की समीक्षा भी की गई है तथा वणसहार की एक तीसरी व्याख्या का भी उल्लेख है—एके तु वर्णितायतिरस्कार वणसहारमामर्तित ।

प्रतिमुख सन्धि के ये तैरह अङ्ग हैं । मुख सन्धि में उपक्षिप्त बिन्दु नामक अवातर बीज एवं महाबीज (अपप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) से अर्चित इन अङ्गों का निर्वाह करना चाहिये । इनमें परिसप, प्रशम, वच्च, उपन्यास और पुष्प ये अङ्ग प्रधान हैं (रूपकों में इनको स्थान देना आवश्यक है) । अयो का यथासम्भव प्रयोग किया जाता है ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकार प्रधानवृत्त का द्वितीय भाग प्रतिमुख सन्धि है । इसमें मुखसन्धि में यस्त बीज की किञ्चिद् लक्ष्य और यत्किञ्चिद् अलक्ष्य रूप से अभिव्यक्ति हुआ करती है । साथ ही नायक व्यापार की प्रयत्नावस्था का वणन होता है । फलतः अवातर बीज अर्थात् बिन्दु या महाबीज की अभिव्यक्ति के साथ प्रयत्न अवस्था की अर्चित का नाम प्रतिमुख सन्धि है । इसके तैरह अङ्गों में किसी न किसी रूप में इस अर्चित के दर्शन होत हैं । उदाहरणाय विलास नामक प्रथम अङ्ग में जो रति के लिये ईहा (चेष्टा) होती है वह अनुराग इत्यादि अवातर बीज की अभिव्यक्ति से अर्चित होती है । इसी प्रकार अय अङ्गों में वर्णित प्रयत्न भी बिन्दु या बीज की व्यक्ति (उद्भेदन) से अर्चित हुआ करत है । (२) प्रायः सभी नाट्याचार्यों के अनुसार प्रतिमुख सन्धि के उपयुक्त १३ ही अङ्ग हैं । नामों में भी कोई विशेष भेद नहीं है, केवल दशरूपक के 'शम' और प्रगमन के स्थान पर ना० शा० (१६५६) में 'तापन' तथा 'प्रगमन' दो अङ्ग माने गये हैं । सा० द० (६८७) में 'निरोध' के स्थान पर विरोध माना गया है । ना० द० (१६२) के नामा में भी यत्किञ्चित् अर्त है तथा इन अङ्गों के स्वरूप में भी कुछ नवीनता है ।

अथ गभसि घमाह—

(६६) गर्भंस्तु हृष्टनष्टस्य बीजस्यावेपणं मुहुः ।

द्वादशाङ्गं पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥३६॥

प्रतिमुखस्य धौ सक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोत्रोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभं पुनर्विच्छेदं पुनः प्राप्तिं पुनर्विच्छेदं पुनश्च तस्यैवावेपणं वार-वारं सोऽनिर्घारितकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंघिरिति । तत्र चोत्सर्गिकत्वेन प्राप्ताया पताकाया अनियमं दशयति—“पताका स्यान्न वा इत्यनेन । प्राप्तिःसम्भवस्तु स्यादेवेति दशयति—‘स्यात्’ इति । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के बत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणा पायेन तद्वेपपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विद्रूपकवचना सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदं पुनः प्राप्तिं पुनर्विच्छेदं पुनरुपायनिवारणोपायावेपणम् ‘नास्ति देवीप्रसादनं भुक्त्वाय उपाय’ इत्यनेन दशितमिति ।

गर्भसंघि और उसके अङ्ग

जहाँ दिखलाई देकर खोये गये बीज का वार वार अवेपण किया जाता है, वह गर्भसंघि है । इसमें पताका (नामक अथप्रकृति) कही होती है वही नहीं भी होती, किन्तु प्राप्त्याशा (नाम को कार्यावस्था) होती ही है । इसके वारह अङ्ग होते हैं ।

प्रतिमुख संघि में जो बीज कुछ लक्ष्य रूप में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना—विघ्नों के साथ प्रकट होना फिर नष्ट हो जाना फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही वार वार अवेपण किया जाना यही गर्भसंघि कहलाती है इसमें फलप्राप्ति की आशा का एकांतत निश्चय नहीं होता ।

(क्रमशः अथप्रकृति और कार्यावस्था के अन्वय से संघि की उत्पत्ति होती है— इस) सामान्य नियम के अनुसार उस (गर्भ संघि) में पताका अवश्य होनी चाहिये किन्तु ‘पताका स्यात् न वा (पताका हो या न हो) इस कथन के द्वारा यहाँ यह दिखलाया है कि पताका का होना अनिवार्य नहीं है । इसी प्रकार स्यात् प्राप्तिःसम्भव’ (प्राप्त्याशा होनी ही चाहिये) इस कथन से यह दिखलाया है कि (गर्भसंघि में) प्राप्त्याशा अवश्य होती है ।

(गर्भसंघि का उदाहरण है) जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क में पहिले तो विद्रूपक के उस वचन द्वारा सागरिका की प्राप्ति की आशा होती है जिसमें वासवदत्ता के रूप में विघ्न कहा गया है और वासवदत्ता का वेप धारण करके सागरिका के अभिसरण को (समागम का) उपाय कहा गया है फिर वासवदत्ता को उपस्थिति से आशा भंग (विच्छेद) हो जाता है । इसी प्रकार फिर प्राप्ति और फिर विघ्न होता है और तब (विघ्न को दूर करने का) उपाय खोजा जाता है जो कि (३ १५-१६) ‘देवी (वासवदत्ता) को प्रसन्न करने के अतिरिक्त (सागरिका से मिलन) का कोई और उपाय नहीं है’—इस कथन के द्वारा दिखलाया गया है ।

उस (गर्भसंघि) के वारह अङ्ग होते हैं उनके नाम ये हैं—

स च द्वादशाङ्गो भवति । ताः पुद्गिति—

(३) अभूताहरण मार्गो रूपोदाहरणे क्रम ।

सग्रहश्चानुमान च तोटकाधिवले तथा ॥३७॥

उद्देगसभ्रमाक्षेपा लक्षण च प्रणीयते ।

ययोर्देशं लक्षणमाह—

(६६) अभूताहरण छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—‘साधु रे अमच्च वसतन्न साधु अदिसदो तए अमच्चो
योग घरायणो इमाए सच्चिविग्रहचिंताए । (‘साधु रे अमात्य वसतन्न साधु अति-
शयितस्त्वयामात्यो योग घरायणोऽनया सच्चिविग्रहचिन्तया ।) इत्यादिना प्रवेशकेन
गृहीतवासवदत्तावेयाया सागरिकाया वत्सराजाभिसरण छप विद्रूपकसुसङ्गताकल्प
काञ्चनमालानुवादद्वारेण दशितमित्यभूताहरणम् ।

अथ माग —

(६६)—मार्गस्तत्त्वाधकीर्तनम् ॥३८॥

यथा रत्नावल्याम् ‘विद्रूपक —दिट्ठया वडडसि समीहिदम्भाघिकाए कज्ज-
सिद्धीए । (दिट्ठया वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यासिद्धया ।) राजा—वयस्य कुशल
प्रियाया ? विद्रूपक —अद्वरेण सज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिंसि । (अचिरेण स्वयमेष
प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।) राजा—दशनमपि भविष्यति ? विद्रूपक —(सगवम्) कीस ण
भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहण्णदिबुद्धिविहवो अह अमच्चो । (‘कथ न भविष्यति
यस्य स उपहसित बृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्य ।’) राजा—तयापि कथमिति श्रोतुमिच्छ
छामि । विद्रूपक —(कर्णे कथयति) एवम् । (एवम्) । इत्यनेन यथा विद्रूपकेण साग
रिकासमागम सूचित ’तयैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वाधकयना माग इति ।

१ अभूताहरण, २ मार्ग, ३ रूप, ४ उदाहरण, ५ क्रम, ६ सग्रह,
७ अनुमान, ८ तोटक ९ अधिवल, १० उद्देग, ११ सभ्रम और
१२ आक्षेप इनके लक्षण आगे किये जा रहे हैं । ३७, ३८ ।

नाम निर्देश के रूप से लक्षण बतलाते हैं—

१ अभूताहरण—

(प्रकृत विषय से सम्बद्ध) छलपूर्ण काय ही अभूताहरण कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ३ प्रवेशक) में काञ्चनमाला (विद्रूपक को लप्य करके)
कहती है धन्य है रे अमात्य वसतन्न धन्य है । इस सच्चि विग्रह के विचार में तूने
अमात्य योग-घरायण को भी मात कर दिया है ।

यहाँ पर वासवदत्ता का शेष धारण करके सागरिका का वत्सराज के प्रति
अभिसरण करना ही छद्म है, जिसको विद्रूपक और सुसङ्गता के निश्चय का काञ्चन-
माला द्वारा कथन करके प्रवेशक में दिखलाया गया है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ ८२), सा० ८० (६ ६६) ना० ८० (असत्याहरण
१ ८८) ।

२ माग

(प्रकृत विषय के सम्बन्ध में) यथार्थ बात का कथन ही मार्ग कहलाता
है ।

अथ रूपम्—

(७०) रूप वितकवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागम परिभाविनोऽभिनव जन प्रति पक्षपातस्तथाहि—

प्रणयविशदा दृष्टि धक्त्रे ददाति न शङ्किता

घटयति घन कण्ठाश्लेषे रसाप्र पयोधरो ।

वदति धहुषो गच्छामीनि प्रयत्नधृताप्यहो

हो रमयति तरो संके तस्या तथापि हि कामिनी ॥२३॥

कथं चिरयति वसंतु किं न धलु विदित स्यादय वृत्तातो देया ।
इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्यासानुगुण्येनैव देवीशब्दाप्यारश्च वितकद्रूपमिति ।

॥ जैसे रत्नावली (अ. ३. ६) में— विदूषक सीमाय से आप चाहे हुए से भी अधिक काय की सिद्धि के कारण बुद्धि को प्राप्त कर रहे हैं । राजा—मित्र, प्रिया का कुशल तो है ? विदूषक—शोच्य हो, आप स्वयं देखकर जान लेंगे । राजा—यया प्रिया का वशान् भी हो जायेगा ? विदूषक—(गवपुवक) क्यों न होगा ? जिस (आप) का बुद्धि धक्कन से अहस्पति को तिरस्कृत करने वाला मैं अमात्य हूँ । राजा—तो भी कसे ? यह सुनना घोहेना है ? विदूषक—(कान) में कहता हूँ इस प्रकार' ।

यही पर समीरिका के समागम की जो सी सूचना मिली थी विदूषक ने निश्चय करके वसा ही राजा से निवेदन कर दिया । इस प्रकार यहाँ यथाय बात का कथन है अतः भाष्यः (नामक गभसि धी कः अथ) है ।

दृष्टि दृष्टिणी—ना० शाह (१६५३), सा० ०० (६६४) ना० ६० । (१८७) ।
३ रूप । २६ ०८ । ३ ३३ ३

(प्राप्ति की आशा में) वितक से युक्त कथन को रूप कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (अ. ३. ६) में राजा अहो ! अपनी पत्नी के मिलने की उपेक्षा करने वाले कामुक जनो का अथे-व्यक्ति के प्रति अनोखा शुक्याय होता है ।

श्रीमूर्तिक यद्यपि संकेत इत्यस्य अर्थः स्थित इ कामिनी अशङ्कित होने के कारण प्रेम से निमल हुई दृष्टि को (नायक को) मुखापर नहीं डालती, कण्ठासिद्धन में प्रीति की साथ स्तनों को हृत्तापुवक नहीं लगाती, प्रयत्नपुवक रोके जाने पर भी बार बार यही कहने में जाती है तथापि अर्थव्य है कि वह अधिक आनवित करती है ।

वसंतक (विदूषक) कैसे देर कर रहा है ? तो यया वृत्तात देयी (वासवदत्ता) ने जान लिया है ।

इत्यादि के द्वारा रत्नावली-समागम की प्राप्ति की आशा के सम्बन्ध में ही वासवदत्ता-नामकी शब्द वितक किया गया है अतः यहाँ रूप (नामक गभसि धी अङ्ग) है ।

अथोदाहरण—

(७१)—सोत्कर्षं स्यादुदाहृति ।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषक—(सहपम्) ही ही भो कोसम्बीरज्जलाहेणावि
ण तादिसो वमस्सस्त परितोसो असि यादिसो मम समासादो दिववअण सुणिअ
भविसदि त्ति तक्केमि । ('ही ही भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वय
स्यस्य परितोप आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचन श्रुत्वा भविष्यतीति त्तकयामि ।)
इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षमिधानाद्
दाहृतिरिति ।

अथ क्रम—

(७२) क्रम सचित्यामानाप्ति—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—उपनतप्रियासमागभोत्सवस्यापि मे किमिदमत्य
थमुत्ताम्यति चेत्, अथवा—

टिप्पणी—ना० शा० (चित्रायसमवाये तु वितर्को रूपम् १६८३), सा० द०
(६६६) । ना० द० (रूप नानायसशय १७८) के अनुसार अनेक प्रकार की बातों
का सशय ही रूप है । वहाँ दशरूपक के मत तथा अय एक मत का भा वृत्ति में
उल्लेख किया गया है ।

४ उदाहरण (उदाहृति)

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) उत्कपमुक्त कथन उदाहृति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३४५ में विदूषक (हपप्रवक)—आ हा हा ? मैं समझता
हूँ कि मेरे मित्र को कौशम्बी का राज्य पाने से भी इतना सुख न होगा जितना कि
आज मुझसे प्रिय वचन सुनकर होगा ।

इत्यादि के द्वारा 'रत्नावली की प्राप्ति की बात भी कौशम्बी राज्य की
प्राप्ति से बढ़कर है' इस उक्तय का कथन किया गया है अत उदाहृति (नामक गम
सिध का अङ्ग) है ।

टि०—ना० शा० (१६८४), सा० द० (६६७) ना० द० । (उदाहृति
समुत्कर्ष १८१)

७ क्रम—

सोची हुई वस्तु की प्राप्ति क्रम कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३१०) में 'राजा—प्रिय का मिलन उपस्थित होने पर भी
मेरा हृदय अत्यधिक उत्कण्ठित क्यों हो रहा है । अथवा

तीव्र स्मरसत्तापो न तथादौ बाधते यथासने ।

तपति प्रावृषि सुतरामभ्यणजलागमो दिवस ॥२४॥

विदूषक—(आकण्ठ्य) षोडि सागरिए, एतो पिअवअस्सो तुम ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिअमर मत्तेदि । ता निवेदेमि से तुहागमणम् ।' (भवति सागरिके, एय प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिभर मन्त्रपति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्) इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रातृसागरिकाप्राप्तिरिति क्रम । अथ क्रमात्तर मतभेदेन—

(७३)—भावज्ञानमथापरे ॥३६॥

यथा रत्नावल्याम्— राजा (उपसत्य) प्रिये सागरिके,

शीताशुर्मुखमुत्पले तव दशौ पद्यानुकारी करी

रम्भागभनिभ्र तवोरुयुगल बाह्वृ मृणालोपमौ ।

इत्याह्लादकराधिलाङ्गि रभसाभिगङ्गमातिङ्गध मा—

मङ्गानि स्वमनङ्गतापविधुराण्यहो हि निर्वापय ॥२५॥

इत्यादिना 'इह तदभ्यस्त्येव विम्बाधरे इत्य'तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य शातत्वात्प्रमातरमिति ।

टिप्पणी—यहाँ क्रम के स्वरूप के विषय में जो दो मत दिखलाये गये हैं उनमें

से धनञ्जय को प्रथम अभीष्ट है किन्तु दूसरा मत किसका है यह कहना कठिन है ।

काम का तीव्र सताप प्रारम्भ में उतना नहीं सताता जितना (प्रिया के मिलन के) निकट होने पर सताता है । वस्तुतः वर्षा ऋतु में यह विवस अधिक तपता है जिसमें जल का आगमन निकट होता है ।

विदूषक—(सुनकर) आदरणीय सागरिका यह मेरे प्रिय मित्र तुम को सक्षय करके ही अत्यधिक उत्कण्ठापूर्वक कुछ कह रहे हैं तो मैं तुम्हारे जाने की बात इनसे करता हूँ ।

इत्यादि द्वारा सागरिका के समागम की कामना करते हुए ही वत्सराज की छान्ति से (वासवदत्ता से) सागरिका की प्राप्ति होती है, अतः यह क्रम (नामक गम सन्धि का अङ्ग है) ।

मतभेद से क्रम का दूसरा रूप (क्रमान्तर दूसरा क्रम) यह है—

दूसरे आचाय भाव ज्ञान को क्रम कहते हैं ॥३६॥

असे रत्नावली (३११) में राजा—(समीप आकर) प्रिय सागरिका तेरा मुख चन्द्रमा है नेत्र नील कमल हैं हाथ (साल) कमल के समान हैं, उद युगल कबली के अन्तर्भाग के सरश हैं धुआँ कमल-नाल के तुल्य है । इस प्रकार हे आह्लादित करने वाले समस्त अङ्गों वाली तुम आओ निराङ्ग होकर बलपूर्वक मेरा आलिङ्गन करके काम के सन्ताप से व्याकुल मेरे अङ्गों को शान्त कर दो ।

इत्यादि से आरम्भ करके वह अमृत भी तुम्हारे विम्बाधरे में विद्यमान है ।

(३१३) यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के भाव को जाना गया है अतः यह दूसरे प्रकार का क्रम है ।

अथ सप्रह —

(७४) सप्रह सामदानोक्ति —

यथा रत्नावल्याम्—‘साधु वयस्य, साधु इद ते पारितोषिक कटक ददामि ।’

इत्याभ्या सामदानाभ्या विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिण सप्रहात्सप्रह इति ।

अथानुमानम्—

(७५)—अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम्— राजा—घिङ् मूख, त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनथ ।

कृत —

समारूढा प्रीति प्रणयबहुमानात्प्रतिदिन

व्यलीक वीक्ष्येद वृतमकृतपूर्व धलु भया ।

प्रिया मुञ्चत्यथ स्फुटमसहना जीवितमसौ

प्रकृष्टस्य प्रेम्ण स्वलितमविपहा हि भवति ॥२६॥

विदूषक — भो वयस्य, वासवदत्ता कि करइस्सदि ति ण जाणामि सागरिका
ठण दुवकर जीविस्सदि ति तवकेमि । (‘भो वयस्य, वासवदत्ता कि करिप्पतीति न
जानामि सागरिका पुनदुक्कर जीविप्पतीति तकयामि ।) इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन
सागरिकानुरागबयेन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहमनुमानमिति ।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र (१६ ८४) में जो क्रम का लक्षण दिया गया
था—‘भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रम’ उसकी दो प्रकार की व्याख्यायें घनञ्जय से पूर्व
प्रचलित रही होंगी, उही का यहाँ उल्लेख किया गया है । बागे चलकर भी क्रम की
दो व्याख्या प्रचलित रहीं, नाट्यदण (१ ८२) में क्रमो भावस्य निर्णय’ यह लक्षण
देकर दो प्रकार की व्याख्या की गई है । साहित्यदर्पणवार ने यहाँ दशरूपक का
अनुसरण नहीं किया अपितु नाट्यशास्त्र के शब्दों में ही क्रम का लक्षण प्रस्तुत किया
है किंतु उसकी व्याख्या नहीं की ।

६ सप्रह—

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) साम और दान से युक्त कथन ही सप्रह
कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३ ४—५) में राजा विदूषक से कहता है—‘धन्य हो, मित्र
धन्य हो । यह तुम्हें पारितोषिक रूप में कटक देता है ।’

इत्यादि के द्वारा सागरिका से मिलन कराने वाले विदूषक का साम (प्रसादा
त्मक वचन) तथा दान (कटक प्रदान) के द्वारा सप्रह किया गया है । अतः (सप्रह
नामक गमसंघ का अङ्ग) है ।’

७ अनुमान—

किसी चिह्न से किसी बात का निश्चय करना (अभ्यूह) अनुमान
कहलाता है ।

अथाधिबलम्—

(७६) अधिबलमभिसन्धि —

यथा रत्नावल्याम्— काञ्चनमाला—भट्टिजि इअ सा चित्तसालिद्या । ता वसतअस्स सण्ण कगेमि (भक्ति इय सा चित्रशालिका तद्वसतकस्य सत्ता करोमि ।) (छोटिका ददाति) इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्या सागरिकासुसङ्गतावेपाभ्या राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति ।

जसे रत्नावली (३ १५) में राजा मूख, धिक्कार है तेरे द्वारा किया गया ही हम पर यह अनर्थ आ पडा है । क्योंकि—‘प्रेम का अत्यधिक आदर करने के कारण प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था । पहले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील प्रिया (वासवदत्ता) आन आवश्यक ही प्रार्णा को त्याग देगी, क्योंकि उत्कट प्रेम का स्वलन असह्य होता है

विदूषक हे मित्र वासवदत्ता क्या करेगी ? यह तो मैं नहीं जानता । किंतु सागरिका का जीवन डूबर हो जायेगा ऐसा मैं सोचता हूँ ।

यहाँ पर सागरिका के प्रति (राजा के) अनुराग से उत्पन्न होने वाले प्रकृष्ट प्रेम के स्वलन से वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है अत अनुमान (नामक गमसन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—सागरिका से प्रेम करने के कारण राजा का वासवदत्ता के प्रति जो प्रकृष्ट प्रेम था वह स्वलित हो गया है जो वासवदत्ता के लिये असह्य है इसलिये इस प्रेम स्वलन (लिङ्ग) द्वारा वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है ।

८ अधिबल—

वञ्चना (= अभिसन्धि) अधिबल कहलाता है ।

जसे रत्नावली (३ १०) में काञ्चनमाला (वासवदत्ता से कहती है)— स्वामिनी वह यह विनयान्ना है अत वसतक (विदूषक) को सकेत करती हूँ । इत्यादि क द्वारा क्रमश सागरिका तथा सुसङ्गता का धप धारण करने वाली वासवदत्ता और काञ्चनमाला के द्वारा राजा और विदूषक की वञ्चना की गई है, अत यहाँ अधिबल (नामक गमसन्धि का अङ्ग) है)

टिप्पणी—अधिबल के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है । नाट्यशास्त्र (१६ ८७) के अनुसार कपट से किसी को वञ्चित करना ही अधिबल है । नाट्यदण (१ ८६) में अधिबल बलाधिक्यम् यह लक्षण किया गया है किंतु वहाँ अर्थ भी कोई मत प्रस्तुत किया गया है । एक मत के अनुसार वञ्चना का विकल होना ही अधिबल है जसे रत्ना० ३ १४ म । दूसरे मत के अनुसार सोपालम्भ वाक्य को अधिबल कहते हैं जसे वणीसहार ५ २६ मे । प्रतापहरीय के अनुसार इष्ट जन को वञ्चन करना ही अधिबल है (३ १५) । साहित्यदण (६ ६६) में नाट्यशास्त्र का लक्षण ही अपनाया गया है ।

अथ तोटकम्—

(७)—सरब्ध तोटक वच ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘वासवदत्ता—(उपसृत्य) अञ्जवत्त, जुत्तमिण सरिस मिणम् ।’ (पुन सरोपम्) अञ्जवत्त उट्ठेहि किं अञ्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणु भवीअदि, कचणमाले, एदेण ज्जेव पासेण वधिअ आणेहि एण दुट्ठम्हण । एद पि दुट्ठकण्णअ अग्गदो करेहि ।’ (आयपुत्र युक्तमिद सद्वर्णमिदम् । आयपुत्र उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्यात् सेवादु खमनुभूयते, काञ्चनमाले, एतेनव पासेण वध्वानयन दुष्ट ब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकयकामप्रत कुः ।) इत्यनेन वासवदत्तासरब्धवचसा सागरिका समागमात्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारण तोटकमुक्तम् ।

यथा च वेणीसहारे—

‘प्रयत्नपरिवोधित स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम् ॥२७॥

इत्यादिना

‘घतायुधो यावदह तावदयं किमायुधं ॥२८॥

इत्यतेनायोय कर्णाश्वत्थाम्नो सरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजय प्राप्याशावित तोटकमिति ।

६ तोटक—

आवेगपूण वचन ही तोटक कहलाता है ।

जसे रत्नावली (३ १८ १९) में वासवदत्ता—(निकट जाकर) आयपुत्र यह उचित है यह योग्य है ? (फिर कोपपूर्वक) आयपुत्र, उठो उठो, अब भी कुलीनता की दृष्टि से सेवा के दुःख का क्यों अनुभव करते हो ? (क्रोधपूर्वक) काञ्चनमाला इसी पास में बाँधकर इस दुष्ट ब्राह्मण को ले चलो । इस दुष्ट कया को भी आगे कर लो ।’

इत्यादि के द्वारा सागरिका-समागम में विघ्न करने वाले वासवदत्ता के आवेग पूण वचन से अनियत प्राप्ति का कारण दिखलाया गया है जो तोटक (नामक गर्म संधि का अङ्ग) है ।

और, जसे वेणीसहार (अङ्क ३) में अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—‘आज रात्रि में ऐसे सोओगे कि (प्रात) मङ्गलस्तुतियो से प्रयत्नपूर्वक जाओगे (३ ३४) इससे आरम्भ करके ‘जब तक मैंने आयुध धारण किये हैं तब तक अन्य आयुधों से क्या प्रयोजन ?’ यहाँ तक कण और अश्वत्थामा के सेना में भेद डालने वाले परस्पर आवेगपूण वचन से पाण्डवों की विजय प्राप्ति की भाशा से युक्त तोटक है ।

टिप्पणी—सरब्ध का अर्थ है—सरम्भयुक्त । सरम्भ=आवेग । नाट्यशास्त्र (१९ ८७) में सरम्भवचन तोटक यह लक्षण किया गया है जिसका अभिनवभारती के अनुसार भाव यह है कि आवेगपूण वचन ही तोटक है । यह आवेग हृय से, क्रोध से

प्रयान्तरे तु—

तोटकस्या यथाभाव ब्रुवतेऽधिबल बुधा ।

यथा रत्नावल्याम्—“राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यसीक किं विशापयामि—

बाताम्रतामपनयामि विलस एव

लाशाकृता चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनिता तु मुखेऽदुबिम्बे

हृत् क्षमा यदि पर कृष्णा मयि स्यात् ॥२९॥

सरब्धवचन यत्तु तोटक तद्बुदाहृतम् ॥४१॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—
(अयूणि धारयन्ती) अञ्जवत्त मा एव भण अण्णसङ्कुन्ताइ खु एदाइ अक्खराइ ति ।
(आयपुत्र, भव भण । अयसका तानि खल्वेता यक्षराणीति ।)

यथा च वेणीसंहारे—राजा, अये-अये सुन्दरक, कञ्चित्कुशलमङ्गराजस्य ?
पुरुष—कुशल सरोरमेत्तकेण (कुशल शरीरमात्रकेण ।) राजा—किं तस्य किरी-
टिना हृता धीरेया सत सारयि, भग्नो वा रथ । पुरुष—देव, ण भग्गो रद्धो भग्गो
से मणोरहो (देव न भग्गो रथ । भग्गोऽस्य मनोरथ) राजा—(ससध्रमम्) कथम्
इत्येवमादिना सरब्धवचसा तोटकमिति ।

या अय किसी निमित्त से हुआ करता है । क्योंकि हृदय को तोड़ने वाला वचन होता है, अतः इसे तोटक कहा जाता है (भिनत्ति यतो हृदय ततस् तोटकम्-अभि० भा०) । नाट्यदपण (१८६) के तोटक गमित वच का भी यही तात्पर्य है । प्रता० (११५) के अनुसार 'रोपसरब्धवचन तोटकम् यह लक्षण है जिसमें आवेग के निमित्त रोप मात्र का उल्लेख किया गया है । साहित्यदपण (६६८) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है, (तोटक पुन सरब्धवाक) । कुछ व्याख्याकारों ने सरब्ध का अर्थ क्रोध युक्त किया है, किंतु उपयुक्त अर्थ ही प्रामाणिक प्रतीत होता है । इन सभी लक्षणों में प्रायः समानता है । आगे 'प्रयान्तरे तु' इत्यादि के द्वारा जो तोटक का लक्षण उद्धृत किया जा रहा है उसमें भी कोई अन्तर नहीं है । हाँ उदाहरण में अन्तर है । साथ ही अधिबल' के लक्षण में विशेष मतभेद है ।

अय प्रथ में तो—

विद्वान् लोग तोटक के विपरीत भाव को अधिबल कहते हैं ।

जसे रत्नावली (३१४) में राजा-देवी इस प्रकार जिसका अपराध प्रत्यक्ष देख लिया गया है ऐसा मैं क्या कहूँ ? देवी, इस प्रकार सजित हुआ मैं तुम्हारे चरणों की महावर से उत्पन्न लाली को अपने सिर से पोंछता हूँ । किंतु तुम्हारे मुख रूपी चन्द्र बिम्ब पर क्रोध (रूपी राहु) के ग्रहण से उत्पन्न लाली को तो मैं तभी दूर कर सकता हूँ यदि मुझ पर तुम्हारी कृपा हो ।

जो सरब्ध वचन है वह तो तोटक कहा गया है ॥४१॥

जसे रत्नावली (३१३-१४) में 'राजा—प्रिय वासवदत्ता प्रसन हो जाओ प्रसन हो जाओ । वासवदत्ता—(आँसू भरती हुई) आयपुत्र ऐसा मत कहो ये अक्षर (अथ) दूसरी के लिये हो गये ह ।

अयोद्वेग —

(७८) उद्वेगोऽरिकृता भीति —

यथा रत्नावल्याम् सागरिका—(आत्मगतम्) कह अकिदपुण्णेहि अत्तणो इच्छाए मरिउ पि ण पारीअदि । (अयमकृतपुण्यैरत्नम इच्छया मर्तुमपि न पापते ।) इत्यनेन वासवदत्ता सागरिकाया भयमित्युद्वेग । यो हि यस्यापकारी स तस्यारि ।

और, जैसे घेणोसहार (४६-१०) में 'राजा—अरे सुवरक अङ्गराज (कण) कुशल से ह ? पुरुष—केवल शरीर मात्र से कुशल ह । राजा क्या अर्जुन ने उसके घोड़े मार दिये सारथि घायल कर दिया या रथ तोड़ दिया ? पुरुष—देव न, केवल रथ ही तोड़ दिया, अपितु मनोरथ भी । राजा—(घबराहट के साथ) वसे ?

इत्यादि आवेगपूर्ण वचन के द्वारा तोटक होता है ।

टिप्पणी—हाँल तथा हाँस का विचार है कि 'तोटकस्य तदुहाहतम्' ॥४१॥ यह श्लोक अवलोक टीका में उद्धृत किया गया है । यह भूल ग्रन्थ का अर्थ नहीं । (२) सुदशानाचाय ने प्रमानामक संस्कृत टीका में सूत्र ७७ में स्थित 'सरव्य' शब्द का अर्थ 'क्रोधयुक्त' किया है और प्रस्तुत श्लोक में स्थित 'सरव्यवचन' का अर्थ 'उद्विग्न वचन' किया है । किंतु यहाँ सरव्य के विपरीत (अयथाभाव) का अर्थ विनय वचन किया है और मठांतर के अनुसार विनययुक्त वचन को ही अधिबल बताया है । तथा यह तर्क होता है कि सरव्यवचन सभी के अनुसार तोटक या चोटक है । सरव्य वचन का बहुसम्मत अर्थ है—आवेगपूर्ण वचन । आवेग का निमित्त क्रोध भी है । इसीलिसे प्रताप आदि में केवल क्रोध से उत्पन्न सरव्यवचन को तोटक मान लिया गया है । फिर भी तोटक के स्वरूप के विषय में मतभेद नहीं है । हाँ, मतभेद है—अधिबल के स्वरूप के विषय में । कुछ विद्वानों का मत है कि आवेगपूर्ण वचन जो तोटक है उसका उल्टा ही अधिबल है, अर्थात् ऐसा वचन जिसमें आवेग=उत्तेजना या क्षोभ न हो । जसा कि ऊपर कहा गया है आवेग नामक भाव क्रोध, ह्य, शोक आदि से उत्पन्न होता है । यहाँ तोटक के दोनों उदाहरणों में पीडा या शोक से उत्पन्न आवेग से युक्त वचन है और अधिबल के उदाहरण में आवेगरहित (प्रकृतस्थ अवस्था का) कथन है । धनञ्जय के मत में वञ्चना ही अधिबल है । (सूत्र ७६)

१० उद्वेग—

शत्रु से उत्पन्न भय उद्वेग कहलाता है ।

अज्ञे रत्नावली (२१८-१९) में सागरिका (मन ही मन)—क्या पुण्य न करने वाले अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकते । इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय दिखाया गया है अतः उद्वेग (नामक गमसिद्धि का अङ्ग) है । (परि गद्का हो कि वासवदत्ता तो सागरिका को शत्रु नहीं हैं फिर भय शत्रु से उत्पन्न कहाँ रहा ? तो उत्तर है) जो जिसका अपकारी होता है वह उसका शत्रु ही है (वासवदत्ता भी सागरिका के बलराम से मिलने में बाधक है अतः शत्रु ही है) ।

आशोप —

(८०) गमबीजसमुद्भेदादाशोप परिक्वीर्तित ॥४२॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नायोपायं पश्यामि । पुनः क्रमान्तरे 'सवया देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूता स्म । पुनः 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासभागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाशोप ।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरक—अहंवा किमेत्यं देव्य उज्ज्वलहामि तस्स ऋषु एव विष्मच्छिदविदुरवअणवीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणा रुढमूलस्स कूटविषसाहिणो पञ्चालीवेशमहणकुमुमस्स फल परिणमेदि । (अथवा किमत्र देवमुपालभे तस्य खल्वेतन्निर्भासितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारुढमूलस्य—कूटविषशाखिनं पाञ्चालीवेशमहणकुमुमस्य फल परिणमति ।) इत्येन न बीजमेव फलो-मुख्यतयाक्षिप्यत इत्याशोप ।

२२ आशोप

गम के बीज का उद्भेद (प्रकटन) ही आशोप कहा गया है ।

जैसे रत्नावली (३-१५-१६) में राजा—मित्र देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा उपाय नहीं दिखलाई देता ।' फिर दूसरे अवसर पर सवया देवी को प्रसन्न करने के विषय में हम निरारा हो चुके हैं । फिर भी तो यहाँ ठहरने से क्या लाभ ? जाकर देवी को ही प्रसन्न करें । इत्यादि के द्वारा देवी की प्रसन्नता के अधीन ही सागरिका के समागम की सिद्धि है यह प्रकट किया गया है अतः गम के बीज को प्रकट करने के कारण यह आशोप (नामक गम सर्ग का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (४६-१०) में सुन्दरक—अथवा इस विषय में भ्राय को क्या बोध वू ? क्योंकि यह तो उस कण्ठ रूपी (कूट) विष वृक्ष का फल प्राप्त हो रहा है विदुर के वचन का तिरस्कार ही जिसका बीज है, अवहेलना किया गया पितामह का हितकारी उपदेश ही जिसका अङ्कुर है शकुनि के प्रोत्साहन से जिसकी जड़ बढ़ हो गई है श्रीपवी का केश-कण्ठ ही जिसका पुष्प है ।'

इत्यादि के द्वारा बीज को हा फलो-मुख्य रूप में दिखसाया गया है । अतः आशोप (नामक गमसर्ग) का अङ्ग है ।

टिप्पणी—(१) नाट्यशास्त्र के अनुसार इसका नाम आक्षिप्ति है जिसका लक्षण है—गमस्योद्भेदनं यत् साऽक्षिप्ति (१६-८६) । दशरूपक के उपयुक्त लक्षण में इसकी ही छाया है । प्रता०, साहित्यदपण (६-६६) के अनुसार रहस्यपूर्ण अर्थ को प्रकट करना ही आशोप कहलाता है । नाट्यदपण (१-५४) के अनुसार 'प्राप्त्याशा की अवस्था में बीज का प्रकाशन ही आशोप है' । इन सभी लक्षणों के आधार पर आशोप का स्वरूप है—गमसर्ग में स्थित प्राप्त्याशा की अवस्था से अचित्त गुप्त बीज का प्रकाशन ही आशोप है । इसमें बीज की फलो-मुख्यता का वर्णन होता है ।

एतानि द्वादश गर्भसंज्ञानि प्राप्याशाप्रदशकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषा च मध्येऽभूताहरणमागतोटकाधिबलाक्षेपणां प्राधायम् इतरेषां यथासम्भव प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंघिकृत् ।

अथ अवमश —

(८१) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।

गर्भनिभिन्नबीजाद्य सोऽवमश इति स्मृत * ॥४३॥

इन गर्भसंघि के १२ अङ्गों की प्राप्याशा क प्रदशक के रूप में दिखलाना चाहिये । इन अङ्गों में अभूताहरण, माग, तोटक, अधिबल और आक्षेप—ये मुख्य ह (इनका रखना आवश्यक है) अथ अङ्गों का यथासम्भव प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार अङ्गों सहित गर्भसंघि बतलाई गई है ।

टिप्पणी—(१) गर्भसंघि में बीज अर्तनिविष्ट सा रहता है वह कभी प्रकट हो जाता है कभी छिप जाता है । अत उसका बार-बार अवेपण किया जाया करती है । इस प्रकार का बीज प्राप्याशा का प्रदशक होता है । प्राप्याशा से अन्वित कभी दृष्ट और कभी नष्ट होने वाले इस बीज के वणन में अनेक अवस्थाएँ होती हैं जो नाट्य के सद्म में गर्भसंघि के अङ्ग कहलाते हैं । जसा कि घनिक ने बतलाया है इन अङ्गों में अभूताहरण इत्यादि अङ्ग अनिवाय हैं किंतु शेष अङ्गों की योजना अनिवाय नहीं है । (२) ना० शा० (१६ ६१-६२) में गर्भसंघि के अङ्ग १३ माने गये हैं, इसी प्रकार ना० ६० (१७६) तथा सा० ६० (६ ६४-६५) मं भी । साथ ही इन अङ्गों के नाम, क्रम तथा स्वरूप में ही भेद है । किंतु प्रता० (३ १४-१५) में दशरूपक के समान ही १२ अङ्ग माने गये हैं । इन अङ्गों का नाम भेद तथा सङ्ख्या भेद निम्न विवरण से स्पष्ट है —

नाट्यशास्त्र	दशरूपक	नाट्यदण्ड	साहित्यदर्पण	प्रतापस्त्रीय
अभूताहरण माग, रूप, उदाहरण, क्रम सप्रह, अनुमान प्रायना, आपत्ति साटक, अधिबल उद्वेग विद्रव	अभूताहरण माग, रूप, उदाहरण, क्रम सप्रह अनुमान साटक, अधिबल उद्वेग, सप्रम आक्षेप	सप्रह रूप अनुमान, प्रायना उदाहृति, क्रम उद्वेग विलम्ब आक्षेप, अधिबल मार्ग, असत्या हरण साटक	अभूताहरण माग, रूप उदाहरण, क्रम सप्रह, अनुमान प्रायना, निप्ति साटक अधिबल उद्वेग विद्रव	दशरूपक के समान

विमश (अवमश) संघि और उसके अङ्ग

अवमश संघि—जहाँ क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से (फलप्राप्ति के विषय में) विमश किया जाता है, तथा जिसमें गर्भसंघि द्वारा निर्भिन्न

* 'सोऽवमशोऽङ्गसङ्ग्रह' इति पाठान्तरम् ।

यथा च वेणीसंहारे—‘युधिष्ठिर—पाञ्चालक कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मन कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालक—न केवल पदवी स एव दुरात्मा देवीकेश पाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरूपल ॥ १’ इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

(८४)—सफेटो रोपभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—‘भो कौरवराज कृत बधुनाशदशनमयुता, मव विषाद कृया—पर्याप्ता पाण्डवा ममरायाऽहमसहाय इति ।

पञ्चाना मयसेस्माक य सुयोध सुयोधन ।

दशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥३१॥

आधी रात होने पर न जाने कहां भेज दिया । त्रिवृपक—(उद्वेगपूर्वक) देवी ने अति निष्ठुर ऋषि किया ।’ फिर (४३—४) विध्वंसक—(राजा के प्रति) हे मित्र कुछ और न समझो उस (सागरिका) को देवी ने उज्जयिनी भेज दिया है इसलिये मैंने अप्रिय ऐसा कह दिया है । राजा—अहो ! देवी मेरे अनुकूल नहीं (निरनुरोध) है ।

इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता के दोषों का कथन किया गया है अतः यहाँ अपवाद (नामक अवमश साधि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (६१—४) में ‘युधिष्ठिर—पाञ्चालक क्या उस बुध्दात्मा कौरवाधम का पद भाग मिल गया है ? पाञ्चालक—केवल पदभाग नहीं, अपितु देवी (द्रौपदी) के केश पाश के स्पर्श रूपा पातक का मुख्य हेतु वह बुध्दात्मा ही मिल गया है ।

इत्यादि के द्वारा दुर्योधन के दोषों का प्रख्यापन किया जाने के कारण यहाँ अपवाद (नामक अवमश साधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक का यद् लक्षण ना० शा० (१६८६) के समान ही है । सा० द० (६१०२) में इसी प्रकार का लक्षण है । नाट्यदण (१६४) के अनुसार अपने या दूसरे के दोषों को प्रकट करना ही अपवाद कहलाना है । (२) यहाँ रत्नावली के उदाहरण में देवी वासवदत्ता का राजा के प्रतिभूल होना ही दोष है ।

२ सफेट

(बीज से अश्वित) रोपयुक्त कथनोपकथन (भाषण) ही सफेट कहलाता है ।

असे वेणीसंहार (६१०-११) (पाञ्चालक युधिष्ठिर को बतलाया है कि सब भीमसेन ने दुर्योधन से कहा) हे कौरवराज, बधुओं के नारा को देखकर शोक न करो । इस प्रकार का विषाद न करो कि युद्ध के लिये पाण्डव तो पर्याप्त हैं किन्तु मैं असहाय हूँ । क्योंकि—

हे दुर्योधन, हम पाँचों में से जिससे युद्ध करना सुगम समझो’ नवच पहने (दशितस्य) और शस्त्र लिये तुम्हारा उसके साथ ही युद्धरूपी उत्सव हो जाये ।

इत्य श्रुत्वाऽसूयात्मिका निक्षिप्य कुमारयोह प्ठिमुक्तवाघात राष्ट्र —
कणदु शासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।

अप्रियोऽपि प्रियो योद्धु त्वमेव प्रियसाहस ॥३२॥

‘इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाघिक्षेपपरुपवाकलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ इत्यनेन
भीमदुर्योधनयोरन्यो यरोपसभापणाद्विजयबीजावयेन सफेट इति ।
अथ विद्रव —

(८५) विद्रवो वधवघादि —

यथा छलितरामे—

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
वाल्ये येन हृताक्षसूत्रबलयप्रत्यपण क्रीडितम् ।
युष्माक हृदय स एष विशिखरापूरितास्रस्थलो
मूर्च्छाघोरतम प्रवेशविवशो बद्ध्वा सवो भीयते ॥३३॥

इस प्रकार सुनकर दोनों कुमारों (भीम और अर्जुन) पर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि
झासकर घतराष्ट्र का पुत्र (भीम से) बोला—‘कर्ण और दु शासन का वध करने के
कारण तुम दोनों मेरे लिये समान ही हो । अप्रिय होने पर भी साहस प्रिय होने से
तुम (भीम) ही मुझे युद्ध के लिये इष्ट हो । यह कहकर उठकर भीम और दुर्योधन ने
परस्पर क्रोध के कारण निंदा और बठोर वाक फलह के द्वारा भयकर संग्राम आरम्भ
कर दिया ।’

इत्यादि में विजय रूपी बीज से अचित भीम और दुर्योधन का परस्पर रोष
पूर्वक कथोपकथन है अतः यहाँ सफेट (नामक अवगश साथ का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६ ८६) में ‘रोपप्रथितवाक्य तु सफेट’ यह लक्षण
दिया गया है उसकी छाया दशरूपक के लक्षण में है । उसी प्रकार ना० द०
(१६३) प्रता० (२ १८) तथा सा० द० (६ १०२) क सफेट-लक्षण प्रायः दशरूपक
के समान ही हैं । भाव यह है कि बीज से अचित दो पात्रों का परस्पर दोषपूर्ण
कथोपकथन ही सफेट है ।

३ विद्रव

वध, वधन आदि का वणन ही विद्रव कहलाता है ।

असे छलितराम नामक नाटक में त्रिस (सव) ने सामवेद का पाठ करते हुए
का मुख बद्ध करके तग किया था । वाल्यकाल में जिसने अससूत्र और वसय की
छोनकर और फिर देवर बीडा की थी ओ तुम्हारा हृदय है वही यह सव, जिसका
काधा धागों से भरा हुआ है जो मूर्च्छा के गहन अघवार में प्रविष्ट हो जाने से
असमर्थ हो गया है, अब बांधकर से भाया जा रहा है ।’

यथा च रत्नावल्याम्—

ह्रम्याणा हेमशृङ्गाधियमिव शिखररचिपामादधान

साद्रोचानद्रुमाग्रलपनविशुनितात्यततीव्राभिताप ।

कुर्वन्त्रीडामहीध्र सज्जलधरश्यामल धूमपात

रेप प्लोवातयापिज्जन इह सहस्रबोधिषतोऽत पुरेऽग्नि ॥३४॥

इत्यादि । पुन वासवदत्ता—'अज्जउत्त ण भज्जु अह् अत्तणा कारणादो भणामि एसा मए णिग्घणहिअआए सज्जदा साअरिआ विवज्जदि ।' (आयपुत्र न खल्वहमात्मन कारणाद्भूणामि एषा मया निघणहृदयया सयता सागरिका विपद्यते ।) इत्यनेन सागरिकावधवघाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रव —

(८६)—द्रवो गुस्तिरस्कृति ॥४५॥

यद्योत्तरचरित—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु ह्य वतते

सुदस्त्रीदमनऽप्यखण्डयशसो लोके महाती हि ते ।

यानि श्रीण्यकुतोमुखायपि पदायासधरायोधने

और, असे रत्नावली (४ १४) मे (नेपथ्य मे) ज्वालाओं के समूह से महलों को स्वर्ण के शिखरों जैसी शोभा प्रदान करती हुई घने उद्यान के वृक्षों के अप्रमाण के झुलसने से (अपने) अत्यन्त तीव्र ताप को प्रकट करती हुई धूम पात के द्वारा क्रीडा पयत को सजल जलधरों से श्यामल सा बनाती हुई, बाह से स्त्रियों को घ्याकुल करती हुई यहाँ अन्त पुर में अकस्मात् ही अग्नि उठ चली है ।' इत्यादि । फिर 'वासवदत्ता' में अपने लिये नहीं कहती हैं । मुझ निदय के द्वारा बाँधी गई यह सागरिका मर रही है (विपद्यते) ।

इत्यादि मे सागरिका के यद्य बधन और अग्नि के (घनन) द्वारा विरव (अवमश सधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १६) ना० द० (प्रथम विवेक) और सा० द० मे विद्रव को विमश (अवमश) सधि के अङ्गों में नहीं माना गया । प्रता० (३ १७-१८) म तो दशरूपक के समान ही विद्रव का वणन किया गया है । जम्प कि ऊपर कहा गया है ना० शा० (१६ ८८) ना० द० तथा सा० द० में सध्रम के स्थान पर विद्रव नामक गभसधि का अङ्ग माना गया है । इस प्रकार सधियों के अङ्गों के निरूपण मे दशरूपककार की अपनी निजी विशेषता है ।

४ द्रव

गुरुजनो ञा तिरस्कार द्रव कहलाता है ॥४५॥

असे उत्तररामचरित (५ ३४) में (राम को लक्ष्य करके सब कह रहा है) उन वृद्ध जनों के चरित विचारणीय नहीं हैं कसे भी हों, हाँ यह भी तो है । सुब की

यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जन ॥३५॥

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कार कृतवानिति द्रव ।

यथा च वेणीसंहारे—युधिष्ठिर—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राध्रात ,

नातिप्रीतिभनसि न कृता क्षत्रियाणा न घर्मो

रूढ सक्य तदपि गणित मानुजस्याजुनेन ।

तुल्य काम भवतु भवत शिष्ययो स्नेहबध

कोश्य १ या यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्यम् ॥३६॥

इत्यादिना बलभद्र गुरु युधिष्ठिरस्तिरकृतवानिति द्रव ।

स्त्री ताडका का वध कर देने पर अप्रतिहत यश वाले ये लोक में महान् ही हैं । खर के साथ युद्ध में जो पीछे की ओर तीन पद रखे थे और घालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल दिखलाया था उससे भी लोग परिचित हो हैं ।

इत्यादि के द्वारा लव ने गुरुजन राम का तिरस्कार किया है अतः द्रव (नामक अवमरा सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (६२०) में 'युधिष्ठिर—भगवन् कृष्ण के बड़े भाई सुभद्रा के भाई (बचराम) सम्बन्धियों के प्रेम को ध्यान में नहीं रखता, न क्षत्रियों के घम को ही अर्जुन के साथ जो (तुम्हारे) अनुज (कृष्ण) की गाठ मत्री भी उसको भी न गिना । दोनों शिष्यों (सीम और बुर्घोघन) के प्रति आपका स्नेह—सम्बन्ध समान होना तो ठीक है किन्तु आपका यह कौन सा भाग है जो मुझ अभाग्य के प्रतिफल (विगुण) हो गये हैं ।

इत्यादि के द्वारा, युधिष्ठिर ने गुरु बलराम का तिरस्कार किया है अर्थात् यहाँ द्रव (नामक अवमरा सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० 'गुरुव्यतित्रमा यस्तु स द्रव (१६८६), ना० ६० द्रव पूज्यव्यतित्रम (१५६), गुरतिरस्तुतिद्रव (प्रता० ३१८) । अमिनव गुप्त के अनुसार माय से विचलित होना ही द्रव है । पूज्य व्यक्ति या गुरुजनो का अन्यास करना माय से विचलित होना ही है । शोक, रागिण इत्यादि हेतुओं के कारण यह माय विचलन हो जाता करता है, इस तन्मय का निरूपण साहित्यरत्न(६१०३) में किया गया है ।

अथ शक्ति —

(८७) विरोधशमन शक्ति —

यथा रत्नावल्याम् — राजा —

सव्याज शपथ प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिक

वैलक्ष्येण परेण पादपतनवर्कियै सखीना मुहु ।

प्रयासत्तिसुभागता नहि तथा देवी रूत्या यथा

प्रक्षाल्येव तयव बाष्पसलिल कोपोऽपनीत स्वयम् ॥३७॥

इस्यनेन सागरिकाताभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्ति ।

यथा चोत्तरचरिते लव प्राह—

विरोधो विध्यात् प्रसरति रसो निवृत्तिघन-

स्त्वदोद्धत्य क्वापि प्रजति विनय प्रह्वयति माम् ।

क्षटित्यस्मिदृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा

महाधस्तीर्यानामिव हि महता कोऽप्यतिशय ॥३८॥

५ शक्ति—

विरोध का शांत हो जाना शक्ति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४१) में 'राजा—कपटपूण शपथों से, प्रिय वचन से अधिक चित्त के अनुकूल आचरण करने से, अत्यंत लज्जा प्रदर्शन (वैलक्ष्य) से, चरणों में पड़ने से और सखियों के बार बार कहने से देवी (वासवदत्ता) उतनी प्रकृतिभाव (शांतभाव) को प्राप्त नहीं हुई—जितनी कि रोती हुई उसने स्वयं ही भानों अथु जल से धोकर कोप दूर कर लिया ।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधक वासवदत्ता के कोप की शक्ति का वणन किया गया है अतः शक्ति (नामक अवमश संधि का अङ्ग) है ।

और, उत्तररामचरित नाटक (६११) में लव कहता है—(राम के दर्शन करके) विरोध भाव शांत हो गया आनन्द से साद्र (सघन) रस (हृदय में) फल रहा है वह उद्वतता कहीं चली जा रही है नम्रता भुम्मे भुका रही है इनको देखते ही मैं तुरन्त हा पराधीन हो गया हूँ । अथवा तीर्थस्वप्नो के समान महापुरुषों का कोई विलक्षण (कोऽपि) बहुमूल्य प्रभाव (अतिशय) होता है ।

[यहाँ पर लव के विरोध की शान्ति का वणन है अतः शक्ति (नामक अवमश संधि का अङ्ग) है ।]

दिव्यणी—ना० शा० (१६६०) में विरोधी के शमन को शक्ति कहा गया है तथा ना० द० (११००) में क्रुद्ध को प्रसन्न करना शक्ति का लक्षण है । सा० द० (६१०४) तथा प्रता० (३१७) के शक्ति लक्षण दशरूपक का ही अनुसरण करत हैं ।

अथ द्युति —

(८८)—तज नोद्वेजने द्युति ।

यथा वेणीसंहारे—‘एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिता
शातिरिक्तमुदध्ना तसलिलचरशतसकुल प्रासादवत्तनक्रग्राहमालोडय सरसलिल भरव
च गजित्वा कुमारवकोदरेणाभिहितम्—

जमेन्दोरमले कुल यपदिशस्यद्यापि धरसे गदा

मा दु शासनकोष्णशोणितसुराशीव रिपु भापसे ।

दर्पाघो मधुकैटभद्विपि ह्रावप्युद्धत चेष्टसे

मत्रासा नृपशो, विहाय समर पङ्केऽधुना लीयसे ॥३६॥

इत्यादिना ‘त्यक्तवोत्पित सरमसम्’ इत्यनेन दुवचनजलावलोडनाभ्या दुर्योधन
तजनोद्वेजनकारिभ्या पाण्डवविजयानुत्सुलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्या भीमस्य द्युतिरक्ता ।

अथ प्रसङ्ग —

(८५) गुरुकीर्तन प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्या—‘देव, याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती

६ द्युति—

तर्जन और उद्वेजन का वणन द्युति कहलाता है ।

जसे वेणीसंहार (६७) में (पाञ्चालक युधिष्ठिर से कहता है) और ‘बलराम
के अनुज (कृष्ण) के इस वचन को सुनकर कुमार भीम ने उस सरोवर के जल का
आलोडन किया, जो सब दिशाओं के गह्वरों (= निकुञ्ज) को भर कर भी बच रहा
था, जिसमें जलचर और पक्षियों का समुदाय घबरा गया था, नाके और गाह भय से
उछल गये थे । फिर भयङ्कर गजन करके यह कहा—तू निमल घटवश मे अपना
जन्म बतलाता है, आज भी गदा को धारण करता है, दु शासन के उष्ण शिघर रूपी
मघ से मत्त हुए पुत्रकी अपना शत्रु समझता है, दप से अघा हुआ तू मधु और कटभ
के सहारक विष्णु के प्रति भी उदत चेष्टा करता है । किन्तु हे नरपशु अब मेरे भय
से युद्ध को छोड़कर कीचड़ में छिपा है । इत्यादि से आरम्भ करके सरोवर के तल को
छोड़कर वेगपूर्वक उठा’ (६६) यहाँ तक के वणन में भीम का दुवचन तथा जला
वलोडन (घोर्ना) दुर्योधन का तजन एवं उद्वेजन करने वाले हू ये पाण्डवों की विजय
में सहायक जो दुर्योधन का सरोवर से उठाना है उसके भी निमित्त है अन यहाँ द्युति
(नामक अवमश सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० ‘वाक्यम् आघपसयुक्त द्युति, (१६६२), यहाँ आघप =
‘यवचार, तिरस्कार नीचा दिखाना । ना० द० (१६६) में भी ‘तिरस्कारो द्युति
यही लक्षण किया गया है तथा तजन, उद्वेजन और घणन आदि का तिरस्कार में ही
अन्तर्भाव किया गया है । प्रता० (३१८) तथा सा० द० (६१०४) में दशरूपक का
ही अनुसरण किया गया है ।

७ प्रसङ्ग—

गुरजनो का कीर्तन प्रसङ्ग कहलाता है ।

जसे रत्नावली (४१३-१४) में (बलराम के प्रति वसुधुति का यह वचन) ।

वासवदत्ता दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूवप्रायिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्य
लाभानुकूलाभिजनप्रकाशना प्रसङ्गाद् गुरुकीतनने प्रसङ्ग ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालक—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविण
अदत्तास्स णत्तु चालुदत्तो थावादिदु वज्जटठाण णीअदि एण्णेण किल गणिआ वसत्त
सेणा सुवण्णलोभेण थावादिद ति । ('एष मागरदत्तस्य सुन आयविनयदत्तस्य नप्ता
चारुदत्तो ध्यापादयितु वध्यस्थान नीयत, एतेन किल गणिका वसत्तसेना सुवणलाभेन
व्यापादितेति') ।

चान्दत्त —

मद्यशतपरिपूत गात्रमुद्भासित यत्

मदसि निविडचत्यब्रह्मघाप पुरस्तात् ।

मम निघनदशाया वतमानस्त पाप

स्तदसदृशमनुष्यैष्यते घोषणायाम् ॥४०॥

इत्यनेन चान्दत्तवधाम्युदयामुल प्रसङ्गाद् गुरुकीतनमिति प्रसङ्ग ।

वेष आदरणीय सिंहलेश्वर ने यासवदत्ता को जली हुई सुनकर जो यह पहले मांगी
गई अपनी पुत्री आयुष्मती रत्नावली महाराज के लिये दी थी ।

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश रत्नावली की प्राप्त में सहायक (अनुकूल) आभि
जात्य (कुलीनता) को प्रकट करने वाला (माता पिता आदि) गुरुजन का कीतन किया
गया है अतः (प्रसङ्ग नामक अवमश संधि का अङ्ग) है ।

उसी प्रकार मृच्छकटिक (१० १२) में 'चाण्डालक—यह सागरवत्त का पुत्र
आय विनयदत्त का नाती (पौत्र) चारुदत्त वध के लिये वध्य स्थान को ले जाया जा रहा
है क्योंकि इसने स्वण के लोभ से वसत्तसना नाम को गणिका को मार दिया है ।

चारुदत्त—सकड़ो यज्ञो से पवित्र जो मरा था पहले सभाओं में जनाकीण
यज्ञशाला की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था वही मेरे मरणदशा में होने पर इन
पापी तथा अयोग्य जनों के द्वारा (अपराध) घोषणा स्थल में घोषित किया जा
रहा है ।

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश चारुदत्त के वध और अभ्युदय के अनुकूल गुरुजनो
का कीतन किया गया है, अतः प्रसङ्ग (नामक अवमश संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) गुरुकीतनम्=माता पिता आदि वधा का नाम उच्चारण
करना । (२) ना० शा० (१९९१), ना० २० (१९२) में प्रसङ्गो महता कीति ,
कीति =सशब्दन (कथन करना) यह लक्षण है । सा० २० (२१०४) तथा प्रता०
(३ १२) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है । (३) कुछ आचार्य अपस्तुत अथ
के कथन को प्रसङ्ग कहते हैं (द्र०, ना० २० १९२) ।

अथ छलनम्—

(६०)—छलन चावमाननम् ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी । इत्यनेन वासव दत्तयेष्टासपादनाद्दत्तराजस्यावमाननाच्छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीताया परित्यागेनाऽवमानाच्छलनमिति ।

अथ व्यवसाय —

(६१) व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति —

यथा रत्नावल्याम्—ऐन्द्रजालिक —

किं धरणीए भिअङ्को आवास महिहरो जले जलणो ।
मज्जाण्णम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ॥४१॥

अहवा कि बहुधा जम्पिण्ण—

मज्ज पइण्णा एसा भणामि हिअण्ण ज महति दट्ठुम् ।
त ते दावेमि फुट्ट गुरुणो मत्तप्पहावण ॥'
(किं धरण्या भृगाङ्क आवाशे महीधरो जले ज्वलन ।
मध्याह्ने प्रदोषो दश्यता देहाज्जप्तिम् ॥४२॥

८ छलन—

अवहेलना करने को छलन कहा जाता है ॥४६॥

जसे रत्नावली (अङ्क ४ प्रवेशक) में राजा—अहो देवी (वासववत्सा) मेरे प्रतिकूल है । यहाँ पर वासववत्सा के द्वारा (सागरिका) को अयत्र भेज दिया गया है) व राजा के अमोष्ट की सिद्धि नहीं की गई अतः उसकी अवहेलना की गई है । इस प्रकार छलन (नामक अवमना संधि का अङ्ग) है ।

और जसे रामाभ्युदय नामक नाटक में सीता का परित्याग करके उसका तिरस्कार किया गया है अतः छलन (नामक अवमना संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) इष्टासपादनात्—इष्ट का सम्पादन न करने के कारण अथवा अनिष्ट करने के कारण । (२) अवमना संधि के अङ्गों में छलन के स्थान पर अधिकाश आचार्यों ने छादन माना है । ना० शा० (१६ ६४) के अनुसार उसका लक्षण है—'अपमानवृत्त वाक्य कार्याय छादन भवेत् । सा० द० (६ १०३) में इसका ही रूपांतर है । तदनुसार कायसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने को छादन कहते हैं । ना० द० (१ ५८) में छादन मयुगाजनम् (अपमान का परिमाणन छादन) है—यह लक्षण दिया गया है । वहाँ वक्ति में अथ अनेक मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें दशरूपक के 'छलन का भी उल्लेख है किंतु दशरूपक या धनञ्जय का नामनिर्देश नहीं किया गया । प्रता० (पृ० १३६) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

९ व्यवसाय

अपनी शक्ति का वर्णन करना व्यवसाय कहलाता है ।

जसे रत्नावली (४ ८ ६) में ऐन्द्रजालिक— क्या पृथ्वी पर चंद्रमा, आकाश में पवन, जल में अग्नि, मध्याह्ने में रात्रि का प्रारम्भिक समय (अश्वीय) विचलामा

अथवा कि बहुना जल्पितेन ।

(मम प्रतिज्ञया भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।

तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोम त्रप्रभावेण ॥४३॥)

इत्यनेन द्रजालिको मिथ्याग्निसन्नमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिका
दशमानुक्ता स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे—

नून तेनाद्य बीरेण प्रतिनाभङ्गभीरुणा ।

बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकपणे क्षम ॥४॥

इत्यनेन युधिष्ठिर स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम्—

(६२)—सरब्धानां विरोधनम् ।

जाये ? आज्ञा दो ! अथवा बहुत कहने से क्या लाभ ? मेरी यह प्रतिज्ञा है, मैं हृदय से
कहता हूँ कि जो तुम देखना चाहते हो मैं गुरु के मन्त्र के प्रभाव से वही तुम्हें स्पष्टरूप
में दिखला दूंगा ।

इसके द्वारा ऐन्द्रजालिक ने मिथ्या अग्नि की छाति उत्पन्न करके वत्सराज
के हृदय में स्थित सागरिका के दशन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट किया है
(अतः यहाँ व्यवसाय नामक अयमश संधि का अङ्ग है) ।

और, जैसे वेणीसंहार (६६) में (युधिष्ठिर द्रौपदी से कहता है) अवश्य ही
आज प्रतिज्ञा के भङ्ग से डरने वाले उस धीर (भीम) के द्वारा तरे केशपाश को बांध
लिया जायेगा और इसको खींचने वाले (दुर्योधन) का चयन कर दिया जायेगा ।

इस (कथन) के द्वारा युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति को प्रकट करता है (अतः
व्यवसाय नामक अयमश संधि का अङ्ग है) ।

हिप्पणो—ना० शा० (१६६१) के अनुसार व्यवसायश्च विनेय प्रतिज्ञा
हेतुसम्भव' यह लक्षण है अर्थात् अङ्गीकृत (प्रतिज्ञात) अथ वे हेतु की प्राप्ति
(सम्भव) व्यवसाय कहलाता है । जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर
एक पुनः खेलनमवश्यं प्रनितध्यम्' यहाँ तब योगधरायण ने जो करना ठाना था
उसके हेतु की प्राप्ति होती है (अभि० भा०) । सा० द० (६१०३) में भी ना० शा०
का लक्षण ही दिया गया है । ना० द० (११०२) में व्यवसायोऽप्यहेतुयुक्त' अर्थात्
अथनीय फल के हेतु का योग व्यवसाय है यह लक्षण है जो नाट्यशास्त्र के समान ही
है । ना० द० की वृत्ति में दशरूपक के लक्षण का उल्लेख करके यह भी कहा गया है
कि इसका सरम्भ नामक (विमर्शाङ्ग) में ही अतर्भाव हो जाता है । वहाँ 'सरम्भ
शक्तिकीतनम् यह विमर्श संधि का अङ्ग माना गया है प्रता० (३१८) स्वशक्ति
प्रशसन व्यवसाय ।

१० विरोधन

आवेगपूण पानां का (सरब्धानाम्) अपनी शक्ति का ध्वनन करना

१ विरोधन कहलाता है ।

यथा वेणीसंहारे—‘राजा—रे रे महत्तनय, किमेव बद्धस्य राज्ञ पुरतो निन्दितव्यमात्मकम श्लाघसे ? अपि च—

वृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य रागस्तयोर्वा
प्रत्यक्ष भूपतीना मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।

अस्मिर्वैरानुबन्धे तव किमपकृत तैहता ये नरेद्रा

बाह्योर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमद मामजित्वैव दप ॥४५॥

(भीम क्रोध नाटयति) अजुन—आय पसीद, किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येव वाचा शक्ती न कमणा ।

हृतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापरस्य का व्यथा । ४६॥

भीम—अरे भरतकुलकलङ्क

अथव किं न विसर्जेयमह भवत

दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।

विघ्न गुरु न कुरतो यदि मत्कराप्र

निर्मिद्यमानरणितास्विनि ते शरीरे ॥४७॥

टिप्पणी—यहाँ ऊपर से ‘स्वशक्त्युक्ति’ पद की अनुवर्ति होती है। सरब्ध = आवगपूण, क्रोध आदि से युक्त, सर-घाना = बद्धवैराणाम् (प्रभा)। इस प्रकार क्रोध आदि से युक्त पात्रों द्वारा जो अपनी शक्ति का वणन किया जाता है वह विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग है क्रोध आदि आवेगा से रहित जनो द्वारा अपनी शक्ति का वणन व्यवसाय है।

जसे—वेणीसंहार (५ ३०-३४) में—राजा (दुर्योधन)—अरे महत्पुत्र (भीम) इस प्रकार वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों कर रहा है ? और भी,

मुझ जगत् के स्वामी की आज्ञा में राजाओं के समक्ष ही द्यूत में दासी बनाई गई तेरी मुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की अथवा उन दोनों (मकुल और सहदेव) की पत्नी (द्रौपदी) केश पकडकर खींची गई थी, किन्तु यता इस घर के प्रसङ्ग में उन राजाओं ने क्या अहित किया था, जिनको भार दिया गया ? भुजाओं के बलातिरेक रुपी घन के अत्यधिक मद थाले मुझको जीते बिना ही यह अभियान कर रहे हो।

भीम—(क्रोध का अभिनय करता है)। अजुन—आय, प्रसन्न हो, यहाँ क्रोध से क्या लाभ है ?

यह (दुर्योधन) काय द्वारा अराक्त होकर वाणी से अप्रिय कर रहा है। इसके सौ भाई मारे गये हैं और यह दुःखी है अतः इसके निरयक वचनों से क्या पीडा ?

भीम—अरे, भरतकुल के कलङ्क है कटुभाषी, क्या दुःशासन का अनुसरण करने के लिए आपको मैं अभी न भेज देता, यदि मेरे हाथ के अप्रभाग से

अयच्च मूढ,

शोक स्त्रीवध्नयनसलिलयत्याजितोऽसि

ध्रातुवक्ष म्यलविदलन यच्च साक्षीकृतोऽसि ।

आसीन्नेतत्तव मुनपते कारण जीवितस्य

ब्रूद्धे गुप्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥४८॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो, नाह भवानिव विकल्पनाप्रगल्भ ।

किन्तु—

द्रक्ष्यति नचिरात्सुप्त बाधवास्त्वा रणाङ्गणे ।

मद्गदाभिध्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥४९॥

इत्यादिना सरघयोर्भीमदुर्योधनयो स्वशक्त्युक्तिविरोधनमिति ।

दूटती हुई तथा शब्द करती हुई हडिडियो धाले तेरे शरीर के विषय में माता पिता (गुरु) विघ्न न डाल देते ।

और भी, मूल तुम्हारे कुल रूपो कमलिनी के लिये कुञ्जररूपी मुझ भीम सेन के होने पर भी तुम जैसे दुष्ट राजा के जीवन धारण करने का यही कारण था कि स्त्रियों के समान नयन जल के द्वारा तुमसे शोक प्रकट कराया और तेरे भाई (बुधामन) के यक्ष स्थल को विधीन करने में तुझे साक्षी बनाया ।

राजा—दुष्टात्मा, भरतकुल में अधम, पाण्डव पशु में आपका तरह आत्म शलाघा (=विकल्पना) में प्रगल्भ नहीं हूँ । किन्तु

शोभ ही तेरे बाधव तुझे, मरी गदा से दूटी हुई यक्ष स्थल की हडिडियों से निकलने वाले प्रवाह (वेणिका) का भङ्गमा से भीषण होकर रण भूमि में पड़ा हुआ देखोगे ।

इत्यादि के द्वारा क्रोधयुक्त भीमसेन तथा दुर्योधन ने अपनी शक्ति का वणन किया है अत विरोधन (नामक अवमश संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१० ६३) में कार्यात्ययोपगमन विरोधनम्' यह लक्षण किया गया है । सा० द० (६ १०६) में भी यही है । इसका तात्पर्य है—
 काय मे विघ्न की उपस्थिति = कार्ये अत्ययस्य विघ्नस्य वा उपगमन प्राप्ति ।
 ना० द० में विरोध प्रस्तुतयानि (प्रस्तुत काय की हानि ही विरोध है) यह कहा गया है जो ना० शा० व समान ही है । किन्तु दशरूपक का विरोधन नामक अङ्ग इनसे भिन्न है । नियताप्ति नामक कार्यावस्था में जहाँ पात्र ब्रूद्ध होकर अपनी शक्ति वा वणन करते हैं वही यह (विरोधन) अङ्ग होता है । क्रोध आदि आवेग के बिना अपनी शक्ति वा वणन व्यवसाय है । प्रता० (३ १८) में दशरूपक ने इस लक्षण को कुछ परिष्कृत किया गया है—'क्रोधसरयानामयोयविभेपो विरोधनम् ।

अथ प्ररोचना—

(६३) सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥४७॥

यथा वेणीसंहारे—पाञ्चालक ग्रह च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृत सन्देहेन—

पूयता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभियेकाय ते

कृष्णाऽत्यन्तचिरोऽजते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि

त्रोघाध च वक्रोदरे परिपतत्याजौ वृत्त सशय ॥५०॥

इत्यादिना 'मङ्गलाणि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिर' इत्यत्रेन

द्रौपदीकेशसयमनयुधिष्ठिरराज्याभियेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

११ प्ररोचना

यह सिद्ध ही है इस प्रकार के कथन (आमन्त्रण) से भावी अथ का दर्शन करने वाली प्ररोचना कहलाती है ।

टिप्पणी—सिद्धामन्त्रणत—सिद्धमेव इति आमन्त्रणत यह सिद्ध ही ही गया, इस प्रकार के कथन से अथवा सिद्धस्य आमन्त्रणत किसी सिद्ध पुरुष के कथन से । यहाँ 'यह काय तो सिद्ध हो ही गया' इस प्रकार कह कर भावी वाय की सिद्धि का निश्चय कराया जाता है नियताप्ति से अवित वह इतिवृत्त का भाग प्ररोचना कहलाता है ।

जसे वेणीसंहार (६१२) में पाञ्चालक—(युधिष्ठिर से कहता है) और वक्रपाणि भगवान् वृष्ण ने मुझे आपके पास भेजा है (और देवकी-पुत्र ने कहा है)—यहाँ से आरम्भ करके—'सन्देह मत करो 'तुम्हारे राज्याभियेक के लिये रत्नकलशा जल से भर दिये जायें । द्रौपदी बहुत समय से छोड़े गये अपने केश पाश क बघन का उत्सव मनाये । तीक्ष्ण कुठार से दीप्त हाथो धाले तथा क्षत्रिय जाति रूप वक्षों का उच्छेद करने वाले परशुराम के और शीघ्र से अग्ने हुए भीमसेन के समर भूमि में पहुँच जाने पर सन्देह कैसे हो सकता है ?

यहाँ से लेकर महाराज युधिष्ठिर मङ्गलोत्सव करने को आज्ञा दे रहे हैं, (कञ्चुकी के) इस कथन तक मविष्य में होने वाले भी द्रौपदी क केश-सयमन और युधिष्ठिर के राज्याभियेक को सिद्ध (सम्पन्न) रूप में दिखलाने वाली प्ररोचना (नामक अवमर्श संधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६६५) में प्ररोचना तु विनया सहारायदर्शिनी' यह लक्षण है । सा ६० (६१०६) में भी यही है । ना० ६० (११००) में 'भाविसिद्धि प्ररोचना' यह कहते हुए इसी भाव की अधिक स्पष्ट किया गया है, अर्थात् निवहण संधि में सम्पन्न होने वाले भावी अथ का सिद्ध रूप में वणन ही प्ररोचना है । प्रता० (३१८) में इसे और भी परिष्कृत कर दिया गया है—'सिद्धवत् भाविधेय कथन प्ररोचनम् ।

अथ विचलनम्—

(६४) विकल्पना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—भीम —तात, अम्ब

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतस्ते ।

तृणमिव परिभ्रूतो यस्य गर्वेण लोक ।

रणशिरसि निहता तस्य राघासुतस्य

प्रणमति पितरौ वा मध्य पाण्डवोऽप्यम् ॥५१॥

अपि च तात,

चूर्णिताशेषकौरव्य क्षीवो दुःशासनसजा ।

भङ्गक्ता सुयोधनस्योर्वोर्भ्रमोऽप्य शिरसाऽञ्चति ॥५२॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'योग-धरायण

देव्या मद्बचनाद्यथाऽभ्युपगत पत्युर्वियोगस्तदा

सा देवस्य कलत्रसघटनया दुःख भया स्यापिता ।

तस्या प्रीतिमय करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभ प्रभो

सत्य दशयितु तथापि वचन शक्नोमि नो लज्जया ॥५३॥

इत्यनेनाद्यपरेणपि योग-धरायणन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कयालाभो

१२ विचलन

आत्मश्लाघा करना विचलन कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (५२७-२८) में । भीम—(घतराष्ट्र और गांधारी से कहते हैं) तात अम्ब जिस (क्षण) ने तुम्हारे पुत्रों ने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगा थी जिसके गर्व से उन्होंने सत्तार का तृण के समान तिरस्कार किया था उस राधा के पुत्र को रण में मारने वाला यह मत्सला पाण्डव (अर्जुन) आप माता पिता को प्रणाम कर रहा है ।

और भी तात, समस्त कौरवों को चूर्णित करने वाला, दुःशासन के रक्त से मत्त हुआ, दूर्योधन की जघाओं को तोड़ देने वाला यह भीम शिरसा प्रणाम करता है । इत्यादि के द्वारा विजय रूपी बीज से अश्वित अपने गुणों को प्रकट करने के कारण यहाँ विचलन (नामक अवशेष सन्धि का अङ्ग) है

और जैसे रत्नावली (४२०) में 'योग-धरायण—जब मेरे कहने से देवी (वासवदत्ता) ने पति का वियोग स्वीकार किया तब मैंने महाराज (उदयन) का दूसरी पत्नी से सम्बन्ध कराके उस (वासवदत्ता) को दुःखी किया । ठीक है कि प्रभु की चक्रवर्ती पद की प्राप्ति उस (देवी) को सुख देगी तथापि सज्जा के कारण मैं उसको अपना मुख नहीं दिखला सकता ।

इत्यादि में यद्यपि योग-धरायण का तात्पर्य दूसरा ही है तथापि 'मैंने धत्सराज को ऐसी बन्धा की प्राप्ति करा थी जिसका फल (अनुबन्ध) चक्रवर्ती पद की प्राप्ति

वत्सराजस्य कृत ।' इति स्वगुणानुकीतनाद्विचलनमिति ।

अथादानम्—

(६५)—आदान कायसग्रह ।

यथा वेणीसंहारे—'भोम—ननु भो समन्तपञ्चकसञ्चारिण ,

रक्षो गह न भूतो रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्ग प्रकाम

निस्तीर्णोऽप्रतिज्ञाजलनिधिगहन क्रोधन क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजयवीरा समरशिखिशिखादग्धशेषा कृत व—

स्त्रासेनानेन क्षीनहतकरितुरगातर्हितैरास्यते यत् ॥५४॥

हैं' इस रूप में अपने गुणों का कीर्तन भी है अतः अतः यहाँ विचलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) अयपरेणापि = अयपरक होने पर भी, अय तात्पर्य रखने वाला होने पर भी (योगधरायणन का विशेषण) यहा योगधरायण का अभिप्राय है—वासवदत्ता के प्रति किये गये अपने व्यवहार विषय में विचार करना । (२) ना० शा० में विमर्श सन्धि के अङ्गों का निर्देश करते समय 'विचलन की नहीं रक्खा गया किन्तु अङ्गों का लक्षण करते समय जेया विचलना तज्जैरवमानाथसयुता' (१६६६) यह अवश्य लिखा है । यह स्पष्ट ही है कि यह 'विचलना' दशरूपक के 'विचलन से भिन्न ही है । ना० शा० के व्यवसाय तथा विरोध आदि विमर्श सन्धि के अङ्गों में भी स्वशक्ति वणन या आत्मशलाघा आदि का अतर्भाव नहीं होता । इस प्रकार यह विचारणीय ही है कि क्या ना० शा० में इस भाव को व्यक्त करने वाला प्रचलन नामक अङ्ग नहीं माना गया था । ना० द० में प्रचलन नामक अङ्ग नहीं माना गया । वृत्ति (१६८) में अयमत के रूप में इसका निरूपण अवश्य किया गया है फिर भी ना० द० के 'सरम्भ शक्तिकीर्तनम्' (१६९) में आत्मशक्ति वणन आदि का समावेश हो जाता है । साहित्यदपण में भी अधिकतर ना० शा० का अनुसरण किया गया है अतः यहाँ भी यह चिन्तनीय है कि दशरूपक के विचलन इत्यादि का कहीं समावेश किया जाये । सम्भवतः उसके यहाँ 'व्यवसाय में इन भावों का समावेश हो सकता है । प्रता० (३,१८) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

१३ आदान

कायसग्रह आदान कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६३७) में 'भोम—अरे समन्तपञ्चक में घूमने वाले सनिकों में मैं राक्षस हूँ न कोई भूत । शत्रु के रुधिर रूपी जल में मली भाँति सने हुए अङ्गों वाला विशाल प्रतिज्ञा रूपी गहन सागर को पार कर चुकने वाला क्रोध करने वाला क्षत्रिय हूँ । अरे, समर रूपी अग्नि की शिखा में जलने से बचे क्षत्रिय वीरों आपको ऐसा भय नहीं करना चाहिये जो (मरे) हुए हाथों और घोंटों की ओट में छिपे बैठे ह ।

इत्यनेन समस्तरिपुवधवायस्य सगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—सागरिका—(दिशोऽवलाचय) दिट्ठिआ समतादो पज्जलिदो भव्य हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुखावसानम् ।' (दिट्ठिआ समताव—प्रज्वलितो भगवा हुतवहो'द्य करिष्यति दुखावसानम् ।) इत्यनेनायपरेणापि दुखा—वसानकायस्य सप्रहादादानम् । यथा च 'जगत्स्वामित्वलाभ प्रभो, इति दर्शित—भवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रपामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

इत्यादि के द्वारा समस्त शत्रुओ के वध रूपी कार्य का सग्रह (उपसहार) किया गया है अत आदान (नामक विमश संधि का अङ्ग) है ।

और जैसे रत्नावली (४ १६ १७) में सागरिका (विशाओ को देखकर) भाग्य से चारो ओर अग्नि देव प्रज्वलित हु वे आग मेरे बु छ का अंत कर देंगे ।

यहाँ पर यद्यपि कथन का तात्पर्य दूसरा ही है तथापि बु छों के अन्त रूपी काय का सग्रह किया गया है अत आदान है और जैसे (रत्नावली ४ २०) 'प्रभु को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति इस (योगधरायण) के (कथन) द्वारा यही (आदान) दिखलाया गया है ।

ये १३ अवमश संधि के अङ्ग ह । इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान मुख्य ह ।

टिप्पणी—(१) ना शा० मे बीजकार्योपगमनमात्मानम्' (१६ ६३) यह लक्षण है । इसका अभिप्राय है फल का समीप होना' इसी भाव को ना० द० (१ १०१) मे स्पष्ट किया गया है । उसक अनुसार फलसामीप्य' का अर्थ है—मुख्य फल का दशन । सा० द० (६ १०७) तथा प्रता० (२ १८) मे दशरूपक का ही लक्षण दिया गया है । इन सभी लक्षणा क तात्पर्य मे भेद नहीं, अर्थात् काय का उपसहार—फल सामीप्य फल दशन समान हा हैं । (२) सक्षप मे गभसंधि मे उद्भिन्न हुआ बीज अवमश संधि मे फलो-मुख हो जाता है । फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है । साथ ही फल के वाधक या विघ्नो के प्रति क्रोध आदि करके ब्रोधपूण उक्ति (सफट) आदि का प्रयोग किया जाता है । कभी तजन—उद्देजन तथा कभी गुरुजनो तक के प्रति तिरस्कार भाव का भी वणन होता है । इसी प्रकार फलप्राप्ति का निश्चय हो जाने से आत्मशक्तिवणन आत्मश्लाघा आदि के प्रसङ्ग भी आ जाते हैं । इसी आधार पर अवमश संधि के तेरह अङ्ग हो जाते हैं । किन्तु ये सब अङ्ग सभी रूपको मे नहीं होते । जहाँ इतिवत्त और रस आदि के अनुसार जो जो अङ्ग सम्भव होते हैं वहाँ वे हुआ करते हैं । हाँ अपवाद इत्यादि उपयुक्त ५ अङ्ग सबत्र अनिवार्य है । (३) अवमश संधि के उपयुक्त अङ्गो के स्वरूप तथा नाम आदि मे नाट्याचार्यो का मत भेद है स्वरूप भेद का यथावसर निरूपण किया जा चुका है । नाम आदि का भेद निम्न विवरण से स्पष्ट है—

अथ निवहणसंघि —

(६६) बीजवन्तो मुखाचार्या विप्रकीर्णा यथायथम् ॥४८॥

ऐकाथ्यमुपनीयन्ते यत्र निवहण हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे— कञ्चुकी—(उपसृत्य सहपम्) महाराज, वधसे, वधसे अथ खलु कुमारभीमसेन सुयोधनक्षतजाह्णीकृतसकलशरीरा दुलक्षव्यक्ति । इत्यादिना द्रौपदीकेशसयमनादिमुखसंघ्यादिबीजाना निजनिजस्थानोपश्लिप्तानामेकायतया योजनम् ।

नाट्यशास्त्र	दशरूपक	नाट्यदपण	साहित्यदपण	प्रतापद्वीय
अपवाद सफेट विद्रव शक्ति व्यवसाय प्रसङ्ग चुति खेद निषेधन विरोध, आदान, साधन प्ररोचना व्यवहार, मुक्ति ।	अपवाद सफेट विद्रव द्रव, शक्ति चुति प्रसङ्ग छानन व्यवसाय विरोधन प्ररोचना विचलन, आपान ।	द्रव प्रसङ्ग सफेट अपवाद छादन चुति खेद, निरोध सरम्भ शक्ति प्ररोचना, आदान व्यवसाय ।	अपवाद, सफेट व्यवसाय द्रव चुति, शक्ति प्रसङ्ग, खेद प्रतिपध विरोधन प्ररोचन आदान छादन ।	दशरूपक के समान

निवहण संघि और उसके अङ्ग

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख संघि आदि मे अपने अपने स्थान पर (यथायथम्) विखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (—मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निवहण संघि कहलाती है ॥४८॥

असे वेणीसंहार नाटक (६३८ ३९) मे कञ्चुकी (निष्ठ जाकर, हृष्यपूषक) महाराज आपकी विजय हो यह तो कुमार भीमसेन है जिनका समस्त शरीर दुर्योधन के रक्त से साल हो गया है और (इसी हेतु) जिहें पहचानना कठिन है ।'

इत्यादि के द्वारा मुख संघि आदि मे अपने अपने स्थान पर रखे गये द्रौपदी के केश-वधन (शत्रु निपान, राग्य लाभ) आदि के धोज (भीमसेन का क्रोध इत्यादि) हैं उनका एक प्रयोजन (द्रौपदी केश-वधन) के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है ।

यथा च रत्नावल्या सागरिका रत्नावलीवसुभूतिबाधव्यादीनामर्षानां मुखसद्य्या
दिपु प्रकीर्णानां वत्सराजककार्यायत्वम् । 'वसुभूति—(सागरिकां निवर्णयिष्याय) बाधव्य,
सुसदृशीय राजपुत्र्या । इत्यादिना दक्षितमिति निवहणसद्यि ।

अथ तदङ्गानि—

(६७) सद्यिर्विवोधो प्रयत्न निणय परिभाषणम् । ४६॥

प्रसादानन्दसमया कृतिभाषोपगूहना ।

पूर्वभावोपसहारी प्रशस्तिश्च चतुदश ॥५०॥

यथोद्देश लक्षणमाह—

(६८) सद्यिर्वीजोपगमनम्

और जैसे रत्नावली नाटिका (४ १६-२०) में सागरिका, रत्नावली, वसु
भूति और बाधव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का, जो मुख सद्यि आदि में बिखरे पडे हैं
वत्सराज के ही एक काय (रत्नावली समागम) के लिये समाहार होता है । जो इस
कथन द्वारा बिखलाया गया है—

वसुभूति—(सागरिका को देखकर अलग से) बाधव्य, यह तो बिल्कुल
राजपुत्री (रत्नावली) के जसी है ।

टिप्पणी—इतिवृत्त का अन्तिम भाग निवहण सद्यि है । इसमें पञ्चम
कार्यावस्था (फलागम) का काय (नायक व्यापार) नामक अर्थप्रकृति के साथ सम-वय
होता है । इस प्रकार बीज की पत्ररूप में परिणति हो जाती है । अथवा कहिये
कि बीज से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रारम्भ आदि यापार मुख आदि सद्यियों में
दिखलाये जाते हैं उनका मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाते हुए जहाँ उपसहार
किया जाता है वही इतिवृत्त का भाग निवहण सद्यि कहलाना है । इस सद्यि के
स्वरूप का सा० २० (६८०) प्रता० (३ १६) में दशरूपक के समान ही निरूपण
किया गया है । ना० शा० (१६ ४३) का लक्षण कुछ अंश में भिन्न है जिसका ना० २०
(१ ४८) में कुछ अधिक अनुसरण किया गया प्रतीत होता है । नाट्यदण्डन वृत्ति में
इस सद्यि का विस्तृत विवेचन किया गया है । वहाँ यह भी कहा गया है कि यह
सद्यि सभी रूपकों के लिये अनिवाय है (ध्रुवम्) ।

उत्त (निवहण सद्यि के) अङ्ग हैं—

१ सद्यि, २, विवोध ३ प्रयत्न, ४ निणय, ५ परिभाषण, ६ प्रसाद,
७ आनन्द, ८ समय, ९ कृति, १० भाषा, ११ उपगूहन, १२ पूर्वभाव,
१३ उपसहार और १४ प्रशस्ति—ये चतुदश ।

नाम क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१ सद्यि

बीज का (फलागम से अचित करके) सन्धान ही सद्यि कहलाती है ।

यया रत्नावल्याम्—'वसुभूति—वाघ्रव्य, सुसदृशीय राजपुत्र्या । वाघ्रव्य—
ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्सि घरिति ।

यया च वेणीसंहारे— भीम—भवति यज्ञवेदिसभवे स्मरति भवती यत्तमयोक्तम्
चञ्चदमुजघ्नमितचण्डगदाभिघात—

सत्तूणितोरुपुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धधनशोणितशोणपाणि

क्तसयिष्यति कचास्तव देवि भीम ॥१५॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सघिरिति ।

अथ विदोघ—

(६६)—विदोघ कार्यमागमम् ।

यया रत्नावल्याम्—'वसुभूति—(निरूप्य) देव, कुत इय कयका ? राजा—
देवी जानाति । वासवदत्ता—अज्जउत्त एसा सागरादो पाधिअत्ति भणिअ अमच्चजो
गघराअणेण मम हृत्ये णिहिदा अदो ज्जेव मागग्गत्ति सदावीअदि ।

जैसे रत्नावली नाटिका (४१६-२०) में 'वसुभूति—वाघ्रव्य यह ठीक
राजकुमारी जसी है । वाघ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ।'

इत्यादि के द्वारा नायिका रूपी बीज का सघान किया गया है, अतः यहाँ
सघि (नामक निवहण सघि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६४१—४२) में 'भीम—धीमती यज्ञवेदिसभवा
(यज्ञवेदि से उत्पन्न) द्रौपदी क्या आपको याद है, मैंने कहा था—चञ्चदमुज इत्यादि
ऊपर उदा० ८ ।

यहाँ मुखसघि में उपक्षिप्त बीज का पुनः उपगमन (सघान) किया गया है
अतः सघि (नामक निवहण सघि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—उपगमनम्—निकटीमृतम् सघानम्, पुनः स्मरण या उपसंहार
रूप में स्मरण । अतः मुख सघि में उपक्षिप्त बीज का फलागम अवस्था में सघान
ही सघि है । ना० शा० (१६६७) सा० द० (६११०) तथा प्रता० (३२१) में
भी इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० में इसका विशद निवेचन है—सघि
बीजफलागम (११०४) । उसके अनुसार यह निवहण सघि का आवश्यक अङ्ग है ।

० विदोघ

कार्य (फल) के अवेपण को विदोघ कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (४१६-२०) में वसुभूति—(देखकर) देव यह कया कहा से
(आई) ? राजा—देवी जानती है । वासवदत्ता—आयपुत्र, यह सागर से मिली है”
ऐसा कहकर अमात्य योगधरायण ने मेरे पास रख दी है । इसीलिये यह सागरिका
बहसती है । राजा (मन ही मन) योगधरायण ने रक्खी है, कसे यह मुझे बिना
बतसाये करेगा ?

(आयुष्य एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययोगधरायणेन मम हस्ते निहिता, अत एव सागरिकेति शक्यते ।) राजा—(आत्मगतम्) योगधरायणेन यस्ता कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति । इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यावेपणाद्विबोध ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —मुञ्चतु मुञ्चतु मामाय क्षणमवम् । युधिष्ठिर—किमपरमवशिष्टम् ? भीम —सुमहदवशिष्टम् सयमयामि तावदनेन दुशासनशोणि तोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुशासनावकृष्ट केशहस्तम् । युधिष्ठिर—गच्छतु भवान् अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् । इत्यनेन केशसयमनकायस्यावेपणाद्विबोध इति ।

अथ ग्रथनम्—

(१००) ग्रथन तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'योग धरायण —देव क्षम्यता यद्देवस्यानिवेद्य मयत्तत् तम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—भीम —पाञ्चालि न खलु मयि जीवति सहतव्या

इत्यादि के द्वारा केश सयमन रूप फल का अवेपण किया गया है इसीलिये विबोध (नामक निवहण सन्धि का अङ्ग) है । और, जैसे वेणीसंहार (६४०-४१) भीम—आय मुझे एक क्षण के लिये छोड़ दो । युधिष्ठिर—और, क्या शेष रहा ? भीम—बहुत कुछ शेष रह गया । अब तो दुशासन के रक्त से भीगे हुए हाथ से दुशासन द्वारा खींचे गये द्रौपदी के केशहस्त को बाँधता हूँ । युधिष्ठिर—आप जाएँ । वह बेचारी वेणी व धन का अनुभव करे ।

इत्यादि के द्वारा केश सयमन रूप फल का अवेपण किया गया है अत विबोध (नामक निवहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६६८) में 'कायस्यावेपण युक्त्या निरोध' यह लक्षण है । ना० द० (११०५) में निरोध कायमोमासा' यह कहा गया है, अर्थात् वितष्ट काय को बनान के लिये जा उसका अनुस धान किया जाता है वह निरोध है । सा० द० (६११०) में तथा प्रता० (३२१) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

३ ग्रथन

उस (फल) के उपक्षेप (सूचना) को ग्रथन कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (४२०-२१) में योगधरायण—महाराज, क्षमा, कीजिये जो मैंने आपसे निवेदन किये बिना यह काय किया है । इत्यादि के द्वारा वत्सराज का रत्नावली प्राप्ति रूप जो काय है, उसकी (सिद्धि) की सूचना दी गई है अत ग्रथन (नामक निवहण सन्धि का अङ्ग) है । और वेणीसंहार (६३७-३८) में भीम—हे पाञ्चालपुत्री, मेरे जीवित रहते तुमको दुशासन द्वारा खोली गई अपनी वेणी अपने हाथ से नहीं बाँधनी चाहिये । ठहरो, मैं स्वयं ही बाँधता हूँ ।'

दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु स्वयमेवाह सह्रामि । इत्यनेन द्रौपदीकेशसयमनकायस्योपशोपाद् घननम् ।

अथ निणय —

(१०१)—ऽनुभूताप्या तु निणय ॥५१॥

यथा रत्नावल्याम्—योग-धरायण—(कृताञ्जलि) देव, श्रूयताम् इय सिंहलेश्वर-रुहिता सिद्धाशेनोपदिष्टा—योऽस्या पाणि ग्रहीष्यति सावभौमो राजा भविष्यति तत्प्रत्ययादम्माभि स्वाम्यर्थे बहूश प्राप्यमानाणि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेद परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणिके देवो दग्धेति प्रसिद्धि मुत्पाद्य तदतिक्रम्य बाध्रव्य प्रहित । इत्यनेन योग-धरायण स्वानुभूतमर्थं व्यापितवानिति निणय ।

यथा च वेणोसहारे—भीम—देव देव अजातशत्रो, क्व-द्यपि, दुर्योधनहतक ? मया हि तस्य दुरात्मन—

इत्यादि क द्वारा द्रौपदी के केश घन रूपी काय को सूचना दी गई है अतः घन (नामक विवर्णन साधिका का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६६८) तथा प्रता० (३२१) में यही लक्षण दिया गया है, सा० ६० (६११०) में उपयासस्तु कार्पाणां घननम् यह लक्षण है । जिसका अभिप्राय दशरूपक के लक्षण के समान ही है यहाँ उपयास = उपशेष । नाट्यदपण (११०६) में घनन कायदशनम्—यह लक्षण है । यहाँ काय = मुख्य फल । जिस इतिवृत्त के भाग द्वारा मुख्य फल का व्यापार के साथ सम्बन्ध कराया जाता है वह घनन कहलाता है । इस ना० ६० के लक्षण का तात्पर्य भी दशरूपक आदि के लक्षण के समान ही है । वस्तुतः उपशेष सूचित कराता, अतः जहाँ फलागम को सूचित किया जाता है वह घनन है ।

४ निणय

अनुभूत (अनुभव किये गये) अथ का कथन निणय कहलाता है ।

जो रत्नावली (४२०-२१) में "योग-धरायण—महाराज, सुनिये । इस सिंहलेश्वर की पुत्री के विषय में सिद्धवचन से कहा गया था कि जो इसका पाणि ग्रहण करेगा वह अश्वत्थो राजा होगा । उससे विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिये अनेक बार मणि जाने पर भी, जब देवी वासवदत्ता के मानसिक क्लेश को बघाते हुए सिंहलेश्वर ने (रत्नावली की) नहीं दिया तब सावणिक में देवी (वासवदत्ता) जल गई यह प्रवाद फलाकर उस (सिंहलेश्वर) के पास बाध्रव्य को भेजा ।

इत्यादि के द्वारा योग-धरायण ने अपने अनुभूत अथ का वर्णन किया है अतः निणय (नामक विवर्णन साधिका का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणोसहार (६३६) में देव, देव अजातशत्रु अब भीष दुर्योधन कहां है ? क्योंकि मैंने उस दुष्टात्मा के शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है और अपने

दिष्टया वधसे रिपुकुलभयेण । इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ?
आनन्द —

(१०४)—आनन्दो वाञ्छिताप्ति ।

यथा रत्नावल्याम्—राजा यथाह देवी (रत्नावली गृह्णति)

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—नाथ—(विस्मुरिदह्नि एद वावार नाथस्त

पमादेण पुणो सिखिखस्तम् (केशावघ्नान्ति) (नाथ, विस्मृतास्म्यत व्यापार नाथस्य
प्रसादेन पुन शिषिष्यामि ।' इत्याम्ना प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसयमनयोवत्सराज
द्रौपदीभ्या प्राप्तत्वादानन्द ।

अथ समय —

(१०५)—समयो दुःखनिगम ॥५२॥

इत्यादि के द्वारा भीमसेन ने द्रौपदी का आराधन किया है अतः प्रसाद (नामक
निवहण सद्यि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६१०१) के अनुसार शुभ्रपाद्युपसम्पन्न प्रसाद
प्रीतिरुद्ध्यते'—सेवा आदि से उत्पन्न प्रसन्नता ही प्रसाद कहलाता है । किंतु दश
रूपक के लक्षणानुसार प्रसन्न करने के लिये जो (सेवा) आदि प्रयत्न किया जाता
है वही प्रसाद है । प्रता० (३२१) तथा सा० द० (शुभ्रपादि प्रसाद स्यात् ६११२)
में भी दशरूपक का अनुसरण किया गया है । ना०द० (११०६) ने प्रसाद को
'उपास्ति' कहा है और यह भी उल्लेख किया है—अथ त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरण
जनिता प्रसन्ति प्रसादमङ्गमाहू दूसरे तो उपास्ति के स्थान पर प्रिय तथा हितकर
आचरण से उत्पन्न होने वाली प्राप्ति (प्रसाद) की (निवहण सद्यि का) अङ्ग बतलाता
है । यह किसके मत की ओर सकेत है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है । इतना
अवश्य कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के उपरिनिर्दिष्ट लक्षण का भी यह
सात्पय प्रतीत होता है ।

७ आनन्द

अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द कहलाता है ।

जस रत्नावली (४२०--२१) में 'राजा—जसे देवी कहें । (रत्नावली को
स्योकार करता ह) ।

और जैसे, वेणीसंहार (६४४२) में द्रौपदी—नाथ मैं इस काम को भूल
गई हूँ स्वामी की कृपा से फिर सीख जाऊगी । यहाँ (प्रथम उदाहरण में) वत्सराज
की अपनी चाही हुई रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है तथा (द्वितीय उदाहरण में)
द्रौपदी को अभीष्ट केशावघ्नन की प्राप्ति होती है अतः आनन्द (नामक निवहण सद्यि
का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६१००) ना० द० (१,१११) सा० द० (६११२)
तथा प्रता० (३२१) में भी इसी प्रकार के लक्षण हैं ।

८ समय

दुःख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है ।

यथा रत्नावल्याम् 'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्गघ) समस्सस समस्सस वहिणिए ।' (समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके ।) इत्यनेन भगि-पोर-यो-यसमागमेन दुःखनिगमात्समय ।

यथा च वेणीसंहारे 'भगवन्, कुतस्तस्य विजयादयद् यस्य भगवापुराणपुरुष स्वयमेव नारायणो मङ्गलायाशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिकोभसभूतमूर्तिं

गुणितमुदयनाशस्वानहत्तु प्रजानाम् ।

अजममरमचित्य चित्तयित्वाऽपि त्वा

भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्टवा ॥१७॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगम दशयति ।

अथ कृति —

(१०६) कृतिलब्धायशमनम्—

यथा रत्नावल्याम् 'राजा—को देव्या प्रसाद न बहु भयते ? वासवदत्ता उज्ज्वलत, दूरे से माहुल ता तघा करेसु जघा बहुवण न सुमरेदि । ('आय

जसे रत्नावली (४१६-२०) में 'वासवदत्ता—(रत्नावली से गले मिलकर) वहिम, घोरज रक्खो घोरज रक्खो ।

इत्यादि के द्वारा दोनों बहिनों के परस्पर मिलन से दुःख दूर होता है अतः समय (नामक निवहण सचि का अङ्ग) है ।

और जसे वेणीसंहार (६४३) में युधिष्ठिर—(वामुदेव के प्रति) भगवन् स्वयं पुराणपुरुष भगवान् नारायण जिसके मङ्गल की कामना करते हैं उसकी विजय के अतिरिक्त और क्या हो सगता है ?

हे देव महत्तरव आदि के महान् लोभ से व्यापक मूर्ति (त्रिनयन आदि अथवा विशाल जगत् अथवा हमारे शरीर आदि) की रचना करने वाले, प्रजाओं की उत्पत्ति माग, स्थिति का कारण होने वाले गुणयुक्त अजमा, अमर और अचिन्त्य आप का धिन्तन करके कोई भी व्यक्ति दुःखी नहीं रहता फिर देखकर तो क्या ?

इत्यादि के द्वारा युधिष्ठिर के दुःख का दूर हाना विष्टताया गया है ।

दिप्पणी—ना० शा० (१६१०१) ना० द० (१११२) सा० द० (६११२) तथा प्रता० (३२१) में भी इसी प्रकार का लक्षण है ।

६ कृति

लब्ध अथ का शमन (शांति या स्थिरीकरण) कृति कहताता है ।

जसे रत्नावली (४२०-२१) में राजा—देवी के प्रसाद को कौन अधिक सम्मान न देगा ? वासवदत्ता—आयुध, इसका माहुल (मायका) दूर है अतः ऐसा

पुन इरेऽस्या मातृकुल तत्तया कुस्य यथा बभूजन न स्मरति ।) इत्ययोऽववचना
संस्थाना रत्नायत्या राण सुखिलप्य उपशमनाकृतिरिति ।

यथा च वेणीसहारे 'कृष्ण—एते छतु भगवतो व्यासवाल्मीकि—त्यादिना
अभिप्रेकमारब्धवत्सिद्धयति इत्यनेन (इत्यनेन) प्राप्तारान्याभिप्रेकमङ्गलं स्थिरी
करण कृति ।

अथ भाषणम्—

(१०७)—मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

कीजिये कि यह अपने बभूजनो को याद न करे ।

इत्यादि के द्वारा रत्नायती के प्राप्त होने पर राजा के भली भाँति समागम
(सुखिलप्य) के लिये उस (रत्नायती) का उपशमन (शान्ति, सा जना) किया गया है ।
अतः कृति (नामक निबन्धन सति च अङ्ग) है ।

और, जते वेणीसहारे* (१५४) में 'कृष्ण—ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि यथा
से आरम्भ करके अभिप्रेक का आरम्भ कर रहे हैं यहाँ तक प्राप्त हुए राज्य का
अभिप्रेक के मङ्गल द्वारा स्थिरीकरण दिखलाया गया है अतः 'कृति' (नामक निबन्धन
सति च अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६१००) में लघायस्य शमन द्युतिमाचक्षा पुन
समण है । इस प्रतीत होता है कि 'कृति' के स्थान पर 'द्युति' नामक अङ्ग भी
माना गया था । अमि० के अनुसार इसका अभिप्राय है—शोध आदि जो शमन करने
योग्य अथ हैं यदि वे किसी प्रकार प्राप्त हो जायें तो भी उनका शमन कर देना द्युति
है ना० व० (१११०) की दृष्टि में इस मत को 'अपरे तु करके दिया गया है ।
ना० व० (१११०) के अनुसार कृति क्षेमम् शमम्—संश्लेष परिपालनम् अर्थात्
प्राप्त वस्तु का स्थिरीकरण ही कृति है । दशरूपक में उद्धृत रत्ना० का सन्दर्भ ही वहाँ
उदाहरणाय दिया गया है । स० व० (११११) में दशरूपक के समान ही समण है
किंतु कृति में 'स्थिरीकरण कृति' कहा गया है । इसी प्रकार प्रता० (३२१) में
लघायस्य शमन कृति' यह समण है इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि प्राप्त
वस्तु का स्थिरीकरण कृति है इसमें अधिगण आचाम सहमत है । अतः यहाँ उपशमन
का एक अर्थ 'स्थिरीकरण' मानना तो सङ्गत ही है, (द्वितीय उदा०) । किंतु प्रथम
उदा० में 'रत्नायती को सात्वना देना अथवा रत्नयती के प्राप्त हो जाने पर वास
वदता के क्रोध की शान्ति (ना० शा०)—उपशमन के ये दोनों अर्थ सम्भव हैं ।

३१० भाषण

मान आदि की प्रिय भाषण कहलाती है ।

* यह वाटावर प्रतीत होता है ।

Handwritten notes in Devanagari script, including a list of numbers and some text fragments.

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अत परमपि प्रियमस्ति?
 यातो विभ्रमबाहुदरात्मसमता प्राप्तेयमुर्धितने
 सार सागरिका सत्तारमहीप्राप्त्येकहेतु प्रिया ।
 देवी पातिपुत्रागतता च भगिनीतामाग्जिता कीर्तना
 किं नान्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मिं करोमि स्पृहाम् ॥१८॥
 इत्यनेन वामाशयमानादित्ताभाद्भापयामिति ।

अथ पूवभावोपपूहने—

(१०८) कायदृष्टयद्भू तप्राप्ती पूवभावोपपूहने ॥१३॥

कायदशन पूवभाव यथा रत्नावल्याम्—‘योग’प्रायण—एव विनाय
 भगिन्या सप्रति करणीये देवी प्रभायम् । वासयदत्ता—फुड प्जेव किं न गेति ?
 पडिवाएहि से रथणमाल ति । (‘स्पुटमेव किं न भणति ? प्रतिपादयाम्

जते रत्नावली (४२१) मे ‘राजा—इत्तसे अग्रिक की कुछ प्रिय हो सकता
 है ? विभ्रमबाहु को अपने जैसा (आमोय) कर दिया, पथिधोतन का सार सागर
 सहित समस्त पथिधी की प्राप्ति का एकमात्र हेतु यह प्रिया सागरिका प्राप्त कर ली,
 महिन की प्राप्ति से देवी (वासयदत्ता) प्रसन्न हो गई, कीर्तना प्रदेता जीत लिये।
 ‘तबमुच ही, तुम जते थोठ अमात्य के होने पर क्या नहीं है, जिसकी मे कामना
 करू ?’

इत्यादि के द्वारा प्रथम अथ और मान दादि की प्राप्ति दिखाई गई है अत
 यहाँ भाषण (नामक निबन्धन सचि वा अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६१०२) के अनुसार सामदानादिसम्पन्न भाषण
 समुदाहृतम् यह लक्षण है । शा० द० (१६१३) में भी सामदानादि भाषणम् यह
 कहा गया है । ना० द० (१६१४) में भाषण सामदानोक्ति' अर्थात् प्रिय तथा
 द्विजवारी वचन भाषण है, यह कहकर इसे वाधिप्र स्पष्ट किया गया है । प्रता०
 (३२३) के अनुसार प्राक्तकार्यानुमोदनमाभाषणम्, अर्थात् प्राक्त हुए वस्तु का
 अनुमानन करना ही आभाषण कहलाता है । इन लक्षणा पर विचार करने से प्रतीत
 होता है कि दशरूपद ने दिया गया भाषण का लक्षणा प्राचीन तथा वर्षाचीन सभी
 अर्थों के लक्षणों से निम्न है । यहाँ तो फलाम से श्वित मान आदि की प्राप्ति
 का वचन ही भाषण कहलाता है ।

११ पुत्र १२ उपपूहन—

धार्म (कन) का दशन (विना घट समझ लेना) पूवभाव पटनाता है
 तथा अद्भुत अथ की प्रप्ति उपपूहन है ।

कर्म का बर्तन पुत्रमान है, अते रत्नावली (४२० २१) में ‘योग’प्रायण—
 यह जानकर महिन (रत्नावली) के लिय अथ क्या करना है इन विषय से देवी

(१) श्वर नावयवा

भीकि—इत्यादिना
 नेकेचङ्गल स्थिरी

भाषणम् ।

भस्ती प्राति समगम
 यना) किया गया है ।

व्याप्त, वाच्यकि प्रार्
 गल हुए परन्तु का
 न (नामक निबन्धन

वर्णनात्मक पुत्र
 न नामक वस्तु की
 अति की रूपन करने
 विषय कर देता यदि
 के किया गया है ।
 विरासतम् अर्थात्
 ० का सम्भ ही यहाँ
 समस्त ही सम्पन्न है
 र प्रता(३२१) में
 न होता है कि प्राक्त
 ० अथ यहाँ वरकम
 जना) । किन्तु प्रकम
 पर हो जाने पर यह
 अथ सम्भव है ।

रत्नमालामिति ।) इत्यनेन वत्सराज्याय रत्नावनी दीयताम् इति कायस्य योग्यधरा यणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्ताया दर्शनात्सुवभाव इति ।
अनुसप्तप्रान्तिरूपगृह्न यथा वेणीसहारे' (नपच्ये) महासमरानलदग्धयोगेपाय स्वस्ति भवते राज-यत्तीकाय ।

त्रोघार्घ्यस्य मोक्षात्पतनरूपतिभि पाण्डुत्रुण कृतानि

प्रत्याश मुक्तकेशायनुविनमयुना पाषिवात पुराणि ।

कृष्णाया केशपाश कुपितयमसखो घूमकेतु दुरुणा

दिष्टया बद्ध प्रजाना विरमतु निघन स्वस्ति राज वनेभ्य ॥५६॥

मुघिण्टिर—देवि एष ते मूषजाना सहारोडमिनदितो नमस्तलवारिणा सिद्धजनैः ।) इत्येतेनाद्भुताथप्राप्तिरूपगृह्नमिति । लघुप्राथम्यमनात्कृतिरपि भवति ।

(वासवदत्ता) प्रमाण है । वासवदत्ता—स्पष्ट ही क्या नहीं कहते कि इन्हें (महाराज को) रत्नावली दे दो ।

इत्यादि मे "रत्नावली वत्सराज को दे दी जाये" यह काय (फल) है जो योग्यधरायण के अभिप्राय के अन्तगत है । यहाँ इत्से वासवदत्ता ने समझ लिया है । अत मूषभाय (नामक) निघहण साँघ का अङ्ग है ।

अद्भुत अथ की प्राप्ति उपगृह्न है, अते वेणीसहारे (६४२) में (नेपथ्य मे)—महासमर की अग्नि में जलने से बचे हुए क्षत्रियजन का कल्याण ही । जिस (केशपाश) के खुल जाने के कारण क्रोध से अर्धे हुए अनुपम धुजवत् घाले राजाओं को नष्ट करने वाले पाण्डु के पुत्रों ने प्रत्येक बिसा मे राजाओं के अन्त पुरों को खुले हुए केशों वाला कर दिया था, क्रुद्ध यमराज का मित्र (उसके सरल) कीरया के सिधे घूमकेतु कृष्णा (श्रीपती) का वह यह केशपाश बध गया है । अब प्रजा का बिनाश रक जाये, राजसमूह का कल्याण ही ।

हे देवी यममत्तल मे विचरने वाले सिद्ध जनो के द्वारा इस केश-सयमन का अभिनयन किया जा रहा है ।

इत्यादि के द्वारा अबधुन अथ की प्राप्ति का वणन है अत यहा उपगृह्न (नाम निघहण साँघ का अङ्ग) है । साथ ही यहाँ प्राप्ति अथ का शानन (सिधरीकरण) भी है अत कृति (नामक निघहण साँघ का अङ्ग) भा है ।

टिप्पणी—(i) ना० शा० (१६१०२) के अनुसार पूववाच्य तु विसय यद्योत्सायप्रदशनम् अर्थात् पूर्वोक्त का प्रदशन ही पूववाच्य है । सा० द० (६११३) म भी इसी प्रकार का लक्षण है । दशापक का लक्षण इससे भिन्न है । इसके अनुसार काय (फल) किसी के अभिप्राय का अर्थ होता है । दूसरा उस काय को शब्दों द्वारा कह बिना ही भाष लेता है । जसा कि ऊपर रत्नावली नाटिका व उदाहरण से स्पष्ट है ना० द० (१११५) के प्राग्भाव कृत्यदशनम् का तथा प्रता० (३२१) के 'दृष्टकायदशन पूवभाव' का भी यही तात्पर्य है । (ii) ना० शा० (१६१०२) ना० द० (१११३), सा० द० (६११२ ११३) तथा प्रता० (३२१) मे भी उपगृह्न का इसी प्रकार का लक्षण है ।

रत्न माला

अनुसप्त

मोक्षात्पतनरूपतिभि

प्रत्याश मुक्तकेशायनुविनमयुना

कृष्णाया

मुघिण्टिर

वासवदत्ता

इत्यादि मे

अद्भुत अथ

वेणीसहारे

महासमर

केशपाश

खुल जाने के कारण

क्रोध से अर्धे हुए

अनुपम धुजवत्

घाले राजाओं

को नष्ट करने

वाले पाण्डु

के पुत्रों ने

प्रत्येक बिसा

मे राजाओं

के अन्त पुरों

वि कामस्य शीतयत्

शामस्यरातनदशमेवम

पुराणि ।

यत्र रवेण ॥२॥

यो नमस्तत्र चरित्वा

नृकृतिर्वि भवति ।

किं इहै (सहाराज

काम (सम) है जो

के समय होता है ।

(६४) में विषय

रम्य है । विल

सस काम राजा

अन पुरों को बुने

गो) शीतों के लिये

प्रजा का विनाश

इस काल-काम का

अत यहा उन्मुख

र समन (विचारेकल)

र बुद्धका बु विद

है । सा० द० (६११)

मिना है । इसके अनुसार

अस काम को हाने में प्राण

अस क उन्मुख है स्पष्ट

सम प्रजा० (३२१)

॥) ना० सा० (१६१०)

(३२१) में भी उन्मुख

अथ काव्यसंहार —

(१०६) यरास्ति काव्यसंहार

यथा—किं ते भूय प्रियमुपकरोमि । इत्यने न काव्यासहहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्ति —

(११०)—प्रशस्ति शुभशसनम् ।

यथा वेणीसंहार—‘श्रीतश्चेद्भूवान् तदिवदनेवमस्तु—

अकृपयमति काम जीव्याञ्जन पुर्यामुप

भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैत विना पुरुषोत्तमे ।

कलितयुवना विदग्धबधुगुणेषु विशेषवित्

सततसुहृत्सो भूवाद् नृप प्रसाधितमण्डल ॥६०॥

इति शुभशसनात्मशस्ति ।

१३ काव्यसंहार—

वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार कहलाता है ।

असि ' में सुहारा और क्या कहें ?' इत्यादि के द्वारा काव्याय का उपसंहार किया जाता है (अत यह काव्यसंहार नामक निबन्धन साधि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० गा० (१६१०३) तथा सा० द० (६११४) में वरप्रदान सम्प्राप्ति का उपसंहार इत्यन्ते—यह कहा गया है । इसका तात्पर्य भी वरारूपक के लक्षण के समान ही है । ना० द० (१११५) के अनुसार 'वरेच्छा काव्यसंहार' ईतिस्त दातु वरेच्छा अथव् अमीष्ट वर की प्रदान करने की अतिताया को काव्यसंहार कहा जाता है । इस लक्षण में भाव अत्रिक स्पष्ट ही गया है । प्रता० (३२१) में काव्या धीपसहृति संहार' यह लक्षण है ।

१४ प्रशस्ति—

शुभ (अथ) का कथन ही प्रशस्ति कहलाता है ।

असि वेणीसंहार (६४६) में युधिष्ठिर कृष्ण के प्रति करते हैं फिर भी यदि अथ प्रसन्न हू तो यह हो जाये—तोय अवीन मति चाते होकर पुरय की आयुष्यन जोयें । पुरुषोत्तम में अनय मक्ति होयें । राजा प्रजा प्रेमी (दयितयुवन —दयित युवन मयस स प्रियलोक) विद्वानों का बधु पुत्रों का विरोधित निरन्तर प्रपुत्र करने वाला तथा राज समूह को अलङ्घित करने वाला (अथवा यश में करने वाला) होयें । यही शुभ कथन किया गया है अत प्रशस्ति (नामक निबन्धन साधि वर अङ्ग) है ।

पटप्रकार चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

(१११) उक्ताङ्गानां चतुःपष्टि षोडा चैवा प्रयोजनम् ॥५७॥

कानि पुनस्तानि पट प्रयोजनानि ? (तायाह)—

(११२) इष्टस्यायस्य रचना गोप्यगुप्ति प्रकाशनम् ।

राग प्रयोगस्यायस्य च्युत्तान्तस्यानुपपन्नम् ॥५५॥

विचिन्विताथैनिबन्धन गोप्यायमोपन प्रकाशयाथप्रकाशनमभिनयेरागवृद्धिश्च मरकारित्वे च काव्यस्यैतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्ग पटप्रयोजनानि सपाच त इति ।

सम्बन्धो का प्रयोजन

इन सम्बन्धों का प्रयोजन ६ प्रकार का है यह बतलाने हैं—
उपर्युक्त (संघि के) अङ्ग ६४ हैं और प्रयोजन ६ प्रकार का है ।
ये ६ प्रयोजन कौन से हैं ? उनको बतलाने हैं—

१ इष्ट अर्थ की रचना, २ गोपनीय को गुप्त रखना, ३ प्रकाशन
४ अभिनय में राग, ५ (काव्य का) विचित्र और ६ इतिवृत्त का विचित्र
न होना ।

विचित्र अथ की रचयता गोपनीय अथ का छिपाना, प्रकाशित करने योग्य
वस्तु को प्रकाशित करना, अभिनय वस्तु के प्रति राग की वृद्धि और चमत्कारिता
तथा काव्य की रचावस्तु का विस्तार ये ६ प्रयोजन सचि अङ्गों के द्वारा सम्पादित
रिये आते हैं ।

रिष्णी—(क) नि०, मा० शा० (१६ ५१ ५२), सा० व० (६११६—११७)
प्रना० (३२१) (घ) ६४ सम्बन्धों की योजना के ६ प्रयोजन हैं । (१) रूपक म
जिस अर्थ वा समाज करना अभिमत होता है उस अर्थ वा समाज कर दिया जाता
है । (२) कथावस्तु का जो अर्थ रङ्गमञ्च पर दिखलाना अभिमत नहीं होता, गोपनीय
होता है उसको छिपा लिया जाता है । (३) (अभि० मा० शा० (१६ ५२) के
अनुसार प्रकाशनम् = विस्तारम् । इस प्रकार जिस वस्तु का विस्तार करना उपयुक्त
है उसका विस्तार कर दिया जाता है । अथवा प्रकाशित करने योग्य वस्तु को
प्रकाशित किया जाता है । (४) सचि के अङ्गों की समुचित योजना से इतिवृत्त की
तद्वतता इतनी सुव्यवस्थित हो जाती है कि अभिमत वस्तु के विषय में दत्तक की
होती है । (५) बार बार सुनी गई भी क्या किन्ती कान्य का नाट्य वा
इतिवृत्त बन गया करता है, सम्बन्धों की सम्यक योजना से उसका प्रयोग भी अव्य
था प्रतीत होत लगता है उसमें बहिष्प (धमकार) की प्रतीति होने लगती है (६)
नाट्य आदि प्रबन्धों में कथा का विच्छेद अर्थात् एव नीरसता को उपय
कर दिया
करता है सम्बन्धों की सम्यक योजना से कथावस्तु का विच्छेद नहीं होता । नाट्य
ध्वन (१११६) के अनुसार तो केवल इतिवृत्त का अधिच्छेद ही सम्बन्धों का
प्रयोजन है । कथावस्तु के अधिच्छेद से रस की पुष्टि होती है । इतानिरे रस-योजना

विचित्र पत्रकच

च प्रकाशित यह लक्षण
ता का लक्षण की
२१) में दलक के
विषय है । यह रूपक
क अर्थ में इतने इत

अङ्गों के गुप्त रख

के साथ कथन प्रि
र होती है । इसी हेतु
को लक्ष्य बनाता
रूपक लक्षणों को
रागक अङ्ग होता है ।
व्याख्या तथा प्रकाशित
मा० व० (११०३)
निबन्ध सचि के विच्छेद
का अर्थ है विच्छेद
व्याख्या ६४ अङ्ग माने
में व्याज रखने योग्य
की होती करता है ३
र से समझियें कि जो
हो सचि में कोई रूप
) । (पि) अता कि उत्तर
प्रतिपाद माने जाते हैं
माना आने बना
वर्तनी को सच एव मात्र के
वितना करती कहिये वि
रूप वा इतने अर्थ प्र
(सिन्हा) एवम प्रब

(११५) अर्थापक्षेपकं सूच्य पञ्चभि प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूतिका श्वास्या श्वावतारप्रवेशकं ॥५८॥

तत्र विष्कम्भक —

(११६) वृत्तवतिप्यमागाना कथाशाना निदर्शकं ।
सनेपायस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजित ॥५९॥

अतीताना भाविना च कथावयवाना ज्ञापना मध्यमेन मध्यमास्या वा पात्राभ्या
प्रयाजिता विष्कम्भक इति ।

स द्विविध शुद्ध, सजीगन्धेरेवाह—
(११७) एकानेपकृत शुद्ध सङ्कीर्णो नीचमध्यमें ।

एकेन द्वाभ्या वा मध्यमपात्राभ्या शुद्धो भवति, मध्यामासमापात्रयुग्मपरप्रयोजित
सङ्कीर्ण इति ।

१ विष्कम्भक २ चूलिका, ३ अङ्कास्य, ४ अङ्कावतार और ५ अने
भाष इन पाँच अर्थापक्षेपको (द्विवृत्त के सूचको) के द्वारा सूच्य वस्तु का
प्रतिपादन करना चाहिये ॥५८॥

१ विष्कम्भक (विष्कम्भ)

उत्तमं विष्कम्भ है —

वीथे द्वेप ओर आगे होने वाले कथा भागों का सूचक, सक्षिप्त अर्थ
वाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थापक्षेपक है, वह विष्कम्भक
कहलाता है ॥५९॥

अर्थान् (क) भूत और भविष्य के कथाओं का सूचक (घ) एक वा दो मध्यम
पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक होता है ।

वह जो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण, वह बतलाते हैं—

एक वा अनक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता
है । और मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा मिलकर प्रयाजित विष्कम्भक सङ्कीर्ण
कहलाता है ।

द्विपयो—(१) रूपक में तीन प्रकार के पात्र माने जाते हैं—उत्तम राजा
इत्यादि ये सङ्गत बोलते हैं । मध्यम-अमात्य, सेनापति यणिक पुरोहित आदि ये जो
सङ्गत बोलते हैं । अधम दास चेटो इत्यादि जो प्राहुत साया बोलते हैं ।

(२) क—जिस द्विविद्धत को अङ्को में नहीं लिखलाया जा सकता विष्कम्भक म
उसकी सूचना भी जाती है । (ख) विष्कम्भक का अर्थ अथ संगत होता है, विस्तृत
अर्थ को भी संक्षेप में ही कहा जाता है । (ग) यह भूत तथा भविष्य के कथाभाग
को सूचित करने का पात्र-भूत को अतिशुद्ध बनाता है । (घ) दण्डक, अङ्क के प्रारम्भ
में प्रयोग किया जाता है, अर्थात् यह प्रथम अङ्क में आमुख, क पश्चात् रक्षा जा
सकता है तथा अन्य अङ्कों के प्रारम्भ में भी । किन्तु कोहल का मत है कि विष्कम्भक

सम्बन्ध ।
पारम्भ ॥५६॥

र ।
॥५७॥

होने । सा० २० (११७)
के अतिरिक्त है केवल

को द्विप से श्लिष्ट का
तु द्विपज को द्विप के

मान करता चाहिये,
अथ ॥५६॥
वह बतलाते हैं—
हो, या (जिसका रङ्ग
वै करता चाहिये ।
व शब्द से पूरा हो उसे

अभिप्रेत किया जाता है ।
में बोल रहे निरा का
र कुछ पदवाकों का पत्र
को मध्य भाग । साथ ही,
क में वाचककोय नहीं ।
जाता किन्तु कथा-भूत क
होता है । इसी भाग
है नीरत तथा अङ्क
हल है—नेक, उत्तम

अथ प्रवेशक —

(११८) तद्वदेवानुदात्तोपस्था नीचपात्रप्रयोजित ।

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यात् शोषायस्योपसूचक ॥६०॥

तद्वदेवेति भूतभाविष्यदयथापत्तमतिविष्यते, अनुदात्तोपस्था नीचेन नीचपात्र प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणानवादा अङ्कद्वयस्यात् इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क का आरम्भ में ही होता है अप अङ्कों में इसका प्रयोग हाता ही नहीं (ना० ६० १ २०) । (उ) एक मध्यम पात्र द्वारा या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा अथवा मध्यम और नीच दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है । (च) मध्यम पात्र संस्कृत बोलते हैं तथा अधम पात्र प्राकृत (शौर सेनी)—विशेष ३० ना० ६० १ २० । जिस विष्कम्भक म केवल मध्यम पात्र होते हैं वह शूद्र कहलाता है किन्तु जिसम मध्यम तथा अधम दोनों प्रकार के पात्र होने हैं वह सकीण ।

० प्रवेशक—

उसी प्रकार (= भूत और भविष्य के कथाओं का सूचक) नीचपात्रा द्वारा अनुदात्त उक्तियां प्रयुक्त, दो अङ्कों के बीच में स्थित तथा शेष (अप्रदशनीय) अथ का सूचक प्रवेशक (प्रवेश) कहलाता है ॥६०॥

तद्व एव (उसी प्रकार) इस (शब्द) के द्वारा भूत और भविष्यत अथ की सूचना देने वाला यतत्ताया गया है अनुदात्त उक्ति से एक नीच या अनेक नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त—यह कहकर विष्कम्भक के लक्षण से भेद किया गया है, दो अङ्कों के बीच में—यह कहकर प्रथम अङ्क में (प्रवेशक का) विषेध किया गया है ।

(१) द्विषणी—(१) अतिविष्यते=यतिदम किया जाता है एक पदाय के धम का दूसरे पदाय से सम्भन्ध दिखलाना अतिशय कहलाता है—अथमस्या यथाभि सम्भन्धोऽतिशये । यही विष्कम्भक के धम (भूत—भविष्य अथ की सूचकता) का प्रवेशक में अतिशय किया गया है । (२) प्रवेशक में विष्कम्भक से समानता यह है—(क) अङ्कों म न निष्कलने योग्य दृष्टिगत वा सूचक होता है । (ख) यद्य अथ संक्षिप्त होता है । (ग) भूत तथा भविष्यत के कथा भाग को सूचित करके कथासूत्र को जोड़ता है । दोनों का अन्तर यह है—(घ) विष्कम्भक में विशेषकर मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है कभी मध्यम के साथ अधम का भी । फलतः (ङ) विष्कम्भक में मुख्यतः संस्कृत भाषा का व्यवहार होता है । सङ्गीण विष्कम्भक में संस्कृत के साथ प्राकृत (शौरसेनी) का भी दूसरी और प्रवेशक में केवल अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है और सन्दुभार इममे संस्कृत भाषा का व्यवहार नहीं होता आभीरी चाण्डालो आदि (अनुदात्तोपस्था इत्यादि) । (ग) विष्कम्भक की योजना प्रथम अङ्क के आरम्भ में तथा अथ अङ्को के आरम्भ में भी हो सकती है, किन्तु प्रवेशक सदा दो अङ्कों के बीच में ही आता है वह कभी प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं जा सकता (अङ्कद्वयस्यात्) ।

अथ पूर्विका

(११८) अथ

केवलाया उपसूचनीया

स्वान्त शोषपात्रे ॥११८॥

पूर्विकापुत्रिका ।

यथा शौरसेनित् कुपुत्रिका

प्रवर्तनी बहुलानि—

इत्यादिनामेषां कर्त्तुं

सक्यते इत्येति

लिखिते

शरत्तो मंत्रणां

इत्यत्र केवलाया उपसूचनीया

काव्यात्मिका—

(१२०) अङ्कद्वयानुदात्तम्

३ पूर्विका

वर्तनीका के मीटर स्थित

दोनों पूर्विका कहलाती है ॥११८॥

अथ के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में—(विष्ये

कलितो आभीरी शोषे कर्त्तव्ये) । यहाँ पर

(के कर्त्तव्ये) की सूचना की गई है का पूर्व ।

यहाँ पर द्वितीय आभीरी शोषे के

आरम्भ के लिये कर्त्तव्य (विष्ये) कर्त्तव्यो का

शब्द में सङ्घटन (विष्ये) के लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

शब्द के लिये में का शब्द का लिये में का

अथ चूलिका

(११६) अतर्जोविनिपातस्यैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥६१॥

नेपथ्यपानेपाथसूचन चूलिका, ययोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादो—(नेपथ्ये) स्वागत तथाधनाया (तत प्रविशति तपोधना) इति नेपथ्यपानेग भासतिकथाऽऽपेक्षी सूचनाचूलिका ।

यथा या कीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादो—(नेपथ्ये) भो भो वैनातिका, प्रवत्य ता प्रवत्यंता मञ्जुशामि—

हृशाम्बातेवाही जयति श्रगवा कौशिकमुनि
सहस्राशोचमे जगति विजयि क्षत्रमयूमा ।

विनेता क्षत्रारेजगदभयदानव्रतधर

क्षरप्यो लोकानो दितकरकुले दुविजयत ॥५१॥

इयम नेपथ्यपानैर्द्वैरे 'रामेण परशुरामो जित' इति सूचनाचूलिका ।

अथाङ्कास्य—

(१२०) अङ्कान्तपानरङ्कास्य छिन्नाङ्कस्याथसूचनात ।

३ चूलिका

जवनिका के भीतर स्थित पात्रा के द्वारा किसी अथ (वात) की सूचना देना चूलिका कहलाता है ॥६१॥

नेपथ्य में स्थित पात्र के द्वारा अथ की सूचना चूलिका है, जैसे उत्तररामचरित नाटक के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में—(नेपथ्ये में)—तपस्विनी का स्वागत ही (तब तपस्विनी आनेकी प्रवेश करती है)। यहाँ पर नेपथ्य पात्र बालती द्वारा आनेकी (के आने) की सूचना दी गई है अत यहाँ चूलिका (नामक अर्थोपनेपक) है ।

अथवा जैसे महावीरचरित नाटक के खतुप अङ्क के आरम्भ में—(नेपथ्य में) हे विमान से चलने वालों (देवों) मज्जुलों का आरम्भ करो, आरम्भ करो—(५१) इत्यादि के शिष्य बगवाद् कौशिक मुनि (शिश्यामित्र) की जय हो रही है। इस समय सप्तार में सहस्ररामि (सूय) क बश में अन्न (क्षत्रिय जाति या क्षात्र धर्म) विजयी हो रहा है। क्षत्रियों के शत्रुओं का ध्वस्त करने वाले (विनेता), सप्तार को अभयदान करने के मत के धनी लोगों को शरण देने वाले सुयवश के चन्द्रमा (राम) विजयी हो रहे हैं ।

यहाँ पर नेपथ्य पात्र देवों के द्वारा राम ने परशुराम को जित लिया वह सूचना दी गई है अत चूलिका (नामक अर्थोपनेपक) है ।

४ अङ्कस्य

अङ्क के अन्त में आने वाले पात्रा के द्वारा (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध (—विच्छिन्न) अग्रिम अङ्क के अथ की सूचना देने क कारण यह अङ्कास्य कहलाता है ।

॥६०॥

नीरुपा नीरुके नीरुपा
इति प्रथमाङ्क इति

अङ्क में प्रथम पात्रों
रा या अनेक पात्रों
पात्रों द्वारा प्रथम
अथक पात्र आने (कीर
केवल अथक पात्र होने
तो प्रकार के पात्र होने हैं

का सूचना नीरुपा
ने स्थित तथा हाथ

है ॥६०॥

और अग्रिम अथक
के वा अनेक नीरुपा
पात्र है, जो अङ्क के
पात्रा है ।

जहाँ एक पात्रों के
अथकनीरुपास्य

अथ की सूचना का
के से समझाया यह है—

(४) अथक हाथ आने
के तब अथक के हाथ

नेपथ्यक अथक पात्रों का
विचारक

अथक में अथक के हाथ
अथक पात्रों का ही अथक
नहीं होता केवल अथक
पात्रों, आनेकी कारण
अथक अथक के अथक में
अथक अथक को अथक में
राम में नहीं का हाथ

अथाङ्गावतार—

(१२१) अङ्गावतारस्त्वङ्कान्ति पातोऽङ्कुस्याविभागत ॥६२॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पुर्वाङ्कुवच्छिन्नायतयवाङ्गातरमापतति प्रवेशक-
विष्कम्भकान्मिथुय सोऽङ्गावतार, यथा मातृविकान्तिमिने प्रथमाङ्कान्ते विदुषक—
तण हि तुवेवि देवीए पेभवागेह गदुअ सङ्गीदावअरण करिअ तत्त्वभवदो दूद विसज्जेअ
अथवा मुअङ्गसदो ज्जेव ण उत्यावयिस्सदि । (तैत्त हि द्वावपि वया प्रधागेह गत्वा
सङ्गीतकीपकरण इत्वा तत्रभवतो दूत विसजयत्तम् अथवा मुअङ्गसद एवमनुभाष
पिप्पति ।) इत्युपक्रमे मुअङ्गसद—अथगादनतर सर्वाभ्यध पानाणि प्रथमाङ्कप्रकान्त
पात्रसङ्गातितदयान द्वितीयाङ्गादावारभन्त इति प्रथमाङ्कपानिच्छेदेनव द्वितीयाङ्कव्या
वतरणादङ्गावतार इति ।

५ अङ्गावतार

जहाँ (पूर्व) अङ्क का अन्त हो जाने पर (अग्रिम) अङ्क का अग्रिम
(अविच्छिन्न) रूप से अवतरण हो जाना है वह अङ्गावतार कहलाता है ।

जहाँ पहिले अङ्क में प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचित किया गया, पहिले अङ्क की
कथा का विच्छेद किये बिना ही अग्य अङ्क अवतरित हो जाता है तथा प्रवेशक गिल्कम्भक
आदि का प्रयोग नहीं होता यह अङ्गावतार है । जैसे मातृविकान्तिमित्र के प्रथम अङ्क
के अन्त में विदुषक तो आप दोनों देवी के प्रसांगूह में पात्र सङ्गीत की सायपी
एकत्र करके उनके पास दूत भेज बीजिये अथवा मअङ्ग का शब्द ही उन्हें उठा देगा ।

इस प्रकार का उपक्रम होने पर मुअङ्ग का शब्द सुनने के पश्चात् सभी पात्र
द्वितीय अङ्क के आरम्भ में प्रथम अङ्क में प्रविष्ट पात्रों (हृदयत और गणवासा) के
सिन्धु सिधा वम (सङ्गातित) का द्रव्यतीकन आरम्भ कर देते हैं । इस प्रकार यहाँ प्रथम
अङ्क की कथा का विच्छेद किये बिना ही द्वितीय अङ्क अवतरित होता है अत
अङ्गावतार (नामक अर्थापेक्षे) है ।

सिन्धुपत्नी—(१) ना० शा० (१६११५) के अनुसार अङ्गावतार का सधय
है—जहाँ प्रयोग का आधय लेकर पूव अङ्क के अन्त में ही अग्रिम अङ्क अवतरित हो
जाता है वह बीजाय की उक्ति से युक्त अङ्गावतार कहलाता है । ना० द० (१२३) के
अनुसार इसका सधय है—सोऽङ्गावतारो यत् पात्ररङ्गावतरमसूचनम् अर्थात् जो पूव
अङ्क के पात्रों के द्वारा (विष्कम्भक आदि व माध्यम से अग्य पात्रों व आगयन की)
पूजा दिव बिना ही इन्हें अङ्क का आरम्भ कर दिया जाता है यह अङ्गावतार
कहलाता है । यह लक्षण सधा उदाहरण दत्तरूपक के सधय ही है । सा० द० (६५८)
तथा प्रता० (२५) म भी इसी प्रकार का सधय है किन्तु यह । यह कुछ अग्रिम
रपट्ट हा गया है । सधेप में जहाँ (क) पूव अङ्क में अग्रिम अङ्क की वस्तु सूचित हो

अनुसार सूचन दखनी
(अग्रिम) मुअङ्ग—
अवतारो) सुअन-
इयदुअगपवी (सह
पुर्वाङ्गावतार एव अग्रिये
उदाहात्म्यमिति ।
के द्वारा (तेज) पुत्र अङ्क
व्याना, उन (द्वारा) का
आत्म्य कहलाता है । जो
(केर) सुअन—अवतारो
रहे है । इतरे—जो वहाँ
विष से वहाँ वतने है ।
इस अन्ति, सिन्धुविक,
होने लगे सुअन (ममक
लेर अग्रिम अङ्क
आग) की सुअन की वहाँ
। 'इहा गया है उता इते
'अनुसु का सधय है—
अङ्क में इतरे अङ्क की
वहाँ अङ्कवतार होता है ।
(१२१) तथा प्रता०
द्वारा अङ्गावतार अङ्क
की इतरे सधय ही है ।
अन सिन्धु गया है । साहि
अनुसु माता सधा है विवता
विता ही जाती है और जो
अङ्कवतारवतार के अङ्कक
किन्तु यहाँ यह की उदाह
का अङ्कवतारो अङ्गावतार
अवतार के अङ्कवतार से अङ्क
देवतो का सुअन इतरे अङ्क

(१२२) नाट्यधर्मपर्यैतत्पुनर्वस्तु निधेयते ॥६३॥

केन प्रकारेण प्रथमं तदाह—

(१२३) सर्वेषां नियतस्वैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र—

(१२४) सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् ॥६४॥

सर्वश्राव्य यद्गन्तु तत्र काश्चित्पुण्यते । यत्तु सर्वश्राव्यं यत्स्वगतमितिश्राव्यं निधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

नाट्यधर्म की दृष्टि से भी वस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है ॥६३॥

टिप्पणी—नाट्यधर्म = अभिनय के नियम नाट्यशास्त्रमयाग (प्रथा) । सा० द० (६१३७) से नाट्यधर्म के स्थान पर नाट्योक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है । वस्तुन ऐसा प्रतीत होता है—अवस्थानुकृति ही नाट्य है । इससे लोकवृत्त का अनुकरण किया जाता है । लोक से सभी बातें एक रूप से नहीं कही जाती । कोई बात सबके सामने कही जाती है (सर्वश्राव्य), कोई किसी से छिपाई जाती है तथा दूसरे पर प्रकट की जाती है (नियतश्राव्य), कोई बात सभी से छिपाकर मन ही मन बही जाती है (अश्राव्य) । इनम नियतश्राव्य किसी से भोगनीय होगा है सभी से नहीं अश्राव्य से सवथा भोगनीय होता है । किंतु नाट्य म इनकी भोगनीयता केवल अभिनय करने वाले पात्र की रूपेसा से होती है । सामाजिको को तो य सब बातें सुनानी होती हैं यदि सामाजिक इन बातों को न सुन सरेगा तो कथाप्रवाह म बाधा पड़ेगी और मत्वी भाँति रसास्वादन न किया जा सकेगा । इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण करने क विधि ही अभिनय म इन विविध उक्तिओं का प्रयोग किया जाता है । य नाट्य के धर्म (= स्वभाव) है । इनके प्रयोग से नाट्य म स्वाभाविकता रहती है ।

तीन मद् किस प्रकार ह मह बतलाते ह—

१ सर्वसे ही सुनने योग्य (सर्वश्राव्य), २ नियत जना के ही सुनने योग्य (नियतश्राव्य) तथा ३ किसी के भी न सुनने योग्य (अश्राव्य) ।

उनमें

१ प्रकाश, २ स्वगत—

सयके सुनने योग्य वस्तु 'प्रकाश' तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु 'स्वगत' कहलाती है ॥६४॥

जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह 'प्रकाश' (प्रकट रूप स) इस नाम से कही जाती है किंतु जो सर्वत्र लिये ही आश्राव्य होती है वह स्वगत इस शब्द से कही जाती है । नियतश्राव्य को बतलाया है—

प्रकाशयेत् ।

सबक वार्तिक का प्रयोग ही बावोजी, वार्तिक पुनः बहू को कथा के प्रथम ही अनुकरणकार अनुकरण की बहू के वार्तिक बहू बहू के मन्त्र में होते हैं । इ रूप में आरम्भ होता है । और तब यह सूक्ति आरम्भ होता है । इसके बाद आरम्भ हो जाता है अनुकरण की प्रथा । वार्तिक के अन्त में आरम्भ की प्रथा को ही (१) मन्त्र आरम्भ की प्रथा कहा जाता है । इस प्रथा के अन्त में आरम्भ की प्रथा का रूप ब्रह्म है । इस

करने योग्य अथ को योग्य (स्वगत) वस्तु को

ज्या है कि वही मन्त्र सबका प्रयोग किया जाता है अथ ही भी प्रयोग का प्रयोग है । अनुकरण का प्रयोग बहू के अन्त में आरम्भ की प्रथा है ।

(१०५) द्विधाऽयन्नाट्यधर्माद्यै जनात्मपवारितम् ।

अयत् नित्यथाय्य द्विप्रकार जनातिषापवारितभेदेन ।
तत्र जनातिक्रमाह—

(१२६) त्रिपताकाकरेणायानपवार्यातरा कयाम् ॥६५॥

अयोन्मामत्रण यत्स्याज्जनाते तज्जनातिकम् ।

यस्य न श्राय्य तस्यातर उच्यसर्वाङ्गुल ववानामिकत्रिमताहालपण षर
इत्यायेन सह य म व्यत तज्जनातिक्रमिति ।

अयं नाट्यधर्म (नित्यथाय्य) दो प्रकार का है—जनात (जनातिक)
और अपवारित ।

अयत् (इतरा) = नित्यथाय्य तो जनातिक और अपवारित के भेद से दो
प्रकार का होता है ।

५ जनातिक—

जनमें से जनातिक को मतसते ह—

वार्तालाप के सदम में (अतरा) जो त्रिपताक रूप हाय (की मुद्रा) के
द्वारा अयो को बचाकर (अपवाय), बहुत से जना के मध्य में दो पात्र आपस
में बात चीत करत है, वह जनातिक है ॥६५॥

जित (पात्र) को सुनामा नहीं है उसके बीच में हाय की सारी अङ्गुलियाँ ऊबो
हों किन्तु अनामिका वह को इस प्रकार त्रिपताका रूप में हाय की करके जब कोई
पात्र दूसरे के साथ मत्रणा करता है वह (सयाव) जनातिक कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक में जनातिक (जनों के मध्य में) तथा जनातिकम्
(जनों के निकट) दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है । धनञ्जय के अनुसार जनातिक
नामक सवाद की वे विशेषताएँ हैं—(क) कोई वयाप्रसङ्ग चलता रहता है उधर
सदम में यह दूसरे प्रकार का सवाद होता है (अतरा कयाम्) । (ख) बहुत से जना
के मध्य में (जनाते) अयो को बचाकर दो पात्र परस्पर मत्रणा करत हैं । अतः वह
अयो से गोपनीय सवाद हामा है । (ग) अय जनों को त्रिपताकाकर से बचा दिया
जाता है । जब हाय की तीन अंगुलियाँ ऊपर उठी होती हैं तबल अनामिका अगुठ स
दवाकर नीचे झुका ली जाती है तो त्रिपताकाकर कहलाता है । यह हाय की एक मुद्रा
है । (२) सा० द० (६ १३६) में दशरूपक का सलण ही अपनाया गया है । ता० द०
वृत्ति (१ १३) के अनुसार तो जनातिक बहु सवाद है जहाँ कोई पात्र त्रिपताकाकर
से किसी एक पात्र को बचाकर अय बहुतवक जनों से बात करता है । धनित्र का
भी यही आशय प्रतीत होता है इस प्रकार यह सवाद एक से तो गोपनीय होता
है किन्तु बहुत क त्रिप थाय होता है । जनातिक का द की व्युत्पत्ति ही है बहुना
(जनाता) अर्थात् श्राय्यना निकट जनातिकम् ।

दशरूपकम्—
(१) अत्र

त्रिपताकाकरेणायानपवार्यातरा कयाम्—
(१) त्रि

अयत्—

अयत् नित्यथाय्य द्विप्रकार जनातिक्रमाह—
यस्य न श्राय्य तस्यातर उच्यसर्वाङ्गुल ववानामिकत्रिमताहालपण षर

इत्यायेन सह य म व्यत तज्जनातिक्रमिति ।

अयं नाट्यधर्म (नित्यथाय्य) दो प्रकार का है—जनात (जनातिक)
और अपवारित ।

अयत् (इतरा) = नित्यथाय्य तो जनातिक और अपवारित के भेद से दो
प्रकार का होता है ।

५ जनातिक—

जनमें से जनातिक को मतसते ह—

वार्तालाप के सदम में (अतरा) जो त्रिपताक रूप हाय (की मुद्रा) के
द्वारा अयो को बचाकर (अपवाय), बहुत से जना के मध्य में दो पात्र आपस
में बात चीत करत है, वह जनातिक है ॥६५॥

जित (पात्र) को सुनामा नहीं है उसके बीच में हाय की सारी अङ्गुलियाँ ऊबो
हों किन्तु अनामिका वह को इस प्रकार त्रिपताका रूप में हाय की करके जब कोई
पात्र दूसरे के साथ मत्रणा करता है वह (सयाव) जनातिक कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक में जनातिक (जनों के मध्य में) तथा जनातिकम्
(जनों के निकट) दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है । धनञ्जय के अनुसार जनातिक
नामक सवाद की वे विशेषताएँ हैं—(क) कोई वयाप्रसङ्ग चलता रहता है उधर
सदम में यह दूसरे प्रकार का सवाद होता है (अतरा कयाम्) । (ख) बहुत से जना
के मध्य में (जनाते) अयो को बचाकर दो पात्र परस्पर मत्रणा करत हैं । अतः वह
अयो से गोपनीय सवाद हामा है । (ग) अय जनों को त्रिपताकाकर से बचा दिया
जाता है । जब हाय की तीन अंगुलियाँ ऊपर उठी होती हैं तबल अनामिका अगुठ स
दवाकर नीचे झुका ली जाती है तो त्रिपताकाकर कहलाता है । यह हाय की एक मुद्रा
है । (२) सा० द० (६ १३६) में दशरूपक का सलण ही अपनाया गया है । ता० द०
वृत्ति (१ १३) के अनुसार तो जनातिक बहु सवाद है जहाँ कोई पात्र त्रिपताकाकर
से किसी एक पात्र को बचाकर अय बहुतवक जनों से बात करता है । धनित्र का
भी यही आशय प्रतीत होता है इस प्रकार यह सवाद एक से तो गोपनीय होता
है किन्तु बहुत क त्रिप थाय होता है । जनातिक का द की व्युत्पत्ति ही है बहुना
(जनाता) अर्थात् श्राय्यना निकट जनातिकम् ।

अयत् नित्यथाय्य द्विप्रकार जनातिक्रमाह—
यस्य न श्राय्य तस्यातर उच्यसर्वाङ्गुल ववानामिकत्रिमताहालपण षर

इत्यायेन सह य म व्यत तज्जनातिक्रमिति ।

अयं नाट्यधर्म (नित्यथाय्य) दो प्रकार का है—जनात (जनातिक)
और अपवारित ।

अयत् (इतरा) = नित्यथाय्य तो जनातिक और अपवारित के भेद से दो
प्रकार का होता है ।

रितम् ।

म् ॥६५॥
निक्रम ।

भिरुभिमहाकालपण क

—बनाना (जनातिक्र)

अपवारित के मत से हा

हय हाथ (की मुद्रा) क
अर्थ में दो पात्र आगत

से साथे अर्पुणां कवी
र को कहे जब कोई
हस्ता है ।

मे) उवा बनानेकम्
प के अनुसार जनानिक
पतना रहता है उक्त

हे) (ख) बहुत से बजो
मपा करते हैं । जब बह
पताकार के बचापि

केवल प्रतिलिख अर्पु हे
है । बह हाथ को एक पुन
अपवारण बना है । ना० २०

ही कोई पात्र निगमना
वात करता है । अतिक्र
एक के तो गोपनीय होना
की सुव्यक्ति ही है अण

अपापवारितम्—

(१२७) रहस्य कथ्यतेऽयस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥६६॥

परावृत्त्यापस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाटपद्यमप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

(१२८) किं श्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं श्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥३७॥

× अपवारित—

अब अपवारित को बतलाते हैं

जहा (किसी पात्र के द्वारा) मुँह फेरकर (परावृत्त्य) दूसरे व्यक्ति से
गुप्त बात (रहस्य) कही जाती है, वह अपवारित (सबाद) कहलाता है ॥६६॥

मुह फेर कर (धूमकर) दूसरे से गुप्त बात कहना ही अपवारित ह ।

टिप्पणी—(१) श्लोक तथा वृत्ति म जो अपस्य' शब्द है वह अयस्य' के
अप में है । ना० २० (११२) म भी यही लक्षण है—परावृत्त्य रहस्यापयाऽयस्य तद-

पवारितम् । नाटको क सदन से भी यही बंदित होता है (२०, रत्नावनी २ १६-२०)
अत रहस्यम् अयस्य कथ्यत—रहस्य अप से बड़ा जाता है । (२) दशरूपक' के अनु

सार जनार्तिक और अपवारित दोनों गोपनीय कथन हात हैं । दोनों का भेद यह
है—(क) जनार्तिक मे निपतानाकर से अय जनो को बचाया जाता है किन्तु अपवारित

में मुँह फेरकर (मुझपर या धूमकर) अयो से बचा जाता है, (ख) जनार्तिक मे जनो
के मध्य म ही बचा-स दम की बात बहो जाती है किन्तु अपवारित म एक ओर मुझकर

रहस्य ना कथन किया जाता है । सा० २० (११३८) म अपवारित का लक्षण दशरूपक
के समाप्त ही है (३) ना० २० (११०) के अनुसार मुझ मांकर किसी दूसरे से

रहस्य का कथन करना अपवारित है यह बहुतां से छिपाकर एक पर प्रकट किया
जाता है ।' इस प्रकार जनार्तिक से इसका यह भी अंतर है—जनार्तिक तो एक जन

से गोपनीय हाता है और बहुत जनो म लिये श्राध्य होता है । इससे विपरीत अप
वारित बहुत जनो स गोपनीय होता है और एक व्यक्ति के प्रति ही था य होता है—

इह यद् धृतमकस्य मप्य बहूनामप्य तत्र जनार्तिकम् । तन्निपरीतमपवारितम्—
ना० २०—(१११) ।

X आकाशभाषित—

नाटपद्यम के प्रसङ्ग से आकाशभाषित को बतलाते हैं—

जहाँ कोई अरेता पात्र (एक) दूसरे पात्र ने विना तथा किसी ने
विना कहे भी माना सुनकर ही 'क्या सहते हो ?' इस प्रकार कहता है
(श्रवीति) वह आकाशभाषित है ।

प्रियवच = प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिजमदमित्त स भगवादेव पिनाकी गुह—

धीय यद् न सद्गिरा पयि ननु ध्यक्त हि लक्ष्मणि ।

त्याग सप्तसमुद्रितमहीनिव्याजदानावधि

सत्यमद्गतपीनिवैमगवत किं वा न लाकात्तरम् ॥६७॥

रक्तचोक । यथा तत्रैव—

त्रय्यास्त्राता यस्तमाय तज्ज—

स्तेनाद्यव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।

राजबलो रामभद्रेश राजा

लव्यक्षेमा पूषकाभाश्चराम ॥६८॥

एव शोचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शोच नाम मनोमदर्यादिना कामाद्यनमि
भूतवम् । यथा रथो—

'का त्व शूभे कस्य परिणहो वा वि वा मदभ्यागमकारण ते ।

आवकव भवता वशिना रघूना मन परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥६९॥

[यहाँ राम की निप्रकारिता प्रकट हा रही है]

५ प्रियवच का अर्थ है—प्रिय ओसने वाला । जसे (बीरचरित २ २६ में ही) (रामचन्द्र जी परशुराम से बहते हैं) आपका जन्म जमदग्नि से हुआ, वह भगवान् पिनाकधारी (शिव) आपके गुह हैं आपके जो ० राक्षस हैं वह बागी का विषय नहीं हो सकता, वह तो आपके कर्मा से ही ध्यक्त हो रहा है सप्त सागरों से घेदित पृथ्वी का निरदेश भाव से दान कर देना ही आपके त्याग है सत्यमद्गतेन बीर तपस्या के निधान आपके बया बात लोकोत्तर नहीं है ।

[यहाँ रामचन्द्र जी की प्रियवादिता प्रकट हो रही है]

६ रक्तचोक (= सोरप्रिय) । जसे वहाँ (बीरचरित ४ ४४ में ही)—
अयोध्या की प्रजा बगवत् से कह रही है) 'जो आपका यह पुत्र सीतां वेदों का रक्त में आप प्रभु की श्रुप से, उस रामचन्द्र के आज ही राजा बनने से हम सब लोग धेदत राजा से युक्त होकर, कुशलता प्राप्त कर मनोरथों को पूरा कर विचरण करेगे ।'

७ इसी प्रकार शोच इत्यादि (नायक मुणों) का भी उदाहरण दिया जा सकता है । मन की निमलता आदि के द्वारा काम आदि (बोधों) से अमिष्टत न होना शोच कहलाता है । जैसे रघवरा (१६८) में 'हे शुभे तुम बीर हो ? किगकी पत्नी हो ? मेरे पास तुम्हारे आने का क्या कारण है ? तयमा रघुवर्गियों के मन की अद्रुति वर-रथो से विमुख रहती है मैं हम समाचार मुझे (सब) बातसामने ।

[यहाँ नायक के मन की ऐसी पवित्रता का उत्पन्न किया गया है जो पर स्त्री आदि से अमिष्टत नहीं होनी]

परा बरिष्ठ ।
यमञ्जलिसे ॥६१॥

समुद्रद्वी ।
सि मे ॥६५॥

६२॥

दिग् भद्र ।

मम चक्षुः ॥६६॥

शोचोचित (४२१)
शर विक्के लको
अन के सिंगि ह
विषय का अन
किसे शय कोबर

श्री (सुशोचोचित
धारण करने वाले
मन हो ।

बाला । अने—(१)
विने है हृदयमां रे हो ।

हो है ।
ने हरेने वाला । जो
को से बना हुआ हो,
शय का प्रत्येक पल के
सब) पल पर सब को
भला सुखय न (शुभा
य की शोच सिंग ह

विघ्न पुन पुनरपि प्रतिहयमाना

प्रारधमुत्तमजना न परित्यजति॥ १७३॥

युवा प्रविद्य । बुद्धिर्मानस । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यदा मातृविकानिमित्रे—
यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणार्था प्रत्युपदिशती मे वाला ॥७४॥

स्पष्टमयत् ।

नेतृविशेषनाह—

(२) भेदेष्वनुष्ठां ललितशा तोदात्तोद्धतैरयम् ।

यद्योद्देव सक्षणमाह—

भी आरम्भ किये हुए काय को नहीं छोड़ते ।

[यहाँ उत्तमजनों की स्थिरता लिखलाई गई है ।]

११ 'युवा का अर्थ स्पष्ट ही है । बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान किसी वस्तु को जानना । किन्तु गृहीत (ज्ञान) में विशेषता उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा कहलाती है । अने मातृविकानिमित्र (१५) में गणदास भातविका के विषय में कहता है भेदे द्वारा प्रयोग के विषय में जिस जिस भाव का उपदेश दिया गया है उसमें ही विशेषता उत्पन्न करने के कारण वह वाला (मातृविका) मानों मुझे बतले हों मे उपदेश देती हैं ।

अय (युगो के उदाहरण आदि) स्पष्ट ही हैं ।

टिप्पणी—मि० ना० भा० (२४३—६), सा० द० (३३०) प्रज्ञा० (१११—२६) ।

नायक के प्रकार

नायक के प्रकार बतलाते हैं—

यह (नायक) ललित शान्त, उदात्त और उदात्त भेद से चार प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—(१) ना० भा० (२४१७), भा० प्र० (पृ० ६२) ना० द० (१६), सा० द० (३३१) प्रज्ञा० (१२७) आदि । (२) 'ललित' आदि चारों से पूर्व धीर शब्द जोड़कर १ धीरत्ववित २ धीरप्रगात ३ धीरोदात्त तथा ४ धीरोद्धत्, य चार प्रकार के नायक माने जाते हैं । (३) धीर शब्द का अर्थ है—धर्मयुक्त अर्थात् महान् सङ्घट में भी कातर न होने वाला (ना० द० १६) (Self Controlled Haas) सा० द० (३५३) के अनुसार महान् विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से विचलित न होना ही धर्म है ।

नाम निर्देश के क्रम से सक्षण बतलाते हैं—

१ धीरत्ववित—

★ प्रारधमुत्तमगुणास्त्वमिहाद्वैत इति पाठान्तरम् ।

दोरा ।

रूपा ॥०॥

पामुखा ।

रूपा ॥०॥

रिति—

उत्तमम् ।

रामम् ॥०॥

मन्वा ।

में (एकत्र परलुप्य
यहाँ एकत्र और न
के (युगु तोमै का)
की इतिवत्ता पुनर्नो

सर्वांगों की सजाव
के प्रकारों के लक्षण
= अन्त में उत्तम व
विचलित क्या करी कल्पते

व्यक्त न होना बने
आप अने मूल्या अने का
सर्वदृष्ट के महत्त्व को

कहा है) — नीच वदु
के के लोग काय को आरम्भ
नो से आर-बार प्रतिहयमान

श्री मुमु ॥१॥
 १४ श्रीमद्भक्तिसिद्धि श्री
 शिर्षकः ।

नया षट्
 गीतार्थः प्रकाशः ।
 नया शिर्षकः
 श्री श्रीगुरुः ॥११॥

श्रुतः ।

श्री, सुखी और योगी
 कहलाता है ।

श्रवण शब्द को शक्ति—
 —श्रवण शक्ति (श्रवण शक्ति)
 शक्ति होने के कारण
 शक्ति में शक्ति प्रकाश है ।
 नव श्रवण (= श्रवण =
 श्रवण शक्ति) । यही शक्ति

श्रवण शक्ति से कह रहे हैं—
 मन्त्री पर श्रवण शक्ति प्रकाश
 शक्ति में शक्ति प्रकाश शक्ति
 शक्ति (शक्ति शक्ति), शक्ति शक्ति
 शक्ति के कारण शक्ति शक्ति शक्ति
 शक्ति शक्ति शक्ति ।

श्रवण शक्ति का शक्ति शक्ति
 शक्ति शक्ति शक्ति शक्ति शक्ति
 शक्ति शक्ति शक्ति शक्ति शक्ति शक्ति

श्री श्री प्रकाश कहलाता है ।

विनयादिनेतृसामायगुणयोगी धीरशातो द्विजादिक इति । विप्रवर्णिकसचिवा
 शीना प्रकरणनेतृगामुपलक्षण, विवक्षित चतत् तेन नैश्चित्यारिगुणसमवेत्प्रि विप्रार्थिनां
 शातलव, न क्षालित् । यथा मालतीमाधव मृच्छकटिकादौ माधवशास्वत्त्वादि ।

'तत् उदयगिरिरेवक एष
 स्फुरितगुणश्रुतिशुद्धर कलायान् ।
 इह जगति महोत्सवस्य हेतु—
 नयनवतामुदिषाय बालचन्द्र ॥७६॥

इत्यादि । यथा या—
 मखसतपरिपूत गीनमुद्रासित यत्
 सदसि निविडर्धन्यबह्मभोग्य गुरुस्तात् ।
 मम निधनदशाया वतमानस्य पाप—
 स्तवसदृशमनुप्यर्धुप्यते पीपणायाम् ॥७७॥ (इत्यादि)

विनय इत्यादि जो नायक के सामाय गुण (कहे गये) ह उनसे युक्त द्विज आदि
 धीरशांत होता है । द्विज इत्यादि यह कथन प्रकरण के नायक होने वाले ब्राह्मण
 मणिक और मन्त्री आदि का उपलक्षण है । और यह कहना अभीष्ट ही ह, इस प्रकार
 निश्चितता आदि गुणों के होने पर भी (प्रकरण के नायक) विप्र इत्यादि में शांतता
 ही होती ह, क्षालित्य नहीं । जने मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि में माधव एव
 चरखस आदि धीरप्रशांत नायक ह ।

(काम वकी माधव का वचन करती हुई कहती ह) —“प्रकट होने वाले गुणों
 की कान्ति से सुख, कलाओं बला (१ नव्य आदि कलाओं के निमित्त, २ चन्द्रपथ में
 चन्द्रकलाओं से युक्त), इस सार में वेच वालों के महोत्सव का निर्मित यह (माधव)
 उस देवराज से (तत् = तस्मान्) इसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार उत्पत्ति से
 शालचन्द्र उचित होता ह ।” इत्यादि ।

अथवा जेसे मृच्छकटिक (१० १२) में मखसत० इत्यादि (ऊपर उवा० ४०)
 टिप्पणी—(१) प्रकरणनेतृगाम् उपलक्षणम्—यहाँ द्विजादिक (ब्राह्मण
 श्रवण) शब्द प्रकरण (नायक रूपक भेद) के नायकों को सूचित करता है । अर्थात्
 (१ ३६) जो प्रकरण के नायक कहे गये हैं—अमात्य, विप्र वगिक वे धीरप्रशांत
 होते हैं । (२) विवक्षित चतत्—विप्र आदि धीरप्रशांत होने हैं यहाँ अभीष्ट है ।
 इस प्रकार यह नियम ही जाता है कि—विप्र इत्यादि धीरप्रशांत ही होते हैं ।
 यदि किसी विप्र आदि में धीरत्वसित के गुण (निश्चितता इत्यादि) हों तो भी वह
 धीरप्रशांत ही माना जायेगा । किन्तु यहाँ यह नियम नहीं होता है कि विप्र आदि ही
 धीरप्रशांत होते हैं । इसलिये अर्थ क्षमिप (राजा) आदि भी धीरप्रशांत हो सकते हैं
 जेसे बुद्ध धीरप्रशांत नायक है ।

य धीरोदात्त —

(५) महासत्त्वोऽतिगम्भीर, क्षमावान्वित्यन ॥४॥
स्थिरो नियुदाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत ।

महासत्त्व = शीतरोषाद्यनभिप्लुता त सत्त्व, अविश्रयण = अनारमस्वापण ।
नियुदाहङ्कार = विनयच्छास्त्रवेषेण दृढव्रत = अङ्गीकृतनिर्वाहक धीरोदात्त यथा
नामान् = जीमूतवाहन —

विशामुख स्वयत् एव रत्नप्रदायि दह मम मासमस्ति ।
तुम्हिल न परमामि सख्य सायद् कि मयावास्व विरतो गच्छन् ॥७॥

यथा च गम प्रति—

माहृतस्वाभियेकाय विगृह्यस्य वनाय च ।
न मया लभितस्तस्य स्वकीयोऽप्याकारविध्रम ॥७६॥

यच्च केपाविरत्यर्वाग्निना सामायुधुवानामपि विद्योयलनणे भवचित्तकीलन

तत्तथा तत्राधिपत्रप्रतिपादनाथम् ।

३ धीरोदात्त—

उत्कृष्ट अत करण (सत्त्व) वाला अत्य त गम्भीर क्षमाशील, आत्म
श्लाघा न करने वाला, स्थिर अहंभाव को दबाकर रखन वाला, दृढव्रती
नायक धीरोदात्त कहलाया है ॥४॥

महासत्त्व का अर्थ है—जिसका अत करण शोक क्रोध आदि से अविभूत
नहीं होता । अविश्रयण का अर्थ है अपनी प्रशंसा न करने वाला । 'नियुदाहङ्कार का
अर्थ है कि उसका मुख (अवनेय) मन्त्रता से छिपा रहता है । शब्दबल बहु होता है आ
स्वीकृत बात का निमोह करता है । युता धीरोदात्त नायक होता है । जैसे नागानन्द
नायक ने जीमूतवाहन है । (अभिप्लुतवाहन की गहर के प्रति उक्ति ५ १६)—'जे गवड,
मेरो नशो के छिन्न से रक्त बहु ही रहा है अब भी मेरे शरीर में मोस है मुन्हाही भी
नो से छुपिन नहीं देख रहा है, फिर तुम (मुसको) खाये से क्यों रक्त मये ?
और जैसे राम के प्रति कहा गया है—'मामाहाक ३ २५' 'अभियुक्त क लिये
बुकाये गये और तब ने लिये भजे गये राम का (सत्त्व) मुझे तनिक भी आहृति विकार
नहीं दिखाई परा ।

यहाँ स्थिरता इत्यादि (नायक ने) किट्टी सामान्य गुणों का जो जो कहीं
विरण (प्रकार के नायक के) सख्य से उल्लेख कर दिया गया है पर उन गुणों का
उप विरोध प्रकार के नायक के (तम) आधिपत्य बसलाने क लिये है ।
दियगुणो—यह अङ्को से सबकी है कि नायक ने सामान्य गुणों का स्वयं या
विपरता का बयन किया जा चुका है फिर यहाँ धीरोदात्त नायक के लक्षण में स्वयं
का कयो उल्लेख किया है । इसका समाधान यच्च इत्यादि में दिया गया है कि
अप नायकों की अनेक धीरोदात्त नायक में विपरता गुण का आधिपत्य होता है, यह
बतलाने के लिये यहाँ पुन स्थिर 'यह कहा गया है ।

७५८

सुख...
विरति...
विश्रयण...
नियुदाहङ्कार...
महासत्त्व...
स्थिरो...
धीरोदात्तो...
दृढव्रत...
महासत्त्व...
अविश्रयण...
नियुदाहङ्कार...
नामान्...
विशामुख...
तुम्हिल...
यथा च गम...
माहृतस्वाभियेकाय...
न मया लभितस्तस्य...
यच्च केपाविरत्यर्वाग्निना...
तत्तथा तत्राधिपत्रप्रतिपादनाथम्...
३ धीरोदात्त—
उत्कृष्ट अत करण...
महासत्त्व का अर्थ है—
महासत्त्व...
अविश्रयण...
नियुदाहङ्कार...
अर्थ है कि...
स्वीकृत बात...
युता धीरोदात्त...
नायक ने जीमूतवाहन...
मेरो नशो के छिन्न...
और जैसे राम...
यहाँ स्थिरता...
विरण (प्रकार...
उप विरोध प्रकार...
दियगुणो—यह...
विपरता का बयन...
का कयो उल्लेख...
अप नायकों की...
बतलाने के लिये...

मुनु च कथं जीभूतवाहनादिनिगान-दादावुदास इत्युच्यते ? बोधाय ह्ये नाम सर्वोल्लापेण हृत्ति, तच्च विजिगीषुत्वं एवोपपद्यते जीभूतवाहनेस्तु निजिगीषुत्स्य च कविना प्रतिपादितः । यथा—

तिष्ठन्माति वितु गुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा

यन्सवाहृतं सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यत ।

किं भुक्ते भुवनत्रये घटितरसौ भुक्तोऽञ्जित या गुरो-

रायास खलु राज्यमुज्जितगुरोऽस्तमास्ति कश्चिद्वद गुण' ॥२०॥

इत्यनेन ।

'विशोऽविधातु शुभ्यु या त्यक्त्वंश्रय इमगतत् ।

वन याम्यहदन्त्यय यथा जीभूतवाहन ॥२१॥

इत्यनेन च । अतोऽप्यायं तयोमप्रधानन्वात्परमकारिण्यत्वाच्च वीतरागवच्छातता ।

अयच्छान्दानुक्तं यत्तयाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नाशकमुपादाया तदा तयाभूत—

(राज्जु) (१) नामानन्द आदि (नाटक) में जीभूतवाहन इत्यादि धोरोवात् नायक ह, यह कसे कहा जा सकता ह ? क्योंकि उदात्त वा अथ ह—सर्वोच्छिद्य रूप में रहना (वृत्ति) और, यह बात विजय की आकाङ्क्षा होने पर ही न सप्तती ह । किंतु जीभूत वाहन की तो कवि ने विजय की आकाङ्क्षा से रहित ही बर्णित किया ह । जैसे— (नामानन्द १७) ।

पिता के सामने सुनि पर बड़ा हुआ (शोकित) जैसा शोभित होता ह क्या बसा सिंहासन पर बड़ा हुआ (शोभित) हो सकता ह ? पिता के चरण बजाते हुए जो जो सुख मिलता है, क्या वह राज्य से मिल सकता ह ? पिता के खाने से बचे हुए (सुक्तोऽञ्जित) पचाय की खाने से जो सतोर्य (वृत्ति) मिलता ह क्या वह तीनों लोकों के भोग से भी मिल सकता ह ? पिता का परित्याग करने वाले के लिये राज्य तो केवल आपास मात्र ह क्या उसमें कुछ भी लाभ ह ?

इसके द्वारा तथा नामानन्द (१४)—इमगतत् (वशपरम्परागत) ऐश्वर्य की छोकर भाता पिता की सेवा करने के लिये मैं वन को जा रहा हूँ, जैसे जीभूतवाहना चला गया वा ।

इसके द्वारा श्री (जीभूतवाहन की विजय की आकाङ्क्षा से रहित विखलाया गया ह) । इसलिये इस (जीभूतवाहन) में श्लयधिक शम (निर्वेद) की प्रधानता ह और अत्यन्त श्रुणा परायणता ह अत यह वीतराग (राग रहित) की भाँति शात (घोस्त्रपात) ही ह ।

(११) [अदि कोई कहे कि मतययतो के प्रति जीभूतवाहन के अनुराग का भी कवि ने यथन किया है अत यह अत्यन्त शमप्रधान वीतराग वा निरभिलाष नहीं है—इस पर प्रवचनी कहलाता ह ।]

और नामानन्द नाटक में (अन) यह तो अनुचित हो ह कि जो उस प्रकार के राग और सुख आदि में निरभिलाष नायक को लेकर उसके विषय में (अनरा) इन प्रकार मतययतो के अनुराग वा यथन किया गया है ।

त्यन ॥१॥
व्रत ।
शक्तिरथ = अनात्मनस्य,
निर्वाह, धोरोवात् यथा
३ म मासमात् ।
व विरतो मरुत् ॥२०॥
च ।
न ॥१६॥
विषयवन्त शक्तिरानी

नामीर, समागीन, आन
रखने जाता, इन्द्रजी
शोक आदि से अधिक
ने जाता । निरुद्धकृत्वा
। इन्द्र बहू होगा ह को
होता ह । जैसे नामानन्द
वर्तक १ (१६)—है मरुत्
रिद से भात ह, कुहारी की
ब्यों कर पाये ?
६ ३ २३) 'अनिक के लिये
ज्ञ तनिक भी आस्ति विचार
माम्य पुणों का को को हूँ
मया ह वह उन पुणों का
के लिये ह ।
सात्माय पुणों में स्वयं वा
देवत नायक के लयन में स्वयं
यादि में किया गया है कि
पुण का वास्तव होता है य

मलयवलयनुरागोपवणनम् । यञ्चोक्तम्— सामान्यगुणयोगी द्विजाविधीरशा त इति । तदपि परिभाषिकत्वाद्वास्तवमिदमप्यवकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-मुषिष्ठिर-जीमूत वाहनादिपयवहारा नात्तामाविर्भावयति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्त सर्वोत्कर्षेण दृष्टिरौगाद्यमित म तज्जीमूतवाहनादो परिहीयते । न ह्ये कल्पयति विजिगीषुता । य केनापि शीघ्रत्यगदिनाऽप्यागतिभेदे स विजिगीषु, न य परापरकारेणाथप्रवृत्तिप्रवृत्त । तथात्वे च मागदूपकादेरपि धीरोदात्त्वप्रसक्ति । रामादरपि जगत्पान्तीयमिति बुद्ध निग्रहे प्रवृत्तस्य नात्तरीयकत्वेन

(111) और जो यह कहा गया है कि (विनय आदि) सामा य गुणो से युक्त (प्रकरण के नायक होने वाले) ब्राह्मण, वैश्य, अमात्य (द्विजादि) धीरप्रशात नायक होते हैं (अत जीमूतवाहन धीरप्रशात नहीं हो सकता)? यह कथन भी पारिभाषिक है वास्तविक नहीं । इसलिये भेदक (व्यावतक) नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रकरण के नायक ब्राह्मण आदि धीरप्रशात नायक होते हैं यह कथन पारिभाषिक है यह तो धनञ्जय की कल्पना है वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस व्यक्ति म धीरप्रशात के गुण होंगे वही धीरप्रशात हा जायेगा । इस प्रकार केवल कल्पित परिभाषा के द्वारा जीमूतवाहन की धीरप्रशात नायक होने से नहीं रोका जा सकता या कहिये कि यह परिभाषा जीमूतवाहन से धीरप्रशात के लक्षण की व्यावृत्ति (भेद) नहीं करा सकती ।

(समाधान) इस पर कहा जाता है—(1) जो यह कहा गया है कि सर्वोत्कृष्ट रूप से रहना उच्चावता है इत्यादि । उस उच्चावता का जीमूतवाहन में भी अभाव नहीं है (परिहीयते) । क्योंकि विजय की आभाङ्गशा केवल एक प्रकार की ही नहीं होती अपितु जो व्यक्ति शीघ्र स्वयं, वय आदि (गुणो) के द्वारा दूसरों से बढ जाना है (अतिचेत) यही विजिगीषु (विजयाकाङ्क्षी) है जो दूसरों का अतिकार करके धन बढ़ाने आदि में लगा रहना है वह विजिगीषु नहीं है । यदि उसे भी विजिगीषु माना जाये (तथात्वे—वसा होने पर) तो बटमार (भागदूपक) आदि भी धीरोवात होने लगेगे ।

[यहा यदि कोई कह कि राम ने भी रावण आदि का घघ करने भूमि सम्पत्ति तथा यज्ञ आदि प्राप्ति किया था फिर तो वे भी उदात्त नायक नहीं होंगे—इसका समाधान करत हुए कहते हैं—]

'जगन् का पालन करना है इस विचार से बुद्धो को बण्ड देने में प्रवृत्त हुए राम आदि भी आनुपङ्गक रूप से (= नात्तरीयकत्वेन) भूमि आदि की प्राप्ति हो

भूमिपति । रामात्तरीयकत्वेन ।
उत्त । इत्येवम्—विज्ञानम् ।
सामान्यगुणयोगी द्विजादिधैरशा त इति ।
तत्परिभाषिकत्वाद्वास्तवमिदमप्यवकम् ।
अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-मुषिष्ठिर-जीमूत वाहनादिपयवहारा नात्तामाविर्भावयति ।

यह [यह] किसे के बल का जो बल का है
की शक्ति से बहुत बल का है।
भी दूसरों का हित सम्पन्न करने है
(वसा ही हूँ) प्रवृत्त करने है ।
और, जो (दुःख) में घट्टा है कि
बल से किन्तु-नरपुत्र का बल होने है
साम (दुःख) की शक्ति करने बल
रहित ही होते हैं । हूँ बल की है ।
दिन करने हुए के अति अतिकार-रूप
है बल काय हूँ (बल) ही इन
की शक्ति भी बल बढ़ते हैं और बल
करते हैं । इत्यादि ।

(11) परमलो के अति (अनुपङ्गक) रूप से हूँ हूँ स्वयं कतिक हूँ ।

(10) और, बल का जो बल का है
उत्तम रूप हूँ हूँ कि हूँ हूँ और
ब्राह्मण इत्यादि में हूँ हूँ और
प्राप्ति में हूँ हूँ हूँ हूँ हूँ

यदि यह भी किन्तु-नरपुत्र का है
तपि (किन्तु-नरपुत्र) ही स्वयं काय
की शक्ति है । इस प्रकार किन्तु-नरपुत्र का है

दिशा 'जीरसा' इति ।
ना बुद्ध-मुक्तिर-बीज

न सम्बोधयन्तानां
प्रवर्तिष्यन्ति कते स
पादुकराणि धीरोरा
नृपत्य नानरीनकतेन

दि) शान्त्य युगे से मुक्त
दि) शोप्रशान्त नामक
शु कचन को शक्तिपिक

शक्ति शीघ्रशान्त नामक
ना है क्युनकि शो
प्रशान्त ही शक्ति । तस
प्रशान्त नामक होते से
शुद्ध से शीघ्रशान्त के

शु भया है कि सर्वोक्त
शान्त में भी अभाव नहीं
करती ही नहीं होती
पर दूसरों से बड़ जगह है
का अन्कार करते तस
वि उसे भी निर्जिगीष बना
) भाति भी धीरोरात होने

ग भाति का बड़ कते मुक्ति
उदात्त नामक बड़े होने—

यों को बड़ देने में प्रवृत्त
रते) मुक्ति भाति को प्रवृत्त है

भूम्यादिलाभ । जीमूतवाहनादिस्तु प्राण रधि परायसम्पादनाद्विषयमप्यतिशेत्, इत्युदा
त्तम । यच्चोक्तम्— तिष्ठ भाति इत्यादिना विषयमुखपरामुञ्चतेति तत् सत्यम्—
काप्यप्यहेतुषु स्वमुखट्ट्याणामु निरभिलाषा एव जिगीषव तदुक्तम्—

'स्वमुखनिरभिलाप छिद्यसे लोषहेतो

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविद्यव ।

अनुभवति हि भूम्ना पादपस्तीबमुष्ण

शमयति परितोप छाययोपाश्रितानाम् ॥२२॥' इत्यादिना ।

मलयवत्यनुपरोपवथन त्वमा तरसाश्रय शा'दागमकता प्रत्युत नियमति । शात
त्व चानाहृष्टकृत्व, तच्च विभ्रादेरीषित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विभ्रादे शा'रता, न
स्वपरिभाषामायेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कार्शिकत्वविशेषोऽपि सकामनिष्कामकरण
स्वादिधमत्वाद्देव । अता जीमूतवाहनादेर्धोरात्तत्त्वमिति ।

गई [यहा किसी के अन्कार की भावना से धन-ग्रहण आदि नहीं है अत राम आदि
की उदात्तता मे शांता करना ठीक नहीं] । और जीमूतवाहन आदि तो प्राणों के द्वारा
भी दूसरों का हित सम्पादा करते हैं इस प्रकार सभी (विषयव अर्था) से बढकर हैं अत
(उदात्त ही नहीं) उदात्तत नामक है ।

और, जो (दुःखसो ने) कहा है कि तिष्ठन् भाति' इत्यादि के द्वारा (जीमूत
वाहन की) विषय परामुञ्चता अकृत होती है यह ठीक ही है, (सच्चे) विजिगीषु जन
काप्यव (मुच्छता) को उत्पन्न करने वाली, अपने मुख की इच्छा के प्रति अभिलाषा
रहित ही होते हैं । यही कहा भी है (शाङ्ख्यत ५.६ में बुध्यन्त के प्रति) 'आप
रहित अपने मुख के प्रति अभिलाषा रहित हीबर लोक (हित) के लिये कष्ट-सहन करते
हैं, अथवा आपकी श्रुति (जन्म) ही इत प्रकार है, क्योंकि बुद्ध अपने सिर पर
तीन उष्णता को सहन करता है और अपनी छाया मे आश्रित जनों के सत्ताप शात
करता है ।' इत्यादि ।

(ii) मलयवतो के प्रति (जीमूतवाहन क) अनुराग का बधन तो शान्त रत क
अनुसृत नहीं हो सकता, बल्कि बह (जीमूतवाहन क) शान्त नायक होने का ही निर्वय
परता है ।

(iii) और, शान्तता का अर्थ है—अहृष्टकार से रहित होना (अहृष्टकारान्यता)
उसका शांदाण इत्यादि मे होना उचित (स्वाभाविक) ही है । इस प्रकार वस्तुत ही
याहृण इत्यादि में शान्तता होती है केवल अपनी (कलित्त) परिभाषा से ही उनमें
शान्तता नहीं मानो गई ।

यद्यपि बुद्ध और जीमूतवाहन दोनों मे समानरूप से (अविशेष) कष्ट भाव है
तथापि (जीमूतवाहन में) सकाम कष्टभाष और (बुद्ध में) निष्काम कष्टभाष होने से
शान्ता मे भेद है । इस प्रकार जीमूतवाहन इत्यादि धीरोदात्त नायक ही हैं ।

अथ धीरोद्धत —

(६) दर्पमात्सयभूमिच्छो मायाच्छदमपरायण ।

धीरोद्धतस्त्वहृद्धारो चलषचण्डो विकल्पन ॥

दप = क्रीयादिभेद, मात्सयम् अक्षय्यता, मन्त्रलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशन
माया छप = वञ्चनामात्रम् चल = अनवस्थित चण्ड = रौद्र स्वगुणशक्ती =
विकल्पनो धीरोद्धतो भवति यथा आमदग्ग = नसासाधारसारनिमुचनेविजय

टिप्पणी—(१) ह्य वृत्त भागानन्द नाटक का नायक जीमूतबाहून् है । धनिक
की दृष्टि से वह धीरोदात्त नायक है पूषपक्षी इस मत से सहमत नहीं । उसने
अनुसार जीमूतबाहून् धीरप्रशान्त नायक है । सर्वत्र म उसकी सीन मुक्तियाँ हैं जिनका
अभी अनुवाद म इमथ विवरण दिया गया है । उन तीनों मुक्तियों का घण्डन करने
धनिक ने यह सिद्ध किया है कि जीमूतबाहून् धीरोदात्त नायक ही है (इ०, अनुवाद)
(२) विजयीगुला (विजयकाण्डशा) उदात्त नायक का विलिख्ट गुण मत्ता गया है (मि०,
भा० प्र०, पृ० ६३ प० ८) । (३) अतोऽस्य बीतरामवन् शातता—इस वाक्य द्वारा
पूषपक्षी की ओर स जीमूतबाहून् को शात गायक सिद्ध करने से लिये अनुमान प्रस्तुत
किया गया है । अनुमान का प्रकार है—जीमूतबाहून् धीरप्रशात नायक है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि उसमें राम की प्रधानता है और वह परम कारुणिक है (हेतु), बीतराम के समान
(उदाहरण) । यह बीतराम शब्द से बुद्ध का ग्रहण होता है (?) । शातत्व
वानहृत्कृतत्वम्—शात में तो अहृद्धार का सवया अभाव होता है कि तु उदात्त वा
अहृद्धार विनय के द्वारा छिपा रहता है यही भेद है (इ० ना० द० १६) । (५)
बुद्धजीमूतबाहून्योस्तु भव—धनिक ने पूषपक्षी व अनुमान म दृष्टान्तदोष दिखलाया
है । बुद्ध की करुणा निजाम है, जीमूतबाहून् की सन्तान । इस धमभेद के कारण
दृष्टान्त ठीक नहीं, तथा अनुमान अयुक्त है । भाव यह है कि बुद्ध धीरप्रशात हैं
किंतु जीमूतबाहून् धीरोदात्त है ।

४ धीरोद्धत

जिसमें घमण्ड (दप) और डाह (मात्सय) अधिक होता है, जो माया
और कपट में तत्पर होता है, अहृद्धारो, चञ्चल, क्रीधी तथा आत्मश्लाघा
करने वाला है, वह धीरोदात्त नायक ह ॥५॥

वप = शूरता इत्यादि का घमण्ड, मात्सय = (बूतों की समझ को) न सहना,
मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को प्रकट कर देना माया कहलाती है और किसी
की छलना मात्र ही छप है, चल का अर्थ है अस्थिर (चञ्चल), चण्ड = क्रीडयुक्त,
विकल्पन = अपने गुणों की श्लाघा करने वाला, एसा धीरोद्धत नायक होता है । अंते
(महाधीरचरित २ १६ में) परशुराम के कलासोद्धारसार० इत्यादि कथन से

१२०] दशरूपकम्

१. शा ३ पत्र ३-१२०
२. शा ३ पत्र ३-१२०
३. शा ३ पत्र ३-१२०
४. शा ३ पत्र ३-१२०
५. शा ३ पत्र ३-१२०
६. शा ३ पत्र ३-१२०
७. शा ३ पत्र ३-१२०
८. शा ३ पत्र ३-१२०
९. शा ३ पत्र ३-१२०
१०. शा ३ पत्र ३-१२०
११. शा ३ पत्र ३-१२०
१२. शा ३ पत्र ३-१२०
१३. शा ३ पत्र ३-१२०
१४. शा ३ पत्र ३-१२०
१५. शा ३ पत्र ३-१२०
१६. शा ३ पत्र ३-१२०
१७. शा ३ पत्र ३-१२०
१८. शा ३ पत्र ३-१२०
१९. शा ३ पत्र ३-१२०
२०. शा ३ पत्र ३-१२०
२१. शा ३ पत्र ३-१२०
२२. शा ३ पत्र ३-१२०
२३. शा ३ पत्र ३-१२०
२४. शा ३ पत्र ३-१२०
२५. शा ३ पत्र ३-१२०
२६. शा ३ पत्र ३-१२०
२७. शा ३ पत्र ३-१२०
२८. शा ३ पत्र ३-१२०
२९. शा ३ पत्र ३-१२०
३०. शा ३ पत्र ३-१२०
३१. शा ३ पत्र ३-१२०
३२. शा ३ पत्र ३-१२०
३३. शा ३ पत्र ३-१२०
३४. शा ३ पत्र ३-१२०
३५. शा ३ पत्र ३-१२०
३६. शा ३ पत्र ३-१२०
३७. शा ३ पत्र ३-१२०
३८. शा ३ पत्र ३-१२०
३९. शा ३ पत्र ३-१२०
४०. शा ३ पत्र ३-१२०
४१. शा ३ पत्र ३-१२०
४२. शा ३ पत्र ३-१२०
४३. शा ३ पत्र ३-१२०
४४. शा ३ पत्र ३-१२०
४५. शा ३ पत्र ३-१२०
४६. शा ३ पत्र ३-१२०
४७. शा ३ पत्र ३-१२०
४८. शा ३ पत्र ३-१२०
४९. शा ३ पत्र ३-१२०
५०. शा ३ पत्र ३-१२०
५१. शा ३ पत्र ३-१२०
५२. शा ३ पत्र ३-१२०
५३. शा ३ पत्र ३-१२०
५४. शा ३ पत्र ३-१२०
५५. शा ३ पत्र ३-१२०
५६. शा ३ पत्र ३-१२०
५७. शा ३ पत्र ३-१२०
५८. शा ३ पत्र ३-१२०
५९. शा ३ पत्र ३-१२०
६०. शा ३ पत्र ३-१२०
६१. शा ३ पत्र ३-१२०
६२. शा ३ पत्र ३-१२०
६३. शा ३ पत्र ३-१२०
६४. शा ३ पत्र ३-१२०
६५. शा ३ पत्र ३-१२०
६६. शा ३ पत्र ३-१२०
६७. शा ३ पत्र ३-१२०
६८. शा ३ पत्र ३-१२०
६९. शा ३ पत्र ३-१२०
७०. शा ३ पत्र ३-१२०
७१. शा ३ पत्र ३-१२०
७२. शा ३ पत्र ३-१२०
७३. शा ३ पत्र ३-१२०
७४. शा ३ पत्र ३-१२०
७५. शा ३ पत्र ३-१२०
७६. शा ३ पत्र ३-१२०
७७. शा ३ पत्र ३-१२०
७८. शा ३ पत्र ३-१२०
७९. शा ३ पत्र ३-१२०
८०. शा ३ पत्र ३-१२०
८१. शा ३ पत्र ३-१२०
८२. शा ३ पत्र ३-१२०
८३. शा ३ पत्र ३-१२०
८४. शा ३ पत्र ३-१२०
८५. शा ३ पत्र ३-१२०
८६. शा ३ पत्र ३-१२०
८७. शा ३ पत्र ३-१२०
८८. शा ३ पत्र ३-१२०
८९. शा ३ पत्र ३-१२०
९०. शा ३ पत्र ३-१२०
९१. शा ३ पत्र ३-१२०
९२. शा ३ पत्र ३-१२०
९३. शा ३ पत्र ३-१२०
९४. शा ३ पत्र ३-१२०
९५. शा ३ पत्र ३-१२०
९६. शा ३ पत्र ३-१२०
९७. शा ३ पत्र ३-१२०
९८. शा ३ पत्र ३-१२०
९९. शा ३ पत्र ३-१२०
१००. शा ३ पत्र ३-१२०

इत्यादि । यथा च रावण — 'जलोत्पश्यवसधर्मोद्ग्रहणसहा भाह्वो रावणस्य । इत्यादि ।

धीरतलित्तादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वस्तुबुधभमहो धारिवत्त ज्ञात्या कश्चिदवस्थितम्पो सलित्तादिरिति, तथा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धा नेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातेरनपायित्वात्, यथा च भवभूतिनन एव जाम दग्ध —

ब्राह्मणातिह्रमत्यागा भवनामेव सूतये ।

जामदग्यश्च वा मित्रम'यथा दुमनायते ॥२३॥

इत्यादिना रावण प्रति धीरादासत्वेन 'केलासोद्धारसार— इत्यादिभिश्च रामा दो-प्रति प्रथम धीरोद्गतत्वेन, पुन —पुन्या ब्राह्मणजाति' इत्यादिभिश्च धीरघात-त्वेनोपदर्शित । न चावस्थातराभिधानमनुचितम् अङ्गभूतनायकाना नामका तरापे स्या महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात् । अङ्गिस्तु रामादेरेकत्र बोधोपात्त प्रत्येकफलत्वा

धीरोद्गता प्रकट होती है । वीर जते 'जलोत्पव० (रावण को भुजायें तीनों लोको के देश्यव को लक्ष्मी का बलपुत्रक हरण करने मे समर्थ है) इत्यादि (रावण को उत्कृष्ट) के द्वारा रावण धीरोदास है यह प्रकट होता है) ।

(1) धीरतलित आदि शब्द उसी प्रकार यथोक्त (निरिचलता आदि) गुणों से युक्त अवस्था को बतलाने वाले हैं जिस प्रकार वत्स (बछड़ा) यथम (बल) तथा महोस (बड़ा बल) एक ही स्थिति की निरभिन अवस्थाओं को बतलाने हैं । जाति के द्वारा नियत रूप वाला कोई तलित आदि नहीं होता । यदि तलितत्व आदि नियत होता तो (तदा) महाकवियों को इतियों से जो एक ही मायक मे भिन भिन (विषय) अनेक अवस्थाओं (तलित आदि) का बयन किया गया है वह अयङ्गल ही होता, क्योंकि जाति तो वद होके वाली नहीं है (किर जो मायक धीरोदास जाति का होगा यह धीरोद्गत जाति का कते हो सनेगा ?) और, भवभूति अते बयि ने एव ही परशुराम को ब्राह्मण व अतिक्रमण का त्याग आपके ही बरवाण के लिये है, अ'यथा मुग्धारा मित्र परशुराम कृद्ध हो जायेगा ।' (वीरचरित २ १६) इत्यादि बयन के द्वारा रावण क प्रति धीरोदास रूप मे दर्शित किया है 'कलासोद्धारसार' (वीरचरित २ १०) इत्यादि के द्वारा राम आदि के प्रति पहले तो धीरोद्गत रूप मे और फिर 'पुन्या' (ब्राह्मणजाति पवित्र है धोर० ४ २२) इत्यादि के द्वारा धीरशान्त रूप मे दर्शित किया है ।

(11) (न वेति०) यह शब्द करना को ठीक नहीं कि (एक ही मायक को) भिन भिन अवस्थाओं का बयन करना अनुचित है क्योंकि जो अङ्गभूत (अग्रधान) मायक होते हैं उनका सभी अय मायकों के प्रति महासत्य आदि हीना (मया अदास आदि अवस्था) नियत (व्यवस्थित) नहीं होता । किन्तु जो प्रायत (अङ्गी) मायक राम आदि है उनको एक प्रकाय में ब्राये हुए (समी) पात्रों के प्रति एकरुपाता होनी

नेवाविद्यमानमनुभवान्
= पीठ, स्तूपरुमी—
आदारवाग्निमुलविवय

बोनुग्राहक है । अतिक
उ के सुखन नहीं । उनके
कीन सुनिमी है जिसका
सुनिमी का अर्थन करते
क हो है (६०, अनुवाद)
गुण मला ब्या है (मि०
तत—एव बार ग्राह्य
के निचे अनुगत शब्द
व्युत्पन्न है (मिनि)
व्युत्पन्न के समान
है (१) । भावत्व
है किन्तु वयात का
वा० ४० १६) । (४)
ने अत्यन्तहीन विचाराणा
त समभव के समान
कि बह धीरोदास है

क होता है, जो मया
धी तथा जा मनाया

की समीचीन न स्या,
या बह्वीतो है और किं
अन्य, पर—रोडक,
रोडक मायक होता है । की
रोडक इत्यादि बयन है

दारम्भोपातावस्था शोचस्वात्तरोपदानमप्यथ यथोदात्तरवामितस्य रामस्य छपन
वालिपद्यादमहात्तत्त्वतया स्वावस्थानपरिचयम् इति ।

वदवमाणना ब दणिगाद्यवस्थानाम् भुवर् प्रत्ययया हृत इति नित्यसापेक्ष ।
त्वनाभिर्वातुपात्तावस्थात् । अस्थान्त रामिधानमङ्गाङ्गनोरप्यविरुद्धम् ।

अथ श्रृङ्गारनेत्रवस्था —

(७) स दक्षिण शठो घृष्ट पूर्वा प्रत्ययया हृत ॥६॥

चाहिये । इसलिये (विगी प्रधान नायक को) जिस (उदात्त आदि) अवस्था का आरम्भ
में प्रहण किया जाये (उनको) उससे दूसरी अवस्था का प्रहण अनुचित ही है । जते
राम को उदात्त नायक के रूप में माना गया है अतः राम का छल से बालि-वध करना
महात्सव्यता के प्रतिबन्ध है इसलिये अपनी (उदात्त) अवस्था का परिचय ही है (जो
अनुचित है) ।

(iii) किन्तु आगे बणिग दक्षिण आदि (नायक को) अवस्थाओं में पहिले कही
गई (उदात्त पृहीत) अवस्था से निम्न दूसरी अवस्था का वणन करना तो अप्रमाण
तथा प्रमाण (बोरो प्रकार के) नायकों के विषय में ही अनुचित नहीं है क्योंकि वे
अवस्थाएँ सदा ही एक दूसरे की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ करती हैं दूसरी नायिका
के द्वारा आहृष्ट किया गया (नायक) ही प्रथम नायिका के प्रति दक्षिण (आदि) होता
है (आगे २६) ।

द्विष्णो—(१) (i) घनिक के अनुसार धीरोदात्त आदि नायक की अव
स्थाएँ हैं, जातियाँ नहीं, इसलिये एव ही नायक धीरोदात्त, धीरवतिन धीरोदत्त तथा
धीरप्रघात ही सकता है । यदि धीरोदात्तत्व इत्यादि जातियाँ होता तो एसा सम्भव
नहीं था क्योंकि गोल जाति स युक्त व्यक्ति कभी भी महिष्यव जाति स युक्त नहीं हो
सकती । (ii) एक अङ्गभूल (अप्रमाण) नायक में हा अनेक (उदात्तत्व आदि) अवस्थाया
का वणन करना उचित है एक प्रधान नायक में नहीं । (iii) एव ही प्रधान नायक
में भी दक्षिण आदि अनेक अवस्थाओं का वणन किया जा सकता है । (२) ना० शा०
(२३ १५) में भी उदात्तत्व आदि चारा अवस्थाएँ गोल पर आश्रित मानी गई हैं ।
ना० द० (१६) के अनुसार नायकों के चार प्रकार के स्वभाव होते हैं । एक ही
अप्रधान नायक में अनेक स्वभावों का भी वणन किया जा सकता है ।

नायक की श्रृङ्गाररस-सम्बन्धी अवस्थाएँ

जो नायक दूसरी (नायिका) के द्वारा हर लिया जाता है, वह पहली
(नायिका) के प्रति दक्षिण, शठ या घृष्ट कहलाता है ॥६॥

द्विष्णो—सा० द० (३ ३५) तथा प्रता० (१ २५) में भी श्रृङ्गार की घृष्ट
से नायक के चार भेद विधे गये हैं—अनुकूल, दणिग घृष्ट और शठ ।

दक्षिण शठो घृष्ट पूर्वा प्रत्ययया हृत ॥६॥
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —

काम का प्रथम रूप के द्वारा
एव विषय विरुद्ध रूप का प्रथम रूप
होता है । अतः, अतः ही अनेक रूपों
का प्रथम रूप होता है । अतः प्रथम रूपों
के द्वारा अवस्थाएँ होने के कारण
। अतः ही श्रृङ्गार

नायक के
का (विषय का) रूप
नायक को हर लिया जाता है — (१)
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —
[] श्रृङ्गार रस —

अवस्थाओं में—(दक्षिण) (१)
को प्रति दक्षिण के अनेक विधे विधे ही
को प्रति दक्षिण शठो घृष्ट पूर्वा प्रत्ययया हृत ॥६॥
का रूप ही है ।

नायकप्रकरणानुवा नायिका प्रत्यययाञ्ज्वनायिबवाऽहत्तचित्तस्ववस्थो वक्ष्यमाणभेदन स चतुरवस्थ । तदेव पूर्वोक्ताना चतुणा प्रत्येक जतुरवस्थत्वेन पौडशधा नायक । तत्र—

(स) दक्षिणाऽस्या सहृदय—

मोऽस्या ज्येष्ठया हृदयन सह ध्वबद्धरति न दाना । यथा मयैव—

‘प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो

रतिज्ञोऽा कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनय ।

सविश्रम्य भविष्यत्कथयति च किञ्चिदपरिजनो

न चाह प्रत्येन प्रियसखि किमप्यस्य बिहृतिम् ॥८५॥

यथा धा—

उचित प्रणयो वर बिहन्तु बहव खण्डनहेतवो हि दृष्टा ।

उपचारविधिमनस्विनीना ननु पूर्वाम्यधिकोऽपि भावशूय ॥८६॥

नायक का प्रकरण होने के कारण यह अप है—इसरी नयीन नायिका क द्वारा जिसका चित्त अपहृत हो गया है उसकी पहली गयिका के प्रति तीन अवस्थाएँ होती हैं । कीद, भागे कहे जाने वाले (अतुङ्गल नायक) भेद सहित उसकी धार अवस्थाएँ हो जाती हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त (घोरोदात्त इत्यादि) चारों में से प्रत्येक की चार अवस्था हो जाने से नायक सोलह प्रकार का हो जाता है । उनमें—

१. सतिन नायक

इस (पुन नायिका) के प्रति सहृदय (प्रोति युक्त) रहने वाला दक्षिण नायक है ।

जो (अप्य सतिनका के द्वारा अपहृत चित्त होकर भी) इस ग्येष्ठ (पुन) नायिका के प्रति हृदय के साथ व्यवहार करता है वह दक्षिण नायक है । जते मेरा (मनिक का) हो उदाहरण है—(कोई नायिका अपने प्रियतम क विषय मे कहती है—) ‘मुझे देखते हो प्रसन्न हो जाता है इसकी रतिकेतिपां कुछ (विशेष रूप से) प्रेम से भरने होनी है इसका विनय प्रतिदिन अनुभव होता जाता है । बिजु कोई विरयसनीय परिजन इसके विषय में कुछ (= इतका प्रम किमी अय नायिका से हो गया है भादि) कहता है फिर भी प्रिय सखी, मैं तो इसके बिना भी बिचार (परिचालन) का विरथात्त नहीं करती’ ।

अथवा, जते—(भासवि० ३ ३) ‘प्रेम का तोड सेना ही अधिक उचित है, बयौक धरन्दन के अनेक निमित्त बढे गये हैं । यद्यपि मनस्विनी नायिका का क प्रति को जाने योग्य औरपरिचरणा (माखर-सत्कार) पहिल स भी अधिक है तथापि वह भाव शूय हो है ।

मनस्य रूप्य छन्ना

हृत् इति त्रिवचनेन विदम् ।

॥६॥

वि) अथवा का कारण अर्थात्त हो है । जते छत्त से कानि-यत्त करणा न परिव्यात हो है (नि

वस्थाओं में पहिले चरी करणा जो अर्थात्त न नो है क्वाकि के जो है करणा कानि के सतिन (भावि) होना

भावि नायक की वह सतिन, घोरोदात्त तथा सेतो तो येना सम्पन्न उचित के युक्त नहीं हो सत्तन भादि) अथवाका एक ही प्रथम नयक तथा है । (२) ना का नायिक जाती रई है । अथवा होत है । एक ही उदात्त है ।

ना जाता है, बहु पत्नी ॥६॥
में भी अङ्कार को ही और क ।

अथ शठ —

(६)—गूढविप्रियकुच्छठ ।

दक्षिणस्यापि नायिका तरापहृत्चित्तया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेष यथा—

शठोऽयस्या काञ्चोमगिरजितमाक्रुष्य सहसा
यदाभिलष्यन्नेव प्रशिक्षितयुजप्रि चरभय ।
तदतस्त्ववाचक्ष घतमधुमय स्वद्वद्वचो—
विप्रेणापूणती किमपि न सखी मे गणयति ॥८६॥

अथ घष्ट —

(१०) व्यक्ताङ्गवकृतो घष्टो—

टिप्पणी—(१) दक्षिण नायक नवीन नायिका स प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने प्रेमपूण व्यवहार में कमी नहीं बाने देता, भले ही उसका हार्दिक प्रेम कम हो जाय । (२) सा० द० (३३२) क अनुसार तो अनेक नायिकाओं क साथ समान रूप से प्रेम करने वाला नायक दक्षिण नायक कहलाता है । इसी प्रकार प्रता० (१३५) क अनुसार भा तुल्योन्नेकत्र दक्षिण यह लक्षण है ।
२ शठ नायक—

(पूर्व नायिका का) गुप्त रूप से अभ्रिय करने वाला शठ नायक होता है ।

यद्यपि दक्षिण नायक का चित्त भी दूसरी नायिका के द्वारा हर लिया जाता है अत यह भी समान रूप से नायिका का अभ्रिय करता है तथापि यह (पूर्व नायिका के प्रति) सहृदय रहता है यही उसमे शठ नायक से अंतर है । जैसे—(अमर १०६, नायिका भी सखी नायक को उपासम्भ दे रही है) हे शठ अथ नायिका की कार्यनी की भणि के शब्द को सुनकर जो तुमने सहसा ही (मेरी सखी का) आतिङ्गन करते हुए भी अपने मुग्ध-व्ययन की शिषिल कर दिया था, इस बात को कहीं कहीं ? घत और मधु से मिश्रित (चिकन चुम्बू तया मोठे) तुम्हारे बहुत से घचनों के विय स चकरर पातो हुई मेरी सखी कुछ भी नहीं समझ पाती ।

टिप्पणी—प्रता० (१३६) में भी यही लक्षण है । सा० द० (३३०) मे तो लक्षण यह है—जा वस्तुतः ता एक नायिका से प्रेम बने चिन्तु बाहर से दोना नायि काजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करे और छिपे रूप से दूसरी नायिका का अभ्रिय करे वह शठ नायक है ।—यह लक्षण अधिक स्पष्ट है ।

जिस (नायक) के अङ्गा में विकार (=अशय नायिका के प्रति विये गये प्रेम चिह्न) स्पष्ट प्रवट होते हैं वह घुष्ट नायक है ।

वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—

वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—

वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—

वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—

वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—
वशाप्रमाण—

यथाऽमन्सतने—

लाशालदम ललाटपट्टमभित कयूरमुद्रा गले
 बक्त्रे कञ्जलकालिमा नदनयोस्ताम्बूलरागीऽपर ।
 दृष्टवा कोपविधायि मण्डनमिद प्रातश्चर प्रेयसो
 लीलातामरमोदरे मृगहृद्य शवासा समाहित यता ॥८७॥

भेदांतरमाह—

(११)—अनुवृत्तव्येकनायिक ॥७७॥

यथा—

अद्वत मुखदुःखमोरमुगत सर्वास्त्वन्प्रसाधु यद्
 विधायो हृदयस्य यत्र जरता यस्मिन्नहायो रस ।
 कालेनावरणाय्यात्वरिण्ये यस्त्वेहृदयारे स्थित
 भद्र तस्य मुमानुपस्य कथमभ्यन्क हि तस्माप्यत ॥८८॥

जते अमरसतक (६०) में (अल्प नायिका से रमण करके भाये हुए) प्रातःकाल प्रिय के ससाठ पट्ट के चारों ओर महावर का चिह्न गले में केशुूर की मुद्रा मुख पर काजल की कालिमा और नेत्रों में झूलरे प्रकार की पाम की लालिमा इत्यादि कीय उत्पन्न करने वाले मण्डन को देर तक देखकर मृगनयनी के श्वास लीलाकमल के मध्य में ही समाप्त हो गये ।

[ईर्ष्या विकार को छिपाने के लिय सुषने के बहाने ओडाकमल को मुख के समीप कर लिया, उसमें निश्वास निकल निकल कर समाती रही अथ० पृ० २६१]

[दृष्यन्ती—प्रता० (१ ३८) म व्यक्तगाम गतभीष घट यह लक्षण है । सा० ८० (३ ३६) में इसका ही विषद विवेचन है—जो प्रेम में अपराधी हो जाने पर भी निराश रहता है सिद्धकी धाने पर भी लज्जित नहीं होता, स्पष्टतः दोषों ने प्रकट हो जाने पर भी मूढ बान देता है, यही घट्ट नायक है ।

अन्य भेद बतलाते हैं—

४ अनुवृत्त नायक

जिसकी एक ही नायिका होती है, वह अनुवृत्त नायक कहलाता है ॥७७॥

जते उत्तररामचरितम् (१ ७६) में (सीता का स्वप्न करते हुए राम कहते हैं) जो मुख और बुद्ध में एकचर (अद्वत) है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है जिसमें हृदय का बिभान होता है जिसमें प्रीति बुझने से भी नहीं हटती, जो कि समय के तत्त्व में स्थित रहता है, उस कामरूप (मुमानुप) का वह एक बन्ध्याण किसी प्रकार ही (सुष्य से कठिनाई से) प्राप्त किया जाता है ।

1
 स्वयंविशेषित महत्पल्लव

1
 ॥ ६॥

न हो बाने पर की मुना
 प्र, भरे ही उरका हारिक
 मनेक नायिकाओं के शान
 है । इती प्रकार प्रता०

या शठ नायक होता

श्याप हार लिला जाता
 शक्ति बह (रूप नायिका
) । जते—(अमर १०८,
 न्य नायिका की बरपनी
 ने को) कालिजून बरते
 न को बहूँ बहूँ ? का
 हुते से बक्तों के विप से

सा० ८० (३ ३०) में ही
 कमु बाहर से दोस्त नय
 नायिका का अतिर कर बह
 नायिका के प्रति विर
 है ।

इत्यन न राग याति, न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्या स्नेहो
विधिद्वे दक्षिणस्थिति । अतो वसरायादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थित दाक्षिण्यमिति ।

पोहधानामपि प्रत्येक ज्येष्ठमध्यमाद्यमत्सेनाप्टाचत्वारिकनायकभेदा भवति ।

सहायानाह—

(१२) पताकानायकस्त्वन्य पीठमर्दो विचक्षण ।

। तस्यैवानुचरो भक्त किञ्चिद्गूढनश्च तद्गुणैः ॥८॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेष पताका तन्नायक पीठमर्द, प्रधानेतिवृत्तनायकस्य

सहाय यथा मासतोमाद्यवे मकरन्द रामायणे सुधीव ।

सहाय्यातरमाह—

यहाँ पर 'राग नहीं करता, काम के वश में नहीं होता' इस कथन के द्वारा दक्षिण नायक या किसी एक नायिका में असाधारण प्रेम (—राग आसक्ति) होने का नियोग किया गया है । इसीलिये वसराया आदि का प्रबन्ध भी समाप्त पयत्त दक्षिण नायक होना (दाक्षिण्यम) निरिचय होता है ।

उपर्युक्त सोलह प्रकार के नायकों में से प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम भेद होने ते नायक के ४८ भेद हो जाते ह ।

टिप्पणी—इस प्रकार नायक के ४८ भेद हैं, यथा—धीरनसित, धीरप्रभात, धीरोद्गत, धीरोद्गत (४) × दक्षिण, मध, घण्ट और अनुवृत्त (४) × ज्येष्ठ, मध्यम और अधम (३) = ४८ । सा० द० (३ ३८) में भी इसी प्रकार भेद गणना की गई है । नायक के सहायक (पीठमर्द)

(नायक के) सहायको को बतलाते हैं—

(प्रधान नायक से) दूसरा पताका नायक होता है जो पीठमर्द बहूलाता है । यह चतुर होता है, उस (प्रधान नायक) का अनुचर तथा भक्त होता है और उससे गुणों से कुछ नून गुण वाला होता है ॥८॥

ऊपर (१ १३) कहा गया है कि विशेष प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है । उतका नायक पीठमर्द बहूलाता है । यह प्रधान (आधिकारिक) इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है । जैसे मासतोमाद्यम में मकरन्द है और रामायण में सुधीव ।

टिप्पणी—ऊपर (१ १२-१३) क्पावस्तु ने दो प्रकार बतलाये गये हैं—आधिकारिक और प्रासङ्गिक । प्रासङ्गिक वस्तु (इतिवृत्त) भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रबन्धी । प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त पताका है उसका नायक ही पीठमर्द बहूलाता है । सा० द० (३ ३८) में भी इसी प्रकार का उल्लेख है किन्तु प्रता० (१ ४०) में इसका उल्लेख स्पष्ट नहीं है ।

अथ सहायकों को बतलाते हैं—

१? कुचुकेनुरमनुभवा
पमरित्वापततारिभि
द्वेते नि बसरायोगा
बोधोय्येत्तारिणो
सद्वयवेग व—
वससमु
प्रसादाद व ।
रिदि
न नासिका ॥८॥
।

श्लोके ।
उपर्युक्त ॥८॥

१० (१ १३) एकाग्रतो

ये श्लोकों में कित्त अत्र
अत्र के कति अत्र अत्र
के अत्र अत्र को जाने
न ते (आसक्तता का)
नहीं जाता है फिर वृ
हृत्, अति वसराय
ही समाप्ति स्थल ज्येष्ठ
तो के दक्षिण नायक
का प्रम नहीं हो सपरा
रो मूह बहूलाता नहीं
ति नहीं है । और, म्ना
११) सभी नायिकाओं के
परा के विशेष में रहना

कहीं की जाती है, कल
न करता है, इत प्रता
मुक्ति प्रता तो महान
ने दो तीन चारों (नायक
१ है—को मकर तथा म्ना
होता है । और, चारों के
उत्तम) नायक होता है ।

तस्य नामकस्मृत्यभूत प्रतिपक्षनायको भवति । यथा राममुण्डिष्ठिरयो रावण
दुर्योधनौ ।

अथ सात्त्विका नायकगुणा —

(१५) शोभा विलामो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्वयंयतेजसी ।

ललितोदायमित्यष्टौ 'सात्त्विका पीरुपा गुणा ॥१०॥

तत्र (शोभा यथा) —

(१६) नीचे घृणाधिष्ठे स्पर्शा शोभाया औपदक्षते ।

नीचे घणा यथा वीरचरिते

'उत्साहताडकोत्साहतादशनेऽप्यप्रकम्पित ।

निमुत्तस्तप्रमावाय स्थणेन विचित्रितसति ॥६॥

उम (प्रधान) नायक इसका (उपर्युक्त) प्रकार का प्रतिनायक होता है । जते
राम और मुण्डिष्ठिर क प्रतिनायक रावण तथा दुर्योधन हैं ।

टिप्पणी—(१) नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला प्रतिनायक कहलाता
है । उसे ही यहाँ 'शत्रु' (= प्रतिपक्षनायक) शब्द द्वारा कहा गया है । (२) ना० ६०
(४ २५०) सा० ६० (३ १३१) म इसी प्रकार का लक्षण है ।

नायक के सात्त्विक गुण

अथ नायक के सात्त्विक गुणों को बतलाते हैं—

१ शोभा, २ विलास, ३ माधुर्य, ४ गम्भीरता, ५ स्थिरता, ६
तेजस, ७ ललित तथा ८ उदाय ये आठ, पुरुषों के सात्त्विक गुण हैं ॥१०॥

टिप्पणी—(१) ना० ६० (२२ ३३) सा० ६० (३ ५१) ना० ६० (४ २२०)
ये भी प्रायः ये आठ गुण बतते हैं । ना० ६० में स्वयं के स्वान पर ध्य है ।
(२) 'सात्त्विक' का अर्थ है सत्व में उत्पन्न होने वाले (सत्त्वजा) । राजगुण और
तमोगुण के उद्रेक से रहित भा हो सत्व कहलाता है । स्वस्तमोग्यामस्तुष्ट मन
सत्त्वनिद्रोष्ण ।

१ इनमें शोभा यह है अतः—

नीच में प्रति घृणा, अपनेसे अधिक व प्रति स्पर्शा तथा शूरणा वीर
दक्षता ये शोभा में होते हैं ।

नीच के प्रति घृणा यह है जने वीरचरित (१ ३०) में (शशक मन ही मन
कहता है)— तासकृल के समान ऊँची तासका क उपात को दण्डन की राय कम्पित
महो ह्य, किन्तु उसके धारने के लिये निमुत्त किये जाने पर उसके स्त्री होने के
कारण सचेह में पर मये ।

[यहाँ राम में नीच क प्रति घणा स्थिर्वाही गई है]

१ धय इति पागनरम् ।

२ सरयजा इति षाडान्तरम् ।

सुन्दरक ।

रूप वैरिणा वि । हृत्काम्ये
सम्पन्ने । यथा वैश्वरतो वना

नी रिपु ॥५॥

वैरा को जानने वाला सिद्ध
होता है

अनके के किसी एक विद्या को
प्रधान मानक का स्थान
(हास्यपूर्ण—हास्यपूर्ण) रहा
काम्य होता प्रकृत हो जाता
के प्रति प्रकृत हो ।

१ सत्त्व अर्थ सत्व है—

१॥

जते ह्यु रिपु का विदत
जि कष्ट कर चुका है, युद्ध
युद्धन मय वरा मोक्षी
के कारक का ही मनु
क का मयस भी अधिक

व ।

क ॥

विद्या यथा है । उन्मुक्त
वीर भाव काटि के इतर
कीकत काति को बतने
१ स्वकक के हास्यपूर्ण बच
गया वना है । प्रजा (१५)

पाप करने वाला तथा म
नक होता ॥६॥

गुणाधिक स्वर्धा यथा—

एता पश्य पुर स्थलीमिह जिल क्रीडाजिरातो ह्य
कोदण्डेन किरीटिना मरभस ब्रुवा तरे ताडित ।
इत्याकथ्य दयाद्भुत हिमनिधावत्री सुभद्रापते
म च म दमकारि येन निजयोदीदण्डयोमण्डलम् ॥६२॥

शौचशोभा यथा गर्भेन—

अत्र स्वैरपि सयताप्रचरणो भूच्छाविरामक्षण
स्वाधीनदण्डिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गम वमयम् ।
भगानुद्वलवनिजा परभटा स तजजयन्निष्ठुर
धयो धाम जयश्रिय पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥६३॥

दम्भशोभा यथा कीर्त्तनैः—

स्फुञ्जद्वलसहस्रनिमित्तमिव प्रादुर्भवत्यधो
रामस्य शिपुरात्कृद्दिव्यपदा तेजोभिरिदं धनु ।
गुण्डार कलभेन यद्दधत्ते वस्तेन दो,ण्डक
स्तस्मिन्नाहित एव गजितगुण कृष्ट च भग्न च तद् ॥६४॥

अधिक गुणो बाले के प्रति स्वर्धा यह है जसे—?

‘इस सामने के स्थल को देखो यहाँ ही अजून (किरीटी) ने अपने धनुष के द्वारा लीला से किरात का रूप धारण करने वाले शिव के भस्तक पर वेगयुक्त प्रहार किया था । दिग्मालय में सुभद्रापति (अजून) की इस अद्भुत कथा को सुनकर जिस (महादेव) ने अपनी शोर्माँ धुताओं की धीरे धीरे मण्डसाकार बना लिया’ ।

[यहाँ अजून के पराक्रम को सुनकर महादेव म स्वर्धा का वणन किया गया है]

शौच शोभा यह है जसे भेरा (धनिक का) ही पद्य है—

‘अपनी ही अर्थाँ से जिसके चरणों के अपभ्राम बंधे हैं जो मुच्छाँ समाप्त होते ही अपने धाव युक्त अङ्गों ने प्रचुरता से (=स्वाधीन) शस्त्रों से भरा हुआ भी रोषाञ्च को ही कवच बनाए हुए हैं जो अपने हारते धोडाओं को उलसाहित करता है (वनयम्) तथा शत्रु के धोडाओं को बडोरता से तर्जित करता है वह विजयधी के विहास युद्धस्तम्भ पर पताका के समान है यह धय है ।

रम शोभा चने धीरचरित (१ १३) में ‘स्फुञ्ज इयाधि ऊपर उबा० ६६ ।

[यहाँ राम दं दस शोभा का वणन किया गया है]

द्विष्यन्ती—मि० ना० शा० (२२ ३४), ना० द० (४२४४) । सा० द० (३४४) च अनुमार ‘जित विजोयना के कारण भूरता, दखना संवय महान् उरसाइ अजुराग नीच के प्रति घणा, अधिच के प्रति स्वर्धा हानी है, उसे शोभा कहते हैं ।

वच विधान—

(१७) सति मय्यां ०

यथा—

पृ०
शोभोद्ग
कीमार्कनि
केते य

वच भाषण—

(१८) इत्यथो विवाये ०
स्वर्धा निरारोती मय्या विरगो
शोच वासता

पृ०

८१ ५

० विधान

विरास मे धययुक्त सति तथा
मुनरहू के हाए ॥११॥

बने (अनारामचरित ६१६ में
श्रीद लेखी लीं के वच च उत्तर (पा०)
एव उदत बल भागों द्विं को बसा श्री
केरत को साए बरत हुआ मरु ।

द्विष्यन्ती—ना० शा० (२२ ३४),
विषया विहासे शोचन वच
शुभ्रु शय वीरा एक कल्पि वच ।
३ पाए

महान् भोगेण उरसिध
कटुता है ।

महान् विहार का हेतु (=महोप
नने (सुमनामक १ १६)—पृथुप के
के लीं को बानि का रूप कामे बने
तथा कथनन पर कोषोर (विषय) शोच
एव शोच शब्दों की सेवा के कारण ही को
रहे हैं ।

द्विष्यन्ती—ना० शा० (२२ ३४) या
मय्या है १ ना० द० (४२४४) में सति वा

अथ विलास —

(१७) गति सधैर्या दृष्टियच्च विलासे सस्मित वच ॥११॥

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगतत्रयसत्त्वसार

धीरोद्वला नमयतीव गतिधरिणीम् ।

कौमारकंसपि गिरिवद् युक्ता दधानी

वीरो रस किमयमेत्युत वप एव ॥६५॥

अथ माधुयम्—

(१८) श्लक्ष्णी विवारो माधुर्ये सक्षोभे सुमहत्स्यम् ।

महत्स्यपि विवारो मधुरो विवारो माधुयम् । यथा—

कपोने जानक्या करिकलभद तच्चुतिमुनि

स्मरस्मेर गण्डोदरमरपुलक वचनत्रकमलम् ।

मृदु परमच्छण्व रजनिचरसेनाकलकल

जटाजूटर्षिष ब्रह्मवति रपूणा परिवृद्ध ॥६६॥

२ विलास

विलास मे धैर्ययुक्त गति तथा धैर्ययुक्त ही दृष्टि होती है और वचन मुस्कंराहट के साथ ॥११॥

जसे (उत्तररामचरित ६ १६ मे लव को देखकर राम कहते हैं)—इसकी दृष्टि तीनों लोकों के धल के उत्पन्न (सार) को तिनके के समान समझने वाली है धीर एव उद्वत चाल मानों भूमि को झुका रही है श्रीमार अवस्था में भी पवत के समान गौरव को धारण करता हुआ यह (साक्षात्) धीर ही है या ध्य ही है ।

दृष्ट्यणी—ना० शा० (२२ ३५), सा० ६० (३ ५२) में 'धीरा दृष्टियगति निचत्रा विलासे सस्मित वच यद् लक्षण है तथा ना० ८० (५ २५२) में 'विलासो वृषयद् यान धीरा दृक सस्मित वच' ।

३ माधुय

महान् सक्षोभ उपस्थित होने पर भी मृदु विचार उत्पन्न होना माधुय कहलाता है ।

महत्स्य विचार का हेतु (==सक्षोभ) होने पर मधुर विचार होना माधुय है । जैसे (हनुमन्नाटक १ १६)—'रघुदुल के वायक (परियद् == प्रभु) राम हाथों के बच्चे के बालों की काटि त का हरण करने वाले जानकी के कपोल में अपने मुस्कंराहट से युक्त तथा गण्डस्थल पर मनोहर (उद्बन्धन) रोमाञ्च से युक्त मुष्कमल को बार-बार देखते हुए और रामसों की सेना के श्रीसाहाय को मुनते हुए 'जटाजूट की र्षिष को हृद् कर रहे हैं ।

दृष्ट्यणी—ना० शा० (२२ ३६) सा० ६० (३ ५२) में इसी प्रकार का सणन है । ना० ६० (५ २५२) में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । यही विचार

गो हर
गन्दे हाति ।
ने
गण्डोमधनम् ॥६२॥
सणन
रोमैर्यव वचम् ।
ननभे र्मकाकने ॥६३॥
ने
तेवोनिदि वु ।
क
उद व भन व वद् ॥६४॥

रुसी) ने अपने वृष्ण के
साल पर देवदूक प्रहार
न बना को सुकर तिल
र बना तिल ।
रसों का वचन किया गदा है ।
य है—
रि है, जो मुता समल
शोम) सक्षोभ से भरा हुआ को
रोमाञ्चों की उत्पत्ति कला
न करता है यह विचरको के
है ।
ह इत्यति उपर उदा० ११ ।
प्रा है ।
०० ६० (५ २५२) । सा०
रदा, इसका साथ महान् उच्य
होती है, उसे क्षोभ कहते हैं ।

अथ गाम्भीयम्—

(१६) गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥१२॥

मृदुविकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

यथा—

आहूतस्माभिपेकाय विमुष्टस्य वनाय च ।

न मया नक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥६७॥

अथ स्थयम्—

(२०) व्यवसायादचलन स्थयं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पुज्याना वा व्यतिक्रमाद् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहायतम् ॥६८॥

(= विकृति) का अथ है—अपने सामान्य रूप से भिन्न रूप धारणा । जहाँ रोषा-च आदि के द्वारा श्लोको सी विकृति का प्रकाशन जाता है वहाँ माधुर्य गुण कहलाता है । यहाँ जटाजूटप्रथम दृढपति दत्त कथन द्वारा राम का मृदु विकार प्रकट हो रहा है ।
४ गाम्भीय

जिस गुण के प्रभाव से विकार नहीं दिखलाई पड़ता वह गाम्भीय कहलाता है ॥१२॥

मृदु विकार की उपलब्धि से विकार की अनुपलब्धि भिन्न होती है अतः माधुर्य से गाम्भीय भिन्न है जत—आहूतस्य इत्यादि ऊपर उदा० ७६ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३८), सा० द० (३ ५३) तथा ना० द० (४ २४६) में यद्यपि लक्षण का स्वरूप भिन्न है तथापि तात्पर्य यही है । (२) माधुर्य में मृदु विकार होना है और उत्तरी प्रतीति भी होनी है, किन्तु गाम्भीय वह गुण है जिसके कारण कोई विकार लक्षित ही नहीं होता । जैसे अभिपक के लिय बुलाय गये अथवा वन य भजे गये राम ने कोई विकार लक्षित नहीं होता ।
५ स्थय

अनेका विघ्ना से भी अपने नियन्त्रय से विचलित न होना स्थय है । जैसे वीरचरित (२८) में ऊपर उदा० ७२ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ३७) सा० द० (२ ५३) में इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु इसे धैर्य कहा गया है । ना० द० (४ २४५) के अनुसार विघ्ना के उपस्थित होने पर भी अशुभ भास्त्र काय से भी विचलित न होना ही स्थय है । (२) यहाँ ध्यानमाय—नियन्त्रय दुनका अर्थ वत यपालन नहीं है अतः शुभ—अशुभ किसी प्रकार के निश्चय में विचलित न होना ही स्थय है । प्रायश्चित्त इत्यादि उदाहरण में पशुशरणा के शस्त्रप्रहण के महाद्वत से विचलित न होने का वचन है ।

अथ श्रेय—
(११) वसिष्ठस्यैव

यथा—

मृदुविकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

अथ स्थयम्—

(२०) व्यवसायादचलन स्थयं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पुज्याना वा व्यतिक्रमाद् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहायतम् ॥६८॥

विता मन्त्र विद्वान् विद्वान्

विकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

(२३) ॥६८॥

श्रेयं का मन्त्र विद्वान्

उत्तं कुरुता है ॥१३॥

अथ—(१) शस्त्रोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

अथ—(२) व्यवसायादचलन स्थयं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पुज्याना वा व्यतिक्रमाद् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहायतम् ॥६८॥

विता मन्त्र विद्वान्

विकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

(२३) ॥६८॥

श्रेयं का मन्त्र विद्वान्

उत्तं कुरुता है ॥१३॥

अथ—(१) शस्त्रोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

अथ—(२) व्यवसायादचलन स्थयं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पुज्याना वा व्यतिक्रमाद् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहायतम् ॥६८॥

विता मन्त्र विद्वान्

विकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

(२३) ॥६८॥

श्रेयं का मन्त्र विद्वान्

उत्तं कुरुता है ॥१३॥

अथ—(१) शस्त्रोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

अथ—(२) व्यवसायादचलन स्थयं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पुज्याना वा व्यतिक्रमाद् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रप्रहमहायतम् ॥६८॥

विता मन्त्र विद्वान्

विकारोपत्पमाद्विकारात्पुनर्लाघुर्येति माधुर्यात् यद् गाम्भीयम् ।

अथ तेज —

(२१) अघिक्षोपाससहन तेज प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

यथा—

भूत नूतनब्रह्माण्डफलाणां भवत्यमी ।

अङ्गुलीदशनाद्येन न भीषति मास्विन ॥६६॥

अथ ललितम्—

(२२) शृङ्गाराकारचेष्टात्त्व सहज ललित मृदु ।

स्वाभाविक शृङ्गारो मृदु तथापि शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा गर्भव

तावश्याममवावलासविजम्भितेन स्याभाविकेन सुकुमारमनोहरण ।

किंवा समव सखि योऽपि ममोपचष्टा तस्यैव किं न विषम विदधीत तापम् ॥१००॥

अथोदायम्—

(२३) त्रिभोक्त्याऽऽजीविताद्दानमोदार्यं सदुपग्रह ॥११॥

६ तेज—

प्राणो का सकट उपस्थित हाने पर भी अपमान आदि को न सहना तेज कहलाता है ॥१३॥

जसे—(?) बसलाओ तो ये मन्मथो जन मथोन कुहूहके क फूलों क क्या सपने ह जो ये अडमुली बिखाने नो जीवित नहीं रह पाते ।

टिप्पणी—(१) मा० शा० (२२ ८१), सा० द० (३ ४४) म नी इतो प्रकार क लागू है । (२) ऊपर के उदाहरण में मन्मथो जनो क तनिज ता अपमान न सह सकने का बयान किया गया है ।

७ सलित —

शृङ्गार ये अनुरूप स्वाभाविक और मृदु चेष्टा करना ही ललित कहलाता है ।

स्वाभाविक शृङ्गार मनु होता है और स्वाभाविक एव मनु (=तथापि) शृङ्गार-चेष्टा ललित कहलाती है । जैसे मेरा (प्रति क) ही (पथ है) — है सखि, (तू नायक) तो-द्वय और काम-चेष्टा क स्वाभाविक मनु और मनोहर शृङ्गार (प्रियुनिभ) क द्वारा जिस प्रकार मुझ में विषम लताप उत्पन्न करता है उसी प्रकार ओ मुझ उपदेश देने वाला है उनके भी क्यों नहीं करता ?

टिप्पणी—मा० शा० (२२ ३६), ना० द० (४ २८८) सा० द० (३ ४४) में भा इतो प्रकार का उदाहरण है ।

८ शोदाय—

(क) प्रिय वचन के साथ जीवन पथ त दान देना तथा (ख) संजना की आराधना (उपग्रह = सन्तुष्ट करना, अपने अनुकूल बनाना) अनुरञ्जन, (Propitiation) जोदाय बटलाता है ।

यने ॥१२॥

पद् सामीप्यम् ।

प च ।

अथ ॥६७॥

पि ।

अधिक्रमम् ।

दशसाम्यम् ॥६८॥

एव होयना । बहो रोमाञ्च
हो माणुप दुण क्ववाका है ।
दु विकार प्रकट हो रहा है ।

ई पना वह सामीप्य

न निर होतो है अत माणुप
प्र ।

० (३४३) तथा ना० २०
पय यही है । (२) माणुप
किन्तु सामीप्य वह दु है
अधिक्रम के लिय कुवाय वर
होता ।

चलित न होना स्पष्ट है ।

द० (२३३) में इतो इता
० (४२४) के अनुसार लित
विवर्तित न होना ही लित है ।
गत नही है अत दूय—एव
न्यम् है । प्राणिको रूप
विवर्तित न होके का रहन है ।

प्रियवचनेन सहास जीवितावधीर्दानमौदाय सतामुपग्रहृष्यत् । यथा नागानन्दे—
 'शिरामुख स्य दत्त एव रत्नमद्यपि ३हे मम भाससस्ति ।
 वृष्टिं न पश्यामि तव्यव तावदिक भक्षणाव्यव चिरता गरत्सम् ॥१०१॥

सदुपग्रहो यथा—

एते धवममी दारा व यय कुलजीवितम् ।
 व्रत येनाथ व कायमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥१०२॥

अथ नायिका—

(२४) स्वाया साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

प्रिय वचन के साथ जीवन का अत तक दान देना ओबाय कहलाता है तथा सज्जनों का अनुष्ठान भी । जस गमानन्द (५ १६) में शिरामुख इत्यादि ऊपर उदा० ७८ ।

[यहां भीमूतवाहन क जीवा तक दान दन का वणन है अत उसवे औदाय को अधि गक्ति होती है ।]

सज्जनों की आराधना यह है जने (कुमार० ६ ६३)—ये हम ह ये स्त्रिया हैं कुल का जीवन एक सज्जकी है इनमे से जिससे तुम्हारा प्रयोजन (सिद्ध) हो अतलाओ । बाह्य वस्तुओं में हमारी आस्था नहीं है ।

[यहाँ किसी सज्जन को अपने अनुकूल बनान का प्रभाव प्रकट होता है ।

द्विषणी—(१) औदाय के दो रूप हैं—(१) प्रियवचन के साथ जीवनयत्न दान (२) सदुपग्रह । (३) ना० भा० (२२ ४०) के अनुसार यह लक्षण है

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च धियभाषणम् ।
 स्वजने च परे वा पि तदौदाय प्रकीर्तितम् ॥

यहाँ स्वजन या पर (यानु) दानों के लिये प्रियवचन के साथ दान और दाना की रक्षा आदि करना (अभ्युपपत्ति = परिचायाधिनोऽङ्गीकरणम्) औदाय कहा गया है केवल सदुपग्रह को नो । इसी प्रकार ना० द० (८ २४७) के अनुसार अपने प्राण देकर भी यानु तथा मित्र का उपकार (=उपग्रह) करना औदाय है तथा सा० द० (३ ५५) प्रियवचन के साथ दान करना तथा शत्रु और मित्र के प्रति समभाव को औदाय कहा गया है ।

नायिका भेद

उस (नायक) क (समान) गुणा वाम्नी नायिका होती है जो तीन प्रकार की होती है—

स्वकीया, परकीया तथा साधारणस्त्री ।

सदुपग्रह । इत्युच्यते ।
 साधारणस्त्रीति विस्तृत वि० ।
 उपग्रहणम् ५५५
 (१) सुखा मन्ता मन्ता ५५५
 मान मन्ता ५५५
 नायिका । उपग्रहणम् ५५५
 सुवर्णमन्ता देव्यु
 परमिं न परमिं ५५५
 (इतिपरमिं ५५५
 उपग्रहणम् ५५५
 आदर्शनायिका इति—
 द्विचर्चितायुः इति
 नायिका सुवर्णम् ५५५
 (द्विचर्चितायुः इति
 परमिं स्वामन्ता ५५५
 सदुपग्रह का अर्थ है—
 हीं तव तव क इत्यायुः सुवर्णम् ५५५
 तथा साधारण इति इति ५५५
 इति—ना० भा० (३ १६) ५५५
 या रती मन्ता नायिका के दान वना क
 के रूप (५५५) और कर्ण (५५५)
 के रूप, परम और पर, क इति
 दिना कर्ण तथा परमो क वारा
 १ स्वकीया
 स्वकीय इति की
 लक्षण मन्ता है—
 स्वकीया नायिका मान वना
 मन्ता, मन्ता तथा प्रमणा (मान
 मान का अर्थ है—अर्थात्
 (आवगुणा) स्वकीयो की
 उन्में मानवो पृष्ठ है वने
 किमन तथा विनाय वने । इति क
 और इति के वर माने पर का अर्थ है ।
 स्वकीय मान के रूप वृत्त है ।

सद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकतामायुगयोगिनी नायिकेति, स्वस्वी पर साधारणस्वीत्येव विभागेन त्रिधा ।

तत्र स्वीयाया विभागमत्र सामायलक्षणमाह—

(२५) मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलाजवादिबुध् ॥१५॥

शील सुदृढतम् पतिप्रताडकुटिला लज्जावता पुरूपोपचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

कुलबालिआद् पेच्छद् जोश्वणसाध्णवि भ्रमविलासा ।

पयसि न 'व पयसि' एति 'व पिये घर एत ॥१०३॥'

(कुलबालिकाया प्रेक्ष्य यौवनलावण्याविभ्रमविलासा ।

प्रयस तीव्र प्रवसिते आगच्छतीव त्रिये शृहमागत ॥)

आजवादियोगिनी यथा—

हृसिअमविआरमुद्भ भमिअ विरहिविजासमुच्छाभम् ।

भमिअ सद्भावसरन यण्णाण घर कलत्राणम् ॥१०४॥

(हृसितमविचारमुद्भ प्रमित विरहितविलासमुच्छाभम् ।

भमित स्वभावसरत घयाना शृह कलत्राणम् ॥)

तत्रयुगं का अर्थ है—जो नायक के युग कहे गये हैं उनमें से जहाँ तक सम्भव हो उन नायक के सामान्य गुणों से युक्त नायिका होती है । वह अपनी स्त्री ब्रूते की स्त्री तथा साधारण स्त्री । इस तरह के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—सा० प० (३५६) भा० प्र० (पृ० १४५० २० तथा आगे) में भी इसी प्रकार नायिका के तीन भेदों का बयान है । आचार्य ह्यभ्युद्व (काव्या० ७ २३) ने इन तीन भेदों का अधिक सुव्यवस्थित बयान किया है । उसके अनुसार धरिओ की अवस्था (वय) और कौशल (काम चेष्टा की निपुणता) क आधार पर नायिकाया व युग्मा, मध्या और प्रोडा ये तीन भेद होते हैं । ना० प० (४ २५५) में कुलबा, विव्या क्षत्रिया तथा पयस्वी ये चार प्रकार की नायिकाएँ कही गई हैं ।

१ स्वकीया

उन तीन प्रकार की नायिकाया म (तत्र) स्वकीया का विभाग सहित सामा य लक्षण बतलाते हैं—

स्वकीया नायिका शील तथा सरतता आदि से युक्त होती है, वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (तीन प्रकार की) होती है ॥१५॥

शील का अर्थ है—अच्छा आचरण, अत स्वकीया नायिका पतिप्रता, कुटिलता रहित (आयुक्त) लज्जावती और पति की सेवा में निपुण होती है ।

उसमें शीलवती यह है जस (हाल ८७१)—कुल बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम तथा विलास देखिये । प्रिय क प्रवास चले जाने पर भानों ये तब चले जात है और त्रिय के घर आने पर आ जाते हैं ।

सरतता आदि से युक्त यह है जसे (हाल ८६६)—'भायशातो जगों के

मुग्धा है । यथा नागर—
नम पांडुरलि ।
वराज वरन् ॥१०॥

नम् ।
उडु ॥१०१॥

नायिका त्रिधा ।

ना अपेक्ष रहता है तथा
से निराशुच इत्यदि अत्र

बन है अत्र उक्त शीला

है—वे हूँ वे तिला है
श्रीमत् (सिद्ध) हो बलात्तो ।

प्रथम अत्र होता है,
स्वयं के साथ शीलायन
पर वह लक्षण है—

शुभ् ॥
उन के चान दान और दान
श्रीकर्मणु) शोणय बहु वरा
(२५) के अनगर बने आन
ना शोणय है तथा सा० २०
पर नियं के प्रति व्यवहार को

निबना होती है जो लोग

'विस्तारी स्तनभार एष गमिना । त्वोचितामुपार्ति
रेखोद्भ्रानिकुन वलिनयमिद न स्पष्टनिम्नापतम् ।
मध्येज्ज्वा श्रुजुपायताघकपिषा रोमावली निमित्ता
रम्य योवनसशवव्यतिकरोन्मिथ वया वतत ॥१०६॥'

यथा च मर्मवै—

उच्छ्वसन मण्डलप्रा तरेखामावद्धकुहममम् ।
अपयासामुरावद्ध शसत्यस्या स्तनद्वयम् ॥१०७॥

काममुग्धा यथा—

'दृष्टि सासनना विमलिन न विशुकीडामु बद्धावरार
श्रोग प्रपवति प्रथतिसखीसम्भागवातात्पवि ।
पुतामङ्कमपेतसङ्कममुना नाराहनि प्रागयथा
वासा नूनयौवनयनिकरावटम्भयमाना घन ॥१०८॥

रत्नवामा यथा—

'माहृता प्रविषया न न वदधे गमुमच्छन्वलम्बिताशुका ।
सवते स्म यथन पराङ्मुखी सा तवापि रतये पिनाग्नि ॥१०९॥'

किन्तु स्पष्टत नीधी डली मही है । इसके मध्य में सीधी विस्तृत रोमावली वय गई है जो आधी कपिस वय की (पूरी) ही है । इस प्रकार इसके यौवन और शसय क ससय (व्यतिकर) से मिथिल अरस्या है ।

[यहाँ नायिका ने सारूप्य व अव्यतिरिक्त होने का वयन किया गया है]

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही (वय है)— इसके दोनों स्तन, जिनके मण्डल के प्रात की रेखाद्वयमर रहा है, कलियाँ बंध गई हैं, वन स्थलकी दृष्टि को अपूर्णता का बतला रहे हैं ।'

[यहाँ विशेष प्रकार व स्तनो क वयन स यौवन का अव्यतिरिक्त होना प्रकट होता है]

काममुग्धा यह है, जैसे—जब इस वासा की दृष्टि अलसाई सी रहती है बाल झोडा में यह शब्द नहीं रखती सावियों के द्वारा जलाई गई सम्भोग की बालों में कान लगा लेती है पहिले की भास अब शङ्करादित होकर पुण्यो की मोह में नहीं बट जाती । इस प्रकार धीरे धीरे पर वासा नूनन यौवन क ससय से युक्त ही रही है ।

[यहाँ नायिका म धीरे धीरे काम के सञ्चार का वयन किया गया है]

रतवामा यह है, जैसे—(दुमारसम्भय ८२) 'जय (शिव ने पावती से) कुछ कहा तो उसने उत्तर नहीं दिया, जब उसका आक्षय्यकट लिया ता उसन जाने की इच्छा की वह दूतरी थीर की मुख करके सत्या पर सोता या फिर भी वह शिव को आनन्द देने वाली थी ।

[इस वयन स पावती का रति विमुखता प्रकट होती है]

१०२॥

॥'

॥)

रिचिया ।

कुंभ्रि ।

पारसंगना कुञ्जरिना ।

रोग है उसकी कान विमान
नम स्तन के ही मल

की बनों के वर में ही देवी
दुःख) है जो पर दुःखों के
[अतिरिक्त कुञ्जरिना अतिरिक्त

दुःख (य) मया और

की शक्तिओं के वे वीन
अनुसर करके स्वकीया
दुःख ६४ पं २१) में मा
स्तर न सखुन के साव्य
या और साव्यर स्त्री व

होती है, जो रति की गम
की और क्रोध करते न

अवगण दोष वी रति
ती है। (कोड करते पर किने
र करने वाला है किन्तु जो
उपार्तो से तो प्रकट हो रही है

मृदु बोपे यथा—

प्रथमजनिते वाता मयो विकारमजानतो
 विलषपरितनामयाद्भे विनप्रमुजय सा ।
 चिबुनमलिक चोप्रम्योर्ष्वरहमिभविप्रमा
 नयनसलिलस्पर्शदयोऽं रदरयपि शुभिवता ॥११०॥

एवमप्यपि सजासकृतानुरागनिबधना मुग्धाव्यवहारा निबधनीया यथा—
 त मध्य सस्कार मुमुममपि वाता विपहन
 न नि भ्वात मुपू जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
 नवोला पश्यतो लिखितमिब भत्तु प्रतिमुप
 प्ररोहद्रोमाञ्छ्या न विवति न पात्र चलयति ॥१११॥

कोप मे मृदु यह है जग ? प्रथम बार उत्पन्न कोप मे यह वाता विगडना नहीं जानती थी वह मुनाओ को नाचे किये रही और उस पून चरित्र बाने नायक ने उसे गोदी मे धीबकर उसकी ठोड़ी और मस्तक (अंसिक) को ऊपर उठाकर जिसो प्रकार की हृत्रिम शृङ्गार चेष्टा (चिन्म) न करन वाली केवल रोनी हुई उसका नेत्र के जल से सीमे ओठो पर चुम्बन किया ।

[इन वयन से प्रवट होता है कि मुग्धा कोप न विगडना नहीं जानती, यदि कोप करती भी है तो उसे महज ही प्रसन्न किया जा सकना है]

इसी प्रकार लज्जा से आच्छादिन अनुराग द्वारा उत्पन्न होने वाली (सज्जया सद्युतो योजुनुरागस्तन्निबधना) मुग्धा की चेष्टाओ का वयन करना चाहिये । जैसे— 'यह वाता (वेप-यात्र के) बीच मे पुण्य के सस्कार (शोभा या सुगन्ध के लिये रखने-गये पुण्य) को सहन नहीं करता, यह सुवर भीहो वाली अपने श्वात द्वारा (वेप यबाय मे) तरङ्गों का श्वायषान (व्यतिस्कर) भी नहीं उपपन्न करती यह नवविवाहिता प्रियतम के मुप के प्रतिविम्ब की (वेप पदाय मे) चित्रित सा देखती है उससे रोमाञ्च उत्पन्न हो गये हैं तथा वह म तो (वेप की) पीती ही है और न पात्र को हिलाती है ।

टिप्पणी—(१) त मध्य इत्यादि म लज्जा से आच्छादित अनुराग प्रकट होता है । वाता नवोला है, मुग्धा है वह अनुराग व कारण पति का दयना चाहती है किन्तु लज्जा से उसका अनुराग टका है और वह वेप यदाय म प्रिय क प्रतिविम्ब की देखकर दयन की सालसा को वृष्ट करनी चाहती है । (२) सा० द० (३५८) ना० द० (८२५८) म भी प्राय इसा प्रकार का विवचन है । भा० प्र० (पृ० ६५ प १७-२०) मे मुग्धा के स्वरूप का अङ्गि इत्थं चिपय है—

शीलसत्वाजवापना रह सम्भोगसालसा ।
 मुग्धा नववय कामा रती यामा मृदु धृषि ॥
 यतत रतिचेष्टामु पत्युर्ग्रीडामनोहरम् ।
 अपराधे श्वदयेव न वदत्यप्रिय प्रिये ॥

Handwritten notes in Devanagari script on the right margin, including a list of items and some commentary.

115
3
क
3

अथ मध्या—

(२७) मध्योद्यच्छीवनानङ्गा मोहात्सुरतक्षमा ॥१२॥

सम्प्राप्तताम्यवनागा माहा तरतयोया मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

आत्वापान् ब्रुवित्वासो विरलयति लसद्बहुविधिस्यमात

नीवीर्यं प्रथिम्ना प्रनयति मनाडमध्यमिन्नो नितम्ब ।

उत्पुप्यत्साम्यमृच्छुचिधिरमुरो गुनमत स्प्रेण

मृच्छुटा कीदृशकोटया हरिणनिबुद्धया दृश्यते यौवनश्री ॥११२॥

नामवसो यथा—

स्मरनयनदीपूरेणोडा पुगुम्भेसुभि—

यदपि विजतास्तिष्ठत्यारादपूणमनाराया ।

तदपि लिखितप्रश्नरङ्गं परस्परमु मुखा

नयननलिनोनालाष्टृष्ट विवर्तित रस त्रिया ॥११३॥

मध्यसम्भोगो यथा—

ताव चिञ्च रदसमए महिलाण विवभमा विरात्रित ।

जव य कुवलयदलसच्छहाइ मउलति यजगशइ ॥१४४॥

(घ) मध्या नायिका

जिसमें यौवन शीर काम का उदय हो रहा है, जो बंसुधी अवस्था

(मोह) पयत रति में समय है, वह मध्या नायिका है ।

साक्ष्य और काम भाव प्राप्त कर चुकने वाली तथा मोह की अवस्था पयत सुरत के योग्य नायिका मध्या होती है ।

उनमें यौवन से युक्त यह है जैसे (?)—'उनक चूचिवास ने आत्मा (बालों साथ—बातचीत) को कम कर दिया है उसका गमन पुमाओं के हिलने के शोभित है, मध्य भाग में मोचा नितम्ब अपने बिलसार से नीबों की प्रिय को तनिक धाण (शिथिल) कर रहा है बसत्यल के पाश्व भाग विकसित हो रहे हैं स्तन सिखर बढ़ रहा है (मूच्छुत्) । ऐसा बिछलाई देता है कि अवश्य ही अत करण में स्थित कामदेव ने [अपने धनुष की कीर से शृंगसायकनयनों की यौवन शो का स्पण कर लिया है ।

[इस वचन द्वारा यह प्रकट होता है कि नायिका का पूरा यौवन प्राण हा रहा है ।]

काम से युक्त नायिका यह है जैसे—(अवध ६०) 'कामदेव को नूतन स्रिता के प्रवाह में बहते हुए प्रिय यद्यपि गुरुजन् रथी सनु के द्वारा रोक हुए अयुग मनारव वाले होकर निकट बसे हैं तथापि चिन्तिलिखित से अङ्गा द्वारा एक दूसरे के प्रति उमूछ होकर नेत्र रथी कमलनाल से साये हुए रस का पान कर रहे हैं ।

मध्या की रति इस प्रकार की होता है जैसे—(हास ५) महिलाओं की

॥११०॥

यज्ञनीया, यथा—

॥

॥१११॥

गेत में बर जाता विपना
जव पुन बरित जाने नाक के
को अर उवाहर निनी
नी बहत सीरी हुई उरवा

उरवा नहीं जानगी, बरि
है।

रत होने वाली (सखया
करता बरिदि । जते—
ग मुपुज के सिम ररके-मने
साव द्वारा (रिन परधन मे)
है मयिचाहिता विपण
है उसके रोसाच्य उरवा
साव को हिलाती है ।

योगिन अतुराण प्रकट होता
को देखना चाहती है निनु
जके प्रतिबन्ध को देखकर
० द० (१५६) ग० ४०
० प्र० (१० ६१ पृ १०-१०)

नसा ।

अति ॥

॥

॥

वय मध्या—

(२७) मध्योद्यधीवमानञ्जा मोहात्तसुरतक्षमा ॥१२॥

सम्प्राप्ततारुण्यवागा मोहात्तरतयोभ्या मध्या ।

तत्र यौवनयती यथा—

आलापान् भ्रूविसासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तयात

नीवीश्रयं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाऽमध्व्यनिम्ना नितम्ब ।

उत्सुप्यस्तपस्वच्छुचं कुचशिखरयुरो नुनमत् स्मरेण

मृष्टा बोदण्ककोटया हरिणमिशुदृशा दृश्यते यौवनधी ॥११२॥

वामयती यथा—

स्मरनवनवीरुरेणोडा पुष्पुषस्तुभि—

यदपि विद्यतास्तिष्ठत्परादपूणमनोरया ।

तापि लिखितप्रश्नरङ्गं परस्परमुखा

नयनलिनीनालाहृष्ट विवर्तित रस प्रिया ॥११३॥

मध्यसम्भोगो यथा—

ताव श्विव रदसमए महिनाण विभ्रमा विराजति ।

जाव ण कुवलयदलसम्भ्रहाइ मउलति णवणमइ ॥११४॥

(घ) मध्या नायिका

जिसमें यौवन और वाम का उदय हो रहा है, जो वेसुधी अवस्था

(मोह) पयत्तरति में समथ है, वह मध्या नायिका है ।

तारुण्य और काम भाव प्राप्त कर चुकने वाली तथा मोह की अवस्था पयत्तरत के योग्य नायिका मध्या होती है ।

उनमें यौवन से युक्त यह ह जसे (?)—'जनक चूविलास ने आलाप (वालों साथ—बातचीत) को कम कर दिया ह उसका गमन पुत्रियों के हितन क शोभित है, मध्य भाग म नीचा नितम्ब अपने विस्तार से नीची की प्राय को सविश्राम (सिपिल) कर रहा है यजस्थल के पाश भाग विरलिन हो रहे ह स्तन साधर बढ रहा है (पूच्छत) । एसा बिलसाई देता है कि अवयव ही अत करण में स्थिर कामदेय ने [अपने धनुष की कोर से मृगसावकनयो की यौवन यो का स्तन कट लिया ह ।'

[इत वगन द्वारा यह प्रवट होता है कि नायिका का पूरा यौवन प्रान्त हुा रहा है ।]

काम से युक्त नायिका यह ह जस—(अमर ६०) 'कामदेव का नूनन हृच्छ के प्रधाह मे बहने हुए प्रिय यद्यपि मुकमन ह्यो मनु क द्वारा राह हुए मूनन म्दरन वाले होकर निबट बडे ह तथापि विचलिखिन त बङ्गों द्वारा एह हुनर क स्ति उ म्पुष होकर मेव ह्यो कवनवास स सापे हुए रन का पन क एह मयमा का रति इस प्रकार की होडा ह अय—हृच्छः ३] कच्छेने के

॥११॥

प्रयोग, यथा—

२।

॥१११॥

शेष में यह बात विवक्षित
है कि प्रथम श्लोक के अन्त में
(१) को ऊपर उठाकर किसी
को केवल रोमी पूर्व बतका

मध्यम २० वागनी सं
१ है]

रूप होने वाली (तारुण्य
करना चाहिये । जसे—

। सुपुत्र के लिये रखने—

शाम द्वारा (वय वयान मे)

है अथवा रोमा—क उरक

गन को हिलाती है ।

। को देखना चाहती है कि उ

शेष के प्रतिनिधय को देखकर

१० २० (३ ४०) वा० ६०

१० प्र० (हृ० ६१ १ ०-२१)

नसा ।

अति ॥

१।

१।

(तावदव रतिशमये महिलाना विभ्रमा विराजत ।
यावन कुवलयदलस्वच्छामानि मुकुलयति नमनानि ॥'
एव धीरायामधीराया धीराधीरायामप्युग्राहायम् ।

अथास्या मानवृत्ति —

(२८) धीरा सोःश्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रुकृतागसम् ।

चेदयद दयित कोपादधीरा परपाक्षरम् ॥१७॥

मायाधोरा कृतापराध प्रिय सात्प्रासवज्जोरया सदयत् । यथा माप—

‘न खनु वयममुष्य दानयाग्या

तिवति च पाति च मासको रहस्त्वाम् ।

व्रज विटपमम् ददस्व तस्य

भवन्तु यत सशशोविचाराय योग ॥१११॥

श्रुङ्गार चेट्टारै रतिकाम मे तभी तक शोभित होसी ह जय तक कि नीसकमल वज्र के समान निमल आभा वाले ७२ धुकुलित (बच) नहीं हो जाते ।

इसी प्रकार धीरा अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण दिया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) सि०, ना० ८० (४-५६) मध्या मध्यमय काम माना मू०छा‘तमोहना’, भा० प्र० (पृ० ६६ प० २१-२२) । सा० ८० (३५६) म मध्या का लक्षण अधिक स्पष्ट है— मध्या वह है जो विचित्र रतिसीला मे निपुण हो जिसका काम और यौवन उभार पर हो जा कुछ प्रगल्भ वचन बालती है और मध्यम कोटि का लज्जा रखती हो । (२) मध्या के धीरा अधारा तथा धीराधीरा ये तीन प्रकार माने जाते हैं । तीनों प्रकार की मध्या नायिका क रतिवचन म भी कुछ अवा तर भेद हुआ जाता है जिसक उदाहरण माप-नाटय म दखे जा सकते है । ना० ८० (४२५६) तथा दशरूपक क अग्रिम (४-१७) विवेचन म धीरा अधीरा तथा धीराधीरा की मानवृत्ति का भी वचन दिया गया है ।

इस (मध्या) नायिका की मानवृत्ति इस प्रकार की है—

मध्या धीरा ताने (उत्प्रास) के साथ वक्रोक्ति से, धीराधीरा आसुओ और तान क साथ वक्रोक्ति से और अधीरा कोप के साथ अश्रुपुवक कठोर शब्दा से अपराधी प्रियतम को फटकारती है—

मध्या धीरा अपराध करने वाले प्रियतम को ताने रहित वक्रोक्ति से फटकारती है । जैसे माघ (७ ५३) मे [अपराध करने के परचात्रु कोई नायक नायिका को मनावे व लिय वृष का शाखा (विटप) अपत करता हूँ, इस पर नायिका कहती है] ‘हम तो इस बात के योग्य नहीं हैं जो एका त मे तुम्हें पीती है और तुम्हारा रमा करती है जाओ इस शाखा को उसी को वे दो, जिसत इन दोनों समान वस्तुओ का विर १८ के लिये सायाग हो नाय ।

Handwritten notes in Hindi on the right margin, including phrases like 'तावदव रतिशमये महिलाना विभ्रमा विराजत' and other lines from the text.

Handwritten notes in Hindi on the right margin, including a list of items: 'टिप्पणी—(१) सि० । धान करने वाली का शाखा वार ७२ फटकारती है । धीराधीरा अपराध करने वाली है । वने अपराध (१:०) मरिचो, हाथ की छोटी सी । हस्ते (हृत्प) से वेद उल्लङ्घन किया सब बग ही होना है । (एवम्) हो ? (मरिचो) सि० ८० करने से (मरिचो) में छोटी वने ? (एवम्) एही वने सि० एही ? । टिप्पणी—गीतिका की म् ७ कर्णागि की (न व परागर्जन का शाखा को कोरा मय्य अपराधक कठोर है) वने—[अपराधपुत्र नायक कटपट है] मानता तो नायक कपल ७२ है तो मरिचो कहती है]—है मया ७० को ? दोष को, इसका कारण मर को है वक्रोक्ति धिरो को ही मया म का एही ही प्रकार मया मरिचो क और मही होने और (मुकुल से) मरिचो को तान ७० मरिचो कथिया का मुक कर मरकड से मया (के न करने) से विक्रान्ताना की एही

घोराधीरा साधु सोत्तमासवक्रोक्त्या वेदयेत् यवाऽनरुगतमे—

वाले नाम विमुञ्च मानसि रूप रोषाभया कि द्रव

वेगोऽस्मात्तु न मेऽपरायति भवास्तर्षेऽपरागा मयि ।

एकं रोदिभि रण्यदा वचसा क्रमाप्रतो म्यते

नन्तमम का तवास्मि दयिता नारमीत्यतो रुचते ॥११६॥

घोरीरा साधु परयाक्षरम् यथा—

यातु यातु किमनेन तिग्ढता मुञ्च सधि मादरु हृषा ।

खण्डिताप्रकराङ्कित प्रिय गङ्गुमा न नयननिरोधिवुषु ॥११७॥

एवमपरैऽपि बीडानुपहित्वा स्वयमनभियोगकारिणो मध्याभ्यन्धरा मन्वति यथा—

स्वदाग्म न तिकाञ्चित्ते पि बन्दे जातेऽपि रोमीदृग्मे

प्रियम्भोऽपि तुरो पयोधरभरो कम्भेऽपि द्रष्टि गते ।

द्विपयोगी—(१) विटप १ शाखा २ विट अर्थात् कामुक वा उपपत्ति का प्राप्त करने वाली या रक्षा करने वाली । (२) यहाँ नायिका लावा देकर चक्रोक्ति से पटकार रही है ।

घोराधीरा अधुपूर्वक ताने सहित वक्रोक्ति से अपराधयुक्त मिश्रतम को फटकारती है । जने अमदगतक (१०) जे—(नायक) वाले (नायिका) नाथ (नायक) मानिसी, बीष को छोड़ दो । (नायिका) बीष से मैने नारा कर लिया ? (नायक) हमारे (दृढय) में तेद उत्पन्न कर दिया (नायिका) आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया सब भंरा ही बीष है । (नायक) तो फिर त्वमद वचन के साथ बयो रो रही हो ? (नायिका) किसके आगे रो रहा है ? (नायक) यह भंरे ही तो सामने । (नायिका) मैं तेरी चीज हूँ ? (नायक) प्रियतमा (नायिका) आपकी प्रियतमा नहीं रही इसीलिये रो रही हूँ ।'

द्विपयोगी—नायिका की इस पटकार म अधु हैं (रहते) और ताने के माथ वक्रोक्ति भी (त मेऽपरायति का तवास्मि इत्यादि) ।

घोरीरा मध्या अधुपूर्वक वक्रोत्तर वचनों से (अपराधयुक्त नायक) को फटकारती है, जसे—[अपराधयुक्त नायक दूषित नायिका को मनाने का प्रयास करता है, यह ही मानती तो नायक वापस चल देता है । इन् फर कोई सचो नायक बो रोवती है तो नायिका कहती है]—हे मदी इते जाने बो जाने दो इसक ठहरने से क्या प्रयोजन ? छोड़ दो इसका आदर मत करो ! (अथ नायिका के द्वारा) खण्डित अग्रर से कसङ्कित प्रिय को हृष आयां से भी नहीं देण सकती ।

द्वी प्रचार मध्या नायिका के और भी ध्यक्षरार होते हैं जो सज्जा से डके नहीं होते और (तुरत मे) नायिका की रगत प्रवृत्ति न बराने वाले होते है । जते—यदिप नायिका का मुख स्वेब जलक्षण से मुक्त हो गया जसे रोमाञ्च ही आया पुद्गन (न न आने) से निरिचतता भी रही, स्तन मार का रूपन भी बढ़ गया,

वृत्तात्मन् ।
 म् ॥१०॥
 ७ मात्र—
 यह तक कि मेरागत रव
 जते ।
 को रण्यार विवा का
 या मयवय रण्यमाय
 ० २० (१२६) न मयत
 विर मे विपुषो ही सिक्का
 रो हो और मयत कोटि
 निरप्य रा, मे सात प्रवार
 से को बुछ बडाटर के
 है । या द ० (४ २२६)
 विर तथा बीषहीता का

ह—
 सी, घोराधारा आपुमा
 साय अधुपूर्वक वक्रोत्तर
 सहित चक्रोक्ति से फटकारती
 रो नयक नायिका को सने
 पर न नायिका कहती है] तु
 ही ही और तद्वारी एव वक्रो
 लो वामन वल्लभो का विरल

मध्योऽधिकं तनुरतीवमुनिनितम्बो

मथा गतिं किमपि चाद्भुतयोवनाया ॥११६॥'

यथा च—

स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्बो मध्यं समुन्नतं जघनम् ।

विपिनो मृगजावाद्या वपुषि गवे क इव न स्थलति ॥१२०॥

भावप्रगल्भा यथा—

'न जाने सम्मुख्यायते प्रियापि वदति प्रिये ।

सर्वथ्यङ्गानि किं याति नभसामुत वणताम् ॥१२१॥'

रत्नप्रगल्भा यथा—

काते तत्त्वमुपागते विगलिता नीवी स्वयं वचनदा—

वान प्रखलमेखलापुण्ड्रत किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।

एतावत् सखि वेदि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुन

कोऽपि वास्मि रतं तु किं कथमिति स्वत्याग्नि मे न स्मृति ॥१२२॥

एवमप्यग्नि परिपकहीय'यथावैदग्ध्यप्राया प्रगल्भा व्यवहारा वेदितया । यथा—

तथा नितम्बं लघोऽधिकं भारी और चातं कुछ भव्य ही गई है । और जते—'यह ऊपर उठा हुआ स्तनतट नीचा मध्यभाग और फिर ऊँचा जघन—स्थल, इत प्रकार मगशावकमयनी के इस विषय (ऊँचे नीचे) तथा नवीन शरीर में कीन स्थलित नहीं होगा ?'

टिप्पणी—यहाँ नायिका के गाठ धोवन का वयन है । 'विपिन मे स्थलति का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मई ऊँची नीची भूमि में कोई भी व्यक्ति चपते हुए फिसल जाता है इसी प्रकार इसने गाठ धोवन में पूण शरीर का प्रति भी उसके फिसलने की सम्भावना है ।

भावप्रगल्भा (भावो मे प्रगल्भा) यह है, जले (कोई सायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सामने आने पर और प्रिय वचन कहने पर न जाने मेरे समस्त अङ्ग ही मेरा बन जाते हैं इत्यथा धोय बन जाते हैं (अर्थात् प्रियतम के निश्चय आने पर मैं सब ओर उर्हो ही देखती हूँ, उनसे धोतने पर सब ओर उतकी हो बात सुनती हूँ) ।

रत्नप्रगल्भा (रति में प्रगल्भा) यह है जैसे (अमर १०१ में नायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सेज पर आते ही मेरी नीची ओर गाँठ स्वयं ही छुल गई वीली बरधनी की सखी (पुण) से रोका गया स्वयं भी कुछ नितम्ब पर ही उठरा रहा । मैं तो सब केवल इतना ही जानती हूँ । उसके अङ्गों का सम्पर्क होने के बाद भी तो यह क्या है मैं क्या हूँ किस प्रकार की रतावस्था है' इत्यादि किती बात की तनिष भी स्मरति पुनं नहीं रहें ।

इसी प्रकार और भी प्रगल्भा के व्यवहार जानने चाहिये जिनमें सजा की यात्रया छोड़ की जाती है और विवग्धता का प्राण्य होता है । जते (अमर १०

या ॥११६॥
पुत्रेणस्तुतमपावती ।

साङ्गः ।
१५॥

गा । किन्तु जो उस हुमाहू
न के साथ से दिये हो तब

ज्वलन (आलेख) की अवत
प्रकृति न कलात्' जट ही

गो ६० (११६) में सीप
के प्रसार बनन किया गया
पुन पर के द्वारा मया के
मुखा के व्यवहार तथा
के व्यवहार स्वभा प्रया
है । सर्वप्रथम सां ६०
विश्लेषणकालिप—मुले
अवर्तनिति समीकृत मयविति
के बाती इन पर के द्वारा
विना मयक की मुवने में
गो (१२१) पुन ते निनि
पर बाह्य वास्तवरे ले
हार है—हृत्केवशयवना
(सर्वोत्पत्ता) स्वतोऽर्थ

शायं * कारण शिष्यम
म मे भी वतया रहित

है जते मेले (सिन्धु का) ही
हलो गाला है मेर निगल
है अथवात भावना साथ है

वचनिसाम्बलात् वचनिसदृशवृत्तानि
 वचनिसदृशवृत्तानि वचनिसदृशं च सालसकपद ।
 वलीधञ्जाधोरेलरपनि त शीघ्रमुमुम्
 विप्रया सर्वावस्थं वचनिस रत प्रच्छदपट ॥१२३॥

अथास्या कोपवेष्टा—

(३०) सावहित्यादरोदास्ते रसौ धीरतरा ब्रूया ।
 स तज्यं साडयैद मध्या मध्याधीरेव त यदेत् ॥१६॥

सावहित्येन = आकारसवरणेनारेण च = उपचाराधिबधन घतते सा सावहि
 त्यादरा रतावृत्तामीना ब्रूया भोतेत भवति ।

सावहित्यादरा यथाऽमरवृत्तके—

एवात्रासनसभिधति परिहृता प्रत्युद्यमाद् दूरत
 स्ताम्बूलाहरणं छेतेन रमसायतयोऽपि सविधितत ।

(१०७) विद्यते का वचन (चावर) नायिका की सब प्रकार की रति को प्रकट कर
 रहा है । यद् वचन कहीं पान से रमा है कहीं अन्न के लेप के दग्धा से मलिन है,
 कहीं (गन्ध के) घृण से युक्त है और कहीं मट्ठार सगे पत्र (पत्र विह्व) से तथा कहीं
 केशों से गिरे हुए सर्पित (शीघ्र) पुष्पो युक्त है ।

टिप्पणी—(१) वचनित् ० हत्यादि म नायिका की विविध प्रकार की काम
 भास्नात्क रति विधियाँ प्रकट होती हैं । यदि नायिका लज्जा का नियमन स्वीकार
 करे या उसमें विदग्धता न हो तो वह विविध प्रकार का रतिविधिया का प्रयोग नहीं
 कर सकती (इ० अमर० १०७ टिप्पणी) । (२) ता० द० (४२६०) के अनुसार
 दीप्त वायु मान तथा काम वाली ओर श्रिय के स्पर्शमान से जेमुष्टु हा जाने वाली
 प्रगल्भा नायिका होती है । सा० द० (३६०) म प्राय दशरूपक क मनात्र ही प्रगल्भता
 का स्वरूप दिखलाया गया है । प्रना० (१५६) में प्रगल्भा को प्रोद्धा' कहा गया है
 इसी प्रकार वाग्भट्टालङ्कार तथा काम्यानुशासन में भी ।

इत (प्रगल्भा) की कोपवेष्टा इस प्रकार होती है—

धीरा प्रगल्भा अवहित्य (= व्याकार सवरण) तथा आदर प्रदर्शन
 सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है ।
 अधीरा (धीरेतरा) प्रगल्भा क्रोध से (नायक को) फटकार कर पीटती है ।
 धीराधीरा (मध्या) प्रगल्भा तो धीराधीरा मध्या के समान उस नायक से
 बात करती है ॥१६॥

जो (कमित) आकार को छिपाकर अधिक शोचचारकता (आदर) के साथ
 व्यवहार करती है वह सावहि'यादरा कृतानी है । कोप के कारण रति में उदासीन
 रहती है ।

सावहि'यादरा यह है जो अमरवृत्तक (१८) में नायक को दूर से आते
 हुए देखकर अगमानी से उठते हुए एक आगम पर बठने की बजा बिया, पात लाने
 के बहाने से (नायक द्वारा) वेगपूर्वक बिदे जाते हुए आलङ्कन में की विघ्न कर

Handwritten notes on the right margin, including phrases like 'वचनिसदृशवृत्तानि', 'वचनिसदृशं च सालसकपद', and other commentary in Devanagari script.

आलापोऽपि न भिद्यत परिजन व्यापारस्य वाऽऽतित्ते
 का त प्रत्युपचारस्तस्त्वुरया कोप कृताऽर्हितः ॥१२४॥'

“तामुद्रामीना यथा—

‘आयरता वसह पुरेव कुन्त न ख सनं वामसा
 भन्तश्चूयतिवच्छपमानमघर घत्ते न नेशप्रहे ।
 अङ्गायपरगत स्वय भवति नो वामा हृडात्किङ्कने
 तस्या भित्ति एव मय्यति मुत कोपसकारोऽपर ॥१२५॥

इनरा स्वधोरप्रगल्भा कुपिता सती मातज्य ताडयति । मयाऽमरुसतते—

‘कोपोः कामसलानवाहृषतिवापाकेन वदृष्या हृड
 नीत्वा केतिनिवैतन दयितया साय सधीता पुर ।
 भूयाऽप्येवमिति स्वसलत्वगिरा सतूष्य दुष्पेष्टित
 धया ह्ययत ए” तिङ्गुतिपर प्रेयान् वदत्या ह्वन् ॥१२६॥

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव त वदति सोऽत्रासवज्ञाकत्या । यथा सतैव —

‘कोपो यत्र श्रुकुट्टिरचना निम्नो यत्र मौन
 यत्रापोऽरिमतमनुनयो दृष्टिपात प्रमाद ।

बिया, नायक के पास सेवकों का काम मे लगती हुई उसने नायक से यात चीत भी न
 की इस प्रकार प्रियतम के प्रति औपचारिकता का प्रवर्तन करके उस प्रगल्भा (मायिका)
 न अपना कोप सफल कर लिया ।

रति मे उवासीन यह है जसे (अमर० १०६ में नायक कह्या है) —
 परिभ्राता सी (आपस्ता) बहु धन धीचने पर पहिले के समान कसह नहीं करती,
 केस प्रहण के समय सीहें बर करके अघर नहीं काटती स्वय अपने अङ्गे को अहित
 बर देती है और बलात् आविज्ञान करने पर विरोध नहीं करती । इस प्रकार कुशाङ्गी
 ने बहो से यह और (= अघर = अन्त) ही कोप का प्रकार होय लिया है ।

दूसरी अर्थात् अधीर प्रगल्भा तो कुपित होकर नायक की फटकार कर
 पाटती है जसे अमरशतक (६) मे (कवि यगन करता है) ‘प्रियतना अपनी काँवती हुई
 बोमल थाटलता से प्रियतम को बदलापुत्रक बांधकर सायबास सधियों के सामने ही
 केसिपूह मे ले आई । फिर भी ऐते ही इस प्रकार की कल्पित मुद्रु बाणों से उसके
 अपराध को मुचित करके रोती हुई उस मायिका ने (अपने अपराध को) छिपाये में
 सत्वर तथा हँसत हुए उस कीभायशासी (घय) को पीटा’ ।

धीराधीरा जो प्रगल्भा होती है वह भी धीराधीरा मध्या के समान उस
 (नायक) से तान घरी यकीलिके साथ धाते करती है । जैसे वही (अमर० ३८ में
 मायिकार नायक से कहती है) जिस प्रम में छू विसास ही कोय है मौन ही बन्ध
 है, एक दूसरे के प्रति मुहबजाना ही अनुनय है रजित वासना ही प्रसतता है, देवो

न ॥
 १२५॥
 ता इमा ।
 न ॥१२॥
 पापजन वरने का कायि
 ३
 ४
 ५
 ६
 ७
 ८
 ९
 १०
 ११
 १२
 १३
 १४
 १५
 १६
 १७
 १८
 १९
 २०
 २१
 २२
 २३
 २४
 २५
 २६
 २७
 २८
 २९
 ३०
 ३१
 ३२
 ३३
 ३४
 ३५
 ३६
 ३७
 ३८
 ३९
 ४०
 ४१
 ४२
 ४३
 ४४
 ४५
 ४६
 ४७
 ४८
 ४९
 ५०
 ५१
 ५२
 ५३
 ५४
 ५५
 ५६
 ५७
 ५८
 ५९
 ६०
 ६१
 ६२
 ६३
 ६४
 ६५
 ६६
 ६७
 ६८
 ६९
 ७०
 ७१
 ७२
 ७३
 ७४
 ७५
 ७६
 ७७
 ७८
 ७९
 ८०
 ८१
 ८२
 ८३
 ८४
 ८५
 ८६
 ८७
 ८८
 ८९
 ९०
 ९१
 ९२
 ९३
 ९४
 ९५
 ९६
 ९७
 ९८
 ९९
 १००

को की कतिप इका की काय
 ता मया का विव नन प्रवरा
 का विविदया का प्रतीत यी
 का के का (यस) के कुनर
 का के का हू जाने यानी
 प्रका के मया ही अमरमा
 का को ओनं रहा मया है
 १
 २
 ३
 ४
 ५
 ६
 ७
 ८
 ९
 १०
 ११
 १२
 १३
 १४
 १५
 १६
 १७
 १८
 १९
 २०
 २१
 २२
 २३
 २४
 २५
 २६
 २७
 २८
 २९
 ३०
 ३१
 ३२
 ३३
 ३४
 ३५
 ३६
 ३७
 ३८
 ३९
 ४०
 ४१
 ४२
 ४३
 ४४
 ४५
 ४६
 ४७
 ४८
 ४९
 ५०
 ५१
 ५२
 ५३
 ५४
 ५५
 ५६
 ५७
 ५८
 ५९
 ६०
 ६१
 ६२
 ६३
 ६४
 ६५
 ६६
 ६७
 ६८
 ६९
 ७०
 ७१
 ७२
 ७३
 ७४
 ७५
 ७६
 ७७
 ७८
 ७९
 ८०
 ८१
 ८२
 ८३
 ८४
 ८५
 ८६
 ८७
 ८८
 ८९
 ९०
 ९१
 ९२
 ९३
 ९४
 ९५
 ९६
 ९७
 ९८
 ९९
 १००

(१८) में 'नायक की हू मे अने
 रर काने को कया विपय, यन लने
 हूँ माहित्य मे को विव का

तस्य प्रम्यस्तद्विदमधुना वशस परय जातं

त्व पादान्ति तुष्टसि न च मे मधुमीण खलाया ॥१२७॥

पुनश्च—

(३१) द्वेषा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता ।

मध्याप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवति । मुग्धा त्वैकस्व । ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽप्रवृत्तके—

‘ज्येष्ठवकासनसिष्यते प्रियतमे परयातुपेत्यादरा—

देवस्य नयने निमील्य विहितक्रीडानुबधच्छल ।

ईषद्व्रित्तकधर सपुलक प्रमोल्नसमानसा—

मत्तर्हासपसत्कपालफलका धूर्तोऽपरा बुभ्वति ॥१२८॥

न चानयोर्दक्षिणप्रेमभ्यामेव व्यवहार, अपि तु प्रेम्णापि यथा चततमीकत दक्षिणतमभावसरे । एष च धीरमध्या अधीरमध्या धीराधीरमध्या धीरप्रगल्भा-अधीर

तो उस प्रेम का यह अथ कसा विनासा (धगतम्) हुआ है कि तुम मेरे चरणों में लेट रहे हो और मुझ पुष्पा का कोप ही बुर नहीं होता ।

द्विष्यन्तो—मध्या नायिका के समान प्रगल्भा भी तीन प्रकार की होती है—

धीरा, धीराधीरा और अधीरा, मि० ना० द० (४ २६० इति) तथा सा० द० (३ ६१) । ना० द० (४ २६० इति) तथा सा० द० (३ ६२-६४) में प्रगल्भा की कोप ज्येष्ठा का प्राय इसी प्रकार वगन किया गया है ।

और फिर भी

(मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाएँ) दो प्रकार की होती हैं—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा । इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाओं के बारह भेद हो जाते हैं ।

मध्या और प्रगल्भा के भेदों में से प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होने से बीनों के कुल १२ भेद हो जाते हैं । किन्तु मुग्धा तो एक प्रकार की ही होती है । ज्येष्ठा और कनिष्ठा इस प्रकार की होती हैं जैसे अमदाशत (१६) में (कवि वगन करता है) ‘एक आसन पर बठी दो प्रियाओं को देखकर प्रियतम ने आदरपूर्वक पीछे से पास जाकर क्रीडा करने के सहान्ति से एक की आँख मूढ़ की ओर उस धूल ने रोमाञ्चित होकर प्रीया की कूछ वरू करके प्रेम से उत्सहित हृदय वाली एष आतरिक हास से शीमित बपोस तल घाती दूसरी नायिका का चुम्बन किया ।

इन बीनों (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) के प्रति क्रमशः (ज्येष्ठा के प्रति) केवल दक्षिण का ही तथा (कनिष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार पाया जाता है यह बात नहीं है अपितु (ज्येष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार देखा जाता है । यह किस प्रकार होता है यह दक्षिण नायक के लक्षण के अन्वय पर (सहृदयत्वेन शठाद विरोध इत्यादि) बतलाया जा चुका है ।

प्रकाशित...
रत्ना...
ब्रह्म...

(१) ...
...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

प्रगल्भा धीराधीरप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठानिमिच्छाभेदाद् द्वादशाना वासवन्ता
रत्नावलीवत्प्रथमनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसृतव्यानि ।
अथा यस्त्री—

(३२) अन्वस्त्री कयकोटा च नाम्योडाजङ्गले रसे ववचित् ॥२०॥

कयानुरागमिच्छात् कुयदिङ्गाङ्गिस्तथश्रयम् ।

नायकात्तरस्वन्विद्यययोडा यथा—

दृष्टि हे प्रतिवेदिनि क्षणमिहाप्यस्मि द्युहे दास्यसि ।

प्रथेणस्य शिषो पिता न विरसा कोपीरप पास्यसि ।

एककिमपि यामि तद्वरमित स्रोतस्तमालानुल

नीर ध्रास्तनुमालिखतु जरठच्छेण नलप्रणय ॥१२६॥

इय त्वज्जनि प्रधाने रसे न ववचिनिवचनीयेति न प्रपञ्चित्वा ।

इन धीरमध्या अधीरमध्या, धीराधीरमध्या तथा धीरप्रगल्भा अधीरप्रगल्भा
धीराधीरप्रगल्भा में से प्रत्येक के ज्येष्ठा धीर कनिष्ठा दो भेद होने के कारण कुल
१२ भेद हो जाते हैं । इन १२ प्रबन्धनायिकाओं के उदाहरण वासवदत्ता (ज्येष्ठा)
तथा रत्नावली (कनिष्ठा) के समान महाकवियों की रचनाओं में खोजने चाहिये ।
द्विष्णो (१)—मि० मा० प० (३ ६४-६५) रत्नावल्युदाहार (१ १०५) ।

(२) इस प्रकार स्वकीया नायिका के १३ भेद होते हैं—

सुध्या (केवल एक प्रकार) = १

मध्या (धीरा अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा, कनिष्ठा) = ६

प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा कनिष्ठा) = ६

परकीया (अथ स्त्री)

अथ स्त्री (परकीया) दो प्रकार की होती है—कया तथा विवाहिता
अथ विवाहिता स्त्री (परोडा) को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं
प्रदाना चाहिये । कया के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या
अप्रधान रस का आधार बना सकता है ॥१००-२१॥

जिसी अथ नायक की विवाहिता स्त्री अयोडा (परोडा) बहलती है
उसे (?)—हे पशोसिन, क्षण भर को यहाँ हमारे घर पर निगाह रखना । इस
वाक्य का पिता (अर्थात् मेरा स्वामी) क्षुरे के स्वारहित जल को नहीं पीता,
इसलिये यह ठीक ही है कि मैं अकेली होकर भी तमाल वृक्षा से भिरे हुए स्रोत पर
यहाँ से जाऊँ, भले ही पुराने खण्डों वाली मल (मरसल) की घनी (नीर)प्रा = १२
अर्थात् छिद्र से रहित गाँठें भरे शरीर की चरोंक हों ।

इस (परोडा) को तो अङ्गी अर्थात् प्रधान रस से कभी भी योजना नहीं करनी
चाहिये, इसीलिये इसका विरत्तरपूर्वक वयन नहीं किया गया ।

द्विष्णो—(१) इस उक्ति से प्रकरण आदि के अनुराग यह प्रकट होता
है कि नायिका परपुर्य से रतिकोटा के लिये जा रही है । रतिकोटा में होने वाले

धारा ॥१२॥

द्वारनिर्गत ।

देन द्वाग धाग वरति । कुग

1—

उ-उ-उ ।

कुवदि ॥१२॥

नि यु अन्वि बग वनतोप

तीपोरामा-वीरगामा-वीर

गम है कि कुग नरे बरने में से

ती शीत प्रसर को होती है—

१० हृदि गता सा ०४ (१

१-१५) में अल्पा की नीर

की होती है—ज्येष्ठा तथा

दाष्ट भेद हो जाते हैं ।

अ को कनिष्ठा को भेद होने

एक प्रकार की हो होती है ।

रत्नावल (१६) में कवि स्वयं

वेकडर विषयमे ने आरतपुत्र

से उत्सलिन दृष्टय जाती रूप

विषय का पुत्र्य किया ।

कयामा (ज्येष्ठा के प्रति) भवन

वाहार गया जाता है वृ वज

वेधा जाता है । यद् विन प्रतर

वृद्वत्केन वहात् विषय (हृदि)

कगका तु पित्राद्ययत्तत्त्वाद्यपरिणीताप्ययस्त्रोद्युच्यते, तस्या पित्रादिभ्यो ऽलप्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वका ताभ्याः प्रच्छन् कामित्य प्रवर्तते, यथा मातस्या माधनस्य सागरिकायां च वःसराजस्वेति । तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधाना प्रज्ञानरससाध्ययो निबन्धनीय । यथा रत्नावलीनामानन्दयो सागरिका मलयवद्वय नुराग इति ।

(३३) साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यघोत्ययुक्त ॥२१॥

तद्व्यवहारो विस्तरत शास्त्रान्तरे निदर्शित । दिङ्मान्न तु—

द तस्य, नखन आदि को छिपाने के लिये वह नल की गाँठा से छिद जाने की बात बना रही है । (२) लोक में अय की परिणीता भी किसी अन्य पुरुष में प्रेम करने लगती है । सस्कृत के मुक्तक नायों में इस प्रकार के प्रेम प्रसङ्गों का बर्णन किया गया है यद्यपि इस प्रकार का प्रेम बर्णन रसामास (शृङ्गारामास) के अंतगत ही माना जाता है उस के अन्तगत नही । साहित्य शास्त्र की यह भी मर्यादा है कि जहाँ शृङ्गार प्रधान रस हो उस शृङ्गार का आत्मबन्धन परोधा को नहीं बनाया जा सकता ।

यद्यपि कन्या अविवाहिता होती है तथापि उसे अय स्त्री (परकीया) कहा जाता है क्योंकि वह पिता आदि के अधीन होती है । उस (कन्या) में युक्त रूप से प्रेम की प्रवृत्ति हुआ करती है क्योंकि (प्रथम तो) वह पिता इत्यादि से प्राप्त ही नहीं की जा सकती । यदि प्राप्त भी हो जाती है तो दूसरा की दकान्त या अपनी श्रियतमा का भय होता है । जैसे मातृनी में माधव का (दूसरों की दकान्त के कारण) और सागरिका में वःसराज का (देवी वासववत्ता के भय के कारण) अनुराग युक्तरूप से प्रवृत्त होता है । कन्या के अनुराग का दृच्छानुसार प्रधान तथा अप्रधान दोनों रसों में बर्णन किया जा सकता है । जैसे रत्नावली और नागानन्द में सागरिका तथा मलयवती के अनुराग का बर्णन है ।

तिथ्यन्तो—(१) रत्नावली में प्रधान रस शृङ्गार है, उसके साधन में सागरिका के अनुराग का बर्णन किया गया है । नागानन्द में प्रधान रस दयावीर है, शृङ्गार अप्रधान है उसके साधन में मलयवती के अनुराग का बर्णन किया गया है । सुधसना चायहन प्रभा (सकृत् टीका) में कथन गया है—जीमूतवाहन शातरस का नायक है (जीमूतवाहनस्य प्राध्यायेन शातरसनायकत्वात्), यह कथन धनञ्जय और धनिक के मत के प्रतिकूल है । धनिक ने नागानन्द में दयावीर रस की प्रधानता मानी है (द० आगे ४३५) । (२) मि०, सा० द० (३ ६९-६७), भा प्र० (७० ६४) ।

साधारण स्त्री (साधारण नायिका)

साधारण स्त्री तो गणिका हाती है जो कला, प्रगल्भता और सूतता से युक्त होती है ।

उस (साधारण स्त्री) का व्यवहार अन्य शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है । दिग्दर्शन मात्र तो यह है—

(३५) ७४९१७ १०१ १
रसतः प्रकृत्या रसतः

छन्दो रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

रसतः रसतः रसतः रसतः

(३४) छत्रकामसुखायानिस्वतन्त्राह्युभयभङ्गकम् ॥२२॥
रक्तेव रज्जयेदाद्धानि स्वाभावा विवासयेत् ॥२२॥

छत्र के कामयते छत्रकामा श्रीत्रियवर्गितिलिङ्गप्रभृतय सुधाध अग्रयासा
वाप्यधन सुखप्रयोनो वा, अहा मूख स्वतन्त्रो निरङ्कुषा, अहयुरहङ्कृत, पण्डवो
वातपण्डाणि, एना बहुविशान् रक्तेव रज्जयेदभावयम् न प्रधागत्वयात्तद्वृत्ते यद्वृत्तायाकु
द्विधादिता निष्पासयत् पुन प्रतिसंभायात् । इद तासाभोत्सागिक रूपम् ।

रूपयेषु तु—

वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखयुक्त धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी,
स्वच्छन्द, अहङ्कारी और पण्डव आदि को, यदि धनवान् हा तो अनुरक्ता के
समान प्रसन्न करती है और धनरहित होने पर इनको (निस्वान्) माता के
द्वारा निकलवा देती है ॥२२॥

जो गुप्त रूप से काम-सुधित करते हैं वे 'छत्रकाम' कहे जाते हैं जो श्रीत्रिय
(वेदवादी) व्यापारी तथा मन्थस इत्यादि का जिहू (निङ्गु) धारण करने वाले
'सुधाध' शब्द का अर्थिप्राय है यह स्थिति जिसे विना प्रयास के ही धन मिल गया हो
अथवा जिसका उद्देश्य सुख भोगना ही हो, अतः—सुख, स्वतन्त्र अर्थात् निरङ्कुष या
स्वेच्छाचारी, अहङ्गु = अहङ्कारी, पण्डक का अर्थ है—वातपण्ड (= मनुष्यक) इत्यादि ।
यदि ये प्रभुर धन वाते ही तो अनुरक्ता के समान धन की प्राप्ति के लिये इन्हें प्रसन्न
करे यथाकि वेध्या की वृत्ति में धन की प्रधानता होती है (तदवले = वेध्यायुत्ते,
तन्प्रधानत्वत्वात् = धनप्रधानत्वत्वात्) । जब इससे धन से लिया जाने तो इनको कुट्टिनी
आदि के द्वारा निकलवा दे जिसे कि वे फिर भी मिल सकें । यह धन (मनिकाभो)
का सामान्य रूप है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (६५५) सा० द० (१६०—३१) में सामान्य
नायिका का विस्तृत वयन किया गया है । पण्डक शब्द का अर्थ सा० द० म० 'वान
पाण्डवादि' किया गया है, कुष्ठ स्थला पर इसका अर्थ 'पाण्डुरोगी' किया गया है,
वस्तुतः इसका अर्थ एक विशेष प्रकार का मनुष्यक प्रणीत होता है जिसे चरन म
'वातिकपण्डक' कहा गया है । (वाय्वग्निदोषाद् श्रयणो तु यस्य मास गतो वातिकप
ण्डक स—चरक अ० २) । २ पुन प्रतिपाद्याय—फिर मिलने के लिय, भाव यह
ह कि यदि मामुक्त का धन चुक जाने पर यथा वा तपे स्वयं निकालती तो यह फिर नहीं
आयगा, किन्तु यदि स्वयं प्रेम दिखाली रहेगी और कुट्टिनी द्वारा निकलवायेगी तो
धन मिलने पर वह फिर भी का जायगा ।

रूपकों में तो (वेध्या के विषय में यह विशेष बात है) —

शुभ्रुय हावा निरालो
पुन्य भाव्य प्रसिद्ध
रगुभायव से उपा
मन्त्रो कारिकाभनर

श्रीभुय ॥२१॥
नं शु—

की नीचे के लि जाने की वन
दिखा कर पुन के इव कले
के इव नशुर्वा ननर किया
हायमान) के अन्वय ही माता
हृदये दान्य है कि अर्थात् यज्ञार
हृदये दान्य वा दान्य ।

अथ शो (शक्येण) श्रु
धन (कथं) में शुन वर
नर निरा इत्यदि से अर्थ ही
नो की इत्यर्थ वा अतो
हृदये की इत्यर्थ के कारण
के कारण मनुष्य सुखर
नर वहा अन्वय शोर्तो लो
मत्पानच में सायिका वया

शुभ्रुय वदम में सायिका
नर उव दशवीर है, शुभ्रुय
नर किया गया है । शुभ्रुय
मायु काउरव का नायक है
इ कथन धनरज्य और शक्ति
नर रस को प्राप्तता मातो है
) भा० प्र० (६५ ६५)

हला, प्रपत्तना और शुभ्रुय
नरों में विनायकता कथित किया

(३५) *रवर्नैव त्वप्रहसने, नपा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनकाले प्रवर्णनाशे रक्तवधा विधेया । यथा मूच्छकटिकाया वसतसेना चारदत्तस्य । प्रहसने त्वरस्तापि हास्यहेतुचात् । नाटकदो तु दिव्यनृपनायके नव विधेया ।

अथ भेदातराणि—

(३६) आसामष्टायवस्था स्मृ स्वाधीनपतिकारिकादिवा ॥२३॥

स्वाधीनपतिका वासवसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता वनहातरिता विप्रल धा प्रीयितप्रिया अभिसारिविद्येय्यो स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्था । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्था रूपत्वे सत्यवस्थातराभिधान पूर्वसा धर्मत्वप्रतिपादनाय । अष्टापिति 'यूनाधिक्य वच्छेद ।

प्रहसन से भि न अ य रूपक मे गणिका को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये । जिस रूपक का आश्रय कोई दिव्य (नायक) या राजा हो जिसमे इस (गणिका) को नहीं रखना चाहिये ।

प्रहसन को छोड़कर अय प्रकार आदि से इस (गणिका) को नायक मे अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये जैसे मच्छकटिक में वसतसेना को चावत मे अनुरक्त दिखलाया गया है । प्रहसन मे तो इसे नायक में अनुरक्त न होने वाली भी दिखलाया जाता है । क्योंकि प्रहसन हास्य का हेतु होता है । जिसमे दिव्य पुण्य या राजा नायक होता है ऐसे नाटक इत्यादि मे तो गणिका को (नायिका रूप में) नहीं रखना चाहिये ।

नायिकाया की अवस्थाएँ

इन (नायिकाया) की स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ अवस्थाएँ होती हैं ॥२३॥

१ स्वाधीनपतिका, २ वासवसज्जा ३ विरहोत्कण्ठिता, ४ उच्छ्रिता ५ वनहातरिता, ६ विप्रलम्बिता, ७ प्रीयितप्रिया, ८ अभिसारिका—ये आठ स्वकीया (परकीया सामान्य) आदि नायिकाओं की अवस्थाएँ हैं । यद्यपि नायिका होना (अथवा स्वकीया नायिका होना) इत्यादि की (नारी की) अवस्थाएँ ही हैं तथापि पूर्वोक्त (स्व कीया इत्यादि) अवस्थाएँ धर्मों हैं और ये (स्वाधीनपतिका इत्यादि) उनके धर्म हैं (अर्थात् उन अवस्थाओं की ही ये अवस्थाएँ हैं) यह बतलाने के लिये इन अय अवस्थाओं का अथन किया गया है । आठ (अष्टौ) इस शब्द का अभिप्राय यह है कि ये अवस्थाएँ आठ ही हैं कथ या अधिक नहीं । कते ?

*'रुवने त्वनुरक्त व वार्था प्रहसनेतरे' इति पाठांतरम् ।

न च शब्दार्थे । १
नायक व स्वकीयता प्राप्त । २
पूर्वनायक व केन्द्र नायकता । ३
वशा कर्तव्यता । ४
प्रवर्णनाशे प्रवर्णनाशे । ५
एवं कर्तव्यता व पूर्वनायक । ६
शब्दार्थे । ७

राजपत्न्या (= वधु वधु नि
का स्वाधीनपतिका इति मे अर्थ
वास में नहीं रहना का वृ
पति वास में रहना है । वृ वृत्ता का
आने वाला है (पुन्यपुत्र) इत्यत्र
प्राप्तिका (विनया वनि वृत्त में विन
रहना चाहिये । (वास वृत्ते
को दूरी रूप है, किन्तु भीमवृत्तका
अर्थ है। इस प्रकार वलकपत्न्या का
स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव हो सकता है
और इसी रूप होने पर ही स्वर्णना
प्रकार का विषय तरो वृत्त का
अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इस प्रकार
होगा, कते ?) वृ (शब्दप्रकार)
का अर्थान् (= पत्नीक अर्थ स्त्री में
प्रीयितप्रिया की तरो है काकि तरे
तो रति और वधु को दूरा में ध्वज
को तरो है काकि वृ वृत्त क इति
आने की) प्रत्या वृत्ते ।

विष्णो—एवं प्रकार वि
आपत्ता की अपने एतत्त वृत्त
वृत्तका वृत्त अर्थान् वे विन ही है ।
इस प्रकार विष्णोपतिका का
वृत्तवृत्त तरो को वृत्त का
का अर्थान् ही आने पर वृत्त
वृत्त विष्णु के विषय का वृत्त वृत्त का ।

न च वासकसज्जादे स्वाधीनपतिकादाय तर्भाब, अनासप्तप्रियत्वाद्वासकसज्जामा न स्वाधीनपतिकात्वम् । यदि चत्पत्रिप्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोपितप्रियापि न पृथक्वाप्या, न चैयसा व्यवधानेनासत्तिरिति विधत्तु वाच्यम् । न चाविदितप्रियव्यती काया खण्डितात्वम् । नापि प्रवृत्तस्तिभोगेच्छाया प्रोपितप्रियात्वम् । स्वयमगमनात्प्रायक प्रत्यप्रयाजकत्वा नाभिसात्कारिकात्वम् ।

एवमुक्तञ्चिदाप्ययं पूर्वार्थम् । औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासवसज्जा । तथा विप्रल घापि वासकसज्जावर्धयथ पूर्वार्थम्, उक्त्वा नायात इति

वासकसज्जा (=आने वाले प्रिय के लिये अपने आपको सजाने वाली) इत्यादि का स्वाधीनपतिका इत्यादि में अतर्भाब नहीं हो सकता । क्योंकि वासकसज्जा का पति पास में नहीं रहता अतः वह स्वाधीनपतिका नहीं कहला सकती (स्वाधीनपतिका का पति पास में रहता है) । यह कहना भी ठीक नहीं कि वासकसज्जा का पति शीघ्र ही आने वाला है (एव्यवृत्तिका) इसलिये वह स्वाधीनपतिका ही है, क्योंकि इस प्रकार तो प्रोपिता (जिसका पति दूरदेश में रियत है) को भी स्वाधीनपतिका से पुण्यक नहीं कहना चाहिये । (यदि कही कि वासकसज्जा और उसके प्रिय के बीच तो बेश काल की दूरी कम है, किन्तु प्रोपितपतिका तथा उसके प्रिय के बीच बेश काल की दूरी अधिक है इस प्रकार वासकसज्जा का पति निकट रहना जाता है और उसका स्वाधीनपतिका में अतर्भाब हो सकता है प्रोपितपतिका का नहीं, इस पर कहते हैं—) और, इतनी दूरी होने पर ही सम्भोषता (आसक्ति=पास होना) मानी जायेगी, इस प्रकार का नियम नहीं कहा जा सकता । अतः वासकसज्जा का स्वाधीनपतिका में अतर्भाब नहीं हो सकता इस प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी उसका अतर्भाब नहीं होता, कते ?) । यह (वासकसज्जा) खण्डिता भी नहीं कहला सकती, क्योंकि उसे प्रिय का अपराध (—व्यतीक, अथ रक्षो में आसक्ति) ज्ञात नहीं है, यह (वासकसज्जा) प्रोपितप्रिया भी नहीं है, क्योंकि रति और भोग को इच्छा में प्रवृत्त है (प्रोपितपतिका तो रति और भोग को इच्छा में प्रवृत्त नहीं होती) । यह (वासकसज्जा) आभिसात्कारिका भी नहीं है, क्योंकि वह नायक के प्रति स्वयं नहीं जानने, न ही नायक को (अपने पास आने की) प्रेरणा देती है ।

द्विष्यो—इस प्रकार जिन अवस्थाओं में वासवसज्जा का अतर्भाब होने की शान्का भी, उनमें इसका अतर्भाब होना सम्भव नहीं है अतः वासकसज्जा नामक अवस्था अथ अवस्थाया से निम्न ही है ।

इसी प्रकार विरहोक्तडिता भी पूर्णतः नाभिसात्कारि से निम्न ही है । यह वासकसज्जा नहीं बही वा सकती, क्योंकि वह तो प्रिय के आगमन के उचित समय का अतिशयन हो जाने पर व्याकुल (उत्तरिष्ठ) होने वाली है (इसके विपरीत आने वाले प्रिय के लिये सज्जा करने वाली वासकसज्जा होती है) । इसी प्रकार विप्रलसया

सप्रय ।
या वृच्छिकाया वन्दनो
नरकाने तु स्थितवगने न

तिरदिना ॥२१॥
विश्व कर्तुं अरिता विवर्णा
। मां शम्भुतोमन्त्रण
गद । कर्णादि पुनाकिण्य

गे (नायक क प्रति) अतुल
ने ई निन् (नायक) वा राज

(विपरी) को माल में अतुल
कसता में अतुल निवर्णा
तो भी विवर्णा माला है ।
न वा राजा नायक होना है
नहीं रहना चाहिये ।

दि आठ अवस्थाएँ होती

शिक्षिता, ४ धर्मिता ३
सात्कारिका—ये साठ स्वकीय
। प्रथमि नायिका होना (इवना
याएँ ही हैं तथापि पूर्णतः (न
तिका इत्यादि) उनके पण
नसने के लिये न अथ अथ
जन्म का अतिशय यह है कि के

शाका उक्त ।

यथा—

'मा गवमुद्रह कपालतले चकालिन का'स्त्वहस्तचिखिता मम मञ्जरीति ।
अयंयति किं त सखि भाजनमीदृशाना वरी न चैद्भूतति वैपथ्यतराय ॥१३०॥

अथ वासकमञ्ज्रा—

(३८) मुद्रा वासकसञ्ज्ञा स्व मण्डयत्येव्यति प्रिये ॥२४॥

स्वमात्मान वरम च हर्षेण भूपयत्येव्यति प्रिये वासकसञ्ज्ञा । यथा—

निजपाणिपल्लवतटस्थलनादाभनामिकाविवरमुत्तरति ।

अपरा परीक्ष्य शनकमुमु मुषुवासासात्यकमलसवसने ॥१३१॥

जसे—(अमर० ५५) हे रघो इत शत बा गव न कर कि प्रियतम वे अपने हाथ से चिपिन मञ्जरी भेरे कपोल तल पर विराजमान है । अथ वही भी क्या इत प्रकार के सोभाग्य वा पात्र नहीं हो सकती यदि वरी कम्पन बाधक न हो जाये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२-१५) भा० प्र० (पृ० ६६१५-१६), ना० द० (४२६७), प्रता० (१४३), सा० द० (३७४) । (२) 'मा गवमु द्रव्यादि का भाव यह है सुन्दारा प्रियतम प्रम से आह्वय होकर सुन्दारे वच न नहीं है तभी तो किसी प्रकार के रम्यन आदि सात्विक विकार के बिना ही कपोल पर मञ्जरी चिपित कर देता है । मरा प्रियतम तो इतना प्रेम के वश है कि ज्य ही मञ्जरी चिपित करन बन्ना है त्योही कम्पन आदि सात्विक भावा बा उदय हो जाता है और मञ्जरी चिपण म बाधक हो जाता है । इन कथन स प्रियतम वा समीप स्थित होना, अपने वच न होना और इसीलिये नायिका का प्रमनता प्रकट होने से ही अथ यह स्वाधीन पतिका है (आमस्र = समीपस्थ, आयत = स्वाधीनवच रजयो यस्या सा तथा) ।

२ वासकमञ्जरा—

प्रिय के आगमन का आशा होने पर जो हृय के साथ अपने को सजाती है वह वासकमञ्जरा है ॥२४॥

अर्थात् जब प्रिय आने पारता हो तब जो अपने आपको तथा अपने घर को सुवित करती है यह वासकमञ्जरा है । जसे—(भाय ६२) 'बाईं अथ रमणी अम पाणिपल्लव क छोरे से ठहराने के कारण नायिका के छोटों की ओर उठी हुई मुख कमल का बवाराते क द्वारा छोरे से अपने मुख को सुगर्षि की परीक्षा करने प्रस्तन हुई ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२२३), भा० प्र० (पृ० ६६८-१६) ना० द० (४२६६), प्रता० (१४४) सा० द० (३८५) । (२) 'वासकमञ्जरा मय्ये की सुन्दरति कई प्रकार से की गई है, जस वासक वान रमनि सञ्ज्ञा सप्रदा सब वासकसञ्ज्ञिका । 'स्त्रीनां वारस्तु वानक इति प । भागने वारदिवसे सञ्ज्ञेति सञ्ज्ञी करोमि हर्षेण कनिद्रुद्विदिवसि वासकसञ्ज्ञिका (प्रता० टीका पृ० २१) । प्रिय क साथ दाणि आदि म रक्षा वानक रहनाता'हे वासक क तिय सञ्ज्ञिका वासकमञ्जरा है (मि०, ना० द० इति ४-६) ।

पदान्तरिता तु यद्यपि स्थितम्
पानं वृषेभ्यः क्षणिकम् ॥ २३

भयत का ।

अन्व है । (विमान आ वा विमान)
(प्रवरण) को क्षणिक है, इन
न ही है (स्वोनि के सेना निव के
नहीं होने) । यद्यपि क्षणिक
पान (= वृषोक्त) को वातो है
लेतो (अनुभव) को स्वोपर नहीं
करतो है (क्षणिकता में वृष आ
पान यह स्थिति है (विमान) ।

वासकमञ्जरी को नायिका है
वासकमञ्जरी इति—इत
पाठ बरगण्य कने कई है
प्रा । इत्येव एव वासा का
रमिना की समी दवासा का
अन्व वा वासक नहीं । (३) न
नायिका, वासना मोनियिना
क—यही विषयमञ्जरा—न ।
यही वसहानरिता का प्रविता
को स्थान रखन योग है कि एव
है विनये एक पुत्र के हृदय
अवस्था का के तिवे नि०, सा०
द० (४२६१ तथा आने) इत०

तत है तथा उसके अर्थन है

४. य विरहोत्कण्ठिता—

(३६) चिरमत्यव्यतीके तु *विरहोत्कण्ठितो मना ।

यथा—

‘सखि स विजितो वीणावाद्य कयाप्यवरस्त्रियया
पणितमभवत्ताम्या तत्र क्षपालित ध्रुवम् ।
कयमितरया शेफालीयु स्थलत्कुसुमास्त्वपि
प्रसरति नभोमध्यम्भी दो प्रियेण विलम्ब्यते ॥१३२॥

व्य खण्डिता—

(४०) ज्ञातेऽयासङ्गविकृते खण्डितेष्याकपायिता ॥२५॥

यथा

‘नवनखरदमङ्ग योपयस्यगुणेन स्वययसि पुनरोष्ठ पाणिना दत्तवष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गसखी विसपन् नवपरिमलगध केन शक्यो वरोत्तुम् ॥१३३॥

३ विरहोत्कण्ठिता—

निरपराध होते हुए भी प्रिय के दर करने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है ।

जते (?) (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है) ‘हे सखी, किसी दूसरी स्त्री ने वीणा-वादन के द्वारा उसे जीत लिया है। अवश्य ही उन दोनों ने रात भर जोड़ा करने की शत लगा ली है (पणितम्) । यदि ऐसा न होता तो हारसिंगार (शेफाली) के पुष्प भरने लगने पर भी चंद्रमा के आकाश के मध्य में जाने पर भी मेरे प्रियतम विलम्ब क्यों करते ?’

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ ०१४) शा० प्र० (५० १००) ना० द० (४ २६५), प्रता० (१ ४५), सा० द० (३ ३६) । (२) अव्यलीके—निरपराधे निरपराध होते पर । चिरयति—देर करने पर (सति सप्तमी) ।

४ खण्डिता—

नायक को दूसरी नायिका के सहवाम से विकृत (चिह्नित) जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता है ॥२५॥

‘मे (भाष ११/३४ अपराधी नायक से नायिका कहती है)—तुम अपने वस्त्र (उत्तरीय) स मणों क नवीन (सजे) अथ रत्न—(खरौब) वाले अङ्गुली को छिपा रहे हो और दाँतो से कटे हुए ओष्ठ को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु प्रायेक दिवा में फला हुआ अथ स्त्री के सङ्ग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमल गंध किसके द्वारा छिपाया जा सकता है ?’

टिप्पणी—ना० शा० (२२ २१७) शा० प्र० (५० ६८), ना० द० (४ २६३) प्रता० (१ ४६) सा० द० (३ ७५) । (२) अयाया सङ्ग न विहत (नायके) चाते सति यह अर्थ है ।

*विरहोत्कण्ठिता मता इत्यत्रि वाट ।

४. य विरहोत्कण्ठिता—

(३६) चि० १३२

यथा—

‘सखि स विजितो वीणावाद्य कयाप्यवरस्त्रियया
पणितमभवत्ताम्या तत्र क्षपालित ध्रुवम् ।
कयमितरया शेफालीयु स्थलत्कुसुमास्त्वपि
प्रसरति नभोमध्यम्भी दो प्रियेण विलम्ब्यते ॥१३२॥

व्य खण्डिता—

(४०) ज्ञा० २५

यथा—

‘नवनखरदमङ्ग योपयस्यगुणेन स्वययसि पुनरोष्ठ पाणिना दत्तवष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गसखी विसपन् नवपरिमलगध केन शक्यो वरोत्तुम् ॥१३३॥

३ विरहोत्कण्ठिता—

४. य विरहोत्कण्ठिता—

जते से (अपराध) नायिका (या अनुपम) करती वता
यथा (अपराध) ६० के
नय को बना रही है इतर वस्तु व
हो नही विकृत हो रहा रात भर
य विरहोत्कण्ठिता मता इत्यत्रि वाट ।
यथा २५ ॥

विपणी—(१) ना० शा०
(४ २६५), प्रता० (१ ४५) सा० द० (३ ३६) के क
के निरहोत्कण्ठिता मता इत्यत्रि वाट ।
हे (१) (३) कयाप्यवरस्त्रियया यो वीणा
हो नही विकृत हो रहा रात भर
यथा २५ ॥

४. य विरहोत्कण्ठिता—
यथा २५ ॥
यथा २५ ॥
यथा २५ ॥
यथा २५ ॥

वय कलहा तरिता—

(४१) कलहा तरिताऽमर्षाद्धिभूतेऽनुशयाति युक् ।

यथा—

नि वशासा वदन दहति हृदय निम्लसमु मय्यते
निद्रा नति न दृश्यते प्रिययुध मत्त दिव रथते ।
अङ्ग शायमुपति पावपतित त्रेयास्तपोपेक्षित
सख्य क गुणमावल्यय दधिते मान वय कारिता ॥१३४॥

अथ विप्रलया—

(८२) विप्रलयाद्योक्तसमयमप्राप्तैर्गतिविमानिता ॥२६॥

यथा—

उल्लिख्य इति यामो यामो यातस्तथापि नायात ।
यास्त परमपि जीवन्जीवितनायो भवेत्तस्या ॥२३५॥

५ कलहा तरिता—

क्रोध से (अपराधयुक्त नायक को) तिरस्कृत करके पश्चात्ताप को पीडा (या अनुभव करने) वाली कलहान्तरिता नायिका है ।

असा (अमरु० ६० श्लो०) नायिका सखिया को उपात्तम्न दे रही है) — निश्चालें मुझ को जला रही हू हृदय जल से उन्मथित हो रहा है, नींद नहीं आती, प्रियतम बा मुझ नहीं दिखलाई देता रात दिन रोना जाता है, अङ्ग सूख रहा है तब घरणो मे पड प्रियतम को उपेक्षा कर वी । सखियों, बताओ तो क्या लाभ सोचकर प्रियतम से मान कराया था ।

टिप्पणी—(१) ना० भा० (२२ ०१६) भा० प्र० (पृ० ६५), ना० ६० (४ २६४), प्रवा० (१ ५१) तथा सा० ६० (३ ६२) म कलहा तरिता आ लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट है । सा० ६० क अनुसार जो सुशामद करते हुए भी प्रियतम को रोप से निरस्त कर लेती है और फिर पर-यासाप करती है वह कलहा तरिता नायिका है (२) (४) कलहा तरिता तो ईर्ष्या तथा कलह क कारण प्रिय से समागम को इच्छा ही नहीं रखती किन्तु खण्डिता समागम की अभिलाषा रखती है । (ख) कलहा तरिता अपने प्रिय पर पर-यासाप करती है किन्तु खण्डिता प्रिय क प्रति ईर्ष्या रखती है ।

६ विप्रलया—

प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलया महालाती है ॥२६॥

अते, हे इतनी, उठो चलें, प्रहर (याम) बीत गया तथापि बद नहीं आया । जो इससे परधातु भा बीधित रहे यह तो उतरी का प्राणनाश होगा ।

मना ।

॥१३४॥

यथा ॥२५॥

मिमा स्तनद्वय ।

तेन हस्तो बलेमुप ॥१३५॥

र उल्लिख्य इति यामो

है) है सखी, किन्तो इतनी तो नव रोमों ने रात भर मेव रोना तो हारलियार के मय्य में आने पर को

(पृ० १००), ना० ६० श्लो० ६०—निरराधे, निर

इत (चिह्नित) जान लने है ॥२६॥

रखती है) — तुम अपने सब बाते अङ्ग को छिपा रहे हो तु प्रत्येक विद्या में कला हुना तब पाय निकले द्वारा छिपाना

६० ६०), ना० ६० (४ २६१) अङ्ग न बिहते (निकले) जाने

अथ प्रोपितप्रिया—

(४३) दूरदेशान्तरस्थे तु कामत प्रोपिताप्रिया ।

यथाऽमरुतके—

‘वाहट्टिप्रसारातिप्रयस्य पदवीमुद्दीपय निविण्णया

विश्रातेषु पयिव्वह परिणतो ध्वाते समुत्सपति ।

दत्त्वं सगुचा गृह् प्रणि पद पा’यस्त्रियाम्स्मि’शणे

माभूदागत इत्यम दवमित्त्रीव पुनर्वाभितम् ॥१३६॥

अथामिसारिका—

(४४) कामार्ताभिंसरेत्कात सारयेद्वाभिसारिका ॥२७॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ २१८), भा० प्र० (पृ० ६६), ना० द० (४ २६२), प्रता० (१ ४७) सा० द० (३ ८३) । (३) छण्डिता से विप्रलया का अन्तर्ग्रहण यह है कि विप्रलया के पति की दूसरी स्त्री से आसक्ति होना निश्चित नहीं होता वह तो कबल उक्त समय पर नहीं आता । सक्त से चञ्चित होने के कारण ही वह नायिका अपने आपको तिरस्कृत अनुभव करती है (विप्रलया = चञ्चितता) ।

७ प्रोपितप्रिया—

जिस नायिका का प्रिय किसी काय से दूसरे दूर देश में स्थित होता है वह प्रोपितप्रिया कहलाती है ।

जसे अमरुतक (७६) में जइा तक वट्टि पणूँच सकी यहाँ तक वह नायिका प्रिय का पय (वचन) निहरकर बुधी हो गई । दिन के समाप्त होने पर अंधरा पल जाने पर पयिक विधात हो गये (चलना बन्द कर दिया) तो उस पयिक (प्रोपित) की स्त्री में दुःख के साथ घर की ओर एक पय रबदा ओर फिर वेगपूर्वक (अमरु) प्रीया को पुन्नाकर देखा कि ‘वहीं वह हसी क्षण न आ गया हो ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२ २१६) भा० प्र० (पृ० १००), ना० द० (४ २६१) कायत प्रोपिते पत्यावभूया प्रोपितप्रिया के लक्षण में अभूपा (=केस सवारना आदि की भूपा से रहित) यह विशेषण अत्रिक है । प्रता० (१ ४३), सा० द० (३ ८८) ।

८ अभिसारिका—

जो काम से पीडित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक का अपने पास बुलाती है वह अभिसारिका है ॥२७॥

रत्नसूत्र—

पुत्रि विविण्णो हृत्

द्वन्द्वस्यै

विनिर्दिष्टा ३ ४ ११

६

१४—

‘व क नेत्रस्यैव हृद्य ३ ११

विन द्द्वन्द्वस्य १ २ १२

१५—

(४३) १ ४ ४

मुखा पदमाङ्ग वाप ३

वत् द्वन्द्वस्य (११) में

पुत्र कतिपय पर द्वन्द्वस्य द्विजे वने

विनिर्दिष्टा है । हे मुने वरि हृद्य पर

हो तो वरिष्ठ कर से कतिपय हूँ

अथवा गीते (वृत् ६ २६)

केस्य वादर दूरे विपुलपुत्र

पुत्र पर वरदा को हूँ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० ३

स्वका का वरत दिया गया है । प्रता

द० (३ ८६-८७) में वा । वीर्य

(४ २६०) (३) वरिष्ठ

वया न व हृद्ये दिग्ग

को वरिष्ठ है । (३) वरिष्ठ

वर्षाका व समुद्रपत्नी

में वरिष्ठो मुद्गा होता है और वरि

४ ३६१)

वत् द्वन्द्वस्य को

अन्विष्ट ६ (१५)

प्रोपितप्रिया और अभिसारिका)

प्रीया पदजाना (वक्तव्य) न्यायि

याम्य की वा (

दूर से यक्त होती है ॥२७॥

यथाभ्यस्तके—

‘उरति निहितस्तारो हार इता जयने धने
कलकलवती काञ्ची पादो रणमग्नियुरी ।
प्रियमभिसरस्वव युग्मे त्वमाहृतविण्डमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्प दिश समुदीक्षसे ॥१३७॥

यथा च—

न च मेऽवपच्छति तथा लघुता करुणा यथा च कुस्ते स मयि ।
मिपुण तपनमुगम्य चदेरभिदूति काचिदिति सविदिसे ॥१३८॥

तत्र—

(४४) चि तानि श्वासखेदाश्रुवैवण्यग्लान्यभूपण ।

युक्ता पठत्या द्वे चाद्ये औडीज्ज्वत्प्रहर्षिते ॥२८॥

असे अमरशातक (३१) मे ‘वस ह्यस पर चञ्चल हार धारण कर लिया है
पुष्ट कटिप्रवेश पर कलकल ध्वनि करने वाली मेखला है, परों में झकार करने वाले
मग्नियुर हैं । हे युग्मे यदि तुम इस प्रकार दिवोरा पीछतो हुई अभिसरण कर रही
हो तो अधिक भय से कापतो हुई दिशाओं को क्यों देखतो हो ?

अथवा जैसे (साध ६ ५६) किसी नायिका ने दूती से यह कहा इस (नायक)
के पास जाकर ऐसे मिपुणताप्रवृत्त कहना कि जिससे यह मेरी लघुता न समझे और
मुझ पर करुणा भी करे ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० २२ २२६-२३१) में विस्तार से अभिसरण के
स्वरूप का ब्यपन किया गया है । इसी प्रकार मा० प्र० (पृ० १००—१०१) तथा सा०
द० (५ ७६-८१) में भी । अभिसारिका का लक्षण द्र० प्रता० (१ ५३) ना० द०
(४ २६८) । (२) यहाँ प्रथम उदाहरण में नायिका के स्वयं अभिसरण का ब्यपन है
तथा ‘न च इत्यादि द्वितीय उदाहरण में नायिका अपने भिय को बुलाने के लिये दूती
को भेज रही है । (३) यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आठ प्रकार की
नायिकाओं में वासकसज्जा, स्वाधीनपतिता और अभिसारिका—इन तीनों के ब्यपन
में सम्भोग शृङ्गार होता है और शेष के ब्यपन में विप्रलम्भ शृङ्गार (मि०, ना० द
४ २६६) ।

उन आठ प्रकार की नायिकाओं में—

‘अन्तिम ६ (विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलम्भा,
प्रोषितप्रिया और अभिसारिका) तो चिन्ता, निश्वास, खेद अश्रु, वर्ण का
फीका पठ जाना (ववर्ण्य), ग्लानि तथा भूपणहीनता से युक्त होती है और
सारम्भ की दा (स्वाधीनपतिता और वासकसज्जा) क्रीडा, उज्ज्वलता और
हृष से युक्त होती है ॥२८॥

या ।

यति ।

अथ ॥१३६॥

विरिता ॥२७॥

प्र० (पृ० ६६) ना० द०
) कल्पना के विषय का
जासिद हीना निरिपुण नहीं
न किञ्चित् होने के कारण ही
मन का—रक्षित।

दूर देता स विगत होता

को बड़ी तक वह नमिना
भाव होने पर अथवा दल
तो उस भयिक (भोक्ति)
और फिर केवलक (भयन)
गया हो ।

० (पृ० १००), ना० द०
के लक्षण में समूपा (=केव
है । प्रता० (१ ५३), सा०

न स्वयं जाती है अपवा मानक
॥२७॥

परस्मिन्वो तु न यकोडे सकेतास्य विरहोःकण्ठित, परस्पाडिद्रुपकादिना व्यहृत्
भितर-त्यावभिरिरे, कुतोऽपि सकेतरथानमप्राप्ते नायके विप्रल धे इति स्थवस्था
व्यवस्थितवा'नगोरिति, अस्वाधीनप्रिययोरवस्था'तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ शोभ्येव धीर सोऽपि दृष्टो देव्या पुरत' इति
मालविकावचना तरम्, राजा—

दाक्षिण्य नाम विम्बोच्छि नायकाना कुलजनम् ।

तमे दीर्घासि ये प्राणस्ते त्वद्यानाग्निव घना ॥१३६॥'

इत्यादि तत्र न छण्डितानुयागिभ्यामेण अपितु सवया मम देव्यधीनत्वमा
शङ्क्य निराशा मा भूदिति क'याविधम्भणावति ।

सवाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशा'तरव्यधानेऽप्युक्तदृष्टात्वमेवेति न
श्रीपितृप्रियात्वम् अनायताप्रियत्वादेवेति ।

द्विपत्नी—अभूयवय—यहाँ आभूयगो से रहित ना वय मोभा आदि से रहित
(=दीन) विद्या गया है योकि उग्रयुक्त ६ नायिकाओ मे अभिसारिका आभूयण धारण
करती ही है (अभूयणयुक्ता नाम सामारहिता योग इति यावत् प्रभा) । वस्तुत एसा
प्रतीत होता है कि यह आभूययक नहीं कि बि'ता इत्यादि सभी बिहू विरहोत्पट्टिना
इत्यादि में से प्रत्येक मे हो अपि तु भाव यह है कि बि'ता आदि बिहू विरहोत्पट्टिता
इत्यादि मे यथायोग्य होते हैं ।

इत प्रकार स्वकीया की ये आठा अवस्थाएँ होती हैं किंतु परकीया वीर
सामा'यनायिका न सभी अवस्थाएँ नहीं होती, यह बतलाने है—

क'या तथा (दुसरे की) विद्याहिता जो (दो प्रकार की) परकीया नायिकाएँ हैं
वे तो (१) सकेत के निरवयव करती हुई अभिसारिका हो जाती हैं और (३) यदि किसी
निमित्त से नायक सकेतत्वय पर न पहुँचे तो ये विप्रसज्या नायिका होती है । इनकी
यही व्यवस्था निरिवन्त है । इनका प्रिय अपने अधीन नहीं होता इसलिये इनमे अन्य
अवस्थाएँ नहीं हो सकती ।

किंतु जो मालविकाग्निमित्र आदि मे जो राजा ऐसा धीर है वह भी वेदो
के सामने वेद लिया मालविका के इस कथन के परचान् राजा कहता है—हे विम्बा
के समान ओच्छ वाली दक्षिण होना तो नायकों का कुल क्रमागत नियम है किंतु मेरे
जो प्राण है वे तो तुम्हारी ही आया पर आभित हैं । इत्यादि ।

यह छण्डिता नायिका को भवाने के अभिप्राय से नहीं कहता अपि तु मुझे
(राजा को) तब प्रचार से देवी के अधीन समझकर निरासा मत ही, इत प्रकार से
क'या (मालविका) को विरावात बिलाने के लिये कहता है ।

इसी प्रकार जब तक नायक से समागम नहीं होता जब तक यदि नायक बूले
देश मे चला जाये तो भी नायिका उरकण्डिता ही कहलाती है श्रीपितृपतिका नहीं,
क्योकि प्रिय उसके अधीन नहीं होता ।

द्विती—तत्र राजा
विपत्नी—
रा' ता इत्यत्र द इत्यत्र ता इत्यत्र
तत्रे वर वाता' मू' हो' ता' ।
ए' है कि वि'सा' क' वि'
कालसे हे वि'रा' वाता' द इत्यत्र
काले मू' ही' ए' वा' इत्यत्र
वि'रा' के द' इत्यत्र
राजा के वि'रा' ए' वि'
मू' ही' इत्यत्र । हे क'य' की म'
के द'वा'स' नि'वि'रा' ही है क' म'
होना क'वा'प' है । इत्यत्र के
ए' ही' है क' का' के वि'रा' म'
वि'रा' वि'रा' की म' म' ही' इत्यत्र
क'या क'या को क'वा'प' है क'
(१५३) में प' वि'रा' म'
(१) सकेत क'वा'प' है
म' । क'वा'प' म' है कि
या' के व' में क' क' वि'रा'प'
क'वा'प' म' क'वा'प' है क'वा'प' इत्यत्र
प्रचार क'वा'प' में ल'वि'रा' के
द'वा' । (१) म' म' म' ही' क'वा'
मू' ही' ही' वा' म'वा'र'वि'रा' के
वि'रा' म'वा' । म'प'—
है कि म' क'वा'प' म'वा'प' के क'
(३) क'वा'प' म' वि'रा'प' है

टिप्पणी—इस प्रकार कया और परोडा दोनों प्रकार की जो परकीया हैं वे विरहोत्कण्ठता, अभिसारिका तथा विप्रलया ही हो सकती हैं अथ प्रचार भी नहीं। क्यों ? इसके उत्तर में धनिक का कथन है 'यद्यपि प्रिय उनके अधीन नहीं होता अतः उनमें अथ अवस्थाएँ नहीं हो सकती (अन्वाधीनप्रिययोः अवस्था तत्रायोभात्) । अभिप्राय यह है कि जिस नायिका का प्रिय अपने अधीन होता है, उसमें ही उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न अवस्थाएँ हो सकती हैं परोडा और कया के तो प्रिय अपने अधीन नहीं होता अतः इन दोनों (परकीया) में अथ अवस्थाएँ नहीं हो सकती। साहित्यदर्पण के टीकाकार सिद्धांतवागीश के अनुसार इसका आशय यह है—कया और परोडा के निबट परपुरुष (प्रिय) निरंतर नहीं रह सकता अतः वे स्वाधीनपतिता नहीं हो सकती। ये षण्डिता भी नहीं हो सकती, क्योंकि परपुरुष का अपनी पत्नी से समागम निश्चित ही है अतः यहाँ अथ स्त्री के समागम के चिह्न का देखकर ईर्ष्या होना असम्भव है। इसीलिये वे बलह्वारिता भी नहीं हो सकती। परपुरुष तो दूर ही होता है अतः फाय के लिये दूर भेजा जाने का प्रयत्न नहीं उठता इसलिये परकीयां प्रीपितपतिता भी नहीं होती। अनिष्ट की आशङ्का से परपुरुष के आगमन की प्रतीक्षा में सज्जा करना भी असम्भव है अतः परकीया यासकसज्जा भी नहीं हाती। साहित्यदर्पण (३८७) में 'इति कश्चित् कृत्वा दशरूपक के इस मत को उद्धृत किया गया है। इससे प्रकट होता है साहित्यदर्पणकार की शक्ति में दशरूपक का यह मत उचित नहीं। कारण यह है कि 'स्वाधीनपतिता' शब्द में पति का अर्थ प्रिय है और पतिता या पति के घर में यदि कोई परपुरुष बिम्बसनीय समझ लिया जाता है तो निरन्तर समीप रह सकता है तब क्या एव परोडा भी स्वाधीनपतिता कहना सकती है। इसी प्रकार परकीया में परिस्थिति के अनुसार अथ अवस्थाएँ भी हो सकती हैं (१०, सा० ८० टीका)। (२) प्रश्न यह हो सकता है कि यदि कया आदि परकीया की अथ अवस्थाएँ नहीं होतीं तो भासविकारिर्नामन में भासविका को षण्डिता के रूप में क्या चित्रित किया गया है। 'यत् विश्वम्भगापेति' में इसका उत्तर दिया गया है। भाव यह है कि यहाँ षण्डिता नायिका के रूप में भासविका का चित्रण नहीं है (२० अनुवा०)। (३) तथा 'इति' में दिखलाया है कि परकीया प्रीपितपतिता भी नहीं हो सकती।

पारम्यं दुःखं नैव ह्यु
स्मिन्नेति विप्रलया
यु।
इतो देवा युतः' इति

॥१११॥
'इतरा मन रत्नपीठिका
येनैव प्रीतिनामैति च

॥ बर्षं केषां भाति से विदित
॥ अतिशयिका भास्येन भास्ये
स्वयं प्रथमः । कस्तुं देवा
इतो विदुः विदुः विदुः विदुः
॥ अतिशयिका विदुः विदुः

है किन्तु परकीया और
है—
की परकीया नायिकाएँ हैं
(१) प्रकट अथ विप्रलया
नहीं और (२) यदि किसी
नायिका होने है। इसकी
ही होना इसलिये इनमें अथ
या देना और है यह जो देना
राजा कहना है—है विद्या
के सम्मान लिये है किन्तु अने
व्यापक है।
अथ से नहीं कहना किन्तु युक्त
निरास मत ही, इस प्रकार के
हैं।
हीना अथ तक यदि नायक युक्त
पत्नी होती है प्रीपितपतिता नहीं।

धमासा सहायिया —

(४६) द्रुत्यो दासी सखी कारुघात्रेयी प्रतिवेशिका ।

लिङ्गिनी शिल्पिनी स्व च नेतृमित्रगुणाविता ॥२६॥

दासी = परिचारिका । सखी = स्नेहनिबद्धा । कारु = रजकी प्रभृति । धामेयो = उपमातृमुता । प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी । लिङ्गिनी = भिक्षुव्यादिवा । शिल्पिनी = चित्रकारादिकोः । स्व्य वेति द्रुतीविवेचोपा । नायकमित्राणा पीठमर्दादीना निसष्टा यत्वादिना गुणो न युता । तथा च मालनीमाद्ये कामन्दकी प्रति—

‘शास्त्रेयु निष्ठा सहजम्व चोद्य प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।

वासानुरोध प्रतिभानवत्त्वमेते गुणा कामन्दया क्रियामु ॥१४०॥

नायिका की सहायिकाएँ

इन (नायिकाओं) की सहायिकाएँ हैं —

दासी, सखी, कारु, धाम की लडकी, पडामिन स यास आदि का चित्त धारण करने वाली (लिङ्गिनी), शिल्पिनी और स्वय (नायिका), ये द्रुती होती हैं जो नायक के मित्रो पीठमर्दा आदि वे गुणों से युक्त होती हैं ॥२६॥

दासी = शैविका, सखी = स्नेहयुक्त सहचरी कारु = घोड़िन आदि घात्रेयी = उपमाता (धाम) की पुत्री प्रतिवेशिका = समीप के घर से रहने वाली (पङ्कोसिन), लिङ्गिनी = भिक्षुणी इत्यादि शिल्पिनी = चित्र आदि बनाने वाली स्त्री और नायिका स्वय भी ये नायक के मित्र पीठमर्द इत्यादि के निष्पुट्यार्थ इत्यादि गुणों से युक्त द्रुतिया होती हैं । जैसे मातृतीमाद्य (३ ११) से कामन्दकी के प्रति कहा गया है—
शास्त्रो मे निष्ठा स्वाभाविक ज्ञान, वाकपटुता गुणों मे अत्यन्त थायी, समय के अनुसार वाच करना प्रतिभा युक्त होना—ये गुण कामन्दे कामनाओं को पुण करने वाणो है ।

द्विपत्नी—(१) द्रुती के प्रकार तथा गुण ३०, ना० शा० (२३ ६-११) भा० प्र० (पृ० ६५) त्प० २० (४२८८) प्रता० (६५५) सा० २० (३ १२८ १२६) (२) निष्पुटाधस्ता—द्रुत तीम प्रकार क होती हैं—(१) निसप्टया जो दोनो क भाव का समझन स्वय उत्तर दे देता और यथापिद्य काय कर लेता है (२) निसाय जो वाद ती पोटी करता है किन्तु जिस काय के लिये भेजा जाता है उसे सिद्ध कर देता है (३) सदेसाहा रक जो उतनी ही बात क ता है जितनी उसे बतलाई जाती है (मि० सा० २० ३ ४७-४६) । इन तीन प्रकार के द्रुतों के समान ही तीन प्रकार की द्विपत्नी हुआ करती हैं । (३) ‘शास्त्रेयु इत्यादि पद्य साधक न कामन्दकी (बोद स यासिनी जो द्रुती का काम कर रही थी) को लक्ष्य करते कहा है । इसम द्रुती क सामान्य गुणा का बणन किया गया है ।

दर दूती दसा—

द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्

दसा २—

द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्

दर दूती दसा—

द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्

दसा ३—

द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्
द्रुतिरशान्दमनयनम् यम्

जसो धको (बा दूती हीन)

के बग बातर चट्टी है—
बातरा को (बातरा-मिष को) द्वि
सका की का स्वनी को है जो
दियेको का अन्त विगत के
नष्ट हो जायेगा ।

और बसे (हाल १४ को
जसो हीं सारा व्यक्त मे ब्रह बातरा
जिम्मे में सुनने यही चट्टी (मिष क
महातृणिय है ।

दर दूती दसा ३—
बातरा को (बातरा-मिष को) द्वि
सका की का स्वनी को है जो
दियेको का अन्त विगत के
नष्ट हो जायेगा ।

दर दूती दसा ३—
बातरा को (बातरा-मिष को) द्वि
सका की का स्वनी को है जो
दियेको का अन्त विगत के
नष्ट हो जायेगा ।

तत्र सखी यथा—

पुर्गासिगृहस्थास्तस्यास्ताप कथ्य कथयामि ते
दहनपतिता दृष्ट्या भूतिमया वधयो ।
इति तु विदित नारीरूप स लोभदृष्ट्या सुधा
तत्र शठस्या मिल्योक्तयो विधेविपट्यते ॥१५१॥

यथा च—

'सत्त्व जाणाद् ददद्दु सरिसमि जगन्मि जुजय् राधो ।
मरुत्त न तुम प्राणस्स मरण पि सत्ताहृणज्ज से ॥१५२॥
(सत्य जानाति द्रष्टु सहयो जने युज्यते राग ।
स्त्रियता न त्वा सणिव्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्या ॥)

स्वयं भूती यथा—

'मद्दु एहि किं गिवालय हरसि गिअ वात्त पद्द वि वे सिचअम् ।
साहेमि कस्म सुन्दर दूरे गामो अह एक्का ॥१५३॥
('मुद्धरेहि किं निवारक हरसि निज वायो यद्यपि वे सिचपयम् ।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे प्राणोऽहमेका ॥)

दत्याद्य स्यात् ।

यथ योपिदलङ्कारा —

जनमे सखी (वा भूती होवा) यह है, जैते (?)—(नायिका की सखी नायक के पास जानकर बहूती है—) उस मगसायकनयनी के सताप को सुमते कसे कहें ? मने चन्द्रमा की (सधयो—धियु की) भूति को अग्नि मे पडा गही देखा (उसते ही इसकी समता की जा सकती थी) मैं तो बैचल यह जानती हूँ कि नारी के रूप मे सतार की शिष्टयो का अमत्त, पिघाता के रचना कोसल का यह उच्छ्रुट रूप तेरी शठता से नष्ट हो जियया ।

और ज से (हाल १२ कोई सखी नायक से कहती है—) ठीक है वह देखना जानती है सररा व्यक्ति से प्रेम करना उचित ही है । (इस प्रेम में) वह मर जाये, किन्तु मैं तुमसे नहीं कहूँगी (योग्य व्यक्ति से प्रेम करने के कारण) उसका मरना की सरराहनीय है ।

स्वयं भूती मर है ज से (हाल ८७७)—हे रोकने वाले वायु यद्यपि तुम मेरा यत्न (आचम) छोच रहे हो, किन्तु इससे क्या ? फिर जाओ । हे सुन्दर मैं किसकी धाराधना करूँ । प्राण दूर है और मैं अनेकी हूँ ।

टिप्पणी— मुद्धरेहि इयादि मे नायिका स्वयं भूती है । वायु को सम्प्रोषित करती हुई वह किसी पाप को आमन्त्रित कर रही है ।

स्त्रियों के (साथिक) अलङ्कार हैं—

वसिष्ठा ।

३३ ॥२॥

एतद्विषयमिच्छति । श्रमणे
मित्रस्यसाक्षात् । विदित्यो
प्राणं योग्यं विदित्यो
ने इति—
मन्त्रमुखा च भारी ।
पुत्रा विदित्यु ॥१५॥

तत्र स्यात्त आदि वा विदित्यो
नय (नायिका), वे भूती
से युक्त होती हैं ॥२॥
= अग्निम अग्नि शान्ति =
में रहने वाली (शोभित),
वे वाली रही और नायिका
मुद्रयाप इत्यादि युक्त से युक्त
रही के इति कहा गया है—
युक्तों में अमत्त वायो, अमत्त
च काम में कामना की को दूत

ता० भा० (२३ १-१४) भा०
(२३), शा० द० (३ १२८ १२८)
निरुपार्थ, जो दोनों के काम का
य बन लेता है । (१०) निरुपार्थ जो
मेवा जाता है उसे शिष्ट कर देना
रखनी उसे बलादाँ बाती है (सि०)
= श्याम ही तौल नरार की इति
वे काम की (सि०) सखीयो को
बहा है । इत्यं भूती क वाच्य

(८७) यौवने सत्त्वजा स्त्रीणामलङ्कारास्तु ।

यौवने मत्त्वोद्भूता विभक्तिरलङ्कारा स्त्रीणा भवति ।

तत्र—

(४८) भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजा ॥३०॥

शोभा कान्तिवच दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

बीदाय धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजा ॥३१॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्काः । शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रगल्भममोदाय धैर्यमित्ययत्नजा सप्त ।

यौवन मे सत्त्व से उत्पन्न होने वाले स्त्रियों के बीस अलङ्कार होते हैं ।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार नेयूर आदि आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं। उसी प्रकार शरीर में प्रकट होने वाले कुछ विकार (परिवर्तन) हैं जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं अतः उन्हें भी नेयूर आदि के समान अलङ्कार कहा जाता है। (२) यहाँ स्त्रियों के सात्विक अलङ्कारों का वर्णन किया जा रहा है। पुरुषों में भी इसी प्रकार उसाह आदि सात्विक भाव होते हैं। जोर, जसा कि साहित्यदणप (३ ६३) में बताया गया है, आगे कहे गये अङ्गज और अयत्नज जो दस अलङ्कार हैं वे भी पुरुषों में हो सकते हैं तथापि ये युवतियों में होने पर ही अधिक चमत्कारक होते हैं। स्त्रियों में भी विशेषकर यौवनावस्था में ही प्रकट हुआ करते हैं, बाल्यकाल में प्रकट नहीं होते और दृढावस्था में प्रायः मट्ट हो जाते हैं। हनीलिये द्रष्टे युवतियों के अलङ्कार कहा जाता है। (३) ये अलङ्कार सत्त्वज, सात्विक (सत्त्व से उत्पन्न) कहलाते हैं। 'सत्त्व का क्या तात्पर्य है, यह आगे (३३ वें श्लोक की व्याख्या में) स्पष्ट किया जायेगा। (४) विशेष २० ना० शा० अ० (२२४), भा० प्र० (पृ० ६१०-२०) ना० ६० (४२६६) सा० ६० (३८६ ६२) में नायिका के २८ अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। प्रता० (पृ० १८७) में इनके स्थान पर १८ भृङ्गास्त्रयोः का वर्णन किया गया है।

उन (सात्विक अलङ्कारों) में—

१ भाव २ हाव और ३ हेला ये तीन शरीरज अलङ्कार हैं ।

१ शोभा २ कान्ति ३ दीप्ति, ४ माधुर्य, ५ प्रगल्भता, ६ बीदाय और ७ धैर्य, ये सप्त भाव अयत्नज (विना यत्न के उत्पन्न होने वाले) अलङ्कार हैं ॥३१॥

(टीका, तत्र आदि भूत के समान है)

१०२
 (४८) लीला विद्या...
 माधुर्यं च दीप्तिश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजा ॥३०॥
 शोभा कान्तिवच दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
 बीदाय धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजा ॥३१॥
 तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्काः । शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रगल्भममोदाय धैर्यमित्ययत्नजा सप्त ।
 टिप्पणी—(१) जिस प्रकार नेयूर आदि आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं। उसी प्रकार शरीर में प्रकट होने वाले कुछ विकार (परिवर्तन) हैं जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं अतः उन्हें भी नेयूर आदि के समान अलङ्कार कहा जाता है। (२) यहाँ स्त्रियों के सात्विक अलङ्कारों का वर्णन किया जा रहा है। पुरुषों में भी इसी प्रकार उसाह आदि सात्विक भाव होते हैं। जोर, जसा कि साहित्यदणप (३ ६३) में बताया गया है, आगे कहे गये अङ्गज और अयत्नज जो दस अलङ्कार हैं वे भी पुरुषों में हो सकते हैं तथापि ये युवतियों में होने पर ही अधिक चमत्कारक होते हैं। स्त्रियों में भी विशेषकर यौवनावस्था में ही प्रकट हुआ करते हैं, बाल्यकाल में प्रकट नहीं होते और दृढावस्था में प्रायः मट्ट हो जाते हैं। हनीलिये द्रष्टे युवतियों के अलङ्कार कहा जाता है। (३) ये अलङ्कार सत्त्वज, सात्विक (सत्त्व से उत्पन्न) कहलाते हैं। 'सत्त्व का क्या तात्पर्य है, यह आगे (३३ वें श्लोक की व्याख्या में) स्पष्ट किया जायेगा। (४) विशेष २० ना० शा० अ० (२२४), भा० प्र० (पृ० ६१०-२०) ना० ६० (४२६६) सा० ६० (३८६ ६२) में नायिका के २८ अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। प्रता० (पृ० १८७) में इनके स्थान पर १८ भृङ्गास्त्रयोः का वर्णन किया गया है।

(४६) लीला विलासो विच्छित्तविभ्रम विलकिञ्चित्तम् ।

मोहामित बुद्धमित विव्वोको ललित तथा ॥३२॥

विहृत चेति विज्ञेया दश भावा स्वभावजा ।

तानेव निदिशति—

(५०) निर्विकारात्मकात्सत्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

तत्र विकारहेतो सत्यप्यविकारक सत्त्व यथा कुमारसम्भवे—

‘श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणैर्ग्रस्मि हर प्रसङ्गानपरो बभूव ।

आत्मेश्वराणा नहि जातु विच्चा समाधिभेदप्रथमो भवति ॥१४४॥

१ लीला, २ विलास, ३ विच्छित्त, ४ विभ्रम, ५ विलकिञ्चित्त,

६ मोहामित, ७ बुद्धमित, ८ विव्वोक, ९ ललित तथा १० विहृत, ये दश भाव स्वभावज (स्वाभाविक) समझने चाहिये ॥३२॥

दिप्पणो—अभि० भा० (२२ ५), तथा ना० द० दृष्टि (४२६६) में शरीरज (अङ्गज) इत्यादि का स्पष्ट किया गया है। सत्यप में ये सात्विक अलङ्कार दो प्रकार के हैं—१ यत्नज और २ अयत्नज। यत्नज का अर्थ है—जिन्ना से उत्पन्न होने वाले। इच्छा से यत्न होता है और यत्न से देह जिया होती है। उस देह जिया के द्वारा इन अलङ्कारों का आविर्भाव हुआ करता है। ये यत्नज अलङ्कार दो प्रकार के हैं—(क) अङ्गज—(ख) स्वभावज या स्वाभाविक (ग) अङ्गज—ये अलङ्कार हैं जो सत्त्व द्वारा उद्बुद्ध होने वाली प्रवृत्तियों के आधार पर बाल्य गद्यमात्य आदि प्रसाधनों के बिना ही केवल शरीर में उत्पन्न हो जात हैं, भाव, हास और हेला ऐसे ही अलङ्कार हैं। (ख) स्वाभाविक अलङ्कार—अभिनवगुलाचार्य ने स्वाभाविक शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की है—(i) ये युवनी के हृदय में विद्यमान अपने रतिभाव (स्व + भाव) से उत्पन्न होते हैं (ii) स्वभाव (प्रकृति Nature) से किसी स्त्री में कोई भाव होता है, दूसरा य कोई दूसरा भाव। य स्वाभाविक अलङ्कार लीला इत्यादि दस हैं। ये भी चित्त कर रतिभाव से व्याप्त हो जाने पर शरीर में होने वाली जियाए ही है अत यत्नज कहलाती है। योभा इत्यादि सात अयत्नज भाव हैं। ये शरीर के ऐसे धर्म हैं जो इच्छापूर्वक यत्न द्वारा उत्पन्न नहीं होते अपितु हृदय में रति भाव के होने पर बिना यत्न के ही प्रवृत्त हुआ करते हैं।

उन (अलङ्कारों) का हमारा बणन करते हैं)

उनमें निर्विकारात्मक सत्त्व से उत्पन्न होने वाला प्रथम विकार भाव पहलावा है ॥३३॥

विकार को उत्पत्ति का कारण होने पर भी विकार रहित रहना सत्त्व कहलाता है। जैसे कुमारसम्भव (६४०) में अप्सराओं का मोत सुनकर भी सत समय महादेव ध्यान में तन्पर पड़े, क्योंकि विघ्नबाधाएँ आमा को यथा से कर लेने वाली व्यक्तियों को समाधि को मङ्ग करने में समय नहीं हुआ करतीं।

शर्वादि ।

रत्ना ॥३०॥

श्राभाता ।

नूना ॥३१॥

निर्विकारमुक्त प्रालम्बनीय

के लीन अलङ्कार होते हैं।
शरीर को मोभा बढ़ते हैं।
(परिवर्तन) हैं जो शरीर को
तन अलङ्कार कहा जाता है।
या का रूप हैं। दुर्लभ में जो
को, जहाँ कि ललितवत्
पर बलवत् जो सब अलङ्कार
में प्र ही अधिक चमत्कारक
रूप हुआ करते हैं, वाच्यमान
ही बाते हैं। इतिरिपे दे हैं
र सत्त्व, सात्विक (सत्त्व के
नि (३३ में श्लोक की व्याख्या
१०, अभि० (३२ ४), भा० अ०
(३८ ६२) में उल्लेख के रत्न
में इतके स्थान पर ।

शरीरज अलङ्कार है।
प्र. प्रथमवा, ६ बीयात जो
के उत्पन्न होने वाले अलङ्कार

सत्समाधिकाररूपा सत्त्वात् य प्रथमो विकारोऽतिविपरिवर्ती बीजस्योच्छ्रुतेय
स भाव । यथा—

‘दृष्टि सात्त्वता विभति न शिशुञ्जीवायु बद्धादरा

श्रोत्रे प्रययति प्रवतितसद्योसम्भोगवानस्त्विति ।

पुसामङ्कमपेतशङ्कमधुता नारोहति प्राययथा

बाला नूतनयोवन यतिकुराकटभ्यमाना शनं ॥१४५॥

टिप्पणी—निर्विकारात्मकात् सत्त्वात् इस वाक्याम ने सत्त्व का स्वरूप
बतलाया गया है । इसी को धनिक ने ‘सत्र विकारहेतु’ इत्यादि से स्पष्ट किया
है । भाव यह है कि मन की एक विशेष प्रकार की अवस्था सत्त्व कहलाती है । जब
मन के विकृत होने का कारण विद्यमान होता है किन्तु मन विकृत नहीं होता वही
मन की अवस्था सत्त्व है । इसी को वहीं कही ‘रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमि
होच्यते’ कहा गया है । मन सत्त्व रजस और तमस गुण वाला है । रजस का स्वभाव
है—चञ्चलता और तमस का स्वभाव है—जडता । इन दोनों से रहित होकर
मन काम क्रोध आदि विकारों से प्रभावित नहीं होता । इस प्रकार मन की रजस
तथा तमस से रहित जो अवस्था है वह निर्विकार अवस्था ही है । धीरोदात्त नायक
ने लगन (अपर २४) में जो महात्मत्व शब्द है वहाँ ‘सत्त्व’ शब्द इसी अर्थ में आया
है । आगे सात्त्विक भावों की व्याख्या के अवसर पर धनिक ने नाट्यशास्त्र का यह
उद्धरण दिया है—सत्त्व नाम मन प्रभव तत्त्व समाहितमनस्त्वात् उत्पद्यते’ अर्थात्
एकाग्रता में उत्पन्न होने वाली मन की अवस्थाविशेष ही सत्त्व है । इसी प्रकार
अभिनवगुप्ताचार्य ने सात्त्विक अलङ्कारों के सप्तम में भी सत्त्व मन समाधाजम्
(अभि० भा० २२१) कह बतलाया है । नाट्यदर्शन (३ २२०) में ‘अवहित मन
सत्त्वम् यह कहा गया है । इन सबका तात्पर्य भी यही है कि एकाग्रता या समाधान
से मन विकार रहित हो जाता है या कठिण कि रजोगुण और तमोगुण से युक्त
हो जाता है । ऐसा मन ही सत्त्व कहलाता है । (२) श्रुताप्तरोगीति’ यह सत्त्व का
उदाहरण है ।

१ भाव

उत्त निर्विकारात्मक सत्त्व से जो प्रथम विकार (परिवर्तन) होता है वह भाव
कहलाता है । यह इसी प्रकार (शरीर के) भीतर विद्यमान रहता है, जिस प्रकार
(अडकुरित होने से पहिले) बीज की कुआवट (उच्छ्रुतता होती है) । ज से दृष्टि,
सात्त्वताम्’ इत्यादि ऊपर उचा० १०८ (कामगुग्धा) ।

यथा वा बुला—

यथा वा सत्त्व—

उत्त निरवतर इत्यत्र १००
इति शब्दद्वयं चत्त निरवति
(१००) शब्द इति चत्त
शब्दद्वयं चत्त निरवति
शब्द इति

(२) श्रुताप्तरोगीति

अथा बने बुला—
युक्त होयान् विन शब्दों का
और उच्छ्रुतेय विन शब्द का
भाव, यथा (अभि० भा० २२१)
कहा हो है तब का कही है और
कौशा होई है जो कथ और हुए
निष्पत्ती—(१) १० भा०

(१००) भा० २० (अभि० भा० २२१)
अभि० भा० २२१) यह सत्त्व विन शब्द
का भाव है कथ उच्छ्रुतेय शब्द
का भाव कौशा शब्द का भाव है
कथ शब्द का भाव है
अभि० भा० २२१) यह सत्त्व
प्रभव स्वरूप होता है (अभि० भा० २२१)
शरीरों को कथ शब्द का भाव है
यह सत्त्व मान कथ है कि सत्त्व शब्द
(अभि० भा० २२१) कथ शब्द का
(२) श्रुताप्तरोगीति (अभि० भा० २२१)
शब्द (१००) भा० विन शब्द का
भाव है

उत्तम शब्द (= उत्तम शब्द =
उत्तम शब्द इत्यादि (उत्त शब्दों में)
शब्द का भाव शब्द शब्दों में

प्रतिनिधताङ्गविकारकारी शृङ्गार स्वभावविशेषो हाव । यथा मर्मव—

‘य कि पि पेच्छमाण भगमाण रे जहा तहच्चेअ ।
 गिअसाअ णहमुद्ध बअस्स मुद्ध गिअच्छेहि ॥१४८॥
 (मल्लिकपि प्रेसामाणा भगमाना रे यथा तपय ।
 निध्यापि स्नेहमुग्धा वयस्य मुग्धा पश्य ॥)

अथ हेला—

(५२) स एव हला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ॥३४॥

हाव एव स्पष्टभ्रूवोविकारःवास्तु यत्कशृङ्गाररससूचको हेला । यथा मर्मव—
 तह कति स पअता सवज्ज विभमा यणु भेए ।
 ससइअवालमाना होइ चिर जह सहीण पि ॥१४९॥

(“तथा स्रष्टव्यस्या प्रवृत्ता सर्वाङ्गविभ्रमा स्वताङ्गदे ।
 सशयितवालभावा भवति चिर यथा सखीनामपि ॥)

अर्थात् कुछ ही अङ्गों में विकार उत्पन्न करने वाला रतिभाव (शृङ्गार) ही हाव है जो विशेष प्रकार का स्वभाव होता है । जैसे मेरा (घनिक का) ही पथ ह—
 (कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता ह) —हे मित्र जिस किसी को देखती हुई जैसे तसे धोलती हुई कुछ सोचकर प्रेम से मुग्य हुई उस मुग्धा नायिका को देखो ।

दृष्यणी—(१) ना० शा० (२२ १०) भा० म० (पृ० ८) ना० द० (४ २०१)
 प्रना० (पृ० १८८) सा० द० (३ ६४) ।।(२) भाव से अभिम अवस्था हाव है । यह रतिभाव भाव दशा की अपेक्षा अधिक उद्बुद्ध हो जाता है । भाव दशा में लसते बाह्य अङ्गों में विकार उत्पन्न नहीं होता किन्तु हाव दशा में अर्ध भीष्ट, गदन ठाडी व विकार हो जाना करता है । हेवाकसत्सु शृङ्गारो के स्थान पर ‘अलपालाप सशृङ्गारो पाठा’तर है जिसका अर्थ है—पाठ आलाप से और शृङ्गार से युक्त हाव होता है । ‘मल्लिकपि’ (१४८) में आधा और बागो का विकार दिखलाया गया है ।

३ हेला—

वह (हाव) जब स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है तो हेला कहलाता है ॥३६॥

अर्थात् जब हाव स्पष्ट और अधिक अङ्गविकारों को उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है, तब वह हेला कहलाता है । जैसे मेरा (घनिक का) ही पथ ह इस (नायिका) के स्तनों का उच्चार होने ही एक दम समस्त अङ्गों में एते विभ्रम उत्पन्न होने लगे कि सखियों को भी इतके बाल भाव के विषय में ससय होने लगा ।

मगणनरु हः। एव वर—
 (१) हेला—
 वस कुनायन—
 शा—
 दुगायक—
 रति—
 वर—
 वर—
 वर—

दियनी—(१) ना० भा० ।
 प्रना० (पृ० १८८), सा० द० (३ ६४)
 विकारों के प्रकृत होने का पथ दिना
 पथ से अभिम हाव है वही हेला का
 शरीर विकार । कुर्वि के
 प्रथम बहु विकार को मादृश्य में
 कुछ अङ्गों में विकार उत्पन्न कर
 अङ्गों में विकार उत्पन्न करके रति
 १ मो—
 ना०, उपाय
 जोभा कर्तृगती है ।
 वस कुनायनरु (४)
 क विकार से रति से कर्तृ है—
 वरकर (मगणन के लिये) मगणे
 व र (मिने को का शृङ्गार को
 के लिये विकार से रति—
 वरु है—
 वरु है—
 वरु है—
 वरु है—
 वरु है—
 वरु है—

यथा भयम्—
 १।
 २।
 ३।
 ४।
 ५।
 ६।
 ७।
 ८।
 ९।
 १०।
 ११।
 १२।
 १३।
 १४।
 १५।
 १६।
 १७।
 १८।
 १९।
 २०।
 २१।
 २२।
 २३।
 २४।
 २५।
 २६।
 २७।
 २८।
 २९।
 ३०।
 ३१।
 ३२।
 ३३।
 ३४।
 ३५।
 ३६।
 ३७।
 ३८।
 ३९।
 ४०।
 ४१।
 ४२।
 ४३।
 ४४।
 ४५।
 ४६।
 ४७।
 ४८।
 ४९।
 ५०।
 ५१।
 ५२।
 ५३।
 ५४।
 ५५।
 ५६।
 ५७।
 ५८।
 ५९।
 ६०।
 ६१।
 ६२।
 ६३।
 ६४।
 ६५।
 ६६।
 ६७।
 ६८।
 ६९।
 ७०।
 ७१।
 ७२।
 ७३।
 ७४।
 ७५।
 ७६।
 ७७।
 ७८।
 ७९।
 ८०।
 ८१।
 ८२।
 ८३।
 ८४।
 ८५।
 ८६।
 ८७।
 ८८।
 ८९।
 ९०।
 ९१।
 ९२।
 ९३।
 ९४।
 ९५।
 ९६।
 ९७।
 ९८।
 ९९।
 १००।

अथायत्नजा सप्त । तत्र शोभा—

(५३) रूपीपभोगतारुण्यं शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

यथा कुमारसम्भवे—

‘ता प्राङ्मुखी तत्र निवस्य वाला क्षण व्यन्मलनं पुरो निपण्णा ।

भूतायशोभाह्रियमाणेना प्रसाधने सन्निहितेऽपि नाय ॥१५०॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

‘अनाघ्रातं पुत्रं कितलयमलूनं कररुहे—

रत्नाभिदं रत्नं मधुं नवमनास्वादितरसम् ।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनाय

न जाने भोक्तारं कमिहं समुपस्थास्यति विधि ॥१५१॥

टिप्पणी—(१) ना० चा० (२२ ११), पा० प्र० (पृ० ८) ना० ६० (४ २७२), प्रता० (पृ० १८८), सा० ६० (० १५) । (२) यहाँ नायिका कं सभी अङ्गों में ऐस विकारों के प्रकट होने का बर्णन किया गया है जिनसे उसने हृदय का प्रेम भाव स्पष्ट रूप से सूचित होया है यही रत्ना का स्वरूप है । इस प्रकार भाव हाव और हेला तीनों शरीरज विकार हैं । युवति के हृदय में स्थित रतिभाव के उत्पन्न होने वाला प्रथम अङ्ग विकार जो बाह्यरूप में प्रकट नहीं होता ‘भाव’ है । यही जब अर्ध आदि कुछ अङ्गों में विकार उत्पन्न कर देता है तो हाव बहलता है और जब प्राय समस्त अङ्गों में विकार उत्पन्न करके रति भाव भी सूचना देता है तब ‘हेला कहलाता है ।
 अथ अयत्नजा सात अवस्थाओं का बर्णन करते हैं । इनमें—

१ शोभा—

रूप, उपभोग और तारुण्य के द्वारा अङ्गों का सी दर्य बढ जाना हो शोभा कहलाती है ।

जते कुमारसम्भवे (७ १७) में (विवाह के लिये अवच्छिन्न की जाती हुई पावती के विषय में कवि ने कहा है)—‘उत वाला (पावती) को प्रथ की ओर मुख करने पराकार (प्रमाण के लिये) सामने बढी हुई नारियों क नेत्र उसकी स्वाभाविक शोभा ने हर लिये यो अत शृङ्गार की सामर्थी सामने उपस्थित होने पर भी वे क्षण पर के लिये टिड्ढक गई इत्यादि ।

और अते शकुन्तलानाटक (२ ११) में (राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में करते हैं)—‘उतसा निर्धोय (अनप) सीर्य उत पुत्र्य के ममान ह जो सुधा नहीं गया, उत जितसय के समान ह जो मर्षों से नहीं शोभा गया, उत रत्न बँसा ह जो कर्मो बँसा नहीं गया ऐसा मधोय मयु हैं नितका रशद नहीं रितया गया और पुष्पों के अक्षय पत्र क समान ह । न जाने विधाता यहाँ जित मोक्षा की समुपस्थित करेगा’।

का सुबक होता है ता हला
 विकारों को उत्पन्न करने के कारण
 बहू होता कहलाता है । अने मय
 का उभार होते ही एक रूप कमान
 को भी इतक बाल भाव के स्थित

अथ कर्त्तृ —

(५५) मन्मथावापितच्छाया सव कर्त्तृरिति स्मृता ॥३५॥

शोभय रागावतारवकीर्तुता कर्त्तृः यथा—

उमीलद्वन्द्वे प्रवृत्तिविसरदूरे समुत्सारित

भि न पीगवृचस्थलस्य च दत्वा हस्तप्रभासिद्वत्सम् ।

एतस्या कर्त्तृद्वन्द्वरदपीकल्प मितलोत्सुका-

दप्रान्ताङ्गसुख रूपेव सहसा केसोपु सन तम ॥३५२॥

यथा हि महाश्वेतावयगावमरे भट्टबाणस्य ।

द्विष्यणो—(१) ना० शा० (२२ २०) भा० प्र० (पृ० ८) ना० ६० (४ २८८)

सा० ६० (३ ६५) । प्रता० (पृ० १८०) मे शोभा का शृङ्गार जेन्दाओ मे मही रख्या गया । (२) ता पादमुद्योग् (१५०) मे रूप और ताभ्य के द्वार होने वाली शोभा का वयन है । अनाप्रायम् (१५१) म रूप द्वार होने वाली शोभा का वयन है ।

कर्त्तृ—
जय काम भाव (ममय) के द्वारा उस (शोभा) की धाति (छाया) बढ जाती है तो वही (शोभा) कर्त्तृ कहलाती है ॥३६

अर्थात् राग की अधिस्ता (अवतार=आविर्भाव) मे समद्व द्वन्द्व शोभा ही कर्त्तृ है । 'सिंसे (?) (जब अवकार मे किमी नायिका के स्पर्श के सुख को प्राप्त करने को चेष्टा की तब) 'आविषा के प्रमुत्तित सुख चन्द्र की वीथि के विस्तार मे उस (अवकार) को दूर भग्न दिया, विशाल (गुच्छ) स्तनों की कर्त्तृ त से बहु छिन्न भिन्न हो गया, हाथों की प्रभा मे मारा गया इस प्रकार दौलक के साथ नायिका से मिलन का प्रयत्न करता हुआ जो उनके अङ्गों का सुख न प्राप्त करके कलविजु पसो की बन्धनद्वली के समान बहु अवकार माली क्रोधपूर्वक एकदम ही उस वाता के केशों मे निपट गया ।

और जैसे बाणभट्ट द्वारा महाश्वेता वयन के अवसर पर कर्त्तृ प्रतिबन्ध होती है ।

द्विष्यणो—(१) कर्त्तृ शोभवापुणममया (ना० शा० -२ २८), कर्त्तृ तस्मन् ममथाव्यासिता छवि (भा० प्र०, पृ० ८) कर्त्तृ त्पुणसभोग (ना० ६० ४ २८८) सव कर्त्तृ तमन्मथावपितच्छृति (सा० ६० ३ ६६) । प्रता० (पृ० १८०) म कर्त्तृ की शृङ्गार जेन्दाओ मे मही रख्या गया । (२) उमीलदं (१५२) म अनुराग की अधिस्ता के कारण नायिका की शोभा के बढ जाने का वयन है जिससे पतन प्राणी तो क्या बढ अ धरार भी उसके अङ्गों के स्पर्श सुख क लिये इच्छा करता है । (३) मन्मथाव्यासितछाया इस वाट म मन्मथेन अव्यासिता छाया पस्या सा' अर्थात् जिस शोभा म कामभाव के द्वारा चुनि आरपित कर दी जाती है वह कर्त्तृ है ।

* मन्मथाव्यासित छविय वाट ।

अथ कर्त्तृ—
(१) कर्त्तृ तं मुने—
एव शृङ्गार
शोभावत्त शृङ्गार स्य
कर्त्तृत्वं द्विष्यणम्
तस्मिन्मना शक्यते च
द्विष्यति हि शृङ्गार वर
कव्यते—

१ शृङ्गार—
(सिंसे कर्त्तृत्वं मे) १५०
जसे सुखस्य शृङ्गार (१५०) मे
शेखर कही है शिष्य के विस्तार म,
शोभर (ताभ्य) की शोभा की सुग-
कीर्ण कही है । शृङ्गार शृङ्गार कर्त्तृ
द्विष्यता—(१) ना० शा० ६०
कव्यते कर्त्तृत्वं

सा० ६० (३ ६५) मे
ना० ६० (३ ६५) मे शोभ वाट ५०
पर की कर्त्तृत्वं मे विस्तार न होना
शृङ्गार के सुखस्य की कर्त्तृत्वं
है । इस वही कर्त्तृत्वं का कर्त्तृत्वं
नाम मे सत्यवयव के ही शृङ्गार
अवतार के सुखस्य का ही शृङ्गार
(१५० २८) म अनुराग के वयन शृङ्गार
कामवासितच्छृति शृङ्गार शृङ्गार कर्त्तृत्वं
शृङ्गार कर्त्तृत्वं शृङ्गार कर्त्तृत्वं
शृङ्गार का लक्षण है—करी शरार को न
शरार है कर्त्तृत्वं शरार के शृङ्गार म
(१५०) शृङ्गार (सिंसे) ना० ६०
४ ६०५—

अथ माधुयम्—

(५५) अनुत्पन्नत्व माधुयम्—

यथा शाकु तले

सरसिजमनुबिद्ध शकलेनापि रम्य

मनिममपि हिमाशौलकम सन्मी तनोति ।

इयमपिबमनामा यत्कलेनापि तन्वी

किमिष हि मधुररागा मण्डन नाकुतोनाम् ॥१५३॥

अथ कीदृशं—

३ माधुयम्—

(सब अवस्थायां मे) रमणीयता ही माधुर्य है ।

जैसे शाकु तला नाटक (१२०) में (राजा युवन्त बल्लभधारिणी शकु तला को देखकर कहते हैं) 'सेवाल से लिपटा भी कमल रमणोय होता है ईभलिन चिह्न भी शीतकर (चन्द्रमा) की शोभा को बढ़ाता है, यह हुआझूनी बल्लभ धारण करके भी अविश्व मनोहर है । बरसुत मधुर आहृनिवाँ के लिये क्या आशुपूषण नहीं बन जाता ?

दिग्गणी—(१) ना० सा० (२२ २८) क अनुवार माधुय का सगण है—

सर्वावस्थाविधेयु सौधेयु सतिसेयु च ।

अनुत्पन्नत्व चेष्टाया माधुयमिति सनितम् ॥

भा० प्र० (पृ० ८) म 'सर्वावस्थायु चष्टाना माधुय मद्रुकारिता ।

ना० ६० (४ २८२) म 'सोम्य सापेयि माधुयम्' अर्थात् श्रेय आदि का सत्ताप होन पर भी आहृति म विश्कार न होना माधुय है । इसी प्रकार रसापबयुगाकरारण गिञ्जुभूपात के अनुसार भी 'माधुय नाम चेष्टाना सर्वावस्थायु मादवम्'—यह सगण है । इन सभी सगणों का अभिप्राय समान ही है । दशरूपक के सक्षण म 'अनुत्पन्नत्व माधुय ये नाटयशास्त्र व ही पद स्थिय ाय हैं । किन्तु यह सगण स्पष्ट नहीं । सम्भवन दशरूपककार के अभिप्राय का ही प्रता० तथा सा० ६० म स्पष्ट किया है । प्रता० (पृ० १८८) म अनुपगतपि रम्यत्व माधुयमिति कथ्यते तथा सा० ६० (३ ६७) म 'सर्वावस्थाविधेयु माधुय रमणीयता'—य नसाय हैं । सा० ६० में धृतिरु क समान ही सरसिजम् इत्यादि उदाहरण भी दिया गया है । इन सबके आधार पर दशरूपक के माधुय का स्वरूप है—सभी प्रकार की अवस्थायां में एक ही रहने वाली रमणीयता माधुय है जैसा कि ऊपर के उदाहरण म स्पष्ट है । (२) अनुत्पन्नत्व = रमणीयता (यमा), माधुय (अपि भा०) Not intense (Haas) ।

४ कीदृशं—

ति स्मृता ॥१३॥

मिहिवम् ।

सप्त ॥१५२॥

(पृ० ८) ना० ६० (४ २८३) म शृङ्गार चन्द्राओं में बही और सार्वभू क भाग होने पर द्वारा होने वाली शोभा का

भा० की दृति (छाया) का

के समद हई शोभा ही स्वयं के हृदय को मात्र करते हैं कालि के विस्तार से उन की कालि से यह छिप निर के स च मादिक से मिलने पर करते कालि के शो को म ही उन कालि के शो में

के अवसर पर कालि कर

० सा० २२८) शकु त बुधलशोभा (ना० ६० ६६) प्रता० (पृ० १ ५) (२) अनोपग (११२) म शोभा के रूप कालि का रूप है कालि के रमणीय के दिने म मनेक शपादित्य का पति आरिषि हर शोभा ।

(५६)—दीप्ति कान्तेस्तु विस्तर ।

यथा—

देजा पतित्र गियतमुमुहसतिजोगह्रावितुस्तमगिवहे ।
द्विसारिजाण विण्य करोसि अण्णाण वि ह्वाते ॥१५५॥
(दवाद् दृष्ट्वा निता तमुमुहसगिजयात्त्वावितुस्तमोनिवह ।
अभिसारिकाणां विण्य करोव्ययासामपि ह्वाते ॥)

अथ प्रागल्भ्यम्—

(५७) निस्ताध्वसत्व प्रागल्भ्यम्—

मन धोभभुवकोऽङ्गसाद साध्वस तदभाव प्रागल्भ्यम्, यथा ममय—
'तथा प्राशाविधेयापि तथा मुग्धापि मुदरी ।
वत्ताप्रयोगचातुर्यं समास्वाचायव' गता ॥१५५॥

वाति वा विस्तर ही दीप्ति कहनाता है ।

अते ?—'नितात मुदर मुखवत्र की ज्योत्सना से अणकार के समूह का नाम करने वाली, हे मूल (हताण) मुम अक्षस्मात् इपर देखकर अथ अभिसारिकाओं के मार्ग में भी विघ्न उत्पन्न करोमी' ।

(१) ना० था० ५(२२ २८) था० प्र० (५० ८), ना० ८० (४ २८५), सा० ८० (३ ६६) म भी इसी प्रकार का लगन है । प्रता० (५० १८०) में 'दीप्ति की श्रुङ्गार चट्टाआ म गणना नदी की गई । (२) सशेष म रूप योवन आदि का जो उज्ज्वलता है उसकी तीन अवस्थाएँ हैं—मद, मध्य और तीव्र । वे ही क्रमशः क्षीमा, काति और दीप्ति कहलाती हैं । (मि० ना० ८० ४ २८५) ।

५ प्रागल्भ्यम्—

साध्वस रहित होना ही प्रागल्भ्य कहनाता है ।

मानसिक क्षीम के कारण अङ्गों में म्लानता (अवसाव) ही जाना ही साध्वस है उसका अभाव प्रागल्भ्य है । अते मेरा (घणिक का) ही 'पत है—उतनी सज्जा परलस और उतनी अधिक सुग्धा होते हुए भी उस शु-दरी ने समाओं मे कला प्रयोग की निपुणता में आत्मापपर प्राप्त किया ।

द्विषयी—ना० था० (२२ ३१) ने अनुसार 'प्रयोगनिस्साध्वसता प्रागल्भ्य समुदाहृतम् यह लक्षण है । अभिनवश्रुत के अनुसार प्रयोग का अधिप्राय है—६४ कामकला इत्यादि (प्रयोग इति कामकलादौ चातु पट्टिक इत्यथ) । था० प्र० (५० ८) म इसी प्रकार का लक्षण है । दशरूपक ने लक्षण का भी नाट्यशास्त्र के लक्षण के समान ही तात्पर्य प्रतीत होता है । इस प्रकार बलाओं के प्रयोग में किसी प्रकार का मन चाम तथा मुख आदि की मलिनता न होना ही प्रागल्भ्य है । ना०

Handwritten notes on the right margin, including the number 11 and various lines of text in Hindi script, some of which appear to be bleed-through or additional commentary.

115
४
५
६
७

(५८)—बीदार्य प्रथम सदा ॥३६॥

अथोदायम्—

यथा—दिवहं तु दुक्चिआए मज्जल काळण मेह्णवारम् ।
गण्णवि मण्णुदुवणे भरिमा पावत्तमुत्तस्स ॥१५६॥
(दिवसं छदु दु धिताया सकलं कृत्वा यंह यापारम् ।
गुरुण्यपि मण्णुदुवे भरिमा पावाते मुत्तस्य ॥)

यथा वा—'भूमङ्गं सहधीदपता' इत्यादि ।

अथ धर्मम्—

(५९) चापलाज्विहता धर्मं चिद्वृत्तिरविकल्पना ।

चापलानुदृष्टता मनोदृष्टिरात्मगुणानामनाड्यायिका धर्ममिति । यथा मानवीमायव—

६० (४ २८६) वे अनुसार 'भागल्यम कीमल तरे' अर्थात् रतिजीवा मे निगुणता ही प्रागल्भ्ये हे । सा० २० (३ ६७) में यद्यपि दवाहूपक का संगण ही विद्या गया है तथापि उदाहरण से प्रतीत होता है कि उसका अभिप्राय ना० ६० के समान ही है ।

६ औदाय—

सभी अवस्थाओं मे (सदा) विनम्र रहना (=प्रथम) ही औदार्य कहलाती है ।

असे (भाषासप्तशती ३ २६) विनम्र गृहकाय करने के कुछ ही हुई उस नायिका के भारी कोष्ठमुक्त श्लेश में पावनस में सोये हुए प्रिय की प्रसुता (भरिमा) है । अर्थात् प्रिय के चरणतल में सो जाने से वह कोष्ठमुक्त कुछ शांत हो गया है (?) । (इसका अर्थ स्पष्ट नहीं, पाया० में वादान्तर है) ।

और, असे 'भूमङ्ग' इत्यादि (रत्नमालती २ २१) ।

टिप्पणी—(१) ना० सा० (२२ ३१) में 'औदाय प्रथम प्रोक्त सर्वावस्थानुषो युष यह लक्षण है । इसका भाव है—'अमय, ईर्ष्या क्रोध आदि सभी अवस्थाभा म या बटोरबचन आदि न कहना है, यही औदाय है । भा० प्र० (पृ० ८) में भी ना० सा० के समान ही लक्षण है । ना० २० के अनुसार सतत ही पर भी विनय आदि उचित बाता वा त्याग न करना ही औदाय है । सा० २० (३ ६७) में 'औदाय विनय सदा यह लक्षण है । (२) भूमङ्ग इत्यादि में यह दिख जाया गया है कि भासवदत्ता युक्ति हो गई तथापि उक्त विनय नहीं छोड़ा ।

७ धय—

पञ्चलता से रहित तथा आत्म प्रलापा से शून्य चित्त-वृत्ति धर्म यट्वाती है ।

अर्थात् जो विसङ्गति पञ्चलता से मुक्त नहीं है ओ अपने पुणों वा बज्जल करने वाली नहीं है वह धय है । अने मानवीमायव (२ २) में (मासता) धरणी सदा

विस्तर ।

निके ।
ने ॥१५५॥
अनोनिवहे ।
हवाते ॥)

यथा मानव—

३५॥

४ से आठकार के मण्डल वा
वेकडरअल अविचारिताओं

(=) ना० २० (४ २८६),
५० (५० १८३) में दीर्घ
में अर्ध मौन आदि की जो
दीर्घ । वे ही अमय कोष,
४) ।

यमान) ही आता ही साधक
ही अल है—'जलते सदा
रते ने सप्ताओं मे कला-अपे

'यथा' निरासङ्गता आत्म
पर प्रयोजन का अविचार है—
के पठित्व इत्यर्थ । भा० ५०
संगण का भी साधकत्वर के
कार कलाओं के प्रयोजन से अिनो
न हीमा ही आत्मत्व है । भा०

अथ विलास —

(६१) तत्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ॥

दामितावलीकनादिनादेऽङ्ग क्रियाया वचने च सातिशयविशेषात्पतित्विलास
यथा मालतीभाष्ये—

अथात्तरे किमपि वाग्बिभवातिवृत्त—

वचिन्यमत्त्वसितविभ्रममायाताष्या ।

सदपूरिमास्विकविकारविशेषपरम्य—

माचायक विनयि मांमयभाबिरासीत् ॥१६०॥

अथ विच्छिन्त —

(६२) आकल्परचनाऽन्यापि विच्छिन्त कात्तितोषोपकृत् ॥३८॥

स्तोकोऽपि येषो बहुतरङ्गमनीयताकारो विच्छिन्त । यथा कुमारसम्भवे—

नर्पापितो रोद्रक्यायवहो भोगोपनाभेदनिता तगोरे ।

तस्या कपोले परभागलाभार्वबन्ध चपयि यवग्रहो ॥१६१॥

२ विलास—

प्रिय के दगन आदि के अवसर पर (नायिका के) अङ्ग चेष्टा तथा, वचनो मे जो एक विशेषता आ जाती है वही विलास कहलाता है ।

अर्थात् प्रिय के श्वकीरुन भादि के अवसर पर (नायिका के) अङ्ग (मुख, नेत्र आदि) में क्रिया (उठना बठना आदि) से तथा बोझने मे जो चमत्कारयुग विशेषता उत्पन्न हो जाती है वही विलास है । जैसे मालतीमायाय (१२६) में (माध्य अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है) 'इसी समय विनाल नेमें वाली (मालती) के लिये काय देष का विजयगीत अन्त आघार्यस्व (आघार्यकम्—आघार्यभाय विषय शृङ्गार चेष्टाओं का उपदेश करना) प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता का घगन करना वाग्नी की शक्ति से बाहुर है जिसमें अनेक विषम (शृङ्गार-चेष्टाएँ) उद्भूतवित हो रहे से तथा श्री अत्यधिक मारिक बिकारों के कारण रमणोय हो रहा था' ।

दिल्ली—गा० गा० (२२ १५) भा० प्र० (पृ० ६) ना० ८० (४ २०४)
प्रता० प० १८६) सा० ८० (२ ६६) ।

३ विच्छिन्त—

यदि थोड़ी सी वेश रचना (आकल्परचना) भी शोभा को बढ़ा देती है तो वहा विच्छिन्त नामक भाय होगा है ॥३८॥

अर्थात् अल्प भी प्रतायन यदि अत्यधिक रमनीयता उत्पन्न करता है तो विच्छिन्त कहो जाती है । जैसे कुमारसम्भय (७ १७) में 'उग (शायती) ने जान में लगाया यथा बदाइबुद लौडगुन से रुस तथा गोरुचन न मलने से अत्यधिक गीरे कपोल पर बियेय शोभा प्रपल कर (सोमों की) आँखों को धींच रहा था' ।

●त्रियादियु इत्यपि पाठ ।

स्वरवि ।

गि
विदिवत् ॥११७॥

॥३६॥

नरपुरुष लोता ।

गेन ।

गीह ॥१२८॥

उपलभितम् ।

नाति ॥

॥१२६॥

भाष्य चयना (करे ही) अता
वस बना रूपने ? दुल तो
मगत कुल से विह ? न

८०, ना० २० (४ २०४)

अर का अर्थ है । भा० ७०

(१६) के शोलाखण्डन

मालती के घन का वचन

उपने—

मुकरण करना ही लोता

जो शृङ्गार-साधको वेद्यु

लोता है । जाने क्या (सिक

क के लगाने) हो रेखा जती

रु होतो प्रकार की चित्रने

वात को बहती है और बने

३० ६) ना० ८० (४ २०४)

भाय इतो प्रकार का रूपने ।

रतित्रीडायुते कथमपि समासाद्य समय
मया लब्धे तस्या भवणितकलकण्ठाग्रमधरे ।
कृतधूमज्ज्वालो प्रकटितविससाधरचित्त-
स्मितक्रोडोद्भ्रान्त पुनरपि विदध्यामपि मुञ्चम् ॥१६४॥

अथ मोट्टायितम्—

(६५) मोट्टायित तु तद्भावभावनेऽप्यक्यादिषु ।
इत्थक्यादिषु प्रियतमनयानुकरणादिषु प्रियातुरगेण भावितात् करणत्व मोट्टायितम् ।
यथा—

धिप्रवति यपि नये तत्त्वावेगेन चेतसि ।
श्रीसाधवसित चरं मुने दुमवर्चसं सः ॥१६५॥'

यथा वा—

'मात क हृदये निधाय मुचिर रोमाञ्जिताङ्गी मुह-
जं भ्राम भरतारका मुलनितापाङ्गी दधाना इयम् ।
मुत्तेवालिधितव धूयहृदया लेखावधेपीभव-
स्यास्यदोहिनि कि ळ्लिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मर ॥१६६॥'

जसे मेरा (धनिक का) ही वच है नायक अपने प्रिय से कहता है—रति
बीजा के दूत में किसी प्रकार दौब (समय) पाकर मैंने उसके अग्र कौ या निपा वच
कि उसका कण्ठ अरुदुट और मधुर ध्वनि कर रहा था । फिर भी मैं देङ्गी करती हुई
और सज्जा प्रकट करती हुई उस (नायिका) ने अपना मुख कुछ रोवन, मुक्कराहट तथा
कोप से युक्त कर लिया । अच्छा ही कि यह फिर भी मेरे प्रति ऐसा मुख बने' ।

दियपी—ना० शा० (२२ १८), भा० प्र० (५० ६), ना० ५० (४ १८२),
प्रता० (५० १६०), सा० ५० (३ १०१) ।

६ मोट्टायित—

प्रियतम की चर्चा इत्यादि में अवसर पर उस (प्रिय) के भाव में मग्न
हो जाना मोट्टायित कहलाता है ।

इत्थक्या अर्थात् प्रिय की चर्चा और उसके अनुकरण आदि के अवसर पर
प्रिय व प्रेम में मग्न का तल्लीन (भावित) हो जाना मोट्टायित है । असे पद्यगत का
पद्य है—राजा के विनयलिखित होने पर भी विद्य में राजा के भाव का आवेश हो
जाने के कारण उस (नायिका) ने अपने मुखपत्र को सजा से कुछ वक्र कर लिया ।

अथवा जस ?—अरी' (मात —आरणीय as a term of respect आये)

चित्तको अपने हृदय में रखकर बहुत देर से रोमाञ्जित हुई, बार बार लम्बाई से स
(मित्र के) तारों वाली सुन्दर अयाङ्गी वाली दृष्टि को धारण करती हुई सोई सी
चिन्तितियों सी शय्य हृदय वाली हाकर रेखाग्राम रोय रह गई हो (आयत्त द्वारा हो
गई हो) ? हे अपने साथ प्रोह करने वाली, सज्जा से क्या लाभ ? मुझे बताओ तो
क्या ठिय कामदेव तुम्हें मार रहा है ।

य ।

॥१६३॥'

यथा ।

इत्थ ॥१६४॥'

चिन्तयत् ॥१६५॥

६) ना० ५० (५३०)
के अनुसार लिखित था

मोटाया के कारण आयु
जाता है ।
ने इतने के बतलान में मन
1 कि उनके विपरीत पुन

(५० ६), ना० ५० (५३०)
में धियनय के अग्रमन मनि
प्रवक्ष कावों का उतव देर ही
म, कटि में पहनने अय्य आरुच
अर निपत का कारण बीमार

एक साथ होना (सङ्कर), रिक्त

यथा वा ममव—

'स्मरद्वयमुनिमित्त गूढम् नेतुमस्या
मुभग तव कदाया प्रस्तुताया सखीभि ।
भवति चित्तवृष्टोदस्तपीनस्तनाया
ततवसयितवाहृज न्मिमत साङ्गमङ्ग ॥१६७॥

अथ कुट्टमितम्—

(६६) सान् दान्त कुट्टमित कुप्योरकेषाधरग्रहे ॥४०॥

यथा—

'ना दीपदान रतिनाटकविभ्रमाणा
माशाशराणि परमाण्ययथा स्मरस्य ।

और जैसे मेरा (यनिक का) पथ है—(फोई जूती नायक से कही है) हे सुभग जब सखियाँ उस (नायिका) की काम वेदना (वयय=पीडा, अग्नि) क मुठ निमित्त को जानने के लिये तुम्हारी चर्चा करती ह तब वह अङ्गभङ्गिमा के राग जम्बाइया सेतो है जिनसे उसकी पीठ फल वाली है पौन स्तना के अग्रभाग उठ जाते हैं तथा पुजाएँ आगे बलघाकार हो जाती हैं ।

द्विषणी—अनञ्जय तथा घनिक के शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय की बाप चलने आदि के समय नायिका के मन का भाव मग्न हो जाना ही मोट्टावित है । इसी प्रकार का लक्षण भा० प्र० (पृ० ६) म भी है । किमु मा० भा० (२२ १६) मा० द० (४ २२१), प्रता० (पृ० १६१) सा० द० (३ १०२) के अनुसार जब नायक की चर्चा चलने आदि के समय नायिका का चित्त उसके भाव म मग्न हो जाता है तब उसकी जो वान मुजलाना वङ्ग मोडना आदि शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं वे ही मोट्टावित कह जाती हैं । अग्निवमुत्त के अनुसार भी मोट्टावित का यही स्वरूप है—(अङ्गमोडनात् मोट्टावितम्) । वस्तुत दशरूपक के लक्षण का भी यही अभिप्राय होना चाहिये, यद्यपि तद्भाव—भावना तो शरीर चेष्टाओं से ही प्रकट होती है । घनिक द्वारा दिये गये उदाहरणों से भी यही अभिप्रेत होता है । अत दशरूपक के 'तद्भावभावना' शब्द का तात्पर्य है—तद्भावभावनाकृतम् (मा० भा०) अर्थात् उचने भाव म मग्न होकर की गई शारीरिक चेष्टा ।

७ कुट्टमित—

(रतित्रीडा ने प्रियतम ने द्वारा) केश और अक्षर का प्रहृण किये जाने पर (नायिका) जो हृदय मे प्रसन्न होकर भी कोप प्रकट करती है, वही कुट्ट मित कहनाता है ॥४०॥

जसे ? 'प्रियतम के द्वारा झोठ काट लिया जाने पर (रोकने के लिये) हाथ के अग्रभाग को हिलाती हुई नारी के सीखारमुक्त सूत्रे स्वम विजयो (सर्वाच्छ्रेय) हैं

रुतेभ्यो विद्वान्

अथ विद्वोः—

(६७) मया विद्वान्

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

अथ मते—

दष्टेऽधरे प्रणयिना विद्युताप्रपाणे
सो वारशुक्लदिनानि जयति नायां ॥१६८॥

अथ विव्योक्त —

(६७) गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विव्योक्तोऽनादरक्रिया ।

यथा मम —

सत्याज तिलकालकां वनस्यल्लोलाङ्गुलि सप्तगुण
वारवाग्मुदञ्चय कुचसुगम्रोदञ्चनीलाञ्चलम् ।

यद्भ्रूभङ्गतरङ्गताञ्चित्तदृशा सावनामालोकित
तद्गर्वादेवधीरितोऽस्मि न पुन भाते वृतायाङ्कित ॥१६९॥

अथ ललितम् —

(६८) सुकुमाराङ्गवियासो मसणो ललित भवेत् ॥४१॥

रूपेण ।

पृष्ठ ॥१६१॥

उपदेहे ॥४०॥

७-

२।

हैं इतनी मजक से बहती हैं वे
न (रश्मि=रीम, अलि) के हुए
र तब बह अङ्गनाङ्गना के नाव
केन तलों के अग्रभाग उठ जाते

रेखा प्रोङ्क होना है कि दिन की
न न हो बाग ही मोटुविन है ।
विन्दु ना० भा० (२२ १६)
१०२) के अन्तर्गत उर मजक
के भाग में मग हो जाता है
निरिक वेदाए हीतो है वे ही
नोटुमिन का यही स्वरूप है—
मग का भी यही अभिप्राय होता
मे से ही अकट होती है । अतिक
होता है । अत एवपरक के
अवस्तु (ना० भा०) कर्ण उठने

और अक्षर का प्रहान सिने जाने
कीय प्रकट करती हैं, वही कट्ट

र जाने पर (रिक्ते के सिने) रूप
हुने तब विन्वो (वर्णानुस्य) हैं

वे (वदन) रतिक्रीडा की नाटकीय चेट्टाओं के नाचोपाठ हैं अथवा कामदेव के आदेश
के घडे बड लेख ह ।

द्विष्यथी—(१) इ० ना० शा (२२ २०) भा० प्र० (५० ६) ना० द०
(५ २००), प्रता० (५० १११) सा० द० (३ १०२) । (२) के साधरप्रहे प्रियतमेन इति
वेष (अभि० भा०), सानदान्त = सानदम् अत (अतःकरणम्) यस्मिन् कमणि
तत् कुपेत् का द्वियाविशेषण है (प्रभा) । शुष्क—सूखा झूठन्त बनावटी ।
८ विव्योक्त—

गव और अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनारदर
दिखलाना विव्योक्त कहलाता है ।

जसा मेरा (अभिमान का) ही पक्ष है—(नायक नायिका ने बहुत है)—हे
प्रियतमे (कान्ते) तितक के वालों की घिरल करके कपटपूवक चञ्चल अङ्गुलियों से
स्पर्श करते हुए तथा बार बार कुच युगल पर कपटाने नीले आचल की उठाते
हुए घुस की तुमने जो टेढी भीहों वाली बक इष्टि ते अथनापूवक देखा, उत गय से
मैं अथमानित हो गया हूँ कि तु तुमने मुझे इताय नहीं किया ।

द्विष्यथी—(१) इ०, ना० शा० (२२ २१) भा० प्र० (५० ६), काव्यानु०
(७ ३६) ना० द० (५ २७७) प्रता० (५० १६२) सा० द० (३ १००) । (२)
दृष्टेऽपि—प्रिय म भी, प्रिष्ठम अथवा अशीट वरन, अलङ्कार आदि का अनारदर ।
गव—सौभाग्य का गव हय । अभिमान—चित्त का घडा होना (भा० द०), दया
६ ललित—

सुकुमार अङ्गो की स्निग्धतापूवक चलाना ललित कहलाता है ॥४१॥

यथा ममव—

सधू भङ्ग करविसलयावतनशालपती
सा पश्यती ललितललित लोचनस्याञ्चलेन ।

विषयस्य ही चरणकमले कीलया स्वरघातं
निस्मङ्गीन प्रथमवयसा नतिता पङ्कजाक्षी ॥१७०॥

अथ विद्वतम्—

(६६) प्राप्तवान् न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विद्वत् हि तत् ।

प्राप्तावमरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचन तद् विद्वन्म यथा—

पादाङ्गुलैः भूमि विसलयचिन्ता सापदेशे निखती
भूमौ भूय निपती मयि सितशबले लोचने कीलसारे ।

वधम् ह्रीनप्रमीपलकुरधरपुट वाक्यगर्गं दधता
यमा नीवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानस तद् दुनोति ॥१७१॥

जसा मेरा (धमिक का ही घट है — धू भङ्ग के साथ कर पल्लव को घुमाकर
बातें करती हुई नेत्रों के कोनों से व्यथित सुन्दरता के साथ देखती हुई स्वच्छता के
साथ लीलाभूषक चरण कमलों को रखती हुई उस कमलनयनी को बोधन प्रा बुद्धिमान
दिना सङ्गीत के ही नचा रहा है ।'

दिव्यणी—(१) प्र० ना० शा० (२२ २२) ना० प्र० (पु० ६) प्रता०
(पु० १६२) सा० द० (३ १०५) । (२) ना० २० (५ २७६) के अनुसार 'यथ ही
सकुमारतापूर्वक अङ्गी का चलना ललित कलाता है (ललित गायमन्चार सुकुमारी
निरपक) यहाँ सुकुमार - अतिमनोहर निरर्थक—निष्प्रयोजन अर्थात् विना प्रत्यय के
ही दृष्टि डालना विना ग्राह्य के ही हाथ फलना आदि । (३) निष्प्रयोजन व्यापार
ललित कलाता है और सज्जोजन विलास यही दोनों का अंतर है । (४) दशहपक
में भी सुकुमारोऽङ्गीवियस यही पाठ उचित पतीत होता है अर्थात् सुकुमार तथा
निशय अङ्गीवि' पास सजिन है ।

१० विद्वत्
अथ अमर आने पर भी (नामिका) लज्जा के कारण नहीं मोलती
वह विद्वत् है ।

अर्थात् जिसका अमर हो ऐसे वाक्य का भी जो लज्जा के कारण न मोलना
है वही विद्वत् कहलाता है जैसे (अमरशतक १३६)—किमस्य के समान बान्ति घाले
पर के अगुटे से किन्ती थड़ाने भूमि को कुदेवती हुई, चञ्चल तारों वाले प्रवेत एव
शबल नेत्रों को बार बार मुझ पर डालती हुई, लज्जा से मुझे कुछ फडकते अधरपुट
वाले भीतर किसी बात को लिये हुए मुझ को धारण करती हुई उस (नामिका) के मन
में होते हुए भी जो मुझ से नहीं कहा वही बात मेरे मन को डुंभी कर रही है ।

दिग्

अथ मेरा दशहपकम्—
(७०) मना इव वीर्य
अथ मेरुपारिन्दवा
एव विमानम्—
(७१) मन्त्रिता नञ्ज, इत्या

मिथ्या स्तेन वीर्यम्
सिन्धु—(१) २० ना० शा०
२० (५ २८) इत्या (पु० १६३) इ
उपनयन मान है अतः अमर पर
या किसी अर्थपर बान्ति के कारण
ना० शा० तथा ना० २०) ।

नायक क अन्य सहायक
[नायक के सहायकों पर चक्र
है] अथ नायक के अथ कर्तों में
उस (नायक) के व्यप
व्यपारा स्वयं ही या दोनों (नायक
उन नायक को अ
तथा व्यपार (गुणवत् प्रशंसा बान्ति
का वह स्वयं व्यपारा कर्त्तों और कर्त्त
उपना विमान्ता कर्त्त है—
वीर्यमन्त्रिता नायक की
(वीर्यमन्त्रिता, वीर्यमन्त्रिता और
होती है ।

विशय अमर (१३) अथ
कर्मों के लक्षण होती है । अथ को
कर्मो स्वयं ही कर्मो वीर्यो के अर्थ,
विशय नहीं है ।

सिन्धु—(१) २० ना० शा०
(५ २८) ना० २० (३ १०५) । (१)
दिव्य जल बना अथ नम चक्रमा है क
काला कर्त्त है । इत्या कर्त्त है

अथ नेतु कार्यांतरसहायानाह—

(७०) मन्त्री स्व बोधय वापि सखा तस्यायचित्तने ॥४२॥

तस्य नेतुरथचि ताया तत्रावापदितल्लणाया मन्त्री वाऽन्ता बोधय वा सहाय ।

तत्र विभाषामाह—

(७१) मन्त्रिणा ललित, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय ।

उत्तल्लक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धि । शेषा धीरोदात्तायद अनियमेन मन्त्रिणा स्थेन बोधयेन वाऽप्युद्दिष्टसिद्धय इति ।

द्विष्यन्ती—(१) ३० ना० शा० (२२ २४—२५) भा० प्र० (५० ६), ना० ६० (४ २०८) प्रता० (५० १६३) सा० ६० (३ १०६) । यहाँ ब्रौडया यह पर उपलक्षण माय है अत अवसर पर भी लज्जा मुग्धता, शालस्वभाव अयमनस्वता या किसी कष्टभाव आदि के कारण प्रिय मधुर वचन न कहना ही 'विहृत' है (मि०, ना० शा० तथा ना० ६०) ।

नायक के अय सहायक

[नायक के भूद्वारा सहायक विद्वयक आदि का ऊपर वर्णन किया जा चुका है] अथ नायक के अय कार्यों में सहायकों का वर्णन करते हैं—

उस (नायक) के अथ चिन्तन मे मन्त्री सहायक (सखा) होता है, अथवा स्वय ही या दोनों (नायक या मन्त्री) ही ॥४२॥

उत्त नायक की अथ चिन्ता अर्थात् तत्र (=अपने राज्य मे किया गया काम) तथा आशय (मुत्तवर भोजना आदि दूसरे राज्य मे किया गया काम) इत्यादि मे मन्त्री या वह स्वय अथवा मन्त्री और वह दोनों ही साधक होते हैं ।

उत्तका विभाषा करते हैं—

धीरललित नायक की मिद्धि मन्त्री द्वारा होती है और अय नायको (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) की सिद्धि मन्त्री तथा स्वय के द्वारा होती है ।

जिसका ऊपर (४३) लक्षण किया गया है उस धीरललित 'नायक' की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है । शेष जो धीरोदात्त आदि नायक ह वे कभी मन्त्री द्वारा नहीं स्वय ही कभी दोनों के द्वारा (काय में) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, इसमे कोई नियम नहीं है ।

द्विष्यन्ती—(१) ३०, ना० शा० (०५ ७५) भा० प्र० (५० ६३) ना० ६० (४ २५३), सा० ६० (३ ४३) । (२) अथचित्तन = तत्रावापदि, अथने राज्य मे किया जाने वाला काम तत्र ब्रह्मता है और दूसरे राज्य मे मुत्तवर आदि नियुक्त करना आशय है । यन् आदि शब्द से 'मनु को दण्ड देना आदि का प्रहण' होता

गन्धर्वे ।
 बद्धवागो ॥१०॥
 मा विहृत हि तत् ।
 यन इत् विहृत्य यथा—
 शिष्य निवृत्ति
 रत्नवने सोवने सोवतारे ।
 य इत्यात्
 न हृष्ये मानस हरदुःखोत्ति ॥१०॥
 नृके के साथ बन-मन्त्रन को इत्यात्
 के साथ रेखनी हुई इ-प्रकृता के
 वल्लभ्यो को शोचन वा अनुभव
 भा० ३० (५० ६) प्रता०
 (४ २०८) के अनुसार 'प्राय ही
 है (नलित नायकत्वात् सुसुपारी
 तस्योदय, अथे विना इत्ये' के
 शि० (३) मिष्योत्तन स्वायत्त
 शो को वा अन्तर है । (४) इत्येक
 होता है, अर्थात् सम्भार तथा
 लज्जा के कारण नहीं दोनों
 को को सहाय के कारण न शेष
 (५) चिन्तन के समय कलित को
 है, चञ्चल शारी को अने ए
 सहाय से निक, कुछ स्वयं सहाय
 रण करने हैं उन (नलित) के अ
 नरे वन को बुधी कर रही है ।

धनसहायास्तु—

(७२) ऋत्विगपुरोहितो धर्मं तपस्विग्रह्यावादिन ॥४३॥

ग्रह—वेदस्त बर्दि त व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिन, आरमजानितो वा ।

धोषा प्रतीता ।

दुष्टदमन दण्ड । तसहायास्तु—

(७३) सुहृत्कुमागटयिका दण्डे सामन्तसिनिका ।

स्पर्ष्टम् ।

है, (सि० प्रभा०) । सहाय=सहाय साधक । (३) 'मन्त्री स्व' इत्यादि बचन की विवचनाय ने (सा० ८० ३ ४३) एत प्रकार आलोचना की है—(१) अर्थ चिन्तन के उपायो के सन्दर्भ में यह बचन उचित हो सकता था नायक के सहायको के सन्दर्भ में नहीं, (११) नायक क अपविन्नय म मन्त्री सहायक होता है, वैश्व इतना कहना ही पर्याप्त है, इसी से नायक का भी क्षय में भाग लना स्वतः सिद्ध है फिर स्व सथा 'उभय' इत्यादि कवन अर्थ ही है । (४) मन्त्रिणा सलित इत्यादि भी भी विवचनाय ने (सा० ८० ३ ४३) आलोचना की है कि (१) निश्चितो धीरसलित (अपर २) इस लक्षण में ही यह सिद्ध है कि सलित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है फिर यहाँ उसका कवन करना अर्थ है किञ्च (११) मन्त्री अथ-चित्त में सलित नायक का सहायक नहीं होता अर्थात् यह स्वयं ही उसमें अथ का साधक होता है, सलित नायक तो अर्थ चिन्तन आदि करता ही नहीं अतः मन्त्री को सहायक कहना ठीक नहीं ।

नायक के समकाल में सहायक वे ह—

यज्ञ करने वाले (ऋत्विग) पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मजानी या (वेदपाठी) धर्म में सहायक होते हैं ॥४३॥

ग्रह का अर्थ है—वैश्व उसका प्रवचन या व्याख्या करने के स्वभाव वाले ब्रह्मवादी कहलाते हैं अथवा आरमजानी । मोष (ऋत्विग आदि) प्रसिद्ध ही ह—

दुष्टों का भयन करना अथ कहलाता है उसमें वे सहायक होते ह—

मित्र, राजकुमार, वन विभाग के कर्मचारी अथवा अरण्यवासी (आट विक), मामत तथा सनिक दण्ड में सहायक होते हैं ।

यह स्पष्ट ही है ।

द्विपत्नी—ना० शा० (२४ ७४) भा० प्र० (५० २३), ना० ८० (४ २५^०) शा० ८० (३ ४५) ।

५५-
 १९
 (३६) इत्युं शां ॥
 १९
 १९
 (५१) २०
 १९
 १९

इस प्रकार विचार करने में
 कि वह है—
 अत्र पूर्व में बरबर (ना० ५)
 तथा प्रकार आदि भाग लने
 तथा का भाग को
 श्रुत्यन्ते—(१) का० भा० ॥
 २० (५४ ८४) । अत्र विचार
 विचार विचार का है । अत्र अत्र
 काय ही है, पूरा भाग का
 २०) यह अर्थ का १३ भाग का
 मृच्छिका में अत्र का अर्थ का
 इत (विचार करने) के
 इत भाग (विचार करने)
 ०१ अत्र ही है । और इत्यादि
 अत्र ही है । अत्र ही है ।
 अत्र ही अत्र ही है ।
 इत्यादि का अर्थ का अर्थ का
 अत्र ही है । अत्र ही है ।
 अत्र ही है । अत्र ही है ।
 अत्र ही है । अत्र ही है ।
 अत्र ही है । अत्र ही है ।
 अत्र ही है । अत्र ही है ।

एष सतकार्यान्तरेषु सङ्ग्यातराणि योग्यानि । यदाह—

(७४) अत पुरे वर्षवरा किराता भूकवामना ॥४४॥
म्लेच्छाभीरशकाराद्या स्वस्वकार्योपयोगिन ।

शकारो राग श्यान्तो हीनजाति ।

विशेषात्तरमाह—

(७५) ज्येष्ठमध्याद्यमत्वेन सर्वेषां च त्रिपुषता ॥४५॥
नारत्तम्याद्यभिवताना गुणानां चात्तमादिता ।

एष प्रागुक्तानां नायकनायिकाद्वयद्वितीयमत्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाद्यमभावेन त्रिपुषता उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तद्धि गुणातिथयत्तरत्तम्येन ।

इसी प्रकार विदित मिश्र कार्यों में अथ सहायकों को नियुक्त करना चाहिये । जते कि कहा है—

अत पुर मे वर्षवर (नपुंसक जन), किरात, गूगे, बौने, म्लेच्छ, अहीर, तथा शकार आदि अथन अपने काय मे उपयोगी होत हैं ॥४४-४५॥

राजा का साला जो नीच जाति का होता है शकार हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२४ ६८ तथा आगे) ना० द० (४ २५१), सा० द० (३ ४, -४४) । वर्षवर किरात और वामन आदि का रत्तावली (२ ३) में भी विमर्श किया गया है । शकार भूख और घमण्डो होता है नीच कुल का तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, वह राजा की अविवाहिता (रखेल) पत्नी का भाई होता है (सा० द०) यह हास्य का हस्तु होता है और राजा का परिचारक भी (ना० द०) । मुख्यकटिक में शकार की याचना की गई है ।

इन (नायक आदि) क अथ भेद बतलते हैं—

इन सभी (नायक आदि) के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम भेद से तीन तीन प्रकार होत है । और इनकी उत्तमता (मध्यमता तथा अधमता) आदि ऊपर कहे गये गुणों के सारसम्भ (यूनता और अधिकता) से होती है ॥४४ ४५॥

अर्थात् इत प्रकार ऊपर कहे गये नायक नायिका इत, इती मन्त्री पुरोहित इत्यादि क उत्तम मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार होत है । और, यह उत्तमता इत्यादि गुणों की संख्या की अधिकता और यूनता के आधार पर नहीं होती अथिु गुणों के उत्कय (विशेषता) के यूनताभिध से होती है ।

टिप्पणी—(१) नायक आदि म स प्रत्येक तीन प्रकार का होता है जिस प्रकार नायक उत्तम मध्यम और अधम पाटि का हो सकता है इसी प्रकार नायिका

शान्ति ॥४५॥
इतरानि कात्यायनात् ।

मुनिः ।

1) "नो स्व' इत्यदि इतराणी
शान्ति की है—(1) वर्ष विचित्र के
नायक के सहायकों के रूप में
योग्य है, वे नए इनाम बढ़ता ही
गया-विश्व है फिर स्व तथा
वर्षवर इत्यादि की को विस्मयान
सन्तो हीनजाति (अतः ?)
हिन्दू मन्त्री के अजीन होते
2) मन्त्री अथ-विचित्र में सौन्दर्य
उत्क सं का सादक होता है,
1) अ मन्त्री को सहायक बढ़ता

तारणी और बहुसंख्यी पा

1) श्यास्य इत्ये के स्वभाव को
इतिवत् आदि प्रसिद्ध ही है—

2) मे सहायक होते हैं—
नरात्री श्यास्य अरुणवराती (साद
र होते हैं ।

३० (प० ६१) ना० द० (४ २५१)

(७६) एव नाटये विधातव्यो नायक सपरिच्छद * ॥४६॥

उक्तो नायक, सदाधारस्तुष्यते—

(७७) तद्व्यापारालिम्बिका वृत्तिरचतुर्धा,

दूत द्वयी, मत्री आदि मे से भी प्रत्येक तीन प्रकार का हो सकता है। धारोदात्त आदि प्रत्येक नायक के भी तीन तीन प्रकार होते हैं (अपर १७), मि० सा० २० ३ ३२, ३ २७ ३ १३०।

(२) उत्तमाभिभावचन गुणसत्त्वोपपायवर्धन— प्रश्न यह है कि इस उत्तमता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ? एक तो यह ही सकता है कि किसी नायक आदि का जो गुण अतत्त्वाये गय है व सभी गुण जिसमें हो वह उत्तम जिसम कुछ गुणों की कमी हो वह मध्यम और जिसम बहुत गुणों का कमी हो वह अधम कहनायेगा (द० भा० प्र० पु० ६१-६२) जस महासत्त्व अतिगम्भीर आदि ७ गुण धारोदात्त नायक के पतालये गये हैं (अपर ४)। उन साता गुणा वाला उत्तम छ पाँच या चार गुणों वाला मध्यम और दोप सात दा या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त हीगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसम अधिक माया में हो या उच्छुद्ध अवस्था म हा वह उत्तम होगा। गुणों की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर मध्यम तथा अधम होगा। धनश्रजय तथा धनिक का मन्त्वथ है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की व्यवस्था मानना चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम मध्यम तथा अधम पाणों की एक अथ व्यवस्था भी है जिसदा उल्लेख विष्णुस्मृत और अथेगक के सामग (अपर १ २६ ६०) में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पुरोहित, अमात्य चञ्चुकी (ना० शा० १६ १०६) तथा विट विदुष्य (सा० २० ३ ४६) आदि मध्यम पात्र हैं और राजार जेट (सा० २० ३ ४६) आदि नीच पात्र मान गय हैं।

इस प्रकार रूपक में परिच्छद (परिवार, महायया) सहित नायक की योजना करने में चाहिये ॥४६॥

द्विपयो—परिच्छद का अय है—सेवक सहायक, परिवार, परिजन (Attendants circle of dependents आये) नायक और नायिका के सहायकों का वगन करना रूपको की परम्परा रहा है विशेषकर राज परिच्छद का वगन करना। इसी हनु नाट्यशास्त्र से लेकर प्राय सभी नाटय क प्र यों में नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया है। भारतीय आदि वृत्तिया (नाटयवृत्तिया)

नायक का वगन किया या चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (वृत्ति) का वगन किया जाता है—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की है।

* सपरिच्छद इति पाठान्तरम्।

दशरूपकम्

उत्तमाभिभावचन गुणसत्त्वोपपायवर्धन— प्रश्न यह है कि इस उत्तमता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ? एक तो यह ही सकता है कि किसी नायक आदि का जो गुण अतत्त्वाये गय है व सभी गुण जिसमें हो वह उत्तम जिसम कुछ गुणों की कमी हो वह मध्यम और जिसम बहुत गुणों का कमी हो वह अधम कहनायेगा (द० भा० प्र० पु० ६१-६२) जस महासत्त्व अतिगम्भीर आदि ७ गुण धारोदात्त नायक के पतालये गये हैं (अपर ४)। उन साता गुणा वाला उत्तम छ पाँच या चार गुणों वाला मध्यम और दोप सात दा या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त हीगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसम अधिक माया में हो या उच्छुद्ध अवस्था म हा वह उत्तम होगा। गुणों की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर मध्यम तथा अधम होगा। धनश्रजय तथा धनिक का मन्त्वथ है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की व्यवस्था मानना चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम मध्यम तथा अधम पाणों की एक अथ व्यवस्था भी है जिसदा उल्लेख विष्णुस्मृत और अथेगक के सामग (अपर १ २६ ६०) में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पुरोहित, अमात्य चञ्चुकी (ना० शा० १६ १०६) तथा विट विदुष्य (सा० २० ३ ४६) आदि मध्यम पात्र हैं और राजार जेट (सा० २० ३ ४६) आदि नीच पात्र मान गय हैं।

इस प्रकार रूपक में परिच्छद (परिवार, महायया) सहित नायक की योजना करने में चाहिये ॥४६॥

द्विपयो—परिच्छद का अय है—सेवक सहायक, परिवार, परिजन (Attendants circle of dependents आये) नायक और नायिका के सहायकों का वगन करना रूपको की परम्परा रहा है विशेषकर राज परिच्छद का वगन करना। इसी हनु नाट्यशास्त्र से लेकर प्राय सभी नाटय क प्र यों में नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया है। भारतीय आदि वृत्तिया (नाटयवृत्तिया)

नायक का वगन किया या चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (वृत्ति) का वगन किया जाता है—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की है।

* सपरिच्छद इति पाठान्तरम्।

उत्तमाभिभावचन गुणसत्त्वोपपायवर्धन— प्रश्न यह है कि इस उत्तमता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ? एक तो यह ही सकता है कि किसी नायक आदि का जो गुण अतत्त्वाये गय है व सभी गुण जिसमें हो वह उत्तम जिसम कुछ गुणों की कमी हो वह मध्यम और जिसम बहुत गुणों का कमी हो वह अधम कहनायेगा (द० भा० प्र० पु० ६१-६२) जस महासत्त्व अतिगम्भीर आदि ७ गुण धारोदात्त नायक के पतालये गये हैं (अपर ४)। उन साता गुणा वाला उत्तम छ पाँच या चार गुणों वाला मध्यम और दोप सात दा या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त हीगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसम अधिक माया में हो या उच्छुद्ध अवस्था म हा वह उत्तम होगा। गुणों की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर मध्यम तथा अधम होगा। धनश्रजय तथा धनिक का मन्त्वथ है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की व्यवस्था मानना चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम मध्यम तथा अधम पाणों की एक अथ व्यवस्था भी है जिसदा उल्लेख विष्णुस्मृत और अथेगक के सामग (अपर १ २६ ६०) में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पुरोहित, अमात्य चञ्चुकी (ना० शा० १६ १०६) तथा विट विदुष्य (सा० २० ३ ४६) आदि मध्यम पात्र हैं और राजार जेट (सा० २० ३ ४६) आदि नीच पात्र मान गय हैं।

इस प्रकार रूपक में परिच्छद (परिवार, महायया) सहित नायक की योजना करने में चाहिये ॥४६॥

द्विपयो—परिच्छद का अय है—सेवक सहायक, परिवार, परिजन (Attendants circle of dependents आये) नायक और नायिका के सहायकों का वगन करना रूपको की परम्परा रहा है विशेषकर राज परिच्छद का वगन करना। इसी हनु नाट्यशास्त्र से लेकर प्राय सभी नाटय क प्र यों में नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया है। भारतीय आदि वृत्तिया (नाटयवृत्तिया)

नायक का वगन किया या चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (वृत्ति) का वगन किया जाता है—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की है।

* सपरिच्छद इति पाठान्तरम्।

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्ति सा व कर्मिकी-सात्वती आरभती भारती भेदाच्चतुर्विधा ।

प्रवृत्तिरूप नायक (आदि ने) व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है । वह वृत्ति कर्मिकी, सात्वती आरभती तथा भारती के भेद से चार प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० भा० (२२ २३-२५) भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३ १५५), प्रला० (२ १५) सा० द० (६ १२२-१२३) । (२) नेतृव्यापारस्वभाव — नायकस्य व्यापारानुकुल स्वभावो वृत्ति (प्रभा), अस्तुतस्तु नेतृव्यापारस्व स्वभाव — स्वरूपविशेष एव वृत्ति कीटव्य स्वरूपविशेष ? प्रवृत्तिरूप । प्रवृत्ति वा अर्थ है— मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा । सामान्यत नायक आदि के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं । वाचिक आदि चेष्टाओं का साथ साथ वह दृग् भेद के भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा बोलता है, भिन्न भिन्न प्रकार का देश धारण करता है और अर्थ भी माना प्रकार के क्रिया कलाप में व्यस्त रहता है किन्तु वे सभी व्यापार नाट्य वृत्तियाँ नहीं कहलाते । इसीलिये विश्वनाथ ने 'नायकादि व्यापारविशेषा नाटकादियु (सा० द० ६ १२३) म विशेष भाद का ग्रहण किया है तथा सन्निक ने 'अवतिरूप यद् विशेषण दिया है । फलत नायक आदि का मानसिक वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है ।

इन वृत्तियों का ज्ञानाना मातृका वृत्तय (ना० भा० १८५) 'नाट्यमातर' (ना० द० ३ १५५) नाट्यरूप मातृका (सा० द० ६ १२३) कहा गया है, क्योंकि कायिक वाचिक व कायिक वाचिक व्यापारों को वर्णनीय रूप से व्यक्त हृदय में ही रखकर काव्यरचना करता है । इसा वे वृत्तियाँ काय की जननी हैं ।

(२) य वृत्तियाँ चार मानो गई हैं—सात्वती, भारती और कर्मिकी तथा आरभती । इनमें सात्वती वृत्ति विशेषत मानस व्यापार रूप होती है, भारती वाचिक व्यापार रूप और कर्मिकी तथा आरभती दोनों वृत्तियाँ विशेषकर कायिक व्यापार रूप हैं । किन्तु मानसिक वाचिक और कायिक व्यापारों का अत्यन्त रूप से होना तो अवश्य है क्योंकि कायिक और वाचिक चेष्टाओं तो स्वभाव मानस चेष्टाया पर ही आश्रित रहती हैं । इसलिये वृत्तियों एक अर्थ की प्रधानता के कारण ही वृत्तियाँ का यह भेद किया गया जहाँ जिस वृत्ति में वाक्चेष्टा की प्रधानता है उसे भारती कह दिया गया है (द० ना० द० वृत्ति ३ १५५ तथा अमि० भा० २० २५) । इसके अनिश्चित रस भेद तथा अभिनय भेद आदि भी वृत्तियों के भेदक माने जाते हैं । नाट्य में सभी व्यापार रस भाव तथा अभिनय से युक्त होता है । अतः ये वृत्तियाँ भी रस, भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती हैं (रसभावभिनयना, ना० द० ३ १५५) । अभिनययुक्त वे चारों वृत्तियों का स्वल्प संगम में इस प्रकार बतयाया है—पाठ्य

(१८०) ॥५६॥

ना-एतन्वद् है कि वृत्त स्वभाव को कहता है कि वृत्तों नायक में ही वृत्त स्वभाव किन्तु वृत्तों को ही वृत्त स्वभाव कहना उचित है, अतः उक्त वाक्य का अर्थ माना प्रसन्नतासे ही है ।

वृत्तों में ही वृत्त स्वभाव कहना उचित है, अतः उक्त वाक्य का अर्थ माना प्रसन्नतासे ही है ।

सहायिका) सहित नायक को महापुरुष, परिकार, सर्वत्र प्रसन्न हो नायिका के सहकार से प्रसन्नकर सब परिच्छेद का वचन नायक का कर्मों में नायक का उक्त (नायक) के व्यापार (वृत्ति) में वृत्ति कहलाता है । यह वृत्ति

(७७ क)—तत्र कशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मुहु शृङ्गारचैष्टित ॥४७॥

तस्मात् गीतनृत्यविलासकामोपभाषाद्युपलक्ष्यमाणा मुहु शृङ्गारी वामफला
बञ्छिन्नो ध्यापार कशिकी । सा तु—

(७८) नमतत्स्फञ्जतत्स्फोटतद्गर्भश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सवय नम परामुष्यत ।

तत्र—

प्रधाना भारती, अभिनयप्रधाना सात्वती अनुभाषाद्याधिसमयरसप्रधानारभती, गीतवा
द्योपरञ्जकप्रधाना कशिकीति (अभि० भा० २० २३) । इन चारो वसियों का विशद
वयन आगे किया जा रहा है ।

१ कशिकी वसि

उनमें गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारिज चेट्याआ से कोमल वृत्ति
कौशिकी होती है ॥४७॥

अर्थात् उन (चार प्रकार की वसियों) में गीत नृत्य, विलास कामोवचोग
इत्यादि से युक्त अतप्य मुहु (मुहुधार) तथा शृङ्गार भूषण अर्थात् वामरूपी फल की
प्राप्ति से सम्बद्ध (नायक आदि का) ध्यापार कशिकी वसि है ।

और उसके—

(क) नम, (ख) नमस्फिञ्ज, (ग) नमस्फोट (घ) नमगभ भेद से चार
अङ्ग होते हैं ।

(कारिका में) तत् (वह) शब्द के द्वारा सब जगह नम' का प्रवृत्त होता है
(अर्थात् तत्स्फिञ्ज = उस नम का स्फिञ्ज या नमस्फिञ्ज इत्यादि) ।

टिप्पणी—(१) द्र० ता० शा० (२० ५२-५३) भा० प्र० (पृ० १२), ता०
द० (३ १६१) सा० द० (६ १२४) । (२) सा० द० में ना० शा० के कशिकी लक्षण
का अनुसरण करत हुए इस अधिक स्पष्ट किया गया है । तदनुसार जो विक्षेप प्रकार
की वेष भूषण से चिन्तित हो जिसमें स्त्री पानो की बहुलता हो नृत्य गीत की प्रचुरता
हो, शृङ्गारप्रधान व्यवहार हो, बहु चाहा विलास से युक्त वसि कशिकी है । ना० द०
वसि (३ १६१) के अनुसार कशिकी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—तन्मे केहा
होने के कारण स्त्री वसिष्ठा कही जाती है और स्त्रियों का प्राद्या य हानि का कारण
इस कशिकी वसि कहल है ।

नम—

उन (कशिकी के चार अङ्गों) में—

(१) शृङ्गारिज चेट्याआ
से युक्त अतप्य मुहु
शृङ्गार भूषण
अर्थात् वामरूपी
फल की प्राप्ति से
सम्बद्ध (नायक आदि का)
ध्यापार कशिकी
वसि है ।

निरुद्ध अतप्य मुहु
शृङ्गार भूषण
अर्थात् वामरूपी
फल की प्राप्ति से
सम्बद्ध (नायक आदि का)
ध्यापार कशिकी
वसि है ।

(७६) वदध्यक्रोडित नमं प्रियोपच्छदनात्मकम् ॥४८॥
 हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं यिम् ।
 आत्मोपखेपसम्भोगमार्तं शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥
 शुद्धमङ्गं भय द्वेषा न्रेधा वावेषचेष्टिते ।
 सर्वं सहास्यमित्येव नमाष्टादवाधोदितम् ॥५०॥

अग्राम्य इष्टजनावननरूप परिहासो नम, तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन समयहास्येन रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारवदपि स्वानुगमनित्वेन सम्भोगेच्छाप्रकाशन सापरामप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव भयनमपि शुद्धरथा तत्रङ्गभावाद् द्विविधम् । एव पदविधस्य प्रत्येक वाक्यचेष्टाव्यतिहरणाष्टादशविधत्वम् ।

प्रिय का प्रसन करने वाली (उपच्छदन) विदग्धता से युक्त क्रीडा को नम कहा जाता है ॥४८॥

वह नम (प्रथमतः) तीन प्रकार का होना है—(१) केवल हास्य से किया गया, (ii) शृङ्गार सहित हास्य से किया गया और (iii) भय सहित हास्य से किया गया । इन्हीं (iii) शृङ्गार युक्त (हास्य से किया गया) भी तीन प्रकार का होता है—(अ) आत्मोपखेप, (आ) सम्भोग और (इ) मान ॥४९॥

भययुक्त (iii) (हास्य से किया गया) भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अङ्ग । फिर हास्य नम सहित ये सब (अर्थात् कुल ६ प्रकार के नम) वाक् वेष और चेष्टा के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं । इस प्रकार नम अष्टादश प्रकार का कहा गया है ॥५०॥

प्रियजन को आकृष्ट करने वाला विबाध (अग्राम्य - तिष्ठत्) परिहास ही नम कहलाता है । वह शुद्ध हास्य शृङ्गारसहित हास्य तथा भयसहित हास्य से किए जाने के कारण तीन प्रकार का होता है । शृङ्गारसहित हास्य से किया गया नम भी— नायिका द्वारा अपने अनुराग का निवेदन (= आत्मोपखेप) नायिका द्वारा सहवास की इच्छा प्रकट करना (= सम्भोग) तथा अनुराग करने वाले प्रिय के प्रति कोप करना (प्रतिभेदन मान) तीन प्रकार का होता है । भयसहित हास्य से किया गया नम भी—शुद्ध भय और अङ्ग रस के अङ्ग रूप भय के भेद से—श्री प्रकार का होता है । इस प्रकार ६ प्रकार के नम के वाक् वेष और चेष्टा के भेद से अष्टादश भेद हो जाते हैं ।

हा ।
 विष्ट ॥४८॥
 नम शृङ्गार वाक्यात्

शृङ्गारः ।

शृङ्गारवदपि स्वागमनित्वेन सम्भोगेच्छाप्रकाशन सापरामप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव भयनमपि शुद्धरथा तत्रङ्गभावाद् द्विविधम् । एव पदविधस्य प्रत्येक वाक्यचेष्टाव्यतिहरणाष्टादशविधत्वम् ।

प्रिय वदना से कोनन वति

वह नम विना कालोपेन
 शुभ वर्णन वाक्योक्त नम को
 के वात है ।

ने, (म) नमनम भेद से वार

अथ 'नम' वा पदम् होता है
 विच्छन्न इत्यपि ।

(२३) का ३० ॥५० (२) वा
 ६० में नम शृङ्गार के अतिथी लम्ब
 गया है । अनुसार जो विधि प्रका
 गया है । अनुसार जो नम तीन को प्रक
 ने से युक्त वति कतिही है । नम ६०
 पर्याप्त रूप प्रकार है—नम ६०
 विषया का श्राव्य होने के कारण

सम्भोगनम यया—

सासाए विवञ्ज सुरे परिणी घरसामिअस्त चेतुण ।
 णेच्छत्तस्य वि पाए युअइ हसती हसती हसत्त ॥ १७३ ॥
 (सासोके एव सुये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृही वा ।
 अनिच्छतोऽप पादो धुनोति हसती हसत ॥)
 माननम यया—

'तद्विजितमवादीय'मम त्व विप्रेति
 भियजनपरिमुक्त यद्दुदुत्त दधान ।
 मदधिबसतिमामा कामिना मण्डनश्री—
 न्र जति हि सफलत्व वत्त्वभावाकानेन ॥ १७४ ॥

भयनम यया रत्नाश्रयामासंज्यदसनाशसरे सुयुङ्गता—जाणिवा मए एतो
 सन्वा वृत्त तो सम चित्तफलएण ता दबोए णिवेदइस्सम् (नातो मयंय सर्वो हृत्तात्
 सह चिन्तनपकेन तदे ये निवेदयिस्सामि । इत्यादि ।
 शृङ्गाराङ्ग भयनम यया ममव—

अभि'यत्तालीक सकलविकलापायविभवं—
 शिखर ध्यात्वा सद्य ऊतकृतकसरम्मणिमुग्ध ॥

(ii) शृङ्गारसहित सम्भोग नम यह है, जसे (गाथासप्तशती २ ३०) 'पूष के प्रकाशगुक्त रहते हुए भी हँसती हुई गृहिणी न चाहते हुए भी हँसते गृहस्वामी के चरणों को पकड़कर हिला रही है ।

(iv) शृङ्गारसहित माननम यह है जसे (माघ ११, कोई नायक किसी नायिका का वस्त्र धारण करके दूधरो नायिका के पास पहुंच गया जसे देखकर वह नायिका मानपूयक परिहास करती हुई बोली—) जो सुमने कहा कि सुम मेरी प्रियतमा हो, वह साथ ही है । तभी तो सुम अपनी प्रिया के वस्त्र को धारण करने मेरे पासस्थान पर आये हा । क्योंकि कामी जनो को शृङ्गार शोभा प्रियतमा के द्वारा देख सिंसे जाने पर ही सफल होती है ।'

(iii) भयनम (गुद) यह है जसे रत्नाश्री (२ १५—१६) में चित्र दशन क अवसर पर सुयुङ्गता—(राजा से परिहास करती है) मैंने चित्रफलक सहित यह समस्त वस्तुतः जान लिया है तो अब जाकर महाराजो ते कह दूगी इत्यादि ।

शृङ्गार का अङ्ग भयनम यह है जसे मेरा (धनिष'का) ही पद्य है—जिस नायक का अंपराध प्रकट हो चुका था फिर (मानवती) नायिका को मनाने के समस्त उपायों का सामर्थ्य भी बिकल हो गया था उस नायक ने देर तक तोषकर एकदम

१. वसिष्ठपुराण ।
 २. निवचन बचान ॥७२०॥
 ३. शिपिनन बचा भावार्थसिद्धि
 ४. नारायण शंभुशास्त्र शास्त्रार्थ ।

श्री
 शिः अयनम् ।

श्री
 शिः अयनम् ॥७३॥

६ (१ १६१ तथा कृतित
 ७. अयन में इस प्रकार है—
 अयन, माण ३+ अयनद्वि
 शोने वेद और वेदों है अत
 इसके अयन बचोह्यत्व अत

अयनच ७ १६१) 'वरमों में
 शिव ही कि प्रकृति पति के
 उक्त शोने ही आज से उठे

के अयन (अयनिर) में है ।
 शिमुनिका मानक केने स्वप्न
 के सिंसे सतरो का अया
 ने भी बाक देव और सिंदा

७. जसे १—(कोई व्याज से
 हुई बहरी है) है पति
 १. यह सुना है ऐसा अयन
 शोनेम) तो शीतल है । अत
 लो यव शिपनमा को ही यात
 माय सुखारे बिल को अयन

(=२ क) अङ्ग सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेपाऽत्र कैशिकी ॥५२॥

अथ सात्वती—

(=३) विशोका सात्वती सत्त्वशीर्षत्यागदयाजर्वै ।

सलापोत्थापकावस्थया साङ्ख्यतय परिवत्तक ॥५३॥

शोकहीन सत्त्वशीर्षत्यागदवाहृषदिभावोत्तरो नायकव्यापार सात्वती तद ज्ञानि च सलापोत्थापकसाङ्ख्यतयपरिवत्तकावस्थानि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० ६१) शा० द० (६ १२८) । (२) छत्रनेतृ प्रतीचार—नायक का छिनकर व्यवहार करना जयमे गुप्त रूप से सङ्कुत स्थल पर जाना इत्यादि (अभि० भा०) प्रतीचार यवहार प्रवेश (सबु) approach (Haas) अथहेतवे—प्रयोजन के लिये काय की मिट्टि के लिये नव ममामग की सिद्धि के लिये (अभि० भा०) ।

इस प्रकार हास्य-युक्त और हास्य रहित अङ्गों के साथ यह कतिपय वृत्ति यहाँ प्रतिपादित की गई है ।

२ सात्वती वृत्ति—

सात्वती शोक रहित होती है यह सत्त्व, शीघ्र, त्याग, दया और सरलता (आदि भावों) से युक्त होती है । इसमें सलापक, उत्थापक, साधात्य और परिवत्तक (ये चार अङ्ग) होते हैं ॥५३॥

अर्थात् शोकरहित तथा मत्त्व शीघ्र, त्याग दया ह्य आदि भावों के अन्तर होने वाला नायक का व्यापार सात्वती वृत्ति है । (क) सलापक (ख) उत्थापक (ग) साधात्य और (घ) परिवत्तक नाम से उसके (चार) अङ्ग होते हैं ।

टिप्पणी—(१) द०, ना० शा० (२० ५१-५४), भा० प्र० (५० १२), ना० द० (३ १६०) शा० द० (६ १२८—१३०) । (२) सत्त्व का अर्थ है—मन उसका व्यापार अर्थात् मानस व्यापार ही सात्वती वृत्ति है । यह मानस व्यापार सत्त्व शीघ्र त्याग दया हर्ष आदि भावों के रूप में होता है और इसको सात्त्विक भाविक तथा आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रकट किया जाता है । किन्तु इसमें सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता होती है । इमीलिय नाटय मे इस नायक व्यापार को सात्वती वृत्ति कहा जाता है (द०, ना० शा० अ० भा० तथा ना० द० १) (३) मानसिक व्यापार अनेक प्रकार का होता है । उन सबकी गणना करना असम्भव ही है । फिर भी नाटयभावों मे उन मानस व्यापारों का चार भागों में विभाजन किया है । ये ही सात्त्विक वृत्ति के चार अङ्ग बह गये हैं । ना० शा० मे इन चारों का बघन है किन्तु भा० प्र० तथा ना० द० ३ म्हा । भागे चलकर शा० द० मे भी इनका विवेचन है । (४) आजब—अज्ञेता, कुटिलता का अभाव । हृषदिभावोत्तर यह 'नायकव्यापार

श-

(१४) यमसो १ १५० २

रस शौरिंते पर-३

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

पान १ १५ १

तत्र—

(८४) सलापो गभीरीक्तिर्नाभावरसा मिय ।

यथा बीरचरिते—'राम—अथ स य किल सपरिवारकातिकेयविजयावजितन भयवता नीललोहितेन परिवत्सरमहृषालोकातिने तुभ्य प्रसादीष्टत परशु । परशुराम— राम राम दशरथे स एवायमाचार्येवादाना भिय परशु—

शस्त्रप्रयोगशुचुरलोकन्हे गणाना

सैश्वृ लो बितित एव भया कुमार ।

एतावतापि परिभ्य श्रुतप्रसाद

प्राप्तवम् विभ्यगुणो भगवाःपुरुमें ॥१८०॥

इत्यादिनामप्रकारभावत्वेन रामपरशुरामयोरयोयगभीरवचसा सलाप इति । अथोत्थापक—

(८५) उत्थापकस्त यथादी युद्धापोत्थापयेत्परम् ॥५३॥

का विशेषण है हर्षादिभावप्रधान (प्रभा), वस्तुतः हृष आदि भाव के प्रचाल होने वाता नायक-व्यापार, यह अथ सङ्गत प्रतीत होता है ।

(क) सलापक—

उनमें अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त (पात्रों की) पारम्परिक उक्ति (कथोपकथन) में सलापण (नामक सात्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ।

जते बीरचरित (२३४) में 'राम—यही यह परशु है जो तेनापति कातिकेय की विजय से प्रभावित (अशुष्ट) होकर भगवान् शिव (नीललोहित) में एक सहस्र वय तक गिण्य रहने वाले भापको उपहार में दिया था ? परशुराम—राम, राम दशरथ पुत्र, यह वही पूज्य आचार्य का मिय परशु है—

'शस्त्र प्रयोग की परीक्षा (शुचुरली) के विचार में मैंने गर्णों की तेना ते युक्त कुमार कातिकेय को जीत लिया । इतने वर की गुणों को ध्यार करने वाले मेरे पुत्र भगवान् शरकर ने प्रसन्न होकर मुझे माले लगाकर यह परशु मुझे दिया था ॥१८०॥

इत्यादि अनेक प्रकार के भाव और रस से युक्त राम तथा परशुराम के पारपरिक सम्बन्ध कथन में सलापक (नामक सात्वती वृत्ति का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) मा० पा० (२० ५८), सा० प० (६१३१) । (२) नामा भावरसा मिय गभीरीक्ति सलापक यह वाचन-योजना है । शुरुती—सम्भवेद—परीणा (Military exercise or practice आये) ।

(घ) उत्थापक—

जहाँ एवं पात्र द्मरे को पहले-महल (आदी) युद्ध के लिये उत्तेजित व रे वर्त् उत्थापक (नामक सात्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ॥५३॥

अथ कश्चि की ॥५२॥

उत्थापक ।

रिवतक ॥५३॥

नायकव्यापार सात्वती, रस

(६ १२८) । (२) उन्हे पुत्र हृष के शत्रु तत्त्व पर प्रवृत्त (प्रभा), अणुच्छेद के लिये, तब कमाव को के साथ यह काली वृत्ति वर्त्

गर्भ, व्याप, वया और सात्वक, उत्थापक, सात्वती

हृष आदि भावों के प्रवृत्त सलापक (का) उत्थापक अङ्ग होते हैं ।
पा० प० (६१ १०), मा० प० (६१ १०) ।
व्यं भां अवे है—रस, उनका यह भाव व्यापार हृष, और इतको सात्विक अङ्गित ।
किन्तु इनमें सात्विक अङ्गित पद-व्यापार की सात्वती वृत्ति ० ६० । (१) नामक व्यापार में अन्वयन ही है । फिर भी वे रस धारी का वचन है किन्तु ० ६० में भी इतका अङ्गित है ।
दिवापोर यह वाचन-योजना

संक्षिप्तिका स्यात्सफेटौ वस्तूत्यानावपातने ।

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्राप्तनम् तन्त्रबलादिद्रव्यात्मम् ।

सत्र—

(८६) संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्त शिल्पयोगत ॥५॥

पूवनेतुनिवृत्त्याभ्यन्ते नेत्र तरपरिग्रह ।

सुद्रमदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्यापन समितिं घयोदयनचरिते किलिञ्ज हस्तियोग । पूवनायकावस्थानिवत्पावस्था उपरिग्रहमये संक्षिप्तिका मयन्ते । यथा पालिनिवत्पा सुपीब यथा च परमुरामस्वोद्वत्यनिवत्पा शातत्पापादनम् पुण्या बाह्यज्जाति — इत्यादिना ।

इसमे—(क) संपिप्तिका, (ख) सफेट, (ग) वस्तूत्यान और (घ) अव पातन (ये चार अङ्ग) होते हैं ।

माया का अर्थ है—मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखता देना, किन्तु सत्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखता देना द्रव्यात्म है ।

टिप्पणी—(१) ना० मा० (२० ६४—६५) ना० ८० (३ १६२) सा० ८० (६ १३२—१३४) । (२) ना० मा० के अनुसार जहाँ प्रचुरता से आरभत के गुण हो जो बहुत प्रकार के कपट तथा वस्तुना से मुक्त हो, दम्भ तथा अनत वचन से मुक्त हो वह आरभती वृत्ति होती है । आर वयात् अमुष्ण (पतोद) के समान उदत घोडा ही आरभत बहुलाते हैं । (आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उदता पुर्या आरभटा, मा० ८०) यह आरभती वृत्ति सब प्रकार (आङ्गिक, भाविक मानसिक) के व्यापारो से मुक्त होती है तथा इसमे सभी प्रकार के (आङ्गिक भाविक सांख्यिक और आहार्य) अभिनय भी होते हैं (मा० ८०) । इसके चारो अङ्गो का अग्रे निरूपण किया जा रहा है—

(क) संपिप्तिका—

अनमे—शिल्प के द्वारा संक्षिप्त रूप में किसी वस्तु की रचना कर देना संक्षिप्त कहलाती है । अथ आचार्य कहते हैं कि पूव नायक ने हट जाने पर दूसरे नायक का आ जाना ही संक्षिप्त है ।

मिट्टी बात पत्ते, चमड़ा आदि पदार्थों को जोड़कर किसी घरतु को उद्यम कर देना संक्षिप्त है, जैसे उद्यम के धरित में चटाई (किलिञ्ज) के अने हाथी का प्रयोग है । अथ आचार्य मानते हैं कि नायक की प्रथम अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना ही संक्षिप्त है । जैसे बालि के हट जाने पर सुपीव नायक होता है और जैसे परमुराम के उदयत भाव की निवृत्ति हो जाने पर आह्वय जाति विचर है (वीरचरित ४२२) इत्यादि कथन के द्वारा (परमुराम में) शातभाव की उपपत्ति विद्यमान गई है ।

सत्र—

(३) संपिप्तिका—

समाप्तवस्तुप्राप्तनम्

रचनाम्

संक्षिप्तवस्तु—

(३) समाप्तवस्तुप्राप्तनम्

रचनाम्

संक्षिप्तवस्तुप्राप्तनम्

रचनाम् ।

टिप्पणी—(१) इ० मा० मा०

(२) केलापरिग्रह—उपग्रह क

स का बाया । इसका अर्थ है

की व्याख्या के अनुसार कर्क का एक

का बाया । इसका अर्थ है—

कथा का आ जाना । एक ही

(३) कपट—

इसका अर्थ है—

(समाप्तवस्तु) संपिप्तिका

के अन्तर्गत कपट के

कथा अङ्गों में विद्यमान और अन्तर्गत

टिप्पणी—(१) इ० मा० मा०

समाप्तवस्तुप्राप्तनम्

(२) कर्कपरिग्रह—

माया आदि के द्वारा वस्तु

कारणता मुक्ति का अर्थ है ।

जैसे आह्वयक कर्क में

दिल्ली की व्याख्या के अनुसार

जैसे कपट का अर्थ है (३) कर्क

के द्वारा को उदर करने विचार को

अपन कर लेने । इत्यादि ।

टिप्पणी—(३) इ० मा० मा०

अथ सफेट —

(६०) सफेटस्तु समाधात क्रुद्धसरब्धयोद्वयो ॥५८॥

यथा माघवाऽघोरपण्टयोर्मातृतीमाघये । इन्द्रजित्त्वदमणयोश्च रामायणप्रति-
बद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम्—

(६१) मायाद्युत्थापित वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघये—

जीयन्ते जविनीऽपि साऽत्रतिमिरवातवियद्व्यापिभि

शोऽन्वत् सवसा रवेरपि रुच वस्त्रमादकस्मादमी ।

एतन्सोऽधकबधरभ्रधधिरराधमायमानोन्वरा

मुञ्चन्त्वाननकवरानलमितस्तीश्राऽऽरवा पेरवा ॥११२॥

इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२० ६८) सा० द० (६ १३५—१३६) ।

(२) नैत्रतरपरिग्रह—धनञ्जय के अनुसार एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना । इसका उदाहरण है बालि के स्थान पर सुग्रीव का आगमन । धनिक की व्याख्या के अनुसार नायक की एक अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना । इसका उदाहरण है—परशुराम की उद्वृत्तावस्था के स्थान पर शातावस्था का आ जाना । इस अर्थ में धनञ्जय के मत का भी समावेश हो जाता है ।

(ख) सफेट—

क्रुद्ध तथा उत्तेजित दो व्यक्तियों का एक दूसरे पर प्रहार करना (समाधात) सफेट (नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग) है ॥५८॥

जैसे भासलीमाघय में माघय तथा अघोरपण्ट का और रामायण में अर्जित कथा प्रसङ्गों में मैघनाब और लक्ष्मण का एक दूसरे पर प्रहार है ।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२० ३१) सा० द० (६ १३५) । (२)

समाधात = परस्परमधिषेय, रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु = रामायणोत्तरिनेषु (प्रमा) ।

(ग) वस्तूत्थापनम्—

माया आदि के द्वारा वस्तु को उपस्थित कर देना वस्तूत्थापन (नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग) है ।

जैसे उदात्तराघय माटक में (अच्छाद को) जीतने वाली शीलियुक्त भ्रूयं की किरणों को अकस्मन् आकाश में व्याप्त होने वाले अच्छाकार के समूह के द्वारा न जाने कितने जीत ली गई हैं ? और क्यों ? मयानक दण्ड मुच्छों के छिद्रों से निकले शक्ति के द्वारा कूले उबर जाने तिसार जोर से चिन्तसाते हुए अपने मुखको बन्दार से इयर आम छोड़ रहे हैं । इत्यादि ।

टिप्पणी—द्र० ना० शा० (२० ३०) सा० द० (६ १३५) ।

तने ।

रबर्नानि—बानम् ।

पयोज ॥५७॥

रपरिग्रह ।

विद्वि यथोपनयनिते कितिल
न्यने सधिनिका मयने । रवा
निरवा शान्तवापरम् पुना

(ग) वस्तूत्थापन और (घ) व

ज्वाल वस्तु को विजला देना, निजु
इत्तराह है ।

ना० द० (१ ११२) सा० द०
शुक्ला के आरम्भ के पुन हों
अथ तथा अन्त वचन से पुन
(विद्वि) के समान उदात्त योडा
न उदात्ता पुन्य आकाश,
नायक भाविकों के आवासे
बादर भाविक और आकाश
का आने नित्यन विना वा

कृती वस्तु की रचना कर देना
कि पुन नायक के हट जाने पर

जोकर किसी वस्तु को जलन
मई (नित्यन) के वने हृषो वा
अथ अवस्था के हट जाने पर हृषो
के हट जाने पर सुजीत माटक हीन
हो जाने पर शाल्यन कति हंकर
तारय में भावनायक की उन्नी

उपसहरति—

(६३) एभिरङ्गं चतुर्धेयम्—

(६४) —नायवृत्तिरत परा ।

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षण ॥६०॥

कैशिकी सात्त्वती चायवृत्तिमारभटीमिति ।

पठन्त पञ्चमी वृत्तिमोड्डटा प्रतिजानते ॥६१॥

सा तु लक्ष्य बन्धविदधि न दृश्यते न बोधयत्येते न्येपे हाययादीना भारत्यारम
वत्याद, नीरसस्य च नाव्याप्यमाभावात् । तिस्र एवता अयवृत्तय । भारती तु शब्द
वृत्तिपानुशाङ्गव्याप्तत्रय वाच्या ।

(आरभटी वृत्ति का) उपसहार करते ह—

इन अङ्गों के द्वारा यह (आरभटी वृत्ति) चार प्रकार की होती है ।

उड्डट के अनुयायियों के मत का निराकरण

इन (कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी) से भिन्न कोई अथवृत्ति (नाम
की वृत्ति) नहीं है । चतुर्थी भारती वृत्ति है उसका नाटक के लक्षण में वर्णन
किया जायेगा ॥६१॥

विन्तु उड्डट के अनुयायी (भारती वृत्ति के साथ) कैशिकी, सात्त्वती
अथवृत्ति तथा आरभटी इनका निदर्श करते हुए पाचवी (अथवृत्ति नामक)
वृत्ति को स्वीकार करते हैं ॥६१॥

यह (पञ्चमी वृत्ति) तो सवय ध्रयो (रूपको) में कभी भी दिखाई नहीं देती
और वह रसों में वन भी नहीं सजती क्योंकि सभी हास्य आदि रसों का स्वरूप भारतो
आदि (चार वृत्तियों) में ही समा जाता है (यदि पूर्यक्षों कहें कि यह अथवृत्ति रस
का अनुसरण न करती हुई भी पञ्चमी वृत्ति है तो इस पर कहते ह—) और, कोई
नीरस वस्तु काव्याध्य नहीं हो सकती । इसलिये ये तीनों (कैशिकी, सात्त्वती और
आरभटी) ही अथवृत्तिया ह (इनसे भिन्न अथवृत्ति नाम की कोई वृत्ति नहीं) । भारतो
नामक वृत्ति तो सा द वृत्ति है वह आयुध का अङ्ग है इसलिये उसका यहाँ (आयुध
क प्रकरण में) वर्णन करना है ।

टिप्पणी—(१) उपयुक्त काि काओ तथा धनिक की वृत्ति का व्याख्यापार,
ने विविध प्रकार से अर्थ किया है । इस विषय में विद्वग्जन स्वयं नियम कर सकत
है । (२) उड्डट के अनुयायिया (?) ने पाँच वृत्तियाँ मानी हैं—भारती, कैशिकी
सात्त्वता आरभटी आर अथवृत्ति, जसा कि भावप्रकाशन (पृ० १२) में कहा गया है—

भारती सात्त्वती यव कैशिक्यारभटीति च ।

ओड्डटा पञ्चमीमथवृत्ति च प्रतिजानते ॥

अथ ॥६०॥

चर्चनं
विन्तुमिच्छन्तः ।

विन्तु
विन्तुमनुशाङ्ग ॥६१॥

विन्तु
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

विन्तु
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

विन्तुमनुशाङ्ग
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

विन्तुमनुशाङ्ग
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

विन्तुमनुशाङ्ग
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

विन्तुमनुशाङ्ग
विन्तुमनुशाङ्ग ॥ ॥

वृत्तनियममाह—

(६५) शृङ्गारे केशिनी वीरे सात्वत्यारभटी पुन ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्ति सवत्र भारती ॥६२॥

इस पर धनञ्जय एव धनिक का कथन है कि चार ही वृत्तियाँ हैं। अथवृत्ति नाम की कोई पुष्पक अथवृत्ति नहीं अथिनु कश्चि, सात्वती और आरभटी ये तीनों ही अथवृत्तियाँ हैं तथा चौथी वृत्ति भारती है जो शब्दवृत्ति है। अपनी स्थापना की सिद्धि के लिये धनिक ने दो युक्तियाँ दी हैं—(१) कश्चि की आदि से भिन्न अथवृत्ति नामक कोई वृत्ति रूपको मे दृष्टिगोचर नहीं होती (२) सभी रूपक रसाश्रित होते हैं। जसा कि अभी आगे (२६२) बतलाया जा रहा है सभी रसा का सगन भारती आदि चारों वृत्तियों के अंतगत ही आ जाता है फिर वह पाँचवीं वृत्ति कहाँ रहेगी ? यदि कहे कि वह नीरस रूपक मे रहेगी तो ठीक नहीं। क्योंकि नीरस वस्तु रूपक या काव्य मे ही ही नहीं सकती। (३) भारतीयतामकत्वात्—इसके स्थान पर भारतीयतामकत्वात् पाठ शुद्ध प्रतीत होता है, तभी यह सद् हेतु बन सकता है। भाव यह है कि काव्य के जितने रस हैं उनके क्षत्र मे इन चारों मे से कोई न कोई वृत्ति अवश्य रहती है फिर ऐसा कोई स्थल नहीं शेष रहता जिसमे अथवृत्ति नाम की अथ वृत्ति मानी जा सके। (४) रसागवसुधाकर (१२०६) मे भी कश्चि की आदि को ही अथवृत्ति कहा गया है।

आसा तु भव्य वृत्तीना शब्दवृत्तिस्तु भारती ।
तिष्ठोपवृत्तयश्चेया तच्चतस्रो हि वृत्तय ॥

रस तथा वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध
वृत्तियों के प्रयोग की व्यवस्था बतलाते ह—

शृङ्गार रस मे केशिनी, वीर मे सात्वती और रौद्र तथा बीभत्स रस मे आरभटी का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति का सभी रसों मे प्रयोग होता है (क्याकि यह शब्दवृत्ति है)।

तिष्ठणो—(१) ६० ना० शा० (२० ७२-७४) भा० प्र० (पृ० १२), ना० ६० (३ १४५-१६२) प्रता० (२ १७-१८), सा० ६० (६ १२२)। (२) यहाँ शृङ्गार से हास्य का, वीर से अद्भुत का रौद्र से करुण का तथा बीभत्स से भयानक का भी ग्रहण होता है, क्योंकि जसा आगे (४४३-४५५) कहा जायेगा हास्य आदि को क्रमशः शृङ्गार आदि से उत्पन्न ही कहा गया है। नाट्यशास्त्र (२० ७३-७४) मे स्पष्टतः शृङ्गार आदि नव रसों के साथ कश्चि की आदि चार वृत्तियों का सम्बन्ध दिखलाया गया है—

रसवृत्तिसंज्ञा-
(१) ६० ७३ ७४

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

ना० शा० शा० शा० शा०
प्रसार के अन्तर्गत १५ रूपक
करन करन का ? इस का है।
मे प्रासाद वृत्त का मन्त्र-
विशेष बतलाया है। यह वृत्ति
विशेष रस के साथ विभिन्न
विभिन्न रस के साथ विभिन्न

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

शृङ्गार-
हास्य-
वीर-
रौद्र-
बीभत्स

देशभेदमिन्वेपादिस्तु नायकादि-व्यापार प्रवृत्तिरित्यहम्—

(६६) देशभाषाक्रियावैपलक्षणा स्तु प्रवृत्तयः ।

सौकादेवाद्यगम्यता यथोचित्य प्रयोजयेत् ॥६३॥

हास्यशृङ्गारबहुया कसिको परिचिता ।

सारवती चापि विनया वीरादमुक्तमाश्रया ॥

रोद्रे भयानके च व विजयारभटी वृषी ।

वीमत्स करुणे च व भारतीय सप्रकीर्तिता ॥

किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध भी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि (1) ना० भा० का उपयुक्त पाठ विवादग्रस्त है (11) उत्तरभारतीय भाषाचार्यों ने प्रायः इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया (111) ना० द० (३ १५६ वृत्ति) में वीमत्से करुणे च व भारतीय' इस मूल का निराकरण किया गया है । फलतः दृष्टा० तथा सा० द० में भारतीय वृत्ति को सर्वरसाभियमक ही कहा गया है । किन्तु इन दोनों का भी एतद्विषयक विवचन अपूर्ण ही है । अतः यह निर्धारित करना कठिन ही है कि नवो रसो य से किन् विन के साथ किस वृत्ति का सम्बन्ध है । हाँ, ना० भा० के पाठ भेदों में से यदि निम्न पाठ ले लिये जायें तो एक स्पष्ट रूप देखा अवश्य तयार हो सकता है—

हास्यशृङ्गारकणवृत्ति स्म्यात् कसिकी रस ।

सारवती चापि विज्ञेया वीरादमुक्तमाश्रया ॥

भयानके च वीमत्से रोद्रे चारभटी भवेत् ।

सर्वेषु रसमावेयु भारतीय सप्रकीर्तिता ॥

नाटक प्रवृत्तिया—

देश के भेद से नायकों का जो निम्न प्रकार का वेप आदि काय (व्यापार) होता है वह प्रबल कहलाती है यह बल्लाते हैं—

देश के अनुसार (पात्रों की) भाषा क्रिया और वेप आदि का होना ही प्रवृत्तिया कहलाती हैं इन्हें लोक से जानकर इनका यथोचित प्रयोग करना चाहिये ॥६३॥

टिप्पणी—यहाँ वृत्ति के समान 'प्रवृत्ति' भी एक पारिभाषिक शब्द है । जसा कि ऊपर कहा गया है नाटक आदि में नायक आदि का काविक, वाचिक और मानसिक व्यापार ही वृत्ति कहलाता है । प्रवृत्ति भी नायक आदि का व्यापार ही है किन्तु या व्यापार भिन्न प्रकार का है । देश के भेद से जो नायक आदि के भिन्न भिन्न प्रकार के भाषा, वेप और आचार (क्रिया) होते हैं व ही नाटक आदि में प्रवृत्ति कहलाते हैं, उदाहरणार्थ बाणों से परिहास करना एक वाचिक व्यापार है । वह कसिकी (बचोहास्य

भा० दू० ।

३ कारटी ॥६३॥

कारटी ही वृत्ति है । कसिकी रस की ओर भारतीय ने वृत्ति

वृत्ति है । कसिकी रस की ओर भारतीय ने वृत्ति

(11) कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

कसिकी रस का विचार ही है ।

तत्र पाठ्य प्रति विशेष —

(६७) पाठ्य तु सस्कृत नयामनीचाना कृतात्मनाम् ।

लिङ्गिनीना महादेव्या मन्त्रिजाविषययो वचचित् ॥६४॥

वचचिदिति दधीप्रभृतीना सम्बन्ध ।

मम) वृत्ति के अतगत है, किन्तु कौन पात्र किम भाषा में परिहाम करे यह विचार करने पर देश आदि के भेद से जो भाषा भेद होगा वह प्रवृत्ति के अतगत आयेगा । एक विशेष प्रयोग के रहने वाले एक वग में सभी पात्र एक ही भाषा वेप और आचार का प्रकटन किया करते हैं अतः प्रवृत्ति को वगगत व्यापार भी कदा जा सकता है । नाट्यशास्त्र (१३ ३० गद्य) में प्रवृत्ति का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया गया है— 'प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते पथियया नानादेशवपभाषाचारवार्ता ह्यापयतीति ।' अर्थात् प्रवृत्ति वह है जो पुथिमी के भिन्न भिन्न प्रयोगों के वप भाषा और आचार तथा कृपि आदि व्यवसायों (वसा) को प्रकट करता है । इस भिन्न भिन्न भाषा आदि का ज्ञान कथि लोक से प्राप्त करता है और उसी के अनुसार नाटक आदि में इनका निरूपण करता है । यहाँ धनञ्जय ने पात्रों व भाषा प्रयोग और सम्बोधन प्रकार को प्रवृत्ति के अतगत रखा है । नाट्यशास्त्र क विन्तुत विषय का यहाँ अत्यन्त सक्षय व गण किया गया है । भा० प्र० (पृ० १२) में दश० का प्रवृत्ति लक्षण ही दिया गया है । ना० द० (४ २६७—२६८) तथा सा० द० (६ १४४—१४६) में भाषा प्रयोग एव सम्बोधन प्रकार का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए भी इहे प्रवृत्ति नाम सन्ही कहा गया ।

पाठ्य (भाषा) सम्बन्धो प्रवृत्ति

यहाँ भाषा के विषय में यह विशेष बात है—

नीच भिन्न अर्थात् मध्यम और उत्तम शिष्ट (कृतात्मनाम्) पुरुषों की भाषा सस्कृत होती है, (स यास आदि का) चित्त धारण करने वाली तपस्विनियों की भाषा सस्कृत होती है और कहीं कहीं महारानी, म त्री पुत्री तथा वेदया का भी भाषा सस्कृत होती है ॥६४॥

वचचित् (अर्थात्) इस शब्द का देवो (महादेवो) शब्द से सेवार आने के साथ सम्बन्ध है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१० ३१—२४) ना० द० (४ २८६) सा० द० (६ १४८ १६७ १६६) । (२) यहाँ 'कृतात्मनाम्' शब्द के अर्थ को तीन सम्भावनाएँ हैं—(i) यह एक स्वतन्त्र पद है इनका अभिप्राय है—'कृतात्मा'—(devotee Haas) जनों की भाषा सस्कृत होती है । (ii) यहाँ कृतात्मनाम् लिङ्गिनीनाम् का विशेषण है जो आर्य समम करने वाली या व्रतधारण करने वाली सप्राविनी आदि हैं उनको भाषा सस्कृत होती है किन्तु जो कपटवेष धारण करने वाली (व्याजलिङ्गिनी) हैं उनको भाषा प्राकृत ही होती है मि० ना० शा० (१७ ३६ ३८) तथा ना० द० (अव्याजलिङ्गिनाम्) (४ २८६) । (iii) यह नगम् का विशेषण

(८) स्वाता तु प्राकृत प्रा
प्राकृतम् प्राकृतम् । प्रा
शोकेषु भाषी व सस्कृतम् ।

(८) विद्याचरणान्तापी
यद्वय नीचवत् १७६

५ ५०२० १५१

है । भाषा वह है कि न वचि 'न वचि'
(भाषाप्रयोग) शिष्ट मुनिवृत्त का सम्बन्ध
एवम् से कौटिल्य का कथित वचन
होती कौटिल्य का वचन है । वचन
और लिङ्गिनीनाम् होती है ।
निम्नो का भाषा तो प्रा
शोकेषु भाषा होती है ।

प्रवृत्ति से ज्ञान बना भाषा
(नवपा) इनके ज्ञान (मध्यम) तथा
शोकेषु और भाषा (शोकेषु) का

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१
२० (१ १२६, १४४) । (२) ना० (१
१६—मध्यम तथा प्राकृतम् । प्राकृत

शोकेषु (१०३) । इनके स देशों को
अर्थ है—भाषा, कथित भाषा
इसे कथित भाषा का भाषा

को का प्रथम भाषा का भाषा है ।
प्राकृत भाषा है किन्तु भाषा शोकेषु को

लक्षण प्राकृत कहीं कहीं लिखो
७ ३२ तथा सा० द० (६ १४८) । (३)

है । शोकेषु भाषा को शोकेषु
और भाषा की का सस्कृत उनके

निम्न और अल्प
(प्राकृत) तथा भाषा (प्राकृत) है

जा नीच पात्र जिस देश
है । और कभी कभी
होता है ॥६६॥

• शोकेषु शोकेषु शोकेषु

(६८) स्त्रीणां तु प्राकृत प्राय सौरसेयधमेपुत्र च ।

प्रकृतेरागत प्राकृतम् । प्रकृति सङ्कृत तद्भव तत्सम देशीत्येकप्रकारम् सौरसेनी मागधी च स्वभास्वनिधये ।

(६९) पिशाचात्प्यतनीचादी पेशाच मागध तथा ॥६५॥

यद्देश नीचपात्र यत्तद्देशा तस्य भाषितम् ।

कार्यतश्चीत्तमादीना कार्यो भाषाव्यतिक्रम ॥६६॥

है । याव यह है कि नीच भिन्न उन पुरुषों की भाषा सङ्कृत होती है जो कृतात्मा (आत्मसमयी शिष्ट, सुशिक्षित या स्वस्थ) हैं । इसलिये मत्त प्रहृष्ट, दाक्षिण्य या ऐश्वर्य से मोहित या अशिक्षित मध्यम एव उत्तम पुरुषों की भाषा भी सङ्कृत मही होती अथि तु प्राकृत होती है । वस्तुतः देहलीदीपक 'याव से कृतात्मनाम् को नगाम्' और लिङ्गनीनाम् दोनों का विशेषण मानना उचित प्रतीत होता है ।

स्त्रियों की भाषा तो प्राय प्राकृत होती है और अधम पुरुष पाना की सौरसेनी भाषा होती है ।

प्रकृति से आने वाली भाषा प्राकृत है । प्रकृति सङ्कृत है । उत्तरे उत्पन्न (सत्त्व) उसके समान (तत्सम) तथा देशी इत्यादि अनेक प्रकार की (प्राकृत) है । सौरसेनी और मागधी (दोनों) अपने अपने शास्त्र (व्याकरण आदि) के द्वारा निवृत है ।

टिप्पणी—(१) गा० शा० (१७ २१ ६४), ना० द० (८ २६०, २६१), सा० ५० (६ १५६ १६४) । (२) मादधशास्त्र (१४५) के अनुसार पाठय दो प्रकार का है—सङ्कृत तथा प्राकृत । प्राकृत के तीन प्रकार हैं—समान शब्द विप्रकृत और देवीगतम् (१७ ३) । इनमें से दोनों को दशभाषा भी कहा गया है । य, देशभाषाएँ सप्त हैं—मागधी, अर्वाजवा, प्राच्या सौरसेनी अधमागधी, बाह्लीका दाक्षिणात्या । इनके अतिरिक्त शकारी आदि उपभाषाएँ भी हैं । आगे चलकर इन देशी भाषाओं को अपभ्रंश नाम दिया गया है । (भि० ना० द० ४ २६२) । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जो स्त्रियों की भाषा प्राकृत कही गई है, उसका अर्थ है—तद्वच प्राकृत कही कही लिप्या की भाषा सौरसेनी भा कही गई है । ना० शा० ७ ५२ तथा सा० द० ६ १५६) । (३) अधम पात्रों की भाषा सौरसेनी या सौरसेनी है । सौरसेनी भाषा हीन सी है । इसके उत्तर में धर्मिक ने बदलाया है कि सौरसेनी 'गौर मागधी' का स्वरूप अपने व्याकरण आदि शास्त्रों द्वारा निश्चित ही है ।

पिशाच और अत्यन्त नीच आदि पाना की भाषा क्रमशः पशाच (प्राकृत) तथा मागध (प्राकृत) होती है ॥६५॥

जो नीच पात्र जिस देश का होता है उसी देश की उसकी भाषा होती है । और कभी कभी काय वश उत्तम आदि पाना में भी भाषान्निवृत्तन करना होता है ॥६६॥

० सूरसेनी सौरसेनी इत्यदि पाठो ।

चाना कृतात्मनाम् ।
श्रावस्थयो क्वचित् ॥६४॥

प्राय में शिष्टाश्रय करे यह विगत
यद् प्रकृति के अन्तगत आगे।
य प्रकृ ही भाषा वेव और आत्मा
व्यापार भी कहुआ जा सकता है।
इस प्रकार शिष्टात्मा तथा हे।
श्रावस्थाचार्यकी व्याख्यायति।
को के वेव भाषा और आत्मा
है। इस भिन्न भिन्न भाषा आदि
श्रावस्तार नाटक आदि में इनका
प्रयोग और अन्तगत्त प्रचार को
निन्दन का कहुआ अन्त ससय में
का प्रकृति ससय ही दिया गया
४४-१५६) में आता अन्तगत एवं
है। यहाँ 'याव' का अर्थ

द्विगतात्मनाम् पुरुषो
चित् श्रावण करते आनी
कहुआ महारानी, मनी पुरी

०) याव से तेहर आने के साथ

ना० द० (४ २६६) गा० द०
के अर्थ को तीन अन्तगत्त
उत्पाना—(Devotee Hlas)
साम्प लिङ्गनीनाम् का
करते आनी सन्वर्तनी आदि
करते आनी (व्यावर्तनी)
० गा० (१७ २६ १) उक्त
०) यह पुराण का अन्तगत

स्वप्नाद्यमेतत् ।

आमभ्यामत्रकीवित्तेनामत्रणमाह—

(१००) भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।

विप्रामात्याप्रजाशर्चार्था नदीमृगभृती मिय ॥६७॥

आर्माभिति सम्ब ध ।

(१०१) रथो सुतेन चायुष्मान्पूज्य शिव्यात्मजानुजा ।

वत्सेति तात पूज्योऽपि सुपृहीताभिद्यस्तु तं ॥६८॥

अभिमादात्पूज्यन शिव्यात्मजानुजास्तातेति बाध्या, सोऽपि तैस्तातति सुपृहीतनामा वेति ।

इतना मय स्वप्न ही है ।

द्विपयी—(१) ना० शा० (१७ ३१ ६४) ना० द० (४ ६१) सा० द०

(६ १५६ १६४) (२, विशाचा०—भाब यह है कि विशाचो की भाया पलाचो हाती है अत्यंत नीच पानों की मागधी । किन्तु इनकी भाया मागधी तभी हाती है, जब इनके देश का निश्चय नहीं होता । यदि किसी अत्यंत नीच पात्र के देश का नाम होता है तो उसकी बोली उसी देश की भाया होती है—(पूज्यम् इत्यादि) । जायत—प्रयोजन या परिस्थिति के अनुसार हस्त भाया विभाग में परिवर्तन भी हो जाते हैं जैसा कि ना० शा० ना० द० और सा० द० में दिखलाया गया है ।

आमत्रण (सम्बोधन) सम्बन्धो प्रवृत्ति—

सम्बोध और सम्बोधन कर्ता के औचित्य के अनुसार सम्बोधन शब्द (आमत्रण) वतसते है—

उत्तम पात्र (वर) विद्वान् देव, ऋषि सयासी आदि को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करे और ब्राह्मण, अमात्य तथा बड़े भार्हीवों को 'आय कहकर । नदी और मृगधार भी एक दूसरे को वाय शब्द से सम्बोधित कर ॥६७॥

नदी और मृगधार के साथ को वाय शब्द का सम्ब ध है, अर्थात् वे एक दूसरे को वाय कहें ।

सारथि (मृत्य) रथ के स्वामी को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित कर और पुत्रजन शिव्य, पुत्र तथा छोटे भार्हीवों को 'वत्स' कहकर । शिव्य, पुत्र तथा छोटा भार्ही, पूज्य जना को 'तात' या 'सुपृहीतनामा' शब्दों से सम्बोधित करे ॥६८॥

पूज्योऽपि वे अपि (भी) शब्द से तात्पर्य यह है कि पुत्रजन (पूज्य) को शिव्य पुत्र तथा छोटे भार्ही को तात कहकर पुत्रारं और वे (त शिव्य आदि) को उस (पूज्य) को तात या 'सुपृहीतनामा' कहकर सम्बोधित करे ।

(१००) भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
(१०१) रथो सुतेन चायुष्मान्पूज्य शिव्यात्मजानुजा ।
वत्सेति तात पूज्योऽपि सुपृहीताभिद्यस्तु तं ॥६८॥
अभिमादात्पूज्यन शिव्यात्मजानुजास्तातेति बाध्या, सोऽपि तैस्तातति सुपृहीतनामा वेति ।
इतना मय स्वप्न ही है ।
द्विपयी—(१) ना० शा० (१७ ३१ ६४) ना० द० (४ ६१) सा० द० (६ १५६ १६४) (२, विशाचा०—भाब यह है कि विशाचो की भाया पलाचो हाती है अत्यंत नीच पानों की मागधी । किन्तु इनकी भाया मागधी तभी हाती है, जब इनके देश का निश्चय नहीं होता । यदि किसी अत्यंत नीच पात्र के देश का नाम होता है तो उसकी बोली उसी देश की भाया होती है—(पूज्यम् इत्यादि) । जायत—प्रयोजन या परिस्थिति के अनुसार हस्त भाया विभाग में परिवर्तन भी हो जाते हैं जैसा कि ना० शा० ना० द० और सा० द० में दिखलाया गया है ।
आमत्रण (सम्बोधन) सम्बन्धो प्रवृत्ति—
सम्बोध और सम्बोधन कर्ता के औचित्य के अनुसार सम्बोधन शब्द (आमत्रण) वतसते है—
उत्तम पात्र (वर) विद्वान् देव, ऋषि सयासी आदि को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करे और ब्राह्मण, अमात्य तथा बड़े भार्हीवों को 'आय कहकर । नदी और मृगधार भी एक दूसरे को वाय शब्द से सम्बोधित कर ॥६७॥
नदी और मृगधार के साथ को वाय शब्द का सम्ब ध है, अर्थात् वे एक दूसरे को वाय कहें ।
सारथि (मृत्य) रथ के स्वामी को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित कर और पुत्रजन शिव्य, पुत्र तथा छोटे भार्हीवों को 'वत्स' कहकर । शिव्य, पुत्र तथा छोटा भार्ही, पूज्य जना को 'तात' या 'सुपृहीतनामा' शब्दों से सम्बोधित करे ॥६८॥
पूज्योऽपि वे अपि (भी) शब्द से तात्पर्य यह है कि पुत्रजन (पूज्य) को शिव्य पुत्र तथा छोटे भार्ही को तात कहकर पुत्रारं और वे (त शिव्य आदि) को उस (पूज्य) को तात या 'सुपृहीतनामा' कहकर सम्बोधित करे ।

(१०२) भावोज्जुगेन सूत्री च मापैत्येतेन सोऽपि च ।
सूत्रधार पारिपार्यकेन भाव इति बलक्य । स च सूत्रिणा माप इति ।
(१०३) देव स्वामीति नपतिभू त्वैर्भट्टेति चाधमै ॥६६॥

आमत्रणीया पतिवञ्ज्येष्टमध्याधमै स्त्रिय ।

विद्वद्वादस्त्रियो मनु भवेव दवरादिभिर्वाच्या ।

तप स्त्रिय प्रति विशेष —

(१०४) समा हलति, प्रेष्या च हञ्जे, वैश्याऽञ्जुका तथा ॥७०॥

*कुट्टियम्बेत्यनुगतै पूज्या वा जरती जनै ।

विद्वपकेण भवती राज्ञी चेतीति शब्दते ॥७१॥

पूज्या जरती अन्वेति । स्पष्टमयम् ।

पारिपार्यक (- अनुग) सूत्रधार (=सूत्री) को 'भाव' शब्द से सम्बोधित करे और उस (पारिपार्यक) को यह (सूत्रधार) माप शब्द से ।

अर्थात् पारिपार्यक सूत्रधार को 'भाव' कहे और सूत्रधार पारिपार्यक को माप ।

भृत्य (सेवक) राजा को 'देव' या 'स्वामी' शब्द से तथा अधम पात्र 'भट्ट' शब्द से सम्बोधित करें । ज्येष्ठ मध्यम और अधम पात्र स्त्रियों को भी उनके पति के समान शब्दों से सम्बोधित करे ॥६६॥

अर्थात् विद्वान् और देव आदि की स्त्रियों की श्वर आदि उन्ही प्रकार सम्बोधित करें जिस प्रकार उनके पति को करते हैं । (जसे उत्तम जन विद्वान् आदि की पत्नी को 'सगवती' शब्द से तथा विप्र आदि की पत्नी को 'आर्या' शब्द से सम्बोधित करें ।)

यहाँ स्त्री के (सम्बोधन के) विषय से यह विशेष बात है—

बराबर की स्त्री परस्पर 'हला' सेविवा को 'हञ्जे' वैश्या को 'अञ्जुका' शब्द से सम्बोधित करे । अनुचर जन 'कुट्टिनी' को 'अम्ब' शब्द से तथा सभी लोग पूज्य वृद्धा स्त्री को 'अम्ब' शब्द से पुकारें । और विद्वप-रानी तथा सविका (चेटी) को 'भवती' शब्द से पुकारें ॥७०॥७१॥

सभी जन पूज्य मुद्धा को अम्ब शब्द से पुकारें । अम्ब स्पष्ट ही है ।

द्विष्णी—३० मा० शा० (१७६५-६५) मा० ६० (५२६५-२६७)

सा० ६० (६१५५-१५०) इन सभी में सम्बोधन प्रकार का विस्तारपूर्वक बयान किया गया है । साथ ही काव्य में कवियों को किस प्रकार के नाम रखने चाहिये इसका भी बयान किया गया है ।

* कुट्टियनुगत पूज्या अन्वेतिवस्त्रीजन ' इति पाठोऽत्रयम् ।

देवपतिवित्तिवृत्त ।
मृगुतो मिय ॥६७॥

सिप्यामजानुजा ।
द्विगामिधस्तु छ ॥६८॥
शम्भ, शोभित सरागति सुभ-

मा० ६० (५ ६१) सा० ६०
शिवानों को भावा पदाको होके
ता मागयो उभो होतो है, बर
कल लोक पाक के दद बा अत
है—(पद्मन् स्यापि) शम्भ-
में परिवर्तक को जो वायो है
तथा स्या है ।

अनुचर सम्बोधन शब्द (भाव)

राजसौ आदि को 'भवतन'
वद भाई को आय महार ।
से सम्बोधित कर ॥६७॥
रा सम्बन्ध है, अर्थात् दे एक

मान' बहुरज सम्बोधित कर
ने 'वस' ककक । सिप्य, पुत्र
इतिनामा' शम्भो से सम्बोधित

यह है कि पुरजन् (पूज्य) को
श्वर और दे (त सिप्य शक्ति) को
सम्बोधित करे ।

मन ।

ति ॥३२॥
नय कमान् ॥
पुन विनाया उरुह्व
३ कत्वत्त इवमे विहास्तन

ख ।

रग करने बात शिव के
मुनार मिल भिन प्रका
बादि का पूगहय से वपन

प्रकाश लक्षण हुआ ॥
नय बाध कराया गया है ।
(वि) । पुण-रिसय आदि
मकत आदि की कृतिना
र २५ तथा, २३०, ३३
त 'माय' शब्द के द्वारा हुए

सहायक-सांख्यिक पुन ठवा
शिकी आदि कृतिना तथा

अथ तृतीय प्रकाश

बहुवचन्यतया रसविचारतिलक्षणेन वस्तुनेतुरसाना विभज्य नाटकाविपूषयोग प्रविपाद्यते—

(१) प्रकृतित्वाद्यथान्येषा भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधमक हि नाटकमनुद्दिष्टधमाणा प्रकरणादीना प्रकृति । शेष प्रतीतम् ।

रूपक के तीन भेदक तत्त्वो वस्तु नेता (नायक) और रस में से वस्तु का प्रथम प्रकाश में तथा नायक का द्वितीय प्रकाश में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है। अब क्रम के अनुसार रस का विवेचन करना चाहिये। किंतु रस का विवेचन अत्यंत विस्तार में करना है इसलिये अभी उसे छोड़कर यहाँ (तृतीय प्रकाश में) यह दिखलाते हैं कि नाटक आदि जो रूपक हैं उनमें वस्तु नेता और रस का पथक-पथक क्या उपयोग है। इसी सन्दर्भ में यहाँ रूपक के दस प्रकारों का भी बर्णन किया जा रहा है।

(रस के विषय में) बहुत कुछ कहना है अत रस विचार (के क्रम) का उल्लेखन करते वस्तु नायक और रस का नाटक आदि में प्रत्यक प्रत्यक उपयोग बताया जा रहा है। इनमें भी—

प्रथमतः नाटक व विषय में कहा जाता है, क्योंकि (i) नाटक अथ सभी रूपकों की प्रकृति (मूल) है, (ii) इसमें सभी रसों का आश्रय लिया जाता है (iii) इसमें रूपक के सम्पूर्ण लक्षण होते हैं ॥१॥

क्योंकि नाटक के सभी धर्म बतलाये गये हैं और प्रकरण आदि के सभी धर्म (शा-वों द्वारा) नहीं कहे गये (अपि नु शेष नाटकवत् बहुरूप शोच गये है) अतः नाटक प्रकरण आदि की प्रकृति है। (कारिका ४) शेष भाग स्पष्ट है।

टिप्पणी—(१) नाटक लक्षण के लिये ३०, ना० शा० (१८ १०-४३) । भा० प्र० (७० २२१-२४) में दश० की उपयुक्त कारिका को उद्धृत करने इहकी सन्निपत् ध्यातया की गई है। ना० द० (१५ तथा भागे) प्रता० (३ ३१-३६) शा० द (६७-११) । (२) (i) प्रकृति-वात्—प्रकृति=कारण मूल रूप आधार। भाव यह है कि सभी रूपकों में नाटक प्रतिनिधिप्रत (Type) रूपक है। इसके सभी धर्मों (=विशेषताओं) का बर्णन किया गया है अथ प्रकरण आदि की सभी विशेषताओं का बर्णन नहीं किया गया अतितु उनके कुछ धर्मों का बर्णन करते यह उक्त किया गया

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५ १६२), भा० प्र० (प० २००, २२८), सा० ६० (६ २६) । भा० प्र० तथा सा० ६० में यह कारिका भी ली गई है । (२) दशरूपक में विशेषकर रूपक के रचना विधान का विवेचन किया गया है, नाट्य प्रयोग का नहीं । किन्तु इस प्रकार के सदर्भों में नाट्य प्रयोग का उल्लेख कर दिया गया है । यही पूररङ्ग का स्वरूप नहीं बताया गया है । धनि की व्याख्या में भी यह स्पष्ट नहीं । सा० ६० (६ २२-२३) में केवल इतना कहा गया है कि नाट्य मण्डप के विष्णो की शान्ति के लिये अभिनेय वस्तु के प्रयोग से पहिले जो अभिनेता लोग मञ्जल आदि करते हैं वह पूररङ्ग कहलाता है । ना० शा० (अ० १ ३) में इसका विस्तृत वर्णन है तथा भा० प्र० (प० १६४) में ससिन्धु और स्पष्ट वर्णन है । तदनुसार अहाँ गायक धादक, नटी नट तथा सभापति और सामाजिक सभी का मनोरञ्जन किया जाता है वह 'रङ्ग' अर्थात् नाट्यघाता है । नाटक के प्रयोग से पहले वहाँ जो गीत वाद्य आदि का कार्य किया जाता है यही पूररङ्ग कहलाता है । इसके प्रत्याहार आदि बारह अङ्क होते हैं जिनमें नाटी तथा प्ररोचना आदि भी हैं । (३) सूत्रधार—वह प्रमुख नट जो रङ्गमञ्च पर किसी नाटक आदि के अभिनय का प्रवच करता है (Stage mana dar)—सूत्र प्रयोगानुष्ठान धारयतीति सूत्रधार । (४) बन्धवस्थानवादिना—बन्धव वेणादिना (भ्रमा), दीयपादविशेषेण परिक्रमो बन्धवस्थानकम् (इति कश्चित्) । वस्तुतः 'बन्धवस्थानक' एक प्रकार की शरीर की अवस्था (काम्यसन्निवेश) है जो चलने के समय चलने से पूर तथा चलने के पश्चात् भी होगी है । ना० शा० (१०-५१) में काम्य सन्निवेश की ६ अवस्थायें बतलाई गई हैं जिनमें बन्धवस्थानक भी एक है । इस अवस्था में दोनों पैर धाई ताल (एक माप) के अंतर से रहते हैं उनमें एक समरिपित दूसरा कुछ तिरछा अङ्क लिया पावना की ओर उभरूय रहती है जातु (घुटने) कुछ मुड़े रहत है तथा शरीर सीधा (ना० शा० १० ५२-५३) । (५) सवचद—उस (सूत्रधार) के समान । स्थापक या सूत्रधार भिन्न भिन्न व्यक्ति है या एक ही यह विवाद का विषय है । दशरूपक भा० प्र० (प० २२८) तथा सा० ६० (६ २६) से तो यही प्रतीत होता है कि ये दो व्यक्ति होते थे । सा० ६० (६ २६ इति) से यह भी विदित होता है कि कायांतर में एक ही व्यक्ति दोनों के काम करने लगा था । अधि० भा० (५ १६२) के अनुसार तो सूत्रधार पूररङ्ग का काम करने बाहर चला जाता था और फिर वही स्थापक के रूप में प्रवेश करता था ।

१२॥
दशरूपक-नीचम् धारणो दुर्ग
रनर्हादिना प्रविमानो योऽ
नक ।

१३॥ १३१ २२२ ॥ इति
१० वनी विवृति । अङ्क
१० परिचय करके ही अङ्क
१० 'अभिनेयवस्तु' इत्यादि
१० न ह्य 'अभिनेयवस्तु' (इति)
१० रहे हैं वे कभी अङ्क या अङ्क
१० (१) । इसमें सूत्रधार या शी
१० न्धार—ना में (आने २ ३३) ।
१० या इति प्रकाश में बड़े
१० न, वे कभी मण्डप युक्त
१० नर्भं सर्वप्रतिभा, अन्वय
१० नाक में ही बतलत होते हैं

नाटक, २ अङ्क, ३ भाग,
१०, ६ अङ्क, १० इति

प्रारं चला जाता है । फिर
हीकर नाय की स्थापना

नोरञ्जन) किया जाता है वह
प्रमाण में जो (अभिव्यक्त-नाय)
की प्रारंभ [पूररङ्ग का काम]
हम करता है । तब उस (सूत्रधार)
के काम से प्रविष्ट होकर तब
की स्थापना करते या सूत्रधार से

(३) दिव्यमर्त्यं स तद्रू पो मिश्रगन्धतरस्तयो-

सूचयेद्वस्तु वीज वा मुख पात्रमथापि वा ॥३॥

स स्थापको दिव्य वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्य च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्र च दिव्य मर्त्यवीर्यतरो भूत्वा सूचयत् । वस्तु वीज मुख पात्र वा ।
वस्तु यथोदात्तराधये—

'रामो मुग्धिन निघाय काननमगामालामिवाज्ञा गुरो
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिल मात्रा सहैवोन्मत्तम् ।

तौ सुधीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परा सपद
श्रीददृत्ता दशक धरप्रभृतयो ध्वरता समस्ता द्विप ॥१६८॥

वीज यथा रत्नावल्याम्—

द्रोणाद्वरमादपि मध्यादपि जलनिधेदिशोऽप्यतात् ।

आनीय ह्रदिपि पटपति विधिरभिमतममिमुखीमुत् ॥१८७॥

वह (स्थापना) दिव्य और मर्त्य वस्तु (या वीज मुख या पात्र) को उस (देव वीर्य मनुष्य) के ही रूप में होकर तथा मिश्रित (वस्तु आदि) को उनमें से किसी एक के रूप में होकर सूचित करे ॥३॥

अर्थात् स्थापक देवता सम्बन्धी (दिव्य) वस्तु को देव रूप में होकर तथा मानव सम्बन्धी को मानव रूप में होकर और मिश्रित (दिव्यदिव्य=देवता और मानव के गुणों से मिश्रित जन्मे राम आदि की कथा) वस्तु को देव या मानव में से किसी एक रूप में होकर सूचित करे । इस प्रकार वह कथावस्तु (वस्तु), वीज (बीज नामक अथ प्रकृति) मुख या पात्र की सूचना दे ।

दिव्ययो—ना० शा० (५ १६-१६८) भा० प्र० (प० २८८) सा० ८० (६ २७) । सा० ८० म चारों प्रकार के सूचनीय अथ के उदाहरण भी दशरूपक के समान ही दिये गये हैं ।

वस्तु की सूचना, जैसे उदात्तराधये में— पितृ की आज्ञा को माला के समान सिर पर धारण करके राम वन को चले गये । राम की भक्ति के कारण भरत ने माता कक्षेयी सहित समस्त राज्य को छोड़ दिया । राम ने अपने अनुचर सुग्रीव और विभीषण दोनों को यज्ञी सम्पत्ति प्राप्त करा दी और उद्घट आचरण धाले रावण आदि समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया ।

दिव्ययो—इस पद्य म नाटक की कथावस्तु की संक्षेप में सूचना दी गई है ।

वीज की सूचना जैसे रत्नावली (१६) में द्रोणाद्वरमादपि (उपर उवा०३) ।

दिव्ययो—रत्नावली की प्राप्ति रूप फल का बीज है—अनुज्ञान धव से युक्त योग्य रायण का प्रयत्न । उसकी सूचना दी गई है ।

कुंठ इतर

सूत्र—

वर्णनार्थं वदन्ति तदात्मकं

इत्थं वाच्यं च ॥

वस्तु वाच्यं दशरूपकम्

इत्थं वाच्यं च ॥

स तावद्वस्तु—

अन्वयं हीनोपरं तुल्यं च

इत्थं वाच्यं च ॥

(५) इत्थं वाच्यं च ॥

अनु वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

इत्थं वाच्यं च ॥

३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२

अन्वयं च ॥

मुल यथा—

'आसादितप्रकटनिमलच द्रहाम
 प्रायत भारत्समय एष विमुक्तकांत ।
 उत्थाय गाढतमस धनकालमुद्य
 रामो दशास्थमिव सम्भृतवपुजीव ॥१८८॥

पात्र यथा साकुतले—

तवास्मि गीतरागेण हारिण प्रसभ हृत ।
 एष राजेव दुष्यत सारङ्गणातिरहसा ॥१८९॥
 (४) रङ्ग प्रसाद्य मधुरै श्लोक काव्याथसूचकै ।
 ऋतु कञ्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत् ॥१९॥
 रङ्गस्य प्रणरित का वायानुगतार्थे श्लोक कृत्वा—
 औरमुष्येन कुतस्वरा सहमुषा यावतमाना ह्येषा

मुख की सूचना, जसे (?)— जिते उज्ज्वल और निमल च द्रहाम (१ चद्रमा की चंद्रिका, २ च द्रहाम नामक रावण की तलवार) प्रायत हो गया है, जो शुद्ध कांति वाला है तथा जितने व पुजीव (१ बोगहरिण के पुष्ट २ बपुओं का जीवन) की धारण किया है ऐसा यह राम सहस शरव का समय गाढ अ प्रकार वाले (रावण के पक्ष में)—अधिका अज्ञाना प्रकार वाले) उद्य (१ प्रचण्ड, २ मयज्जर) रावण— सहस सर्वात्मन को नष्ट करके आ गया है।

टिप्पणी—दशरथ म रथ का स्वरूप नहीं बतलाया गया । सा० ६० (६-२७ वक्ति) के अनुसार श्लेय इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत वस्तु की सूचना देने वाला वचन ही मुख कहलाता है (मुख श्लेषादिना प्रस्तुतवस्तुतप्रतिपादको वाचिषेप) । उपर्युक्त पद्य म भारतकाल का वचन किया जा रहा है साथ ही श्लेष आदि के द्वारा प्रस्तुत कथा (राम द्वारा रावण का वध) की भी सूचना दी जा रही है ।

पात्र की सूचना, जसे साकुतल नाटक (१५) में उसी प्रकार बलमुक्क थाण्ट्य हो गया है जिस प्रकार अत्यंत बेग धाले (दूर तक) ले जाने वाले हरिण के द्वारा उद्यत' ।

टिप्पणी—इसके द्वारा हरिण का पीछा करत हुए दुष्यत के आगमन की सूचना दी जा रही है ।

स्थापक काव्य के अर्थ को सूचित करने वाले मधुर श्लोक के द्वारा रङ्ग (= रङ्ग में स्थित सामाजिकी) को प्रसन्न करने किसी ऋतु का प्रसन्न लेखर भारता वृत्ति का आश्रयण करे ॥१॥

अर्थात् काव्य वस्तु से सम्बद्ध (अनुगत=संगत) अथ वाले श्लोकों के द्वारा रङ्ग की प्रशस्ति करके स्थापक औरमुष्येन इत्यादि के द्वारा भारती वक्ति का आश्रयण करे । जो मुखमेन (रतनावली १२) प्रथम मिसल क अवसर पर अनुकृता

रामो
 नि वा ॥३॥
 ब ६-१० नूना विष पति
 व था ।
 रामो द्यो-
 कथा हैरोरिणम् ।
 र
 १० ६-१० मिस ॥१८८॥

१० ५० (५० २०८) सा० ६०
 अथ के उद्धारण की दशमक के

विना को प्रसा को मा के लवण
 एम की मक्ति के हारव कल ने
 । राम ने अपने अनुव पुजीव और
 और उद्यत आश्रय वाले रावण
 मु की लय में मुक्ता की री है ।
 ने औरवचनमिति (अर उद्धारण) ।
 न का नीव है—अनुगत पद के मुक्त
 है ।

तैस्तव ध्रुवपूजनस्य वषट्कर्त्तव्यमिमुक्षुषु पुं ।
 दृष्ट्वाथै वरमाप्तमाश्वसरा गीरी नवै सङ्गुप्त
 सरोहपुत्रका हरेण ह्रमता गितप्टा शिवा पातु म ॥१६०॥
 इत्यादिभिरिव भारती वृत्ति भाश्रयत् ।

सा ध्रु—

(५) भारती सस्कृतप्रायो वाग्भ्यापारो नटाश्रय ।
 भेद प्ररोचनायुक्तवीथीप्रहसनामुष ॥५॥

पुरुषविशेषप्रयोज्य सस्कृतबहुलो वाश्रयप्रधानो नटाश्रयो ध्यापारो भारती
 प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुष नि चास्यामद्भानि ।

के कारण गीप्रता करती हुई सहज सज्जा के कारण लीयती हुई फिर बापुयम की
 स्त्रियों के अनेक प्रकार के यधनों से सामने लार्ई गई पति को सामने देखकर भय
 तथा आनन्द का अनुभव करती हुई सथा रोमाञ्जित हुई और हँसते हुए गिय द्वारा
 आसिद्धित की गई यह पावती तुम्हारी (सामाजिकों की) रक्षा करे ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५ १६५) भा० प० (प० २०) प्रता०
 (३-३७ वृत्ति) सा० द० (६ २८-२९) । (२) विद्यानो का विचार है कि इस
 चारिका की प्रथम पक्ति नाटो की ओर संकेत करती है (Haas) । (नाटो का स्वरूप
 दश० में नट्री बलनाया गया तदथ द्र० प्रता० ३ ७ सा० द० ६ २४-२५) । वस्तुत
 नाटो से इन पक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता । नाटो तो पुत्ररुद्र का अङ्ग
 है (भा० प्र० प १६७ सा० द० ६ २३) । पुत्र रुद्र का काय सूत्रधार करता है ।
 उसके पते जाने पर स्थापक प्राप्ता है और काव्याय की स्थापना करता है । इस
 स्थापना में कई काय करने होते हैं । वह पहले रुद्रवर्णन या रुद्रप्रसादन करता
 है—जय, आशीर्वाद आदि के क्रम से सामाजिकों के हृदय को प्रमन (निमल) कर
 देता है जिससे वह स्थापना का योग्य हो जाये (अभि० भा० ५ १६५) इस
 प्रशस्ति में वह वयासम्भव कथा को वस्तु बीज मुख अवयवा पात्र को भी सूचित कर
 देता है । फिर काव्याय की स्थापना करता है । इस स्थापना के लिये ही भारती वृत्ति
 का आश्रय लिया जाता है । (३) महा 'रुद्रस्य प्रशस्ति काव्यायानुगत श्लोक ह्रस्वा'
 इसक उदाहरण के रूप में ही ओम्सुवनेन० इत्यादिभिरिव यह बहटा गया है (इत्यादि
 भि श्लोकरैव कृत्वा) ।

भारती वृत्ति

यह (भारती वृत्ति) तो यह है—
 प्राय सस्कृत भाषा में नट द्वारा विया गया वाचिक व्यापार भारती
 वृत्ति कहलाता है जो प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुष (चार) अङ्गों से
 युक्त होता है ॥५॥

अर्थात् जो नियत पुरखों द्वारा किया जाता है जिससे प्राय सस्कृत भाषा ही
 होती है, वाचिक व्यापार की प्रधानता होती है यह नट का काय भारती वृत्ति है ।
 इसके चार अङ्ग हैं—१ प्ररोचना, २ वीथी, ३ प्रहसन, ४ आमुष ।

सरोहपुत्रका हरेण
 (६) ५ १
 सरोहपुत्रका हरेण
 सरोहपुत्रका हरेण
 सरोहपुत्रका हरेण

विष्णु—(१) ना० शा०
 (१० ११) सा० द० (१-१ १०)
 विष्णु—(१) ना० शा०
 (१० ११) सा० द० (१-१ १०)
 विष्णु—(१) ना० शा०
 (१० ११) सा० द० (१-१ १०)
 विष्णु—(१) ना० शा०
 (१० ११) सा० द० (१-१ १०)

न (चार अङ्गों) में
 प्ररोचना है ।
 अर्थात् अमुष भाष्य
 कर देता ही प्ररोचना है । जैसे
 हुए नियुक्त वृत्ति में वृत्त का प्रुप
 पठित लोक में प्ररोचना वृत्ति
 की वृत्ति में प्रुप ह ।
 ही वृत्ति है फिर वृत्ति की वृत्ति
 वृत्ति है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा०
 (१ १६६) सा० द० (६ ३) । (१)
 में 'प्ररोचना' का प्रुप
 सत्य में था समजा है ।
 नेत्र के लक्षण को प्रोपना की वृत्ति
 २० १ ।)

यथोद्देश्य लक्षणमाह—

(६) उमूखीकरण तत्र प्रशसात प्ररोचना ।

प्रस्तुताथप्रशसनेन श्रोतणा प्रवस्तुमुखीकरण प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्—
भीहृवो निमुष कचि परिपदव्येषा गुणप्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरित नाट्ये च दत्ता वयम् ।
वस्तुनैककमपीह द्वाञ्छितफलप्राप्ते पद किं पुन—
मद्राग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणाना मय ॥१६५॥

नम्र पुन ।
मञ्जुषे
ग विरा यातु क ॥१६५॥

रो नगमय ।
ननामुष ॥१५॥
रानो नगपयो व्यासो भारते

ए नोती हूँ निर वगुण को
हूँ निर को मानने देकर सब
न हूँ और हने हुए निर हूँ
को) दया करे ।
भा० ६० (१० २०) प्रजा,
मरुतो ना विहार है कि न
ने है (Hass) (वासी का स्वयं
० सा० ६० २५-२५) । वस्तु
ना । मानो तो पुनः का अज्ञ
का रूप नृपार करता है । इ
को स्थापना करता है । इ
गति या रजुमानन करता
हूँ को प्रान (निन) वर
(निन) भा० ६ (२५) इत
अवसा पाव को भी सुख कर
। पाना के निने ही जाती बरि
नि का पंडित स्त्रीक हाना
निन वर हूँ गवा है (रत्ना

भा गया वाचिक व्यापार भारती
न जोर आमुष (चार) अज्ञो से
भा है निजों प्राय सक्त बना है
हूँ वर का वर भारती बरि है ।
अपन ५ अमुष ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२० २६ २०) भा० प्र० (५० २२८) प्रता०
(५० ६५) सा० द० (६ २६ ३०) । सक्षेप म (१) पुरय विषये अर्थान् नटी का
वाचिक व्यापार ही भारती वृत्ति है इसके अतमत वाचिक या मानसिक व्यापार
नहीं आता इसलिये यह शब्दार्थ कहलाती है । साथ ही स्त्री पात्रो (नटी आदि)
का वाचिक व्यापार भी भारती वृत्ति के अतमत नहीं आता । (२) यह वाचिक
व्यापार प्राय सङ्कत भाषा में हुआ करता है, यहाँ प्राय वाद इसलिये दिया गया है
कि वही ऊँही रूपकों में प्राकृत भाषा में भी भारती वृत्ति देखी जाती है (ना० द०
३ १५६ वृत्ति) । (३) कारिका मे भद (भेद) गाय का अय अज्ञ है नाम निर्वैश
के इम से (अज्ञो के) लक्षण बतलाते हैं—

१ प्ररोचना—
उन (चार अज्ञो) मे प्रशसा के द्वारा (श्रीनाओ को) उमुष करना
प्ररोचना है ।

अर्थात् प्रस्तुत वाक्याय को प्रशसा करके श्रोताओं को प्रवृत्ति उसकी ओर
करा देना ही प्ररोचना है । जैसे रत्नावली (१५) मे ' (इस माटिका का कर्ता) भी
हय निमुष कचि है यह सभा भी गुणा का पहण करने वाली है, वत्सराज उदयन का
चरित सोक में मनोहर माना जाता है और (इस माटिका के प्रस्तुतकर्ता) हय सब
को अभिनय मे कुशल है । इनमें से एक एक वास्तु भी द्वाञ्छित फल प्राप्ति का निमित्त
हो सक्ती है फिर वहाँ तो मेरे भाग्य के उद्वय से सभी गुणों का समूह एकर हो
गया है ।'

टिप्पणी—(१) ना० भा० (२० २८) भा० प्र० (५० १६०) ना० द०
(३ १५६) सा० द० (६ ३०) । (२) ना० शा० भा० प्र० तथा ना० द० आदि
म प्ररोचना का पुरवर्क के अज्ञों म भी उल्लेख किया गया है । दोना स्थलों पर
संज्ञा मे भी समानता है । अभिनवगुणाधाय का कथन है कि पुरवर्क ना काय वर
लेने के पश्चात् जो प्ररोचना की जाती है वह भारती वृत्ति का अज्ञ है (अभि म भा०
२० २८) ।

तत्र कथोद्धान -

(१०) स्वेतिवृत्तसम श्रवाण्यमर्षं वा यत्र श्रुणिण ।

गृहीत्या प्रविशेत्यात्र कथोद्घातो द्विष्टेय स ॥६॥

वाक्य यथा रत्नाप्रख्याम्—योग्यधरायण—द्वीपादवस्मादीपि— इति ।

वाचयाय यथा वेणीसहारे—सूत्रधार -

निवागवर्दिहना प्रथमावरीणा

नदन्तु पाण्डुतनया सह केचयेन ।

रक्तप्रसाधितमुख क्षतविप्रहास्य

स्वस्था भवतु कुहराजमुता सभत्या ॥१६२॥

ततोऽर्थेनाह—'भीम -

साप्ताष्टहानवविषानसभाप्रवेश

प्राणमु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानवचा

स्वस्था भवतु नवि जीवति धातराष्ट्र ॥१६३॥

(क) कथोद्घात -

उनमे से कथोद्घात यह है -

जहाँ पात्र अपनी कथ वस्तु से समानता रखने वाले सूत्रधारके वाक्य या वाचयाथ को लेकर प्रविष्ट हो जाता है वह दो प्रकार का कथोद्घात होता है ॥६॥ १०॥

वाक्य को लेकर (पात्र प्रवेश), जैसे रत्नावली (१६) में सूत्रधार के 'द्वीपा वयस्मादपि इस वाक्य को बोलाता हुआ योग्यधरायण प्रविष्ट होता है ।

वाचयाय को लेकर (पात्र प्रवेश), जैसे वेणोसहार (१७) में सूत्रधार कहता है—'साम्राज्य के शासक होने से जिनको समुद्र कपी अग्नि बुझ गई है वे पाण्डुपुत्र भीष्टय सहित खान द करें, और जिन्होंने पृथिवी को यत्नपूर्वक अलङ्कृत कर दिया है तथा जगद्वी (विपद्) को शासन कर दिया है वे कुहराज के पुत्र (कीरव) मृत्यों सहित स्वस्थ रहें सुखित अथ है—'जिहोमे दधिरे से पृथिवी को अलङ्कृत कर दिया है जिनके सारांश (विपद्) नष्ट हो गये ह वे कीरव मृत्यों सहित स्वयं मे स्थित (स्वस्थ) होंगे ।'

तब इसके अर्थ को लेकर भीम (यह बहुते हुए प्रविष्ट होता है)—'सासगृह मे आग चिय मिला भोजन एव सभा में प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणों और धन पर प्रहार करने पाण्डुओं की वधु (दीपवी) क वस्त्र एव बेसों को धींचकर की क्या मेरे आते भी धतराष्ट्र के पुत्र जीवति रह सक्ने ह ?'

टिप्पणी—शा० शा० (२० ३५) भा० प्र० (टु० २२६) प्रता० (३ २६) सा० ६० (१ ३५) ।

● वाक्य वाचयायमवसाय यत्र श्रुणिण इति पाठान्तरम् ।

पास्त्यत ॥६॥
च सत्युन ।
द्वेषम् ॥७॥
सतानुधम् ।

सम् ॥८॥
सपोदश ।

म वदन किया जायेगा नई।
किया जा रहा है, वरति

के के द्वारा नदी परिपालिक
पालन करने वाला अपना काम
ही है ॥८-१॥
शा० ५० (१० २२६) सा० ६०
वर्षा सुधार—स्वाक (सा०)
होना है अथवा दूसरे मत के
है । भाष—परिपालिक (सा०)
के बाला नट (परिपालिक)
शा० ६० वरति ३ (१०) ।

कथोद्घात, (ख) प्रवक्त,
१३ बड़ा होता है ॥८-६॥
० ५० (१० २२६) शा० (१०)
शा० ६० म आमुष के बीच बड़ा
अथ प्र तक और अत्यन्त
होते हैं वे आमुष के भी बड़ा होने
विश्व कीपी के बड़ा हैं अथवा वर
या गया । इस प्रकार वर के श्रुणा
को केवल आमुष के ही बड़ा होने के
समान रूप से बड़ा होते हैं ।
किया गया है ।

अथ वीथ्यज्ञानि—

(१३) उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चमिगते छलम् ।

वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्थन्वितनालिके ॥१२॥

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

(१४) गूढाथपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

यथा-योम्य समालापो द्वेधोद्घात्य तदुच्यते ।

गूढाथ पद तत्पर्यायवचनेष्वेव माला प्रश्नोत्तर चेत्येव वा माला द्वयो रक्तिप्रत्युत्तो तद्विभिन्नमुदाहरकम् । तथाथ विज्रमावस्था यथा-विदूषक—भो वयस्य को एषो नामो जेग तुम पि दूमिज्जते सो कि पुरिसो मादु इत्यथसि । (भो वयस्य क एष फामो येन त्वमपि इयते स कि पुरोपोषयवा स्त्रीति ।) राज्ञा—सखे ।

मनोज्ञातिरनाधानां सुखेष्वेव प्रवतते ।

मोहव्य लजिताः प्रायः श्रम इत्यभिधीयते ॥ १६५ ॥

साधो के अङ्ग

वीथी के (१३) अङ्ग हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित,

(३) प्रपञ्च, (४) निगत, (५) छल (६) वाक्केलि (७) अधिवल, (८) गण्ड, (९) अवस्थान्त, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, और (१३) मृदव ॥२१२३॥

टिप्पणी—(१) ना० भा० (१८ ११३ ११४) भा० प्र० (पृ० २३०) प्रता०

(३ ३२ ३३) सा० व० (६ २५५ २५६) । (४) ना० भा० तथा सा० व० म इन अङ्गा का प्रस्तावना क सद्यमे वगन नही किया गया, अपितु वीथी नामक रूपक प्रकरण में वगन किया गया है । सा० व० (६ ३६) वा यह भी कथन है कि प्रस्तावना (या आमुष) में उद्घात्यक तथा अवलगित इन दो वीथी के अङ्गों का प्रयोग तो हुआ ही करता है वीथी के अर्थ ११ अङ्गों का भी प्रयोग यथावत् किया जा सकता है ।

१ उद्घात्यक—

जहाँ (दो पात्रों) का परस्पर वार्तालाप या तो गूढार्थ पद तथा उसके पर्यायों की माला के रूप में होता है अथवा प्रश्न और उत्तर की माला के रूप में होता है, वह दो प्रकार का उद्घात्यक कहलाता है ॥१३१ १४॥

अर्थात् जहाँ दो पात्रों की उक्ति और प्रत्युक्ति में (१) एक पात्र द्वारा गूढ अर्थ वास्ता पद कहा जाये और फिर (दूसरे पात्र द्वारा) उसका समानार्थक शब्द कहा जाये इस प्रकार की माला (कई बार प्रयोग) अथवा (११) प्रश्न और फिर उत्तर किया जाये, इस प्रकार की माला हीनो है, यह दो प्रकार का उद्घात्यक है ।

अप्रवृत्तकम् ॥१०॥
कम् यथा—

निम्नद्वारात् ।
निम्नद्वारो ॥१६५॥

निगत ।
निगत ॥११॥

नना क द्वार (पात्र क) अनेत की
०॥
(वसत का विच्छेद) के समान गुणों
के अङ्ग प्रकृत हैं, जते आवालि०

०० (१० २२६) प्रता०
माला नामि शब्द के लिये गुणों का
यान ही होते हैं । वही वगन के
नामक आमुष का अङ्ग है । जते
ककत हुए नाम के गुणों का भी
सुचना ही गई है ।

अथन से सूचित होकर जहाँ
अथक (आमुष का अङ्ग) माना
अथ के समान । शिष्यार की इन

भा० व० (१० २२६) प्रता०
नया सा० व० का प्रयोगात्मक का
हुं प्रस्तावना के प्रयोग की ओर
के पात्र का अर्थ ही जाना है यदि
०० गुण १६८ वरिण

विद्रूपक—एव पि ण जाणे (एवमपि न जानामि ।) राजा—वयस्य इच्छा प्रभव स इति ।

विद्रूपक—किं जो ज इच्छादि सो त कामेदिति । (किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति ।) राजा—अयं किम् ।

विद्रूपक—ता जागदि जह अह सूअरसालाए भोजय इच्छामि ।' (तज्जात यथाऽह सूपकारशालाया भोजनमिच्छामि ।

द्वितीय यथा पाण्डवान दे—

का श्लाघ्या मुणिना क्षमा परिभव को य स्वहुष्य कृत

किं दुःख परसश्रयो जगति व श्लाघ्यो य आश्रीयत ।

को मृत्युष्यसन शुच जहति के यनिजिता जायव

कविनालमिद विराटनगरे छान्दस्यत पाण्डव ॥१६६॥

(1) उनमे से प्रथम उदघातक विक्रमेशो में है, जसे विद्रूपक—हे मित्र यह कामदेव कौन है जिससे तुम भी बुछी हो रहे हो ? यह प्रुष्य है या स्त्री ? राजा—मित्र जो मन से उत्पन्न होता है चिन्ता रहितो को (अनाधीनाम्) बुछो मे ही प्रयत्न हुआ करता है और स्नेह का सुन्दर माग है यह काम बड़ा जाता है । विद्रूपक—इस प्रकार भी मैं नहीं समझा । राजा—मित्र जो इच्छा से उत्पन्न होता है । विद्रूपक—क्या ? जो जिसकी इच्छा करता है उसको कामना करता है । राजा—और क्या ? विद्रूपक—तो समझा, असे मैं भोजनशाला (सूपकार=पाचक, रसोद्वया) में भी तन को इच्छा करता हूँ ।

(11) द्वितीय उदघातक यह है जैसे पाण्डवान दे—स्वाधनीय क्या है ? गुणो जनों की क्षमा । तिरस्कार क्या है ? जो अपने परिवार वालो द्वारा किया जाता है । दुःख क्या है ? दूसरे की अधीनता । सत्कार मे प्रसन्ननीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है (आश्रय देने वाला) । मृत्यु क्या है ? ध्यसन (=क्षापत्ति या बुरी सत्त) । शोक रहित कौन होते ह ? जिहोने शत्रुओं को जीत लिया । यह सब किहोने जान लिया है विराट नगर मे गुप्त रूप से रहने वाले पाण्डवों ने ।

दृष्टिणी—ना० मा० (१८ ११५-११६) मा० प्र० (५० २३०) प्रता० (५० ८५) सा० द० (६ ६४) । ना० मा० के अनुसार सक्षय यह है—

पदानि स्वगतापानि ये नरा पुनरादरात ।

योजयन्ति पदरप्यस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥

सा० द० मे भी इसी का अनुसरण किया गया है ।

बचरवति—

(11) ५५५३ ७५ ७५

मुद्रात्पत्र १५५

शशय दशरवति ७५

शशय दशरवति ७५

विद्युत्पत्तौ विनयत्तौ ७५

श्रीः ५

शशयदशरवति ७५

शशयदशरवति ७५

(१६) अयद्रुतुन मिय

(१) अयद्रुतुन मिय

(1) जहाँ एक काय में ७५

द्वारा काय सिद्ध किया जाता है

द्वारा काय सिद्ध हो जाता है

(1) उनमें से प्रथम है वन

द्वारा (पशुतो को इच्छा) उत्पन्न हुआ

काय) भीषणकाय के कारण वन में

(11) शिनीय यह है वने

के स्थित शलाघ्या में विमान पर बहकर

काय है ।

यह कौन विद्वान् क भावे

कथनात् तथा चारत्ता

इस प्रकार पद-पदानि कर काय

दृष्टिणी—(1) ना० मा० (१८

१० ८५) सा० द० (६ ६४) (१)

पुत्र किया जाता है किंतु शिनीय प्रकार

है । शैलकायप्रशस्यम्—शैल काय में

प्रकार में एक काय में दूसरा काय में

(१) काय व—

(पादा द्वारा) एक दूसरे का

करता मान्य (नामक वीथी का बह)

अध्यात्मतमिन्—

(११) यन्मैकत्र समावेशात्काम्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽयम् वाऽन्यत्स्यात्तच्चान्वलमित द्विधा ।

तत्राय यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवन्विहाररूपबोधद्वया सीतया दोहदकार्येभ्यु
प्रविश्य अनापवादद्वयं स्यात् । द्वितीयं यथा छलितरामे—राम—सकृद्यं तात
विद्युत्तामपोष्या विमानस्यो माह प्रवेष्टुं शक्योमि । तदवतीथ गच्छामि ।

कोऽपि सिद्धासनस्यश्च स्थित पादुकाय पुर ।

जटावानसमाली च चामरी च विराजते ॥११७॥

इति भरतदशानकायसिद्धिः ।

अथ प्रपञ्च—

(१६) असदभूत मिय स्तोत्र प्रपञ्चो हास्यकृत मत ॥१५॥

(२) अवलमित

(i) जहाँ एक कार्य में सम वेश करके (या एक काय के बहाने से)
दूसरा कार्य सिद्ध किया जाता है, अथवा (ii) एक काय के प्रस्तुत होने पर
दूसरा काय सिद्ध हो जाता है, वह दो प्रकार का अवलमित होता है ॥१४-१५॥

(i) उनमें से प्रथम है जसे उल्लररामचरित में सीता को वनविहार का गम
बोहद (गमयती की धृच्छा) उत्पन्न हुआ उस बोहद काय के बहाने से (सीता को ले
जाकर) सीताकायवाह के कारण धन में छोड़ दिया गया ।

(ii) द्वितीय यह है जसे छलितराम नाटक में—राम—हे सकृद्यं में पिता
से विहीन अयोध्या में विमान पर बैठकर नहीं प्रवेश कर सकता, अत उतर कर
जाता है ।

यह कोई सिद्धासन के मोचे पादुकाओं के सामने धजा हुआ जटाधारी,
असभाला तथा चामर वाला ध्यक्त विराजमान है ।

इस प्रकार भरत दशान रूप काय की सिद्धि हा जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० भा० (१८ ११६) भा० प्र० (प० २३०), प्रता०
(प० ८५) सा० व० (६ ३८) । (२) यहाँ प्रथम प्रकार म तो दूसरा काय प्रयत्न-
पूवक किया जाता है किंतु द्वितीय प्रकार में दूसरा काय प्रसङ्ग से ही जाग्य करता
है । दोहदकार्येभ्युप्रविश्य—दोहद काय में समावेश करके । भाव यह है कि प्रथम
प्रकार म एक काय म दूसरा काय भी सम्मिलित कर लिया है ।

(३) प्रपञ्च—

(पानो द्वारा) एक दूसरे की हास्य उत्पन्न करने वाली मिथ्या प्रशसा
करता प्रपञ्च (नामक वीथी धा अङ्ग) माना गया है ॥१५॥

र्मि । रामा—वसन्त इव

र्मि । (किं वो बन्धिनि व

र कायन इति) (वसन्त

मुत्पन्न इव

सो व भावीनय ।

त

उ वसन्त ॥१६॥

में जसे विद्युत्—हे मित्र, यह

वह दुःख है काशी ? रामा—

वसन्तको रूप तुझे मैं तो अत

इस भाव है । विद्युत्—न

मे अन्न होता है । विद्युत्—

रामा—और क्या ?

नामक, (सीता) में मोक्ष

वृक्ष में—वसन्तको क्या है ?

विचार करने द्वारा दिया जाता

प्रशमनोप कोन है ? विद्युत्

है ? स्वप्न (=आसक्ति का

ओ को बोल लिया । यह वह

होने वाले पादुकों के ।

भा० प्र० (१० १३०) प्रता०

र तस्य यह है—

पार ।

वचन ॥

असद्भूतेनायै न पारदायै विनयुष्यादिना याऽया यस्तुति स प्रपञ्च । यथा
कपू रमञ्जयामि—भरवान् द—

रन्दा चण्डा दिभिषदा धम्मदारा मञ्ज मस पिज्जए खज्जए अ ।

भिषदा भोज्ज चमखण्ड च सेज्जा कोलो धम्मी वस्स णो हीद रम्भो ।

(रन्दा चण्डा दीक्षिता धमदारा मञ्ज मास पीयत खाद्यते च ।

भिषा भोज्य चमखण्ड च शय्या कौलो धम कस्य न भवति रम्य ॥१६८॥)

अथ त्रिगतम्—

(१७) श्रुतिसाम्यादानेकाययोजन त्रिगत त्विह ।

नादादित्रितयालाप पूवरङ्गे तदिध्यते ॥१६९॥

यथा विक्रमोवश्याम्—

'मत्ताना कुसुमरसेन पटपदाना

शब्दाऽप्य परमतनाद एव धीर ।

असद्भूत वात अर्थात् वरत्रोगमन (= पारदाय) आदि मे निपुणता इत्यादि
के द्वारा जो एक दूसरे की प्रशंसा करना है वही प्रपञ्च है । अले कपूरमञ्जरी
(१२३) मे भरवान् द—जहाँ प्रचण्ड रण्डाएँ ही बोधा प्राप्त धमपत्तिया हैं मय
धीर मास खाया पिया जाता है, भिक्षा का भोजन है चम खण्ड ही शय्या है ऐसा
कौल धम किते रमणीय न लगेगा ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (प० ४५६, १८१२०) भा० प्र० (प० २२१)
ना० द० (२ १४५) प्रता० (प० ८६) सा० द० (५ २५०) । (२) ना० द० के
अनुसार किसी एक को लाभ प्राप्त कराने वाला स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च
है—प्रपञ्च सस्त्व हास्य मिथो मिथ्यकलाभकृत् । यह लक्षण ना० शा० ना अधि
प्राय म अनुसरण करता है । ना० द मे केचित (काई) बहुवर धनिक के मत
का उद्घन किया गया है । (३) असद्भूत मिथ्या, असत्य (अभि० भा०) untruc
(Haas) । यहाँ धनिक की दृष्टि से असद्भूत शब्द का क्या अर्थ है यह सदिग्ध है ।
व्याख्याकारों ने इसका अर्थ निन्दनीय, अनुचित अलंकार आदि किया है । वस्तुन
धनिक का भाव यह प्रतीति होता है कि मिथ्या ही परदाराभिमान आदि मे निपुणता
आदि बतलाकर जो हास्य उत्पन्न करने वाली परस्पर स्तुति की जाती है वह प्रपञ्च है ।

(४) त्रिगत—

शब्द की समानता से अनेक अर्थों की योजना करना ही यहा त्रिगत
कहलाता है । जो नट इत्यादि तीनों के वार्तालाप को त्रिगत कहा गया है
वह तो पूवरङ्ग मे अभीष्ट है ॥१६९॥

जैसे विक्रमोवशी (१३) में—पुष्पों के रस से मतवाले खमरों का घृह शब्द
है, कोयलो की घमभीर ध्वनि है देवगण के द्वारा सब ओर से सेवित कलात् पर
विक्रियाँ रमणीय और मधुर अवसरों में पा रही हैं ।

कवच पुष्प
विश्व

स इत्यन—

(१) पञ्चमहाभारत

स वैश्वदेवो—पञ्चमो—

कथा दशरूपकम्

यथा ५

कृष्णभोजनोप—नानरत्न

५ ५

टिप्पणी—(१) ना० शा० (प०

शा० ६० (२ १४५) प्रता० (प० ८६)

के कई प्रकार के लक्षण तथा ०

असद्भूत कवेरुत्तु कप रन्दा इति

साम्बन्ध (अभि० भा०) कपू रमञ्जरी

धमि की वसनाय व बहु भवतों का

है के कई विरे को है । (१) नान

किन्तु स्वभा सम्बन्ध तथा के

श्री और परिचित क लक्षण का

(५) कृत—

(कार मे) त्रि

सुमारक कल्पना ही छत्र

और विक्रमर (१२१)

है—कप कट करने का

अवगतो धाम, इत्यन भाष्य की

श्रीश्री के शैल तथा कर्त्तु क रूप

निर्देश का है। यह सुगम कर्त्तु है

आये हैं ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (

द० (२ १४०) प्रता० (प० ८६)

सम्बन्ध यह है—अजायते

रन्त कृत् ना० द० के रूप

कारणत् । धमभञ्ज सा० द० (

६) द० के लक्षण का क

कठनात्मक वर्गों

कैलासे सुरमणसेवित समताद

किप्रय कलमधुराक्षर प्रगीता ॥१६६॥

अथ छलनम्—

(१८) प्रियाभारप्रियवर्णविलोभ्य *छलनाच्छलम् ।

यथा वेणीसहारे— भीमार्जुनी—

कर्ता द्युतच्छलाना जतुमयभारणोद्दीपन साधिमानी

राजा दु शासनानेगुहरनजगतम्याङ्गराजस्य मित्रम् ।

कृष्णाविशोत्तरीयव्यपनयनयद् पाण्डवा मस्य दास

कवास्ते दुषीघनीभसो कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व ॥२००॥

द्विष्यन्ती—(१) ना० शा० (अ० १८ प० ४५८) भा० प्र० (प० २३१) ना० द० (२ १४६), प्रता० (प० ८६) सा० द० (६ २५०) । ना० द० म विगत' के कई प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं । (२) विगत, ये त्रि—अनेक अनेकम् अनेकम् अथ गतम् इति विगतम् (अभि० भा०) । श्रुतिषाम्यात्—शाद साख्यात् (अभि० भा०) अर्थात् ध्वनि की समानता से, जसे ऊपर के उदाहरण म ध्वनि की समानता से यह ध्रुवरो का शब्द है कोयल की ऊँर है कि प्रिया को मा गीत है ये अथ लिये गये हैं । (३) गदादि० प्रवरज्ज का अङ्ग भी विगत कहलाता है, किंतु उसका स्वरूप इस बीधी के अङ्गभूत विगत से भिन्न है । वहाँ तो सूत्रधार नदी और पार्यायिक इन तीनों का वातालाप विगत कहलाता है ।

(५) छलन—

(ऊपर से) प्रिय लगने वाले किंतु (वस्तुतः) अत्रिय वाक्यों के द्वारा सुभाकर छलना ही छल कहलाता है ।

जैसे वेणीसहार (५ २६) में भीम और अर्जुन दुषीघन के भूषों से बहते हैं—द्यूत कवट करने वाला लासागुह (जनुमय सरण) को जलने वाला अत्यन्त अभिमानी राजा, दु शासन आदि सौ अर्जुनों का अधज (पुत्र), अङ्गराज कण का मित्र, इन्द्रोप के कैस तथा बन्धु के हारण में विनुण पाण्डवी को दास कहने वाला (पाण्डव जिसके दास हैं) वह दुषीघन कहां है ? अरे भद्रयुवा, बतलाओ, हम दोनों उत देखते थिये हैं ।

द्विष्यन्ती—(१) ना० शा० (अ० १८ प० ६५०) भा० प्र० (पु० २३१) ना० द० (२ १४०) प्रता० (पु० ८६) सा० द० (६ २५८) । ना० शा० क अनुवाकर लक्षण यह है—अयावमेव वाक्य छवममित दान-हास्य रोप कथनम् । इसी का स्पष्ट रूप ना० द० के इस लक्षण में है—बधोऽयं उत हास्य-बन्धना रोप कारणम् । सम्भवतः सा० द० (६ २५८ २५९) में दत्ते अथ तु कश्चर दिखसाया गया है । दस० के लक्षण का क्या आधार है, यह विचारणीय ही है ।

*छलनाच्छलम् इत्यपि पाठ ।

रन्ध्रं क प्रकाशं इत
वद करार म ।
सो कस्य मो होर रम्यो ।
उउ वापने व ।
स न कसि रम्य ॥१६५॥
बह ।
उते ॥१६५॥

ने भावि में निगुणा इत्यादि
रम्य हैं । बने कथन-वर्ते
प्रप्रच्छमनिर्वा है यह
अथ कथन हो कथना है ऐसा

०) भा० प्र० (प० २३१/
२३१) । (१) भा० द० के
द्विष्यन् निम्ना हास्य प्रत्यय
समन ना० शा० वा अथि
(१) बहुवच अर्थिक के मत
छलन (अभि० भा०) उत्तरे
। बस ब्रह्म है यह छलनम् है । वस्तु
कारणनिर्णय भावि में निगुणा
श्रुति की जाती है वह अथव है ।

विनया करनी ही वहाँ विगत
अप नी विगत कहा गया है
से भावको धररो का यह अथ
सब ओर से सेवित कलाक पर
है ।

अथाधिबलम्

(२०) अन्यो यथाकथाधिक्वोक्ति स्पधयाऽधिबल भवेत् ।

यथा वेणीसहारे—'अर्जुन—

सकलरिपुजयाथा यत्र वद्धा सुतस्ते

तुणमिव परिभूतो यस्य गर्भेण लोक

रणगिरिसि निहृता तस्य राधासुतस्य

प्रथमति पितरो वा मध्यम पाण्डुपुत्र ॥२०२॥

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाह भवानिव विकल्पनाप्रगल्भ । किं तु—

द्रव्यां त न चिरात्सुप्त वाघवास्तवो रणाङ्गणे ।

मद्गदाभिनवदोहियेवैगिकामङ्गभीषणम् ॥२०३॥

इत्येतन भीमदुयोधनयोरो यो यथाकथयथाधिक्वोक्तिऽधिबलम् ।

पर लक्षणकारों ने विविध लक्षण प्रस्तुत किये हैं । अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार अनेक प्रश्नों का एक उत्तर ही वाक्येनी है । सा० द० के अनुसार हास्य उपन करने वाली दो-तीन वार की उक्ति प्रयुक्ति ही वाक्येनी है सा० द० का लक्षण दशा० की द्वितीय वाक्येनी के समान है । सा० द० में दशा० की प्रथम वाक्येनी को वेचित् बहुर और अभि० के वाक्येनी के लक्षण को अर्थे' बहुर उदघत किया गया है । (६) 'एव जीवितम् इत्यादि न 'तामेव क पर्याप्त निर्वाहितवान् यह होना चाहिय अत वाक्य साक्षात् है ।

(७) अधिबल—

(दो पात्रो या) स्पर्धा के कारण एक दूसरे की बात से बढकर बात सहना अधिबल कहलाता है ।

जसे वेणीसहार (५-७) में अर्जुन-सकल० (उपर उदा० ५१) इत्यादि से आरम्भ करते 'राजा—अरे मैं आपकी तरह से आश्रमात्माया में निपुण नहीं हूँ किंतु द्रव्यनि (उपर उदा० ५६) यहाँ तक के सगन में भीम और बुद्धोयन (शेनो) की एक दूसरे से अडुकर बात दियाई गई है, अत यह अधिबल (नामक बोधो का अङ्ग) है ।

द्विपथो—(१) ना० शा० (अ० १८ पृ० ६१०) भा० प्र० (पृ० २३२) ना० द० (२ १४६), प्रया० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६०) । (२) ना० शा० तथा ना० द० का लक्षण इससे भिन्न है । ना० द० में दशा० के सगन को वेचित् बहुर उदघत किया गया है । ना० द० आदि में दशा० के सगन का ही अनुसरण किया गया है । (३) गमर्थादि के अङ्गों में (१ ६०) भा अधिबल है, यह इससे भिन्न है ।

दुस्तिः प्रीति वा ॥१७॥
न वाग्नेयी द्वितिकर्ता उक्ति

ज्ञे ।

रेण ॥१०॥
शेदि भर्त्सनाय न रि दर
रि 'दिग्भ' भर्त्सना इमान
न छन्देया चचये द्विपु
शेदमा करीभक्ति । (भर्त्सना,
शेदिके च्च एवम् । (निहि

नेने से अथवा (॥) दो
वा अङ्ग) हुआ जाती

य किये हुए (प्रयत्न=
(पुन न कल्या) यह
यन प्रतिबन्धक कल्या, यह

(६) से (पानेकी बातलो
बहुरही है) —दुप सेना
दुप सेने अङ्गों के तिन
तोको दुपसाकर (अनुपय)
क्या साय ?

ने रत्नावली (१ १६ १०) में
भर्त्सना-पुन, यह चकरी
छात्र (शेन) से लक्षण करने

(६), भा० प्र० (पृ० २३१)
० द० (६ २६६) । (१) ना०
यह लक्षण है । इसके अलावा

अथ गण्ड—

(२१) गण्ड प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८॥

यथोत्तरचरिते— राम—

इय मेहे लक्ष्मीरियममृतवतिनयनयो—

रसावस्था स्पर्शो वपुषि बहलज्वचदनरस ।

अथ बाहु कण्ठे शिथिरमसृणो भोसिभस्तर

किमस्या न प्रियो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥२०॥

(प्रथिश्य) प्रतिहारी देव उर्ध्वोदे । (देव उपस्थित ।) राम—अयि क ?

प्रतिहारी—देवस्य आसन्नपरिचारयो दुग्मुहा । (देवस्यासन्नपरिचारको दुग्मुह ।) ।

अवावस्यति दत्तम्—

(२२) रसोक्तस्या यथा व्याट्या यत्रावस्यति दत्तं हि तद ।

(८) गण्ड—

जय भिन अथ वाला होने पर भी प्रस्तुत से सम्बन्ध हा सक्ने वाला वाक्य अक्षरमात् बहू दिया जाता है तो वहाँ गण्ड (नामक वीथ्यङ्ग) होता है ॥१८॥

जसे उत्तररामचरित (१ ८) में राम—(साता को देखकर)—यह घर में लक्ष्मी है यह मेरे नेत्रों के लिये अमृत की शलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में घना चदन रस है इसकी यह पुष्पा गले में शीतल और कोमल मोतियों की माला है । इनकी क्या वस्तु श्रिय नहीं है ? यदि कुछ असह्य है तो इसका विषयो ही । (अविष्ट होकर) प्रतिहारी—देव उपस्थित है । राम—अरे वीन ? प्रतिहारी आपका निश्चय यहाँ सेवक दुग्मुह ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५८) भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२ १४४) प्रता० (पृ० ८६) सा० द० (६ २६०) । यहाँ प्रतिहारी का वचन अवावक है, अर्थात् वह दुग्मुह के आग्रहण की सूचना देने वाला है । किन्तु उसका राम व प्रस्तुत वचन से भी सम्बन्ध हा जाता है । राम ने जो कहा है 'यदि परमसह्यस्तु विरह' इस वचन का 'उपस्थित' (विरह उपस्थित) से सम्बन्ध जुड़ जाता है । अतः यहाँ गण्ड नामक वीथ्यङ्ग है ।

(९) अवस्यति दत्तम्—

जहाँ सहज सम्भाव (रस) से कहे गये वाक्य की दूसरे प्रकार से व्याख्या कर दी जाती है, वह अवस्यति दत्त (नामक वीथ्यङ्ग) है ।

यथा उत्तरराम—सैना
सो राधा विरह कल्पिन्वा ।
स राधा विरहे वीरगात् (१) मर
व्यम् ?) होना=बाण सो क
रिवायो ररुपि निग १ को
'व कुपुपु' ('बाण न वदु व
वप सारिवा =

(२३) सोहोहा निः

यथा भगवतः = व

बाणानि वि वि कल्पिता वा
पापयो वामानि विराम्भरा
नवतत्पवहपि उचि ? व

जसे उत्तरराम गण्ड में
बोलेया जाता है, वहाँ उक्त राधा
हवको राधा के आग्रह होय वृष्ण
यथा रपुलि (राग) इगारे रिता है
हो वही समस्त पुत्रिके के ही ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१
(२ १३) प्रता० (पृ० ८६), भा०
प्रता० भा० 'अक्षरानि' है । (२)
ना० द० में 'संज्ञक' तथा भा०
का वहाँ 'सोम' का अर्थ है =
सत्तावक या भावना कदा क्या ।
वदु रवणात् से ही 'राम दुग्मुह' ।
कवार से व्याख्या का ।

(१०) वासिका—

उत्प्राथ से युक्त गुरु वर्ण
जसे दुग्मुह (१ ८) (१८)
जगन्नाथ कान्ते हैं कुह हस
की लक्ष्मी को छोड़ना वाट्या है,
सो वान स कि कल्पना किं कछा
नाय ?—एत लक्ष्मी में चापक
जाता है (पर के द्वारा) यह क

यथा छलितरामे—सीता—जाद कल्लु कलु तुम्हेहि अजुज्जाए गन्तव्यं तदि सो राजा विपण्ण भविदव्वो । (जात, कल्य खलु युवाभ्यामयोध्याया गतव्यं तदि स राजा विनयेन नमित्तथ्य ।) खव—अव्व किमाव्वा राजोपजीविम्व्वा भवित्तय्य ? सीता—जाद सो कलु तुम्हाय पिता । (जात, त खलु युवयो पिता ।) खव किमाव्वो रघुपति पिता ? सीता—(सायङ्कम्) जाद ण कलु पर तुम्हाय, अखलाए ज्जेव पुहवीए । (जात, त खलु पर युवयो, सकलाया एव पृथिव्या ।) इति ।
अथ नालिका—

(२३) सोपहासा निगुढार्थां नालिकैव प्रहेलिका ॥१६॥

यथा मुद्राराक्षसे—चर—हहो बहण मा कुप्प कि पि तुह उवज्जाओ जाणादि कि नि अहारिसा जणा जाणात्त । (हहो ब्राह्मण मा कुप्प किमपि तव, पाध्ययो जानाति किमप्यम्मादृशा जना जामत्त ।) गित्य—किमस्सतुपाध्यायस्य नवशत्वमपहर्तुमिच्छसि ? चर—यदि दे उवज्जाओ सव जाणादि ता जाणाडु

जते छलितराम नाटक मे 'सीता—पुत्र कत सवरे (कल्य) तुण बीनों को अयोध्या जाना है वहाँ उस राजा को नञ्जता से प्रणाम करना । खव माता क्या हमको राजा के आश्रित होना पड़ेगा । सीता—पुत्र, यह तो तुम्हारे पिता हैं । खव— क्या रघुपति (राम) हमारे पिता हैं ? सीता (आशङ्ककराज्य) —पुत्र, बैयल तुम्हारे ही नहीं समस्त पृथिवी के ही ।

दृश्यणी—(१) ना० शा० (१८ ११७), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२ १५३) प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६ २६१) ना० शा० तथा ना० द० में इसका नाम 'अवस्तदित' है । (२) 'रशोकस्य वै स्थान पर भा० प्र० म यथोक्तस्य' ना० द० मे 'द्वेच्छोवस्तस्य' तथा सा० द० मे स्थरशोकस्य याद दिया गया है । अत यहाँ रलोक्त का अर्थ है—बिना किसी अभिप्राय के, सहज स्वभाव से, संस्कारवश या भाववश कहा गया । रस—Sentiment (Haas) । (३) सीता ने सहज स्वभाव से ही 'राम तुम्हारे पिता हैं—यह कह दिया । फिर उसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या की ।

(१०) नालिका—

उपहास से युक्त गूढ अर्थ वाली पहेली ही नालिका कहलाती है ॥१६॥

जते मुद्राराक्षस (१ १८ १६) मे 'चर हे ब्राह्मण, श्रेष्ठ न करो । कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं, कुछ हम असे लोग भी जानते हैं । शिष्य—क्या हमारे उपाध्याय की सबकता की छीनना चाहता है । चर—यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं तो जान लें कि चंद्रमा कितने अल्टा नहीं लगता । शिष्य—इससे जानने से क्या साम ?—इस त-अर्थ में सागण्य (समझ लेता है)—चंद्रगुण के अत्यन्त सौम्य को आनता है । (चर के द्वारा) यह कहा गया है ।

निन्दन् ॥१॥
॥१०॥
एक ! राम—अभि क ?
नमस्कारको स्पष्ट ।।
न हित ।

सम्बन्ध हूँ करने वाला
नामक वीर्यशून्य होता
वे देकर—यह चर में
सब हूँ तारी में बना
मोतिनों की माता है ।
तथा शिष्यो ही । (गिर्य
प्रतिहारो आरणा निरद

भा० प्र० (पृ० २३२),
(२६०) । यहाँ प्रहारा का
रचना देने वाला है । किन्तु
राम ने जो कहा है यदि
उपरिष्ठ) से सम्बन्ध अर्थ

वाक्य की दूसरे प्रकार से
नक वीर्यशून्य है ।

यथा वा—

मुक्ता हि मया गिराय स्नातोऽहं बह्विना पिबामि विष्यद् ।
हरिहरहरिष्यमभां मत्पुत्रास्तेन नत्यामि ॥२०७॥

सय व्याहार —

(२५) अथायमेव व्याहारो हास्यलोभकर वच ॥२०॥

यथा मातृविकानिभिरास्य प्रयोगवशात्—(मातृविका निग'मुमिच्छति) विदूषक—मा दाव उवएसमुद्धा गमिस्समि । (मा तावत् उवदयामुद्धा गमिष्यसि) इमुपन्नमे गणदास—(विदूषक प्रति) आय उच्यता मत्स्वया ब्रह्मभेदो लक्षित । विदूषक—पदम पठतूसे बह्वाणस्त पूत्रा भोदि सा तए लक्ष्मिदा (मातृविका स्मयते) । (प्रथम प्रत्यय ब्राह्मणस्य पुत्रा भवति । सा तथा लक्ष्मिता ।) इत्यादिना मायकस्य विश्र'धनाधिक्यदानप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहार ।

उमादपुत्र बचन है—मैं नवत पा लिये मैंने आग से स्नान किया, मैं आकाश को पीता हूँ विष्णु, शिव और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं । इतलिये मैं नाच रहा हूँ ।'

टिप्पणी—(१) ना० भा० (१८ ११६) भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२ ४८), प्रता० (प्र० ८६) ना० द० (६ २६८) । (२) दश० का यह लक्षण ना० भा० के आधार पर नहीं है । इसका आधार क्या है ? यह चिन्तनीय है । भा० प्र० ना० द० तथा सा० द० में अस्तत्प्रत्यय क कई प्रकार बतलाये गये हैं उनमें यह भी एक प्रकार है । सा० द० के अस्तत्प्रत्यय तीन प्रकार सभी पूर्ववाच्यों के लक्षणों का समग्र हा जाता है । तदनुसार अस्तत्प्रत्यय तीन प्रकार का है—(i) असम्बद्ध वाक्य (मि० दश० तथा प्रता०) (ii) असम्बद्ध उत्तर और (iii) न समझने वाले श्रुत के हितकारी वचन बहुधा (मि० ना० भा० ना० द० तथा भा० प्र०) ।

(१२) व्याहार—

हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला ऐसा वाक्य जिसका प्रयोजन मुठ और ही होता है, व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है ॥२०॥

जसे मातृविकानिभिर (२५—१०) में हास्य प्रयोग की समाप्ति पर (मातृविका जाना चाहती है) विदूषक—समी नहीं शिदा में शुद्ध होकर जाओगी इस बातम म गणदास (विदूषक क प्रति)—आय हरिय जो आपने इम मेरे देखा है । विदूषक—पहिले तो प्रात कास ब्राह्मण की पूजा होनी है उसका इमने उत्सुकन कर दिया (मातृविका मुस्कराती है) ।

इत्यादि वचन मायक को आ'वस्त (पिष्यय) मायिका का वस्तन कराने क लिये प्रयुक्त हुआ है (अर्थात् है) किन्तु हास्य क साग को उत्पन्न करता है वत यहाँ व्याहार (नायक वीथ्यङ्ग) है ।

र क्व बापति तस्यापुत्र ताव
भरति ? इत्युपर कातर =

पयोतर ।

पु । दन = इत्यप्यन्तिप्रो

पिन्हे-

हवाङ्क रात् ।

पान्या

पिन्ति पुपत्तु व (१०॥)

प ।

॥

र म (पृ० ११८), ना० द०
११) । (१) प्रतिष्ठा—पुत्रो
पत्नर श्रेष्ठिका (सा० २०) ।
काश्च विवरा उरर इत्यो को
का पुत्र वच च मुपु व है ।

पुत्र से मुक्त वचन बतलायता

य वाली बात होने पर तो
(गणदास) ठीक वही स्त्रीक
अभयप्रस्ताप ही विचार हीत
ने (हास्य के कारण होने वाला
मुठ छिटाँ को ओक के दोनों
प के कारण रत विरते दोनों के
सात पर इ प्रकार मिले हुए
तथा मिठुता के कारण इत्येमुने

ये के विषय में उत्तर पुत्रवा का
सर्वी बाल सुने पुत्रा को है ।
पिन्तिव सिवा जाता है उसे एवं
क्या जाता है । अर्थात् कहे (पु

अथ मूढवचम्—

(२६) दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्फुटं देव हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

मेदशङ्केः कृषोदर लघु भव यु दानयोग्य वपु
सत्वानामुपलक्ष्यत विकृतिमन्वित्त भवक्रोधयो ।
उत्तरप म ध्विनो म दिपव मिध्वन्ति लम्बे चले
मिध्वव व्यनन वदति त मृगयामीर्गविनोव कुत ॥२०८॥
इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।

यथा च—

'सततमनिवृ तमानसमायामसहस्रमङ्कलकिलगटम् ।
मननिद्रमविश्रवास जीवति राजा जिमीपुररथम् ॥२०९॥

इति राज्यगुणस्य दोषोभावाः ।

दृष्टिणी—(१) ना० शा (अ० १८ पृ० ४५८) भा० प्र० (पृ० २३२),
ना० द० (२१४२) प्रता० (पृ० ८) मा० द० (६२६) । (२) दश० का यह
लक्षण ना० भा० मे भिन्न है । ना० द० मे ना० शा० तथा दश० दोनो के आधार
पर दो प्रकार का व्याहार बतलाया गया है भा० प्र० प्रता० तथा सा० द० मे दश०
का अनुसरण किया गया है । (३) अभि० भा० के अनुसार "वाहार शः" की "युत्पत्ति
है— विविधोऽर्थाभिधीयते येन । ना० द० के अनुसार विविधो य आह्वयतेऽनया
(तस्या) इति व्याहारः ।

(१३) मूढवच—

जहाँ दोष, गुण और गुण, दोष हो जाते हैं वह (कथन) मूढवच (नामक
वीर्ययज्ञ) है ।

यने शाकुन्तल (२५) मे (सिध्वन्ति मृगया के विषय में कहता है)—जोग
मगया (आखेट) की श्रेय ही ध्यनन (जुती आदत) बनलाते हैं । भला ऐसा जिनोव
कहाँ है ? इससे शरीर चरबो (चद) के छट जाते से हुआ उदर चाला हलका और
परिधम के योग्य हो जाता है भय और श्रेय के समय भिन्न भिन्न बिकारों से युक्त
अङ्गुली अनुओं का चित्त भी बिखलाई दे जाता है । और यह तो धनुपरियों का
उत्कप है कि उनके बाण चञ्चल सक्षय पर भी सकल हो जाते हैं ।

महाँ मगया के बोधों को गुण बना दिया गया है ।

और जसे (?)—यह विजय की इच्छा वाला राजा ऐसा जीवन व्यतीत
करता है कि जियमें भन बिन्दर असात (अनिवृत्त) रहता है सहस्रों कठिनाइयों
(आघात) से भरे रहने के कारण बलेश रहता है जिन्ना नहीं आते तथा किसी का
विश्रवास नहीं होता' ।

उपय सा—
सत वरविश्रवणं च
स १११ ५५
स्य नानि १३३ न
स्य सुवृत्त
इति मृगयादोषस्य गुणीकारः
(२३) एवम च १३३
प्रतापनाम् ।
दश—
(२)
कातिशयो ६
प्रकृतवत् ५
तत्रागत ५०

इय प्रकार राम क सुती को
(अर्थ) एक साफ भा सुती को श्र
आता है) बने—किड बरविश्र
राज होने रहने से ५०
दुःखद क आवर व्यात त करते है ।
मने—पुण। को न को मने म
दृष्टव मने तुने के बात क पूर है
(यने मृगया क र टु का
गुण बना दिया गया है)
दृष्टिणी—(१) ना० भा० (१
ना० द० (२१४०) प्रता० (पृ० ८)
मे (१६) अमगया क श्र
दशम मे किमी एक क ५
प्रतापना क अत मे चला आव
की व्यवस्था कर ॥२११ २०॥
दृष्टिणी— भा० प्र० (पृ० १
उप (मार्क) स—
जिस (शिवदत्त) म
गुणो स युक्त धारणात्
मीना बना का रमक, पृथिवी का
अवस्था स्थित जन नायक हूँ, एव
अविचारित कवाचल बनाया ॥

उभय वा—

सत् सच्चरितोदयधमनिन प्रादुर्भवच्छत्रणा

सबभय जनपथादचक्रिता जीवति दुद्य सदा ।

अव्युत्पन्नमनि वृत्तेन न सता नृवासता व्याकुलो

मुत्तममुत्तविवक्षुयहृद्यो घ भी जन प्रावृत् ॥२१॥

इति प्रस्तावनाज्ञानि ।

(२७) एषामयतमेनार्थं पान वाशिष्य सूत्रभृत् ॥२१॥

प्रस्तावनाते निगच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ॥

तत्र—

(२८) अभिगम्यगुणयुक्तो धीरोदात्त प्रतापवान ॥२२॥

वीतिकामा महुरसाहृत्त्रय्यास्त्राता महीपति ।

प्रख्यातवशो राजपिदिव्या वा यथ नायक ॥२३॥

तत्प्रख्यात विधातव्य वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

इस प्रकार रास्य के गुणों को दोष रूप में बतलाया गया है। अथवा दोनों (अर्थों) एक साथ ही गुणों को दोष के रूप में तथा दोषों को गुण के रूप में कहा जाता है। अने—मिदं सच्चरित के उदय का व्यसन शान्त है और इसलिये कष्ट उदयप्र होने रहते हैं वे मनुष्य सबत्र ही सोच निरा से भागझिक्त रहते हैं और तथा दुःखप्रयुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु जिसकी बुद्धि कुछ नहीं समाप्तो (अधुन्यप्र मति = मूल) जो न तो अक्षय्य कम से न ही बुद्धे कम से व्याकुल होना है और जिसका हृदय मते बुद्धे के ज्ञान से शून्य है वह सामारण (प्रावृत्त) जन घट्य है।

(महाँ संज्ञकता रूप गुण का दाप बना लिया गया है और प्रस्तावना रूप दोष को गुण बना लिया गया है)

टिप्पणी—(१) मा० मा० (म० १८, पु० ४५७) मा० प्र० (पु० २३३) मा० ८० (२ १५०) गता० (पु० ८६) सा० ८० (६ २६३)

ये (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं।

इनमें से किसी एक के द्वारा वस्तु या पात्र का सूचित करने सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में चला जावे और तब (माटघ) कथावस्तु (के अभिनय) की व्यवस्था करे ॥२१ २२॥

टिप्पणी—मा० प्र० (पु० २३३) ।

उत्त (माटघ) के—

जिस (इतिवृत्त) में उल्लेख्य (अधिगम्य = रमणीय, सेवन करने योग्य) गुणा से युक्त, धारादात्त, प्रतापमानि वीरिण का इच्छुक, अत्यन्त उत्साही, सौना देना का रक्षक, पृथिवी का पालक, प्रसिद्ध बन्धु बना का कोई राजपि अथवा पित्र्य जन नायक हा एते इतिहास प्रसिद्ध (प्रश्रमन) इतिवृत्त का अधिकारिक कथावस्तु बनाना चाहिए ॥२--२३-२४॥

वर्द्ध हितम् ।

गोपनी ।

च

कुन ॥२०॥

इदुनविष्णुम् ।

विश्वीयुत्तम् ॥२०॥

१) पा० ४० (पु० २३२), २४५) (२) सा० वा यह तथा तथा दोनों के आधार प्रता० तथा सा० ८० में वता० पा० अथवा म- को सु-रुजि ८ विविधायक अतिशयमेव

है वह (कथन) मूल (नामक

विषय में रहता है।—कोय उपनये हैं। कता देता कोय ने इस तरह कता, हस्ता और नर मित्र मित्र विस्तारों से पुन । और यह तो कठुप्रतिरो का ज्ञ हो बने हैं ।

गया है। कता देता कोय कोय कता देता है। सहाई कथितो विना नहीं आती तथा किसी क

यथा छपना बालिवञ्चो मायुराजेनोदात्तराधये परित्यक्त । वीरचरिते तु रावणसीहृदेन वाली रामवदायभागतो रामेन हत इत्ययथा हृत ।

(३०) आद्यन्तमेव निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥२२॥

छण्डश्च सौ घसमाश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

चतुः षष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति—

अनौचित्यसविगोधपरिहारपरिशुद्धीकृतमूषनीयदशनीयवस्तुविभागपसातुसारे-
नीयवस्तुबोधियुपताकाप्रकरीकायनक्षणाद्यव्यक्तिक पञ्चावस्तानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चरकस्य भागस्य द्वादश त्रयादश चतुदशत्यवमङ्गसजात् स धीना विभागो कुप्यत् ।

जैसे भापुराज ने उदानराघव नामक नाटक में (राम के) छल से बालियघ (की घटना) को छोड़ दिया है । महावीरचरित में (प्राप्त होने) ने) इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है कि रावण की मित्रता के कारण वाली राम का वध करने के लिये आया था तब राम ने उसे मार दिया ।

टिप्पणी—(१) प्रा० २० (पू० ३३-३४) ता० ६० (११५) सा० ६० (६५०) । () प्रा० २० म भी दश० की बार्शिका दी गई है । सा० ६० में तनिक सा परिवर्तन करके दश० का कारिका तथा धनिक की टीका को ल लिया गया है । किन्तु तादर्थ्यपथ में दश भाव को अधिक विस्तृत किया गया है, तदनुसार—

अनुत् च विरुद्ध च नायकस्य रसस्य वा ।

युक्त यत् यत् परित्याज्य प्रकल्प्यमयवायथा ॥

अर्थात् जो बात नायक के अथवा रस के लिये अनुचित और विपरीत हो उसका परित्याग कर देना चाहिये अथवा उसकी अन्य प्रकार से कल्पना कर लेनी चाहिये । यहाँ अनुचित और विरुद्ध दानो का नायक और रस दानो के साथ सम्बन्ध है । उदाहरणार्थ घोरसतिन नायक क लिये परस्त्री समागम अनुचित है तथा धीरोद्धता का धारमगतता से विरोध है । इसी प्रकार शृङ्गार में आधिक्कन युक्त्यन्त आदि का प्रत्यक्ष विद्यत न अनुचित है और शृङ्गार का बाधन से विरोध है (ता० ६० दृष्टि) । विचारणीय यह है कि का दश० की बार्शिका का तादर्थ्य धो ना० ६० के समान ही तो नहीं है ।

(नाटककार) इस प्रकार (द्विचतुष्टय) का आदि और अन्त का नियम्य करने और उसको (सौ घ नामक) पाँच भाग में विभक्त करने उन सौघ नामक भागों का भी छण्डा (सध्यङ्गो) में विभक्त करे । इस प्रकार ये (आधिचारिक इतिवृत्त के) ६४ अङ्ग होत ॥२५ २६॥

(भाव यह है कि) अब (नायक क) अनौचित्य और रस विरोध के परिहार स हस्तु सिद्ध हा ज्ये और उनमें दृष्ट्य एव हाय का विभाग कर विभाज्ये तब नाटककार उसमें दस क अनुत्तरा बीज, किन्तु पताका प्रकृषी और अर्थात् नायक पाँच

नन्दामिमादिदुष्यसो रामा
ना नावरत्नस्यव्यतिरेकान् दण्ड

रसस्य वा ॥२४॥
प्रकल्पयेत् ।

यान् चरणा (?) तथा सीति
ते से पुत्र, रावणक म्यासात
न नामक होना है ऐसे शिवाय
आधिकारिक (प्रधान) बन्धवस्तु

प्रा० (पू० २३१, ना० ६०
(१) दण्ड नामक का संगण
कि जो बड रावणस्य आदि में
ना का नायक बालियना तथा
अन्त है ऐसा सतिन ओ अन्त
६० में नायक के बीज अन्त
मातृगुण का नायक अनुत्
वन् दोनो के भिन्नमे महाभात
पर्यन्त जो सिद्ध पुत्र होत हु
चरित आदि में राम है उदा
दशकार से नाटक में (दिना)
कि नायक तो राम के समान
प्रकार का सरस उन्त २३ के
को भी दण्ड भाग म कर ले
के लिये अन्तमे है और यह
आध्यात्मिक बह्मजुगुपरा इति
) अन्तमाधिक के समान रस
मुक्त प्रत त होता है ।
नायक के लिये अनुचित होना
वा उसकी अन्य रूप म कल्पना

१) ऊपर तथा ॥२६॥
 प्रिति ।
 "रुगी म्यन् ॥" अ।
 वि-रु" वि-रु" मन्विन्वन्" रुगी
 मन्विन्वन्" म प्रकतिगोत्रेन स्यन्तान्
 ॥

कल्पयन्ति ।
 १) कल्पयन्तु को चोचि कल्पयन्तु
 "न्" क म्बुन्वन् चोचि कर्त्तुं (पुत्र
 नी २२२ क म्बुन्वन् हे (प्रथम प्रकाश
 मः "न्" क म्बुन्वन् (कल्पयन्ति)

प्र० (१० ३१) ।
 जन्म भी एक दो आदि अनु
 पनाका वस्तु । म यथा प्राय
 (मन्मक प्राप्तिपक इतिवृत्तः)
 ॥

प्र० को नायक नामक प्राप्तिपक
 कल्पयन्ति (मन्मक चोचि कर्त्तुं
 वस्तु मन्मक को हीन का बार
 मन्मक रक्षेण कर्त्तुं को अर्थ ही
 ही) प्रकृती नामक को अर्थ ही
 जन्म कर्त्तुं ही ।

प्र० (१० २१५) । (३) अनु
 प्राप्तिपक वस्तु का भी कर्त्तुं म
 कर्त्तुं मन्मक वस्तु का
 वस्तु कर्त्तुं मन्मक (११ २२) म

या तु को मन्मक ।
 कर्त्तुं मन्मक ॥
 मन्मक २२-
 वस्तु क अनुकार (कल्पयन्ति)

इयमत्र काययुक्ति —

- (३३) अपेक्षित परिश्रय्य नीरस वस्तुविस्तरम् ॥२८॥
 यदा स दशयेच्छेष कुर्वाद्द्विकम्भक तदा ।
 (३४) यदा तु सरस वस्तु मूलादेव प्रवतते ॥२९॥
 आदादेव तदाङ्क स्यादामुखाक्षेपसथय ।

स च—

- (३५) प्रत्यक्षनेतृचरितो विदुष्यापितपुरस्त्वत् ॥३०॥
 अङ्को नानाप्रकाराद्यसविधानरसाथय ।

इस विषय मे काययुक्ति यह है—

जब (नाटककार) नीरस किन्तु (कथा वस्तु के विकास के लिये) आवश्यक वस्तु विस्तर को छोड़कर शेष भाग को (रङ्गमञ्च पर) दिखलाना चाहे, तब वह (उस नीरसवस्तु की सूचना देन के लिये) विकम्भक की रचना करे ॥२८ २९॥

टिप्पणी—(१) मा० प्र० (प० २ ४) सा० ६० (६ ६१) । (विकम्भक पाँच अर्थोपशपको म से एक है (ऊपर १ २८) । जब कथा मे आरम्भ मे ही कोई वस्तु नीरस हाती है किन्तु कथा सूत्र जोड़ने क लिये अपेक्षित होता है तब उसकी सूचना देने क लिये नाटक क आरम्भ मे विकम्भक रचना आवश्यक हो जाता है । यह विकम्भक आमुष के पर्याय हुआ करता है । जसे रत्नलता मे योग धरायण द्वारा प्रयुक्त विकम्भक है ।

किन्तु जब आरम्भ से ही कथावस्तु सरस हाती है तब तो (नाटक के) आदि मे ही अङ्क रख दिया जाता है और उस अङ्क का आधार आमुष प्रस्तावना) मे सूचित पात्र प्रवेश हुआ करता है ॥२९ ३०॥

टिप्पणी—(१) मा० प्र० (पु० २३५) मा० ६० (६ ६२-६३) । (२) शाकुन्तल मे आमुष के पर्याय अङ्क की ही योजना की गई है वही आरम्भ मे विकम्भक नहीं रखा गया । (३) आमुषन पात्राद्य सथय, यथ स आमुषाक्षय सथय इत्यङ्कविशयणम् (प्रमा) ।

और, यह—

जिसमे नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाता है जो किन्तु की व्यापित से युक्त होता है और अनेक प्रकार के प्रयोजन (अथ) सविधान तथा रसो या आश्रय होता है, वह अङ्क है ॥३० ३१॥

रङ्गप्रवेशके साक्षात्निदिश्यमाननायकव्यापारी विदूषकोपायपरिमितोज्ज्वलप्रयोजन सविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्क ।

जहा रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश होने पर तासात् रूप से नायक के व्यापार (कार्यो) का निर्देश किया जाता है जो बिन्दु के उपलक्षे रूप अर्थ से परिच्छिन्न होता है (टि०) तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन, सविधान एव रसा का उत्सङ्ग (गोब) के समान आधार होता है वह अङ्क है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१३-१८), भा० प्र० प० २३३) ना० द० (११६) प्रता० (३६) सा० द० (६१२-१४) । (३) प्रयक्षनेतुवरित —प्रत्यक्ष रङ्गप्रवेशान साप्तात् निदिश्यमान नेतुवरित नायक व्यापारी यत्र भाव यह है कि अङ्क मे रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश करने के उनक कार्यों का साक्षात् रूप से (दृश्य रूप मे) चित्रण किया जाता है । नायक व्यापार का अभिप्राय यह है कि नायक जा फल प्राप्ति के लिये उपाय करता है (चरित) तथा उस जो फल (उपभोग) प्राप्त होता है उन लोग का ही साक्षात् रूप से निर्देश करना चाहिये तभी सामाजिक को नाटक आदि से उपदेश प्राप्त हो सकता है (मि० प्रत्यक्षचरितसम्भोग , ना० शा० १८-१७ तथा दृश्याय , ना० द० ११६) । (३) बिन्दुव्याप्तितुल्यरहित —बिन्दु याचित पुरस्कृत यत्र (=विदूषकोपायपरिमित—बिन्दु) लक्षणावपण अर्थमे परिमित भाव यह है कि अङ्क मे बिन्दु के व्याप्ति रूप व्यापार का ध्यान रक्खा जाता है । जहाँ कोई एक एक प्रारम्भ आदि कार्यावस्था समाप्त हो जाती है अथवा कार्यावस्था तो समाप्त नहीं होती बिन्दु ऐसी घटनाएँ आ जाती हैं जिनका एक दिन मे अभिनय करना सम्भव नहीं होता और अङ्क को समाप्त करना पड़ता है वहाँ समाप्त होने वाले अङ्क का अभिप्राय अङ्क से सम्बन्ध जोड़ने के लिये पूर अङ्क क अन्त मे बिन्दु की योजना करना होती है । इस बिन्दु के उपलक्षेण यत्र त ही अङ्क हुआ करता है अतः धनिक मे बिन्दु उपसवाय—परिमित' कहा है । यहाँ अर्थ—संक्षिप्त वृत्त कथान, कथा का स्वतंत्र भाग उसी के द्वारा बिन्दु का उपसव हुआ करता है अतः उसे विदूषकोपाय कहा गया है । (प्र० आगे ३३७ बिन्दुनेत्र) और उस उर्ध्वार्थ बिन्दु का अधिप अङ्क मे विस्तार हुआ करता है । (मि० सविन्दु , ना० द० ११६) । प्रता० म बिन्दुयत्किरुद्वरुत्त पाठ है । (४) नानाप्रकारसविधानसाध्य—अङ्क (१) अनेक प्रकार के अवातरप्रयोजनो (अथ) (११) विशेष प्रकार के कथासंनिवेश, या धनुतु सपटक (=सविधान) तथा (११) अङ्क एव अङ्गी होने वाले रसो का का आशय होता है—नानाप्रकाराधानाम् → अनेकानातरप्रयोजनानाम् सविधानानाम् =कथासंनिवेशविशेषादावाम् रसानाम् = अङ्कप्रदानाम् अङ्गितानां वा रसस्य (आशय) =प्रता टीका । अनेक प्रकार प्रयोजन समपावनस्य रसस्य चाशय (प्रभा) । ना० शा० (१८-१४ तथा आगे) मे भी अथ एव नानाविधान आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है । बिन्दु वहाँ इनके अभिप्राय अस्पष्ट है ।

अङ्क योजना के लिये कुछ आवश्यक बातें आगे दी जा रही हैं—

(१६) अन्तर्भाव

दृष्टान्त

कहूँ कहूँ कालकाल

दृष्टिमां साक्षात्परिचय

(३) न कालिदास

रस वा न ।

कथनप्रकार

और सब (बहु) मे—

अनुगत रिपय,

का शून्य करत

परिचयन करना चाहिये

स्वीति (मात्रा में)

स्वायं भव का को शून्य

(मि०) एन के रसो का शून्य

कालिदास रसो मने (?) ।

टिप्पणी—(१) ना० द०

पञ्चम मुन इति 'युग्म' म

व्यास एव के रसना पाठ का दूट

कवि का शून्य करे कालिदास

है (मि० अति-कीन—मन्तर

कुरार बलार भविष्यी कुरार

रसय शक्ति काय (१, ३ ३)

अन्तर्भाव (मि०) आग

का देना चाहिये और न हो वन्दु

विशेष कर देना चाहिये ।

रस कल्पद्रु (मि०) आग

के ताप रस का तिरोधान न कर देना

टिप्पणी—(१) ना० प्र० (१४)

(१६) (३) विच्छिन्न

(१७) कथनप्रकारस्य—देना प्र

कर है—कथा तथा कथासुक्त के

कवि कल्पद्रु का शून्य हाया है ।

तत्र च—

(३६) अनुभावविभावाम्ना स्याथिना व्यभिचारिभि ॥३१॥

शुहीतमुवर्त कतव्यमङ्गिन परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्यङ्गुरसस्थापिन सप्रहायानिति रसातरस्थापिनो ग्रहणम् ।
शुहीतमुवर्त परस्परव्यतिकीर्णरिष्यव ।

(३७) न चातिरसतो वस्तु दूर विच्छिन्नता नयेत् ॥३२॥

रस वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणं ।

कथासंध्यङ्गोपमादिलक्षणं भू यथाविधि ।

और उस (अङ्क) से—

अनुभाव, विभाव, (अथ रस के) स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भावा का ग्रहण करते हुए तथा छोटेते हुए, उनके द्वारा अङ्गी (प्रधान) रस का परिपोषण करना चाहिये ॥३१॥ ३२॥

बयोकि (कारिका में) 'अङ्गिन इत पद से अङ्गी रस के (साथ साथ उसके) स्थायी भाव का भी ग्रहण हो जाता है इसलिये 'स्थापिना इत पद त अथ (अङ्गी से भिन्न) रस के स्थायी का ग्रहण होता है । शुहीतमुक्त का अर्थ है—एक दूसरे को लांघकर रखे गये (?) ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३५) । (२) शुहीतमुवर्त—पूव शुहीत परवान् मुक्त इति शुहीतमुक्त त, अर्थात् किसी अनुभाव आदि का ग्रहण करने उससे प्रधान रस के स्थायी भाव को पुष्ट करे फिर उसका छोड़ दे । फिर दूसरे अनुभाव आदि का ग्रहण करे । धनिक के परस्पर व्यतिकीर्ण पद का भी यही भाव प्रतीत होता है (वि+व्यति+कीर्ण—लांघकर वा लांघकर रखे गये) । किन्तु प्रमा टीका के अनुसार परस्पर व्यतिकीर्ण परस्पर मिश्रित सांकेयवां । (३) अनुभाव आदि का स्वरूप देखिये आग' (५, २, ३, ७) ।

अत्यधिक रस (पोषण) के द्वारा क्यावस्तु को अत्यंत विच्छिन्न नहीं कर देना चाहिये और न ही वस्तु, अलङ्कार तथा लक्षणा के द्वारा रस को तिराहित कर देना चाहिये ।

कथा साध्यम् (वस्तु) जपना आदि अलङ्कार तथा भूषण आदि माटप-लक्षणों के द्वारा रस का तिराजान न कर देना चाहिये

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३५-२३६) भा० २० (११५) सा० २० (६५) । (२) विच्छिन्नता—कथावस्तु के प्रवाह का मज्ज हा जाना (disconnection) अस्वल्पद्वारलक्षण—एसा प्रवाह होता है कि धनिक के अनुसार धम्तु का अर्थ है—कथा तथा कथावस्तु के विभाग वा सध्यङ्ग कहताये हैं अलङ्कार स उनमा आदि अलङ्कारा का ग्रहण होता है । सगण का अर्थवाप्य है—भूषण, अगस्तपता

रूप सापत्न्यमितो ज्ञेययोगेन
सापत्न्य रूप से गणक के ध्याता
रूप रूप से परिच्छिन्न होता है
रूपों का अलक्षण (गौर) के लक्षण
भा० प्र० २० २३६, सा० २०
(३) अथपनेवुवर्ति—अन्य
गरी पर, भाव वह है कि अङ्क
का सापत्न्य रूप से (इस रूप
ग्रहण वह है कि सापक का पन
की रूप (अधोग) ग्रहण होता है
तभी सामाजिक को वादक
विभागेन, ता० भा० १० १३
ग्रहण—किन्तु—किन्तु प्रवृत्त
सर्वत्र परिचित भाव वह है
का अर्थ है । जहाँ कोई एक
मा भावविषय तो सम्यक् कही
म अभिप्रेत करणा सम्भव
गण्य होने वाले अङ्क का अर्थ
शुची वा अज्ञाना कता होती है ।
प्रतिक ने किन्तु अथपत्न्य—
उपमा का स्वर भाव उद्यो के
निर्माण कहा गया है । (१०) अने
य अङ्क में विस्तार का कता
क इतु न किन्तु स्वरूप प्राप्त है ।
क प्रकार के अज्ञानलक्षणावर्तों
अलङ्कार (=अविधान) तथा
विच्छिन्नता—अज्ञानशरारवातम्—
विच्छिन्नतावर्तम् स्वरूपम्—
टीका । अनेक प्रकार अज्ञान
- १५ तथा अनेक में भी अथ
- किन्तु यही अनेक अविधान

(३८) एको रसोऽङ्गीकृतव्यो वीर शृङ्गार एव वा ॥३३॥
अङ्गमये रसा सर्वे कुर्यान्निवहणेऽङ्गुत्तम् ।

ननु च रसांतरस्वामिनस्त्वनेन च रसांतराणामङ्गावभुतम् तत्र यत्र रसांतर
स्वामी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयतोपनिवध्यते तत्र रसांतराणामङ्गावभु
केवलस्वाम्युपनिबधे तु स्वामिनो व्यभिचारित्वे ।

इत्यादि ३ नाट्यनयन (म० द० १७१-१७५) । भावप्रकाशन के अनुसार आक्रम
आदि नाटपालङ्कारा का भी यहाँ प्रहण होता है । (३) कारिका का भाव यह है कि
रस और वस्तु दोनों का संतुलन ही वाञ्छनीय है । यहाँ अवलाक टोका वा पाठ
संदेहास्पद है ।

नाटक में एक रस वीर अथवा शृङ्गार को अङ्गी (प्रधान) रखना
चाहिये, अन्य सभी रसा को अङ्ग रूप में, और निवहण सिद्ध में अद्भुत रस
रखना चाहिये ।

(शङ्का) कारिका ३१ में स्वामिना (रसांतरस्वामिना) इस पद के द्वारा ही
अय रस (प्रधान रस) के अङ्ग होते हैं यह कह बिना गया है (किर यहाँ कहने की
यवा आवश्यकता है ?) (समाधान) ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं (तत्र) क्योंकि जहाँ
किसी अय रस का स्वामी भाव अपने अनुभाव विभावों और व्यभिचारी भावों के
साथ मिली भाँति (भूयसा) विख्याता जाता है (उपनिबध्यते) यहाँ तो अय रस
(प्रधान रस के) अङ्ग होते हैं (यह) यान अङ्गमये रसा सर्वे में कहे ज रही है) ।
किन्तु जहाँ (अय रस के) स्वामी का अनुभाव आदि के बिना (=केवल) ही निरूपण
किया जाता है यहाँ तो बहुत अय रस का स्वामी (प्रधान रस का) व्यभिचारी भाव ही
हो जाता है (यह) बात का० ३१ में स्वामिना' पद द्वारा कही गई थी) ।

दिल्लीपाठ—(१) ना० शा० (१८-५३) भा० प्र० (पृ० २५६) ना० द०
(१-१५) प्रस्ता० (३-३-५), सा० द० (६-१०) । (२) ननु० इत्यादि शङ्का वा
आशय यह है कि ३१वीं कारिका में स्वामिना शब्द के द्वारा यह कहा गया है कि
प्रधान (अङ्गी) रस का अय रसों के स्वामी भावा द्वारा पोषण करना चाहिये । इस
वचन से स्पष्ट है कि अय रस प्रधान रस के अङ्ग होते हैं किर यही बात अङ्गमयं०
इत्यादि द्वारा कहना पुनरुक्त मात्र ही है । तत्र० इत्यादि समाधान वा अभिप्राय
यह ० —३१वीं कारिका में तो (अय रसों के) केवल स्वामी भावों को प्रधान रस
का पोषक (अङ्ग) कहा गया है । केवल स्वामी भाव का अभिप्राय है—अनुभाव
आदि से रहित स्वामी भाव । यह वस्तुतः प्रधान रस का व्यभिचारी भाव ही हो
जाता है वह पहन किसी रस का स्वामी भाव वा दत्तिलिये उसे स्वामी कह दिया
जाता है । इसके विपरीत 'अङ्गमयं० इत्यादि में अय रसों को प्रधान रस का अङ्ग
बतलाया जा रहा है । जब कोई स्वामी भाव अनुभाव आदि से पुष्ट होता है तो

(१) कुम्भन पद
ननु च का
३३ ५५५
शृङ्गारोऽप्यत्र ५५
(५) रसांतर रस
कुर्यान्निवहणेऽङ्गुत्तम्
स्वामिना स्वामिना
(५) एतत्
रसांतराणां
यस्य स्वामी
रस का प्रधान रस का भाव
युक्तम् है ।
कहते हैं रसांतर शब्द—
दूर की भाँति, रस
शब्दना (=दत्तिलिये), प्रधान
का प्रधान रस से नुरी
कुर्यात् अङ्गी के द्वारा इन्हें
सुविचार से रस करिण ।
अतिशयोक्ति मारक व
आवश्यक वरत का रसांतर
भाव यह है कि स्व
शेष सूचित करता करिण ।
रसांतराणां ही कही कही है
स्वामी—(५) रसांतराणां
(१) (१-१) सा० द० (५-१५)
इसके भाव का प्रकाश
करके कही है ।
कहते हैं स्वामी भाव दूर का
इस प्रकार (५) रसांतर
का किं चिद्विषय पदक
ही को सौजन्य या चार पाठों में
म (अङ्गमयं च) निरूप
३३ ५५५ स्वामी भाव

(३६) दूराध्वान वध युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४॥

सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम् ।

*अम्बरग्रहृणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशत ॥३५॥

अङ्कर्वेवोपनिवघ्नन्त, प्रवेशरादिभिरेव सूचयदित्ययम् ।

(४०) नाधिकारिवध व्वाणि त्याज्यमावश्यक न च ।

अधिहृतनायकवध प्रवेशकादिनापि न सूचयेद् वावश्यक तु देवपितृकार्वाणव
स्यमेव वचचित्तुर्वादः ।

(४१) एकाहाचरितकाथमित्थमास'ननायकम् ॥३६॥

पात्रैस्त्रिचतुरङ्क तोपाम'तेऽस्य निगमः ।

वह रस बहुलता है और अनुमान आदि से युक्त अथ रसो क स्वायी भाव जब प्रधान
रस का पोषण करते है तब अथ रस प्रमानरस के अङ्क बढ जाते है । इस प्रकार
पुनर्तिक नहीं है ।

अङ्कों में अवसनीय वस्तु—

दूर की यात्रा, वध युद्ध, राज्य विप्लव और देण विप्लव आदि घेरा
डालना (=सरोध), भोजन स्नान, रतिक्रीडा अनुलेपन, वस्त्रग्रहण इत्यादि
को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखलाना चाहिये ॥३४ ३५॥

सर्पान्तु अङ्को के द्वारा इन्हें नहीं दिखलाना चाहिये प्रवेशक आदि के द्वारा हो
सूचित कर देना चाहिये ।

अधिकारी नायक के वध वा वही भी निर्देश न करना चाहिये और
आवश्यक वस्तु का त्याग न करना चाहिये ।

भाव यह है कि आधिकारिक वस्तु नायक का वध प्रवेशक आदि के द्वारा
भी न सूचित करना चाहिये । किन्तु देव पितृ काय आदि जो आवश्यक वस्तु हैं
उनका अवयव ही कहेंगे न कहेंगे निर्देश करना चाहिये ।

दिप्यभो—(१) ना० बा० (१८-१८) पा० प्र० (पु० २३६) ना० २०
(१२१-२२) सा० २० (६ १६-१८) । (२) अधिकांशवधम्—आधिकारिक इति
वृत्त के नायक का वध प्रधान नायक का वध । भवापि—कही भी न तो अङ्क न न
प्रवर्गक आदि न ।

अङ्कों में वगनीय वस्तु एव पात्र—

इस प्रकार (नाट्यकार को) ऐसा अङ्क रखना चाहिये जो एक प्रया
जन के लिये किये गये एक दिन के कार्यों से युक्त हा, जिसम नायक उपस्थित
हो, जो सीन या चार पात्रा से युक्त हो और, उन पात्रा का (अङ्क के) अ न
म (रङ्गमञ्च से) निष्कल जाना दिखला दिया जाय ।

*अस्वस्व' दरवधि पाठ

एव वा ॥३३ ।
अङ्क तम ।
अङ्कमुत्तमं तत्र वध रक्षान
रते तत्र रक्षा उपपन्नम् ॥

नाभरकावच के अनुपार काह्वर
) कारिका का भाव यह है कि
वही अवसाह टोका वा एव

ने अङ्को (प्रधान) रक्षना
निवह्य सति मङ्गपुत्र रत

कारिका) वध वध के द्वारा हो
रणा है (कि वही वही भी
) क नहीं (ना), एवकि जहाँ
) और व्यक्तिकारी भावों के
व्यक्तों) वही तो अथ रत
नर मे शूरे व रही है) ।
विना (=केवल) ही निरूपण
रत व) व्यक्तिकारी भाव ही
कही गई थी) ।

२० (पु० २३६) ना० २०
) 'नुत्' इत्यादि अङ्क का
के द्वारा वद कही गया है कि
या पोषण करना चाहिये । इस
१ है फिर वही वाच अङ्कयने०
दरवधि समाधान का अर्थभार
व स्वायी भावों को खणत त
व का अर्थभार है—अवसाह
न का व्यक्तिकारी भाव ही हो
दहीनिये उसे स्वायी रह रिता
न रतो को प्रधान रत न अङ्क
नार आदि स युक्त होना है वही

एकदिवसप्रवृत्तकप्रयोजनसम्बद्धमासभ्रमनायकमवहृत्पात्रप्रवेशमङ्क कुयति, तपा
पात्रानामवश्यमङ्कुराये ते निगम काय ।

(४२) पताकास्थानकायत्र बिन्दुरते च बीजवत् ॥३७॥

एवमङ्का प्रवत्तव्या प्रवेशादिपुरस्कृता ।

(४३) पञ्चाङ्कमतदवर दशाङ्क नाटक परम ॥३८॥

अर्थात् जो एक दिन में होने वाले एक प्रयोजन से सम्बद्ध ही जिसमें नायक
उपस्थित हो बहुत से पात्रों का प्रवेश न किया गया हो, ऐसा अङ्क रखना चाहिये
और उन (अङ्क के) पात्रों का अङ्क के अंत में अवश्य ही निष्क्रमण कर देना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ २१ २४, २८), भा० प्र० (प० २२६) सा०
द० (६ १४ १५ १६) । (२) पाश्चात्य नाट्य समीक्षा क अनुसार जो नाटक में
अतिवृत्तिय—(i) कालावृत्ति (unity of time) (ii) कार्यावृत्ति (unity of
action) (iii) स्थानावृत्ति (unity of place) मानी गई है, उनका भारतीय
नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः विवचन नहीं किया गया । फिर भी इस प्रकार के नाट्य
सम्बन्धी नियमों में उनकी कुछ झलक देखी जा सकती है । (३) भास महायक—(ना०
शा० १८ २८ समिहितनायक)—अङ्क में नायक के उपायानुष्ठान (चरित) और पक्ष
भोग को साक्षात् रूप से दिखलाना चाहिये (मि० अभि० भा०) ।

इस (अङ्क) में पताकास्थानक होने चाहिये और अंत में बीज के
समान ही बिन्दु रखना चाहिये । इस प्रकार पात्र प्रवेश आदि करते हुए
अङ्का की रचना करनी चाहिये ॥३७ ३८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ १६) भा० प्र० (प० २३६) । (२) पताका
स्थानक बिन्दु तथा बीज का लक्षण ऊपर । (१) का० १४, १७) दिया जा चुका है ।
(३) बिन्दुरते च बीजवत्—यह कथन बुरुह सा है । अतः च बीजवत्—अतः बीज
परामशयुक्त कुयति इत्यय (प्रभा), At the end the Expansion (Bindu)
Just like the Germ (Bija) at the beginning?—Haas वस्तुतः इसका
भाव यह प्रतीत होता है कि समस्त कथावस्तु में अनुस्यूत जो बीज रूप अथ है उसका
परामशो बीज के अंत में आवश्यक है ही, कथा प्रवाह को अर्थात्-छत वनाये
रखने के लिये बीज के समान बिन्दु भी वहाँ अवश्य होना चाहिये ।

नाट्य में अङ्क की संख्या—

यह नाट्य 'यून से 'यून पाच अङ्का का और अधिच से अधिक दस
अङ्को का होना चाहिये ॥३८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ६) भा० प्र० (प० २३७) ना० द०
(१ १३) सा० द० (६ ८) । (२) पाँच से लेकर दस अङ्को तक के नाटक संस्कृत

१८०० भाग्यमन्त्र

(४२) अथ प्रकरण

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

१८००

दत्तुक नाटकलक्षणम्

(४४) अथ प्रकरणे वक्तृमत्याद्य लोकसध्यम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेव कुप्यच्च नायकम् ॥६६॥
धीरप्रशात सापाय घमकामार्थनल्पम् ।
शेष नाटकवत्सा ध्रुववेषकरसादिकम् ॥७०॥

कविवृद्धिविरचितमिदं लोकाध्ययम्—अनुदात्तम् अमात्याद्यय धीर—
प्रशान्तनायक विपदवृत्तितायमिदं कुप्यच्च प्रकरणे । मन्त्री अमात्य एव । सायबाजो
वणिग्विशेष एवेति स्पष्टम् यत् ।

साहित्य मे है जसे विक्रमोदशीय पाँच अङ्को का है वेणीसद्वार छठ अङ्को का है
अभिज्ञानशाकुन्तल सात अङ्को का है । इसी प्रकार ८, ९ अङ्कों वाले नाटक भी हैं ।
यानरामायण दस अङ्कों का नाटक है ।

इस प्रकार नाटक का लक्षण कहा गया ।

प्रकरण

प्रकरण मे लोक मन्तर का कवि कल्पित (उत्पत्ता) इतिवत् तथा
अमात्य, विप्र और वणिग मे से कोई एक नायक रचना चाहिये, जो धीर-
प्रशान्त हो एव धर्म काम और अर्थ (निजया) मे तत्पर हो किन्तु उसकी वाय
सिद्धि विघ्नो से युक्त हो (सापायम्) । प्रकरण मे शय शो ध, प्रवेशक और
रस नाटक के समान ही रखने चाहिये ॥३९-४०॥

प्रकरण का इतिवत् कवि बुद्धि बहिन (—उत्पत्ता) तथा लोकसध्य अर्थात्
अनुदात्त रचना चाहिये और अमात्य अथि में से कोई एक जो धीरप्रशान्त हो जिसकी
वायसिद्धि अप्रतिघ्नो से स्थबहित हो (अर्थात् सिद्धि श्रान्त में विघ्न हो) नायक रचना
चाहिये मन्त्री अमात्य ही होता है और सायबाह विशेष प्रकार का वणिग (व्यापारी)
ही होता है (टि०) । अर्थ स्पष्ट ही है ।

द्विषणो—(१) ना० शा० (१८ ४४ ५७) भा० प्र० (५० २४१) ना०
८० (२ ११७) प्रगा० (३ ३८) सा० ८० (६ २२४ २२५) । प्रकरण का प्रसिद्ध
उदाहरण मृच्छटिक है । उसका नायक चारदत्त विप्र है धीरप्रशान्त है घम तथा
बाग में तत्पर । उसकी वायसिद्धि शकार की दुर्बलताओ से विघ्नयुक्त है इसी प्रकार
मातृतोमाद्य नामक प्रकरण का नायक अमात्य है तथा पुण्ययुक्त नामक प्रकरण
का नायक वणिग है । (३) ना० ८० (२ ११७) द्विषणो म यद् सिद्ध किया गया है कि
प्रकरण म सनापति और अमात्य धीरोदात्त नामक होते हैं धीरप्रशान्त नहीं । किन्तु
घम० तथा सा० ८० नादिक के अनुसार ये धीरप्रशान्त ही होते हैं । (४) लोकसध्यम्—
लौकिक लोक-सामान्य का लोक स्तर का—लोक सध्यो तय तत् (पुस्तम्) । धनिक
मे इसका अर्थ 'अनुदात्त' किया है । इसका अभिप्राय है कि प्रकरण का नायक उदात्त
व्यक्ति का नहीं होता । ना० शा० (१८ ४९) में भी उदात्तनामक और दिव्यबलित का

गणपतिवन्द्य कुर्बन्, धम

नवत ॥३७॥

द्विषणो ।

रम ॥३८॥

ने सार्व हो जिनमें नायक
देशा मङ्ग रक्षा चाहिये
विषयमन्तर देशा चाहिये
भा० प्र० (१० २१६) शा०
के अनुसार जो नाटक मे
(unity of
वर्ष है, उनका सातीय
मे इत प्रकार के नाटक
(३) भाग्यनामक—(या०
उदात्त (वर्णित) और वत्
ना) ।

धिर जन म बाज क
वेत चादि रत्न हुर

८० २३६) । (२) प्रगा
(३) निग बा मुहा है ।
च बीजवत्—जन्ते बीज
Expansion (Bhoda)
—Haas मरुत हहा
जो बीज रूप अर्थात् उनका
प्रवाह की अर्थात् छत्र बाले
का चाहिये ।

धिर अधिक से अधिक घन

प्र० (१० २३७) ना० ८०
अङ्को एक के नाटक इत्यर्थ

(४५) नायिका तु द्विधा नेतु कुलस्त्री गणिका तथा ।
 ववचिदेकव कुलजा वेश्या ववापि द्वय ववचित् ॥४१॥
 कुलजाभ्यंतरा, वाह्या वेश्या नातिप्रभोऽनयो ।
 आभि प्रवरण त्रेधा, सङ्कीर्ण धृतसत्कुलम ॥४२॥
 वेगो भृति सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्त —
 अभिरभ्यभिस्ता वेश्या रूपगोलगुणाविता ।
 समते गणिकायां द स्थान च जनससदि ॥'

एव च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रधा प्रकरणे नायिका । यथा वश्यव तरङ्ग
 दत्ते कुलजव मृण्यद्वयितके द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति । कितवच्युतकारादिधृत
 सङ्क ल तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

प्रकरण मे निषेध किया गया है । (५) ना० प्रा० (१-४८) मे अमात्य से पुष्य
 सचिव (मन्त्री) तथा वणिज से पुष्य सावदाह' का ग्रहण किया गया है । दस० म
 ऐसा नहीं किया गया । इसलिय घनिच न म श्री अमात्य एव इत्यादि कहा है भाव
 यह है कि म श्री का भी अमात्य' भा' से ही ग्रहण हो जाना है ।

प्रकरण के नायक की नायिका तो दो प्रकार की होती है—कुलीन
 नारी तथा गणिका । किसी प्रकरण मे अकेली कुलीन नारी ही होती है ।
 किसी मे अकेली वेश्या और किसी मे कुलीन नारी और वेश्या दोनों ही (यही
 सङ्कीर्ण है) । इनमे कुलीन नारी आभ्यतर (Indoors) और वेश्या वाह्य
 (out doors) नायिका होती है इनका व्यतिक्रम मही होता (टि०) । इन
 तीन प्रकार की नायिकाजा के द्वारा (आभि) प्रकरण तीन प्रकार का हो
 जाता है । उन तीन प्रकारा मे जो सकीर्ण (प्रकरण) है वह धृत पात्रो)
 (जुआरी, शकार आदि) से युक्त होता है ॥४१-४२॥

वेश है भृति (वालन पोषण), वह वेप ही इसका जीवन है अत वह
 वेश्या कहलाती है । उस (वेश्या) का एक भेद ही गणिका है । जसा कि कष्टा गया है—
 इन (?) के द्वारा प्राचित रूप शील आदि गुणों से युक्त वेश्या गणिका सजा को, प्राप्त
 करती है (= गणिका कहलाती है) तथा जन सभाओं में स्थान प्राप्त करती है ।

इस प्रकार कुलीन नारी वा वेश्या अथवा दोनों—यह तीन प्रकार की नायिका
 प्रकरण मे होती है । जस तरङ्गदत्त नामक प्रकरण मे केवल वयया ही नायिका हैं
 मृण्यद्वयितक मे कुलीन नारी ही और मृच्छकटिक म वे दोनों (प्रकार की) नायिकाएँ
 हैं । मृच्छकटिक आदि जसा सङ्कीर्ण प्रकरण तो कितव जुआरी आदि धूर्तों से युक्त
 होता है ।

वचनार्थ—
 (४१) नायिका वचनार्थ—
 वचनार्थ—

प्रकरण ४
 नायिकायुक्त
 नायिकायुक्त
 नायिकायुक्त
 नायिकायुक्त
 नायिकायुक्त

विषय—(१) ना० प्रा०
 (२) ना० प्रा० (१-४८)

प्रकरण अतः प्रकार के रूप में—
 (a) कुलीन नारी तथा वेश्या दोनों
 और वेश्या वर्ग के रूप में—
 वेश्य ही है । इस वर्ग में वेद
 कती इत्यादि और वेश्या का
 न कने कती) तथा कती । व
 कती (१) तथा वेश्यायुक्त
 ना है उनमे कुलीन नारी वेश्या
 युक्त होता है । अतः को भृति से—

वृत्तार्थ—(१) ना० प्रा०
 (२) ना० प्रा० (१-४८)

विषय—(१) ना० प्रा०
 (२) ना० प्रा० (१-४८)

वृत्तार्थ—(१) ना० प्रा०
 (२) ना० प्रा० (१-४८)

वृत्तार्थ—(१) ना० प्रा०
 (२) ना० प्रा० (१-४८)

अथ नाटिका—

(४६) लभ्यते नाटिकाप्यत्र सद्कीर्णां यन्निवृत्तये ।

अथ केचित्—

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेद प्रयोऽनुभविष्ये ।

प्रथयातस्त्वितरौ वा नाटीसनातिर काये ॥

इदम् भारतीय श्लोकम् 'एको भेद' प्रथयातो नाटिकास्य इतरस्त्वप्रथयात प्रकरणात्समया नाग्रेसमया द्वे काये 'नाटिने' इति व्याख्याया प्रकरणात्कामि मयते । तदसत् । उद्दालनयनयोस्त्वभिधानात् । समानतन्मयत्वे वा भेदाभावात् ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ५०-५३) भा प्र० (पृ० २४८) ना० ८० (० ११८) सा० ८० (६ २२६-२२७) । (२) नाटिकाभोग्यो—नायिका के भेद से प्रकरण तीन प्रकार के होते हैं—अर्थां नायिका (i) कुलीन नारी ही (ii) वैश्या ही (iii) कुलीन नारी तथा वैश्या दोनों हो । इनमें से पहिले दोना युद्ध प्रकरण कहलाते हैं और तीसरा सकीण प्रकरण कहलाना है, क्योंकि इसमें दो प्रकार की नायिकाओं का संकर होता है । इन तृतीय भेद में कुलीन नारी को आश्रयनरा (पर के अंदर रहने वाली) गृहिणी और वैश्या को बाह्या (पर के बाहर रहने वाली) गृह कायों से सम्बन्ध न रखने वाली) रखना चाहिये । यह नियम अनिवार्य है इतका भङ्ग नहीं होना चाहिये । (३) सकीण घृतपञ्चकुलम्—नायिका के भेद में जो प्रकरण के तीन भेद किये गये हैं उनमें तृतीय सकीण प्रकरण कहलाना है । वह युवारी शकार आदि धूर्तों से युक्त होता है । धनिक की वृत्ति में अथय इस प्रकार होता—सकीणप्रकरण युक्ति वलूनकारादियुक्तकुल मुच्छकृत्स्नानिवत् अथवा मुच्छकृत्स्नानिवत् सङ्कोच० । ना० ८० (२ १२८ ३नि) पना०—टीका (तृतीय घृतपञ्चकुलम्) तथा मा० ८० (तत्र भेदतृतीयकृत्स्नानिवत् कायाभिनयमच्छकृत्स्न (६ २२६ २२७) आदि के अनुवीजन से यह अथ भङ्ग है । (४) पुत्राभिनयक के स्थान पर मा० ८० में पुत्राभिनयक मा० ८० में पुत्राभिनयक पाठ है । अथि० मा० (पृ० ४३२) में पुत्राभिनयक पाठ ही है यह प्रकरण अनुपबन्ध है ।

नाटिका
पहा (रूपक के) अथ सकीण भेदा की निवृत्ति से लिये नाटिका वा भी लक्षण किया जा रहा है ।

कुछ (अश्लेषाकार) सङ्कीर्ण रूपकों में (अथ) प्रकरणात्काम्य भेद को भी गणते हैं, 'अथयोगात्' [अर्थात् इन दोनों नाटक और प्रकरण की सधटना के योग से प्रयोगों को नाटोत्पत्तिक काय में एक भेद जानना चाहिये प्रथयात अथवा अश्लेषात्] इत्यादि शरत्सुनि (१८ ५७) के श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—एक भेद प्रसिद्ध है जो नाटिका कहलाना है और दूसरा अप्रसिद्ध है जो प्रकरणात् कहलाना है । इस तरह दो प्रकार के काव्य नाटो सत्ता के आधार ह ।

का तथा ।
न स्वचित् ॥४१॥
नमोत्तमो ।
नारकुलम् ॥४२॥
गना । शुक—
ग ।
गना । अथ चमवकाङ्क
नित । शिवप्रकाराङ्कित

५) में अथय के पुष्क
न किया गया है । इस ८
न एक श्लोक बड़ा है अथ
का है ।
की होती है—कुलीन
न नारी ही होती है ।
और वैश्या दोनों ही (गृही
ओं) और वैश्या बाह्य
ही होता (पि०) । इन
न तीन प्रकार का को
रण) है वह घृत पात्रों
२१॥

१) इतका जोवन है अथ
का है । अथय कहलाना है—
क वैश्या नायिका सत्ता को शत्रु
में स्थान प्राप्त करते हैं ।
में—यह तीन प्रकार की नायिका
में वैश्या वैश्या ही नायिका है
में दोनों (शकार की) नायिका
नच युवारी आदि जाते हैं कुल

विशेषस्तु—

(४४) देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवशजा ॥४५॥

गम्भीरा मानिनी वृच्छत्तद्वशा नेतसङ्गम ।

प्राप्या तु—

(५१) *नायिका ताटशी मुग्धा दिव्या वातिमनोहरा ॥४६॥

सादृशीति नपवशजत्वादिभिर्नातिभे ।

(५१) अत पुरादिसम्ब धादासना श्रुतिदशने ।

अनुरागो नवावश्यो नेतृस्तस्या यथोत्तरम् ॥४७॥

केवल अङ्गों की सख्या और पात्रों के भेद से रूपको के भेद नहीं होते अपितु वस्तु नायक और रम के भेद से रूपकों के भेद हुआ परत हैं, । (३) स्त्रीपाया (स्त्रीप्रधानत्व) =स्त्री पात्रों का बाहुल्य प्रथम तो 'नाटिका' यह स्त्रीवाचक शब्द ही सूचित करता है कि नाटिका में स्त्री पात्रों का बाहुल्य होता है दूसरे नाटिका में कशिकी वृत्ति की प्रधानता होने के कारण श्रृङ्गार रम की प्रमुखता होती है और इसलिये स्त्री पात्रों की अधिक हुआ करती है । (४) चतुर्बुद्धम् =नाटिका म चार अङ्क होते हैं । (५) यहाँ कशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है जिसके (नम आ'दे) चार अङ्क होते हैं अत उन अङ्का की सख्या ने अनुरार नाटिका म चार अङ्क होते हैं । (६) क्या वस्तु के पाँच भाग (सिध्या) होत हैं अत सामा यत रूपक मे पाच अङ्क होने चाहिये । किन्तु नाटिका म अवमश सन्धि अप्य त सन्धि होती है । अत अवमश सन्धि और निवहण सन्धि स सम्बन्ध दम्बित को एक अङ्क मे रख दिया जाता है । इस प्रकार चार ही अङ्क होते हैं ।

नाटिका मे (तत्र) विषय बाँटें ये ह —

उस (नाटिका) में देवी (महारानी) ज्येष्ठा होती है वह राजवशीत्य ना होती है, प्रगल्भा, गम्भीरा तथा मानिनी होती है । उसके अधीन होने के कारण (प्राप्य नायिका क साथ) नायक का मिलन बड़ी कठिनाई से होता है ॥४५ ४५॥

प्राप्तव्या तो—

नायिका उसी प्रकार की (अर्थात् राजवशीत्यना) तथा मुग्धा होती है । वह दिव्य गुणा वाली और अत्यधिक मनोहर होती है ॥४६॥

तासो (वती) मग्ध के द्वारा राजवश मे जपन होना इत्यादि विशेषताओं की समानता दिखलाई गई है ।

अत पुर आदि से सम्बन्ध होने क कारण वह (प्राप्य नायिका) नायक के निकट होती है । उसके विषय में सुनकर तथा उस देखकर (श्रुतिदशना)

*प्राप्याया' इत्यपि पाठ ।

नता ३१

१३ १
१५ १
१६ १
१७ १
१८ १
१९ १
२० १
२१ १
२२ १
२३ १
२४ १
२५ १
२६ १
२७ १
२८ १
२९ १
३० १
३१ १
३२ १
३३ १
३४ १
३५ १
३६ १
३७ १
३८ १
३९ १
४० १
४१ १
४२ १
४३ १
४४ १
४५ १
४६ १
४७ १
४८ १
४९ १
५० १
५१ १
५२ १
५३ १
५४ १
५५ १
५६ १
५७ १
५८ १
५९ १
६० १
६१ १
६२ १
६३ १
६४ १
६५ १
६६ १
६७ १
६८ १
६९ १
७० १
७१ १
७२ १
७३ १
७४ १
७५ १
७६ १
७७ १
७८ १
७९ १
८० १
८१ १
८२ १
८३ १
८४ १
८५ १
८६ १
८७ १
८८ १
८९ १
९० १
९१ १
९२ १
९३ १
९४ १
९५ १
९६ १
९७ १
९८ १
९९ १
१०० १

वष धार —

(१३) भाग्य...

नायक का उदाहरण ॥४५ ४५॥
वह नायक देवा ह ॥४५ ४५॥
करता ह ॥४५ ४५॥
अपने गुणा

नायक के लिए होती है
कारिने किसे बीच में देवी
को उत्तरीतर बना होता ह
और ५२ ५१

प्रकार कशिकी वृत्ति क
नपयामे स सुकठ होता है ।
अपने

पात्रों अङ्गों में से एक-एक
दिव्यको—(१)
(१०) २४५ २४५) १० २० १
रुचि और उनके अङ्क (१०
दिव्यनायिका का नायिका के
बना है । अपने अङ्क और
यदिनायिका दिव्यनायिका अत
केवल ही कारणवश ही एक

माय वह (एक) है
१०) वाने द्वारा अनुभूत का
करवाह, (ii) वह आश्रय
है, (iii) वीर के वपन ।

नेता तत्र प्रवर्तत देवीप्रासन शङ्कित ।

तस्या मुखनायिकायामन पुरस व प्रमङ्गीतरुमप्रथिना प्रत्यासत्ताया नाय कस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धाय ।

(५२) कशिकयङ्ग श्वतुभिश्च युक्ताडनरिव नाटिका ॥५८॥

प्रत्यङ्गो गनिबद्धामहितलक्षणकशिकयङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाषण —

(५३) भाषणस्तु द्रुतचरित स्वानुभूत परेण वा ।

यनोपवर्णयेदेको निपुण पण्डितो विट ॥५९॥

सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितं ।

सूचयेद्वीरव्यङ्गारी शौर्यसौभाग्यसस्तवं ॥५९॥

नायक का उसके प्रति (तस्याम्) उत्तरोत्तर नवीन अनुप्राण होता है । और, वह नायक देवी के भय से शङ्कित हुआ उम नायिका की ओर प्रवृत्त हुआ करता है ॥५७ ५८॥

अर्थात् पुण्या नायिका अत पुर में वास अथवा सङ्गीत आदि के सम्यग् से नायक के निकट होती है । उसके प्रति नायक का ऐसा अनुराग (नाटिका में) दिखलाना चाहिये जिसके बीच में देवी की बाधा हो (देवी—एव विद्यन्ते ते व्यबहिते हो) और जो उत्तरोत्तर नया होता जाता हो ।

और यह नाटिका जिस प्रकार चार अङ्को में युक्त होती है, उसी प्रकार कशिकी वस्ति के चार अङ्को (नम, नमस्किञ्ज, नमस्फोट तथा नमगमन) से युक्त होती है ।

अर्थात् नाटिका के प्रत्येक अङ्क में उपर्युक्त लक्षण वाले कशिकी वस्ति के चारों अङ्कों में से एक एक बिलछाया जाता है ।

टिप्पणी—(१) नाटिका लक्षण—ना० धा० (१८ ५७-६०) धा० प्र० (५० २५३ २५५) ना० द० (१ १२१ १२३) ना० द० (६ २६६ २७२) । (२) कशिकी वस्ति और उसने अङ्क (द्र० ऊपर २५८-५२) । (३) ह्यपगत रत्नावली तथा त्रियर्थाका आदि नाटिका के उदाहरण हैं । नाटिका का एक प्रकार 'सट्टक भी माना जाता है । नसमें प्रवेशक और विषन्मन् नहीं होते । अङ्को के स्थान पर चार चार यवनिकापान दिखनाया जाता है और प्राहुनमाया का ही प्रयोग होता है, जसे राज-शेखर की कर्पूरमञ्जरी एव सट्टक है । (मि० धा० प्र० पृ० २५४) ।

भाषण वह (एपक) है जिसमें (१) कोई कुशल एव बुद्धिमान् विट (द्र० टि०) अपने द्वारा अनुभूत या किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत एव चरित का वर्णन करता है, (२) वह आवागमनायित के द्वारा सम्बोधन एव उक्ति प्रत्युक्ति करता है, (३) शोष के वर्णन (सस्तव) द्वारा वीर रस की तथा विनाश (शौभाग्य)

नृपव नवा ॥५५॥
ननसङ्गम् ।

भाषिन्मोहरा ॥५६॥

मुनिगान ।

सपोतरम् ॥५७॥

के भेग नहीं होते, बलित्नु अणु है । (३) स्त्रीभाषा (श्रीकान्तल) स्त्रीभाषक शब्द ही मुनिव कला इनसे नाटिका में कशिकी वस्ति की ओर है और इतलिनसे स्त्री शब्दों में चार अङ्क होते हैं (१) (नम आदि) चार अङ्क होते हैं चार अङ्क होते हैं । (२) कथा रस स्पष्ट में पाच अङ्क होने विद्यन्ते होती है । अतः अथका क अङ्क में रख दिया जाना है ।

अ होती है वह राजमोवल ना होती है । उसके अर्थात् टिप्पण मिलन वती कशिकाई से होता

वबोवलाता) तथा मुया टोती मोहर होती है ॥५६॥
के वर्णन होना इत्यादि विनाशका

रषण वह (भाष्य नायिक) नायक तथा उस देखकर (अद्विजन)

भूयसा भारती वृत्तिरेकाटक वस्तु कल्पितम् ।

मुखनिवहणे माञ्जे लास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

दूतचोरदूनकारादयस्तेषां चरितं तत्र क एव विट स्वकृतं परकृतं चोपवणं यति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाण । एकस्य चोक्तिप्रयुक्त्य आकाशभापिनराशङ्कितो तत्स्थेन भवति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारो सौभाग्यशोयवणनया सूचनीयो ।

के वर्णन द्वारा शृङ्गार रस की सूचना देता है, (iv) उसमें अधिकतर भागती वृत्ति होती है, (v) एक अङ्क होता है, (vi) कथावस्तु कल्पित होती है, (vii) अपने अङ्गो सहित मुख और निवहण दो सन्धिया होती है और (viii) लास्य के दस अङ्क होते हैं ।

(चारिका में) दूत से अभिप्राय है चोर, जुआरी इत्यादि । जहाँ अपने द्वारा किये गये (अनुमून=हृत) अथवा दूनरे के द्वारा किये गये उन (धूर्तों) के चरित का अकेसा विट ही वणन करता है, वह (रूपक) भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहलाता है । एक ही व्यक्ति की उक्ति प्रत्युक्तियाँ आकाशभापित (नामक नाट्योक्ति) के द्वारा (कथा बहा ? में यहाँ हूँ इत्यादि) उत्तर की आशाङ्का करने बन जाती ह । और यहाँ अस्पष्ट होने के कारण विलास (सौभाग्य) तथा शोय की वणना द्वारा ही हमारा शृङ्गार तथा वीररस की सूचना भी जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० भा० (१=१० ११०), भा० प्र० (पृ० २४४ २४५) ना० द० (२ १२६ १३०), प्रना० (३ ३६ ४०) मा० द० (६ २२७ २३०) । (२) भारतीवृत्तिप्रधानत्वात् भाण —भारती वृत्ति प्रायः वृत्ति है । इसमें याचिक अभिनय की प्रधानता होती है । विशेष रूप से याचिक व्यापार (=वणन) के कारण ही यह रूपक भाण कहलाता है । ना० द० क अनुपार—भण्यते "योमोक्षया नायनेन स्वपरवृत्त प्रवाचयन्ऽप्रेति भाण (३) अस्पष्टत्वात्—भाण म हिमी वीर रसप्रदान या शृङ्गार प्रदान चरित का वणन नहीं होता अतः रस स्पष्टतः नहीं दिखलाये जाते अपि तु विलास वणन क द्वारा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है और शोय वणन द्वारा वीर रस की । अस्पष्टत्वात्=शृङ्गारवीरप्रधानचरितस्यादमानाद् भाणे । (४) आकाश भापित का सपप (ऊपर १ ६७) भारतीवृत्ति (ऊपर ३५ तथा आगे) । (५) विट इ० (ऊपर २६) ना० भा० (५ ४५) तथा मा० द० (२ ४१) (६) सा० द० म सीतामधुसूदर नामक भाण उदाहरण क रूप म लिखलाया गया है ।

साप्ताहिक—

(६५) १५ ५२ १०

२३ १

उत्तमानन्द

साम्य

देव स्वरगिनि ।

साम्य क अङ्क—

(१) मयनद, (२)

प्रदरक, (६) विभू, (७)

(१०) उत्तम-दूत-देव

गया है ॥५२-५३॥

रथ स्वर है ।

टिप्पणी—(१) ना०

मा० द० (६ २१२-२२१)

दूतवणना (अन्तः कविता)

किरा गया है (अप० भा०

क स्वर म दे अ तर है । हा०

(१) मयनद

अभिनय रूप (पुष्पा) गाना

(२) रथस्वर

मिथुनात्प है ।

(३)

विलास क विलास क

(४) पुष्पविष्टक

छन्दो म गाना पुष्पविष्टक

(५)

विष्टक से वणन का अङ्क

(६) विभू-रथ

(७) मयनद-रथ

अभि० भा० गाना कवि

क अङ्क है ।

(८) विभू-दूत

दूत गान विभू है (पृष्ठ

(९) जगन्मोक्षक

कायक हाव दूता स युक्त ।

(१०) उत्तम-दूत

विलास के अङ्क शोय अङ्क

* साम्य क वि

सात्याङ्गानि—

(५५) गय पद स्थित पाठयमासीन पुष्पगण्डिका ।
 प्रच्छेदकस्त्रिगुह्यं च स एवास्य द्विगुह्यम् ॥५३॥
 उत्तमोत्तमक चायदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
 लास्ये दशविध ह्येतदङ्गनिर्देशवत्पनम् ॥५२॥

शेष स्पष्टमिति ।

सास्य क अङ्ग—

(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगुह्य, (७) माधव (८) द्विगुह्य, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उत्कप्रत्युक्त—इन दस प्रकार व अङ्गों का लास्य के निर्देश किया गया है ॥५२-५३॥
 शेष स्पष्ट है ।

टिप्पणो—(१) गा० भा० (१८ ११६-१२५), भा० प्र० (पु० २४५ २४६), सा० द० (६ २१२-२२३) । (२) सात्याङ्गों क प्रयास स पाठ्य मे विषय हृदयमा-
 ह्वारकता (उज्जना वाचन्य) या वाया वरती है इमीनिये इनका रूपक मे विद्यान
 किया गया है (आंश० भा० १६ १२०) । (३) विविध प्र यो मे निरूपित सात्याङ्गों
 क स्वरूप मे अंतर है । सा० द० के अनुसार इनका सास्यत् स्वरूप यह है—

(१) गेयपद—साभाविकों के सामन बढकर बोया यदि माय मे साय
 अभिनय शू व (मुद्र) माना ही गेयपद है ।

(२) स्थितपाठक—जाम पाठित मायिका वा बढकर प्राइत भाया में माना
 स्थितपाठक है ।

(३) आसीन—जाक या चिंता स युक्त नारी का विना किसी वाय मे और
 बिना आङ्कक अभिनय क ही बढकर माना आसीन है ।

(४) पुष्पगण्डिका—आतोद्य (वाय) क साथ युद्ध मे यप मे स्त्री का विविध
 छंदा मे माना पु पण्डिका है ।

(५) प्रच्छेदक—अपन प्रियतम को अय मायिका म आसक मानकर प्रम
 विच्छेद स उत्पन्न ब्राज क साथ स्त्री का बाया सहित मानन ही प्रच्छेदक है ।

(६) त्रिगुह्य—स्त्रीवसाधारी युद्धो वा मयुर आननय त्रिगुह्य है ।

(७) माधव—जब कोई पान रमोचित सङ्केत को प्रसन्न (प्रसन्न) से
 अभि० भा) बाया आदि व च को किया स युक्त होकर प्राइत बचन करता है, वह
 स माधव है ।

(८) द्विगुह्य—मुष्प प्रया प्रतिमुख से युक्त 'बदुरासन' तथा रस भाव आदि स
 रूप गात द्विगुह्य है (यही मुख अतिमुष्प एव बदुरासन का भव विवादास्पद है) ।

(९) उत्तमोत्तमक—वा० प्रकां तथा अविषय स युक्त उत्तरातर रस का
 आधय होना स युक्त विचिन वनीक रचना स मोरुंर गायन उत्तमोत्तमक है ।

(१०) उत्कप्रत्युक्त—अति प्रयुक्ति स युक्त उवाचनभूषण, गुह्य से युक्त तथा
 विषय से युक्त गीत उत्क प्रत्युक्त है ।

● सास्यम् इति पाठान्तरम् ।

वस्तु कर्मिणम् ।
 नि दशादि च ॥५१॥
 य विन् स्थित गहन शेषम्
 प्र युद्ध वक्राकवादिगणान्द्रिनी
 शेषोत्तमकना सूचनीयो ।

(१०) उसमें अधिकतर भारतीय
 कथावस्तु कल्पित होती है,
 दो सप्तम्या होती है और

द्वाराते इत्यादि । वहाँ अपने द्वारा
 मे ये जन (जनों) के कर्त्तव्य का
 कर्त्तव्य को प्रशस्तता होने के कारण
 प्रयुक्तों आकाशकालिक (सायक
 नि) उत्तर को असाङ्गु करने स
 (सौम्याम्) तथा गीत को बचना
 जाती है ।

), भा० प्र० (१० २४५ २४६)
 भा० द० (६ २१२ २१३) । (२)
 अर्थात् है । इसमें वाचिक अभिनय
 गार (=ध्वनन) के साथ ही स
 अपने मोहोत्तम मानने स्वस्वत
 न किनी और रचना का प्रयुक्त
 गत नहीं है अथवा जाने, किं तु
 जाती है और मोहोत्तम प्रात ही
 नयनाभवाद् भाग । (१) आक
 उत्तर ३ ५ तथा आते । (१) विन्
 द० (११) (१) सा० २
 विषयवा स्या है ।

कामुकादयो मुञ्जङ्गचारभटाया । तद्वेषभाषादिवोगिनो यन पण्डकञ्चुकि
तापसवृद्धादपस्तडिङ्गतम् स्वस्वरूपप्रच्युतविभावस्वावा ।

(१७ क) सङ्करादवीथ्या सङ्कीर्णं धृतसङ्कुलम् ।

वीथ्यङ्गमस्तु सङ्कीर्णत्वम् सङ्कीर्णम् ।

(१८) रसस्तु भूयसा कायं बहुविधो हास्य एव तु ॥१९६॥

इति स्पष्टम् ।

कामुक इत्यादि वा अप हे कामुक (मुञ्जङ्ग) इत (चार) और योद्धा इत्यादि ।
उनके वेश भाषा आदि को धारण करने वाले नपुंसक कञ्चुकी तपस्वी तथा बद्ध
आदि नहीं होते हैं, यह विकृत प्रहसन है क्योंकि यहाँ जो (कामुक आदि) विभाव है,
वे अपने अपने (नपुंसक आदि) रूप को छोड़कर इन विभावों के रूप में आते हैं (यह
विकृति—परिवर्तन है) ।

सङ्कीर्ण प्रहसन—

वीथी (के अङ्गों) से मिश्रित तथा धूर्तों से भरा हुआ प्रहसन सङ्कीर्ण
महलाता है ।

वीथी के अङ्गों से सङ्कीर्ण होने के कारण यह सङ्कीर्ण बहलाता है ।

प्रहसन में ६ प्रकार का हास्य प्रचुरता से रखना चाहिये ॥१९६॥

यह स्पष्ट ही है ।

विषयो—(१) ना० शा० (१८ १०१-१०७), भा० प्र० (पृ० २५७), भा०
द० (२ १३१-१३३) प्रता० (३ ४१-४४) सा० द० (६ २६५ २६८) । (२) ना०
शा० तथा ना० द० म प्रहसन के दो भेद किये गये हैं—शुद्ध तथा सङ्कीर्ण । सा० द०
में कहा गया है कि भरतमुनि क अनुसार विकृत वा भी सङ्कीर्ण में ही अतर्भाव ही
जाता है । (३) प्रहसन के लक्षण तथा भेदों के स्वरूप के विषयो में विद्वानों के निम्न-
मिन्न मत हैं । दश० का पाठ भी अल्प त स्पष्ट नहीं है । दश० के अनुसार यह कहा
जा सकता है कि जो भाग के ममान वस्तु सति सट्यङ्ग और सात्याङ्गों से युक्त
होता है जिसमें ६ प्रकार के हास्य का प्रचुरता से निरूपण किया जाता है वह प्रहसन
नामक रूपक है । हास्य के ६ प्रकार हैं—रिप्त हसित विहसित, उपहसित अपहसित
वतिहसित (आगे ४ ७६ ७७) । प्रहसन के तीन प्रकार हैं (१) शुद्ध—जिसमें पाषण्डी
आदि में से किसी एक क चरित्र का बयान किया जाता है अर्थात् पाषण्डी विभाव
होते हैं और उनके प्रति नेट फेटी विट आदि के हास्यबचनरूप 'यहवार दिखलाये
जाते हैं । जस कदपकेनि (सा० द०) सागर कीमुदी (भा० प्र०) शुद्ध प्रहसन हैं ।
(११) विकृत—जिसमें नपुंसक कञ्चुकी तपस्वी आदि कामुक आदि का वय धारण
करके उनहीं भाषा में ही उनके चरित्र को प्रकट करते हैं जैसे बलिकेनि (भा० प्र०) ।
(१२) सङ्कीर्ण—जो वीथी के अङ्गों से युक्त होता है तथा जिसमें अनेक धूर्तों का
चरित्र वर्णित होता है, जैसे धृतचरितम् (सा० द०) सर्रि प्रका (भा० प्र०) । (४)
वेष्टतम्—वृत्त (ना० द० २-१३), चरित ।

मानस्य ।

मुनन् ॥१४४॥

चरितवत् ।

रत्नरश्मि, वाग्जिभाभोगीर्णो
सापोरिखरज कर्तवीनवहार

मानस्य ॥१४४॥

है । वह शुद्ध, वृत्त और

के स्मरण, इन प्रकार का
स्वभाव विवर्तन है ।

और विट से भरा होता
(१) तथा हास्य बचन से

विषय विषयन् शब्द
वसने वाले शब्दों में प्रहसन
है इनके अपने बोल (स्वभाव)
वेदा आदि के व्यवहार से युक्त

को धारण करने वाले नपुंसक,
यह विकृत प्रहसन है ॥१४४॥

अथ डिम —

(१६) डिमे वस्तु प्रसिद्ध स्याद् वृत्तय केशिकी विना ।
 नेतारो देवगधवयधरकोमहोरगा ॥७३॥
 भूतप्रतपिशाचाद्या पोडशात्य तमुद्रता ।
 रसरहास्यशृङ्गारं पडभिदीपि समवित ॥१५॥
 मायेद्रजालसग्रामत्राघोदध्रातादिचेष्टतै ।
 च द्रसुयोपिरागश्च न्याय्ये रौद्रस्तेऽङ्गिनि ॥१६॥
 चतुरङ्गश्चतुस्सिधिनविमर्शो डिम स्मृत ।

डिम सङ्घाते' इति नामकसङ्घातव्यापारास्मभस्वाद् डिम । तत्रतिद्वासप्रसिद्ध
 मितिद्वयतम् वृत्तयश्च कशिकीवर्जितस्तस्य रसाश्च वीररौद्रबीमत्साद्भुतकरुणभयानका
 पट, स्वायो तु रौद्रो वायप्रधान विमशरहिता मुखप्रतिमुखगभनियहृषाभयाश्चत्वार
 सधय साङ्गा, मायद्रजालाद्यनुभावसमायया (य) । शय प्रस्तावनादि नाटकवद् ।
 एतच्च—

इद निपुरवाह तु लक्षण ब्रह्मणोदितम् ।

तस्मिन्निपुरवाहश्च डिमसत प्रयोजित ॥

इति भरतमुनिना स्वयमेव निपुरवाहेतिद्वयतस्य तुल्यत्वं दशितम् ।

५ डिम—

डिम नामक रूपक मे कयावस्तु प्रसिद्ध (प्रख्यात) होती है । इसमे
 कशिकी यो छोडकर अय वक्तिया (सात्त्वती आरभटी और भारती) होती
 है । देव, गाधव, यक्ष, राक्षस, महासप, भूत प्रेत पिशाच आदि १६ उद्घट
 नायक (पात्र) होते है । यह हास्य और शृङ्गार से भिन्न ६ दीप्त रसा से युक्त
 होता है । इनमे वायप्रधान रौद्र रस अङ्गो होता है । यह माया, इद्रजाल,
 युद्ध, क्रोध और उद्भ्राति (उत्तजना) आदि चेष्टाआ से तथा च द्रग्रहण और
 सुयग्रहण से युक्त होता है । चार अङ्गो वाला, विमश सिधि के अतिरिक्त चार
 सधियो वाला यह रूपक डिम वद्हा गया है ॥१५७-१६॥

डिम सघात यह धातु है । इस रूपक मे (सोसह) नायकों के समुदाय का
 चरित दिखनाया जाता है अत यह डिम पहलाता है । इसमे (i) इतिहास आदि
 में प्रसिद्ध इतिवस्त होना है । (ii) कशिकी को छोडकर शेष तीन वक्तिया होती ह ।
 (iii) वीर रौद्र, बीमस अद्भुत करुण और भयानक से ६ रस होते ह । (iv) जिसमें
 वाय को प्रधानता होती है ऐसा रौद्र प्रधान (अङ्गो) रस होता है । (v) विमश के
 अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख गम और निवहृण नामक चार सधिया अङ्गो सहित होनी
 ह तथा (vi) इसमे माया इद्रजाल इत्यादि अनुभावो का आशय लिया जाता है ।
 (vii) शय प्रस्तावना आदि नाटक के समान ही होते ह । और यह बात भरतमुनि
 (४१०) ने स्वय ही निपुरवाह के इतिवस्त को समानता के द्वारा द्रत प्रकार दिखसाई
 है—ब्रह्मा ने निपुरवाह म यह लक्षण बतताना है इसी से निपुरवाह को डिमसतक
 कहा गया है ।

इय मान्य —

(६०) २५११ ३७१

हानो भाव

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

११ ११

अथ व्यायोग —

(६०) एयाततिवृत्तो व्यायोगं ज्वातोद्धतनराश्रय ॥६॥

हीनो गभविमर्शाभ्या दीपता स्युडिमवद्वसा ।

अस्त्रीनिमित्तसप्तमो जामदन्यजये यथा ॥६१॥

एकाहाचरितकाङ्क्षो ध्यायोगो बहुभिनर ।

व्यायुज्यतेस्मिन्बहुव पुरवा इति व्यायोग । तत्र विमवद्वसा पद हास्य शृङ्गाररहिता । वृष्यागकस्वाक रसानामवचनेऽपि कसिकीरहितेतरहृत्तत्त्व रसवनेव

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६८५८८) भा० प्र० (पु० २४४ २४८) ना० ८० (२ १३४ १३४), प्रता० (३ ४५ ४७), सा० ६० (२ २४१ २४४) । (२) वीत्त-वीर आदि दीप रस माने जाते हैं । अभि० भा० के अनुसार इस शब्द से यह प्रकट किया गया है कि द्विम म शात रस नहीं होता बौर आदि दीप रस ही होते हैं । (३) 'नाम्ये रीदरसेऽङ्गनि— वाय्व शब्द का अर्थ है 'वायुमुत्त । धमिक ने इसे 'वायुप्रधान शब्द से कहा है । भाव यह है कि द्विम मे रीत् रस की प्रधानता होती है और उसका स्थायी भाव जो क्रोध है वह 'वायुपूण (उचित) हुआ करता है । जस त्रिपुराहू मे विष का क्रोध 'वायुपूण है (मि०, वायमार्गीणनायक भा० प्र०) । (४) भा० प्र० में त्रिपुरवाह के समान शृबोद्धरण, तारकोद्धरण दो अथ द्विमो का भी नामोस्तेष्व किया गया है ।

३ व्यायोग—

व्यायोग की (i) कथावस्तु प्रसिद्ध (ख्यात) होती है । (ii) उसमे प्रत्यागत तथा उद्धत नायक का आश्रय लिया जाता है । (iii) वह गभ एव विमगर्श घ्न से रहित होता है । (iv) उसमे द्विम के समान ६ दीप रस हुआ करत है । [(v) वैशिकी के अतिरिक्त वृत्तिया होती हैं ।] (vi) उसमे ऐसे युद्ध का वणन होता है जो स्त्री के निमित्त नहीं किया जाता, जसे 'जामदन्यजय' (नामक व्यायोग) मे है । (vii) उसमे एक दिन के चरित का दिखलाने वाला एक अङ्क होता है । (viii) अधिक सख्या म पुरस्य पात्र होते हैं । ६० ६१॥

जिसमें बहुत से पुरस पात्र प्रयुक्त किय जाते ह वह व्यायोग कहलाता है (यह व्यायोग शब्द की श्रुत्यन्ति है) । उसमे द्विम के समान हास्य और शृङ्गार से मिम्र ६ रस होते ह । और रस बल्पात्यक हुआ करते ह, इसलिये यथा (कारिका में व्यायोग की बसियाँ का) निबन्ध नहीं किया गया तथापि रसों के अनुसार ही कसिकी की छोडकर अथ वसियाँ इसमें होती ह, यह प्रकट हो जाता है । इसमें ऐसे युद्ध का

कतिहीं विना ।

रोपसा ॥३१॥

मुमुदा ।

संमरित ॥११॥

चाप्यत् ।

निर्मह्वित ॥१२॥

मन स्तुत ।

तरस्य रित ।

तमनिहावनिद

हीरो शोषात्पुनरुत्तरमनासा

पुनितुवस्वनिर्भेदकामावसा

॥॥ अथ प्रस्तावनात् नादक्यत् ॥

य हस्य च संयुक्त ।

(प्रख्यात) होती है । इसमे शररणी और शारी होतो जे निनाच आदि १६ उपात से मिम्र ६ दीप रस से युक्त ता है । यह माया, इन्द्राज, ज्ञान से तथा च उग्रहण और विमस रसिन् क अतिरिक्त बार १२-२६॥

नायकों के समुदाय का होता है । इसमें (i) इतिहास का रस रोच जीवन बसियाँ होते ह । (ii) जिनमें रस के ६ रस होते ह । (iii) जिनमें १० रस होते ह । (iv) जिनमें १२ रस होते ह । (v) जिनमें १४ रस होते ह । (vi) जिनमें १६ रस होते ह । (vii) जिनमें १८ रस होते ह । (viii) जिनमें २० रस होते ह । (ix) जिनमें २२ रस होते ह । (x) जिनमें २४ रस होते ह । (xi) जिनमें २६ रस होते ह । (xii) जिनमें २८ रस होते ह । (xiii) जिनमें ३० रस होते ह । (xiv) जिनमें ३२ रस होते ह । (xv) जिनमें ३४ रस होते ह । (xvi) जिनमें ३६ रस होते ह । (xvii) जिनमें ३८ रस होते ह । (xviii) जिनमें ४० रस होते ह । (xix) जिनमें ४२ रस होते ह । (xx) जिनमें ४४ रस होते ह । (xxi) जिनमें ४६ रस होते ह । (xxii) जिनमें ४८ रस होते ह । (xxiii) जिनमें ५० रस होते ह । (xxiv) जिनमें ५२ रस होते ह । (xxv) जिनमें ५४ रस होते ह । (xxvi) जिनमें ५६ रस होते ह । (xxvii) जिनमें ५८ रस होते ह । (xxviii) जिनमें ६० रस होते ह । (xxix) जिनमें ६२ रस होते ह । (xxx) जिनमें ६४ रस होते ह । (xxxi) जिनमें ६६ रस होते ह । (xxxii) जिनमें ६८ रस होते ह । (xxxiii) जिनमें ७० रस होते ह । (xxxiv) जिनमें ७२ रस होते ह । (xxxv) जिनमें ७४ रस होते ह । (xxxvi) जिनमें ७६ रस होते ह । (xxxvii) जिनमें ७८ रस होते ह । (xxxviii) जिनमें ८० रस होते ह । (xxxix) जिनमें ८२ रस होते ह । (xl) जिनमें ८४ रस होते ह । (xli) जिनमें ८६ रस होते ह । (xlii) जिनमें ८८ रस होते ह । (xliiii) जिनमें ९० रस होते ह । (xliiii) जिनमें ९२ रस होते ह । (xliiii) जिनमें ९४ रस होते ह । (xliiii) जिनमें ९६ रस होते ह । (xliiii) जिनमें ९८ रस होते ह । (xliiii) जिनमें १०० रस होते ह ।

लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तमघान्न सप्रामो यथा परशुरामेन पितृवधकोदात्सहसाजुनवध
कृत शेष स्पष्टम् ।

अथ समवकार—

(६१) कार्यं समवकारेऽपि आमुख नाटकादिवत् ॥६२॥

प्यात् देवासुर वस्तु निविमर्शास्तु सघ्नय ।

वत्तयो मन्दकशिनयो नेतारो दवदानवा ॥६३॥

द्वादशोदात्तवित्याता फल तथा पृथकपृथक् ।

घणन होता है जिसका निमित्त स्त्री न हो, जैसे परशुराम ने अपने पिता क वध के
क्रोध से सहस्राजुन को मार दिया था । शेष स्पष्ट ही है ।

द्वितीयो—(१) ना० शा० (१८ ६० ६३), भा० प्र० (पृ० २४८) ना० द०
(२-१२७) प्रता० (३ ४८), सा० द० (६ २३१-२३३) । (२) ना० द० के अनुसार
व्यायाग मे नायिका तथा दूती आदि प्राय नही होते । कश्चिकी वृत्ति के न होने से
उसमे स्त्री-याग स्वल्प होते हैं । (३) अत्यात्मकत्वाच्च रसानाम—क्योकि भारती
आदि जो शब्दवृत्ति एव अथर्ववृत्ति हैं, वे नायिका के नाट्यगत व्यापार ही हैं और दश०
के अनुसार रस पात्रयाग के रूप म होता है अत रस अत्यात्मक हैं वृत्तियो के स्वरूप
म हुआ करते हैं । इनलिये जहाँ रस है वहाँ वृत्तियाँ होती हैं । "यायोग म भी रसो
के अनुसार वृत्तियाँ होती हैं । यहाँ हास्य तथा शृङ्गार रस नही होते और शृङ्गार
म कश्चिकी वृत्तिहुआ करती है अत वह यायोग मे नही होती । (४) किन्ही आचार्यों
का मत है कि व्यायोग मे समवकार के समान १२ नायक होते हैं (द्र० अभि० भा०,
ना० द०) । इसका नायक राजपि या दि य होता है (ना० भा० तथा सा० द०) ।
(५) व्यायोग का उदाहरण है—सौम्यिकाहरण (सा० द०) ।

७ अथ समवकार—

समवकार मे भी नाटक आदि के समान (i) आमुख रखना चाहिये ।

(ii) इसमे देव तथा असुरो की प्रसिद्ध कथा होती है । (iii) विमर्श को छोडकर
अथ चार सन्धिया होती है । (iv) कश्चिकी की अल्पता के साथ चारो वृत्तिया
होती है । (v) इतिहास प्रसिद्ध उदात्त प्रकृति क देव एव दानव बारह नायक
होते हैं, उन सबके प्रयोजन भिन्न भिन्न हुआ करते है । (vi) उन सभी म वीर
रस की प्रचुरता होती है जसे कि समुद्रमंथन (नामक समवकार) मे है ।
(vii) यह तीन अङ्का का होता है । (viii) इसमे तीन कपट, तीन शृङ्गार

बुधवारता एवं
दिग्दर्शक प्रद
गोपनीय
गोपनीय
प्रभावकान
वाच्यकान
सर्वत्र प्रदत्त
स्वभावानुसारमन
शौर्यवान् बहून्मूर्खे रान्
कोट लीन विभव हाउ है । (ii)
मिथ्या रचना कार्ही प्रया
चाहिये । शय श अङ्क कम
दो नाती (४ घण) क हान
(५) समवकार म तीन कप
हूत । इसमें नारायण, युद्ध
(नीन) विद्व (रान) हाउ है
शृङ्गार हाउ है । (ii) इसमें
क्यानायक) नही हाउ है । (iii)
अङ्क भी हाउ कत है । (iv)
निकमे अनेक प्रयोजन वक
समवकार सब को युजने है ।
(काश्चिकी के) इन रसन मे नाती
में विमर्श को छोडकर अन्य
होते हैं उनके प्रयोजन विपरि
को सबको आदि को प्रसिद्ध होतो है
अन सबको रस अङ्क होते हैं । इन
नातो में समाल हुवा करता है ।
नाती के हो । नाती (नायिका)
इत्या वद (प्रथम में
क्या नर का नाता युद्ध एव क यु
कायिक' इति याग उप
नायिका इति पाठाम्

ब विदुषोऽपि सुहृत्सवरसः

निम्ब ॥६२॥

सज्ज ॥

रामना ॥६३॥

पुनरुपक ॥

एन के अन्ते सिता के बर के है।

नाम प्र० (१० २४), ना० दे० (३३) (१) ना० दे० के अनुसार ब किको बलि के न होने से च रत्नात्म-करीक भागो न्पवत्प्यार हो है और दख-वत्प्यार है बलि के नववत्प्यार है। ध्याने में भी रत्नों पर रस मर्ते होते और शृङ्गार ही होती। (४) किही बाबनों परक होते हैं (५० बलि० ना०, है (ना० ना० तथा ना० २०)। ना० दे०)।

न (१) आमूख रखना चाहिये होती है। (ii) विमल को छोड़कर के अल्पता के साथ चार वृत्तियों के देव एवं मानव वास्तु नामक । कस्त है। (iv) उन सभी में चार । नामक समबकार म है। इसमें तीन कपट, तीन शृङ्गार

बहुवीररसा सर्वे यद्वदन्मोघिमन्यने ॥६४॥
 अहकस्तिर्नामस्त्रिकपटीस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रव ।
 द्विमघिघरङ्क प्रथम कार्मां द्वादशनालिक * ॥६५॥
 चतुर्दिनालिकावत्यो नालिका षट्टिकाद्वयम् ।
 वस्तुस्वभावदेवार्किरुता स्यु कपटास्त्रय ॥६६॥
 नगरोपरोधयुद्ध वाताभ्यादिकविद्रवा ।
 धर्मायकार्मां शृङ्गारो नाम विदुषुप्रवेशको ॥६७॥
 वीथ्यङ्गानि यथाताम कुयस्त्रिहसने यथा ॥

समवकीयतस्त्रिभ्रवो इति समबकार । तत्र नाटकाविद्यामुखमिति समस्त रूपकानामामुखभाषणम् । विमलवज्रिताम्बुखार सधय, दयाशुसदाया द्वादश नायक तया च पत्न्यानि पृथक्पथगमवत्स यथा समुद्रमन्यने बासुदेवादीना लक्ष्म्यादिवामा वीरस्वाचा, अङ्गयुता सर्वे रसा प्रयोङ्ग्या, तथा प्रथमा द्वादशनालिकाविहृत् संतिवृत्त कोर तीन विद्रव होते हैं। (ix) प्रथम अङ्क में (मुख तथा प्रतिमुख) दो सन्धिघटा रखनी चाहिये तथा इसकी कथा १२ नाटो (२४ घण्टो) को होनेी चाहिये । शेष दो अङ्क क्रमश (द्वितीय) चार नाटो (८ घण्टो) और (तृतीय) दो नाटो (४ घण्टो) के होने चाहिये । नाटो (नालिका) दो घण्टी की होती है। (x) समबकार में तीन कपट होते हैं—वस्तु स्वभावकृत, दबकृत और और कृत । इसमें नगरोपरोध, युद्ध तथा वायु एव अग्नि आदि द्वारा किये गये (तीन) विद्रव (उपद्रव) होते हैं । धम, अथ काम से युक्त (तीन प्रकार का) शृङ्गार होता है । (xi) इसमें विन्दु (नामक अथप्रवृत्ति) और प्रवेशक (नामक अयोपक्षोपव) नहीं होता । (xii) प्रहसन के समान ही यथायोग्य वीथी के अङ्ग भी हुआ करते हैं ॥६२-६७॥

जिसमें अनेक प्रयोगन असो भांति निबद्ध किये जाते ह यह समबकार है (यह समबकार शब्द की श्रुतवत्ति है) । इसमें भी नाटक आदि क समान आयुष होता है (कारिका) के इस पद्यन से सभी रूपको में आयुष होमा प्रकट होता है । समबकार में विमल को छोड़कर अय चार सर् घण्टी होती ह । देव, अयुर इत्यादि १२ नायक होते ह उनके प्रयोगन निम निम हुआ करते ह, जैसे सतुद्र-भषण में विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है । उसमें वीररत्न अङ्गी (प्रधान) होता है और अन्य सभी रस अङ्ग होते ह । तीन अङ्ग होते ह । उनमें प्रथम अङ्क का इतिवत्त १२ नाटो में समाप्त हुआ करता है । द्वितीय और तृतीय अङ्क इस से चार नाटो और दो नाटो के होते ह । नाटो (नालिका) दो घण्टो (घटिका) की होती ह । अरोध अङ्क में प्रथमा अषट (प्रथम में वस्तुस्वभावकृत द्वितीय में दबकृत और तृतीय में अरिहता) तथा मगर का चोरा युद्ध एव ब यु और अग्नि आदि के विद्रवों म से कोई एक विद्रव

* नात्रिक' इति पाठान्तरम् ।
 त्रिनाडिका इति पाठान्तरम् ।

अथाङ्क —

(६३) उत्सृष्टिकाङ्के प्रत्याप्त वृत्त बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७०॥

रसस्त वरुण स्थायी नैतार प्राकृता नरा ।

भागवत्सिंघवृत्यङ्गयुक्ति स्त्रीपरिदविते ॥७१॥

वाचा युद्ध विधातम्य तथा जयपराजयी ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकात्तगाडक यवच्छेदाथम् । शेष प्रतीतिमिति ।

१ उत्सृष्टिकाङ्क—

उत्सृष्टिकाङ्क (नामक रूपक) में (i) कवि को इतिहास प्रसिद्ध इतिवृत्त अपनी बुद्धि से विस्तृत कर लेना चाहिये । (ii) इसमें करुण अङ्गी (स्थायी) रस होता है और (iii) साधारण जन नायक होते हैं । (iv) भाग के समा (मुख तथा निवहण) सिंघ, (भारती) वृत्ति तथा उनके अङ्गी की योजना (युक्ति) होती है । (v) यह स्त्रियों के विलास से युक्त होता है । (vi) इसमें वाग्मुद्र का दणन करना चाहिये तथा जय पराजय का भी ॥७०-७१॥

नाटक के अङ्क से भेद दिखलाने के लिये उत्सृष्टिकाङ्क कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ६३-६६) भा० प्र० (प० २५१ २५३), ना० द० (० १३६-१३७) प्रता० (३ ५५) सा० द० (६ २५०-२५२) । (२) व्यवच्छेदाथम्—यह एक अङ्क का रूप है अत इसे अङ्क भी कहा जा सकता है, किन्तु नाटक आदि में जो अङ्क होते हैं उनसे इसका भेद दिखलाने के लिये इसे उत्सृष्टिकाङ्क कहते हैं (घनिक) वस्तुतः इसके तथा नाटक आदि के अङ्क के रचना विधान में अंतर है । (अङ्कवचनम्) उल्लङ्घ्य सृष्टियस्य स उत्सृष्टिक, स चासीदृश्य इति उत्सृष्टिकाङ्क (मि० प्रता० टीका) । अथवा उक्तता विलोमरूपा सृष्टिय-ने यु सृष्टिकाङ्क (सा० द०) । अमि० भा० तथा ना० द० के अनुसार तो यह उत्सृष्टिकाङ्क इसलिये कहलाता है, क्योंकि इसमें शोचप्रस्त नारियों का विशेष रूप से चित्रण होता है—उत्सृष्टिका शोचत्य इत्यम् । तामिच्छित्तवाद् उत्सृष्टिकाङ्क । (३) भागवत सिंघवृत्यङ्ग युक्ति—यहाँ अङ्क के स्थान पर अङ्क वाञ्छनीय प्रतीत होता है जिससे भाग के समान एक अङ्क होता है यह अर्थ भी प्रबल हो सके ।

कवेद्युक्त

(६४) वि...
पर...
भागा...
...

मराम
वप्राप्तम् ९

मृगवररम्भा नायिका
कप = प्रतिनायक

10 ईहापुत्र—
व्यापुग नामक
कल्पित) होता है (ii) जो
निवृत्त) स विभक्त होना है
और प्रतिनायक होने हैं जो
इसमें से अतिम

है । (v) वृत्त न चाहता हुई
चाहता है इन प्रकार का
प्रदग्गत करान चाहिये । (vi)
पूर्वभाकर विन्ती वहात स
सुखे हुए शेर का (महात्मन

इहा शूय कहलाता है । इसकी
होती है । (कारिका ३) अथ
कारण अत्युक्ति काय काल भासा

टिप्पणी—(१) ना० प्र०
(२ १३०-१३६) प्रता० (५५
सा० द० में कुछ अधिक विवरण
अनुसार विमर्ष केवल स्वने के

है—ईहा चण्डा सृष्टयेव
या चर अङ्क का होता है । (ii)
रति का अर्थ शोच है वहाँ
प्रतिनायक एवो नायिका को प्रति

अपेहामृग

(६४) मिश्रमोहामृगे यत्त चतुरङ्क त्रिसिधयत् ॥७२॥
 नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायको ।
 प्यातो धीरोद्धताव त्यो विपर्यासदयुक्तुत् ॥७३॥
 दिव्यस्त्रियमनिष्ठ तीमपहारादिनेच्छत ।
 श्रुगाराभासमप्यस्य किञ्चिन्नात्किञ्चिच्छ्रयंशयेत् ॥७४॥
 सरम्भ परमानीय युद्ध व्याजान्निवारयेत् ।
 वधप्राप्तस्य कुर्वीत वध नव महात्मन ॥७५॥

मृगवदलभ्या नायिका नायकोऽस्मि नोहते इत्येहामृगः । रुगाताहयात् वस्तु ।
 अत्य्य = प्रतिनायको विपर्यासादिपर्ययानादयुक्तकारो विधेय । स्पष्टमयत् ।

१० ईहामृग—

ईहामृग नामक रूपक मे (i) इतिवृत्त मिश्रित (अथत र्यात, अथत कल्पित) होता है (ii) जो चार अङ्को तथा तीन सधियों (मुख, प्रतिमुख, निवृत्ण) मे विभक्त होता है, (iii) बिना किसी नियम के नर तथा देव नायक और प्रतिनायक होने हैं जो इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं (iv) इनमे से अतिम (प्रतिनायक) भूल (ध्राति) से अनुचित कार्य किया करता है । (v) वह न चाहती हुई दिव्य स्त्री को अपहरण आदि द्वारा प्राप्त करना चाहता है इस प्रकार का वधन करके कवि का कुछ माना मे शृङ्गाराभास प्रदर्शित करना चाहिये । (vi) युद्ध को चरमसीमा के वेग (सरम्भ) तक पहुँचाकर किसी वहाने से रोक देना चाहिये तथा (vii) वध भी अवस्था तक पहुँचे हुए वीर का (महात्मन) वध नही करना चाहिये ॥७२-७५॥

इसमे मृग के समान नामक किसी अनन्य नायिका को चाहता है इसलिये यह ईहा मृग कहलाता है । इसकी ब्यावस्तु असात इतिहास प्रसिद्ध तथा असात कल्पित होती है । (कारिका में) अत्य्य = प्रतिनायक, उसे विपर्यास अर्थात् विन्यासान्न क कारण अनुचित काम करन वाला विघ्नाना चाहिये । अय स्पष्ट हो है ।

द्विषण्यो—(१) ना० गा० (१८ ८०-८३) भा० प्र० (पु० २५३) ना० ८० (२ १०-१३६) प्रता० (५६-५७) सा० ८० (६२५-२५०) । ना० ८० तथा सा० ८० म कुछ अधिक विवाद विवेचन है । (२) अर्थि० भा तथा गा० ८० क अनुसार जिसमे केवल स्त्री के लिय मृग के समान ईहा होती है वह ईहामृग कहना है—ईहा चट्टा मृगमेव स्त्रीभाषार्थो वध स ईहामृग । () ईहामृग एक अङ्क या चार अङ्क वा होता है । (ना० ८० सा० ८०) । (४) शृङ्गार भास—जहाँ अनुचित रति का वधन होता है वहाँ रयाभास तथा शृङ्गाराभास होता है । ईहामृग में प्रतिनायक ऐसी नायिका के प्रातिवृत्त के लिये चट्टा करता है जो उससे प्रेम नहीं

गा प्रान्त्रचेद्वे ॥७०॥
 इहा नरा ।
 त्रिदेवित ॥७१॥
 पराभवौ ।
 नाप्य । वेप प्रतीनिति ।

र को ईतिहास प्रसिद्ध इतिवृत्त
 इसमें कण अङ्को (स्वातो)
 मे हैं । (iv) भाग के समान
 वा उनके अङ्का की योजना
 युक्त होता है । (ii) इनमें
 य का भी ॥७०-७१॥

द्वारङ्क कहा जाता है ।
 ० प्र० (१० २२१ २२३), ना०
 २४०-२४२) । (२)
 मृगु भी कहा जा सकता है,
 न विघ्नाने के लिये इसे वृत्त
 आरक प्राति के मृगु के रूप
 में स उपयुक्त, अ कातो ह्यन
 उज्याता विनाशका ह्युक्ति
 ० ८० के अनुसार तो यह उपयुक्ति
 नातिनी का विषय रूप है विना
 शर उपयुक्तिकरु (३) भास
 वाचस्पतीय कीर्त होता है किन्तु
 ही उनके ।

(६५) इत्य विचित्य दशरूपव लक्षममाग
मात्रोवय वस्तु परिभाष्य कविप्रयव्यान् ।
क्यादयत्नवदलडवृत्तिभि प्रवध
वाक्यरदारमधुर स्फुटमादवृत्तौ ॥७६॥

स्पष्टम् ।

इति श्रीविष्णुसूत्रोपनिषत्स्य कृती दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो
नाम तृतीय प्रकाश समाप्त ।

करती यह रति उभयनिष्ठ महो अल श्रुङ्गाभास है (२० सा० ६० ३ २६२) ।
(५) वधप्रालम्ब्य०—चाहे कथावस्तु के मूलभूत आरम्भान में वीर का वध वगित हो
तथापि यहाँ नहीं दिखलाना चाहिये (Haas) । नेपथ्य में भी वध का वणन न करना
चाहिये (ना० ६०) । (६) ईहागुण का उग्रहरण है—कुसुमगोखर (भा० प्र०) या
कुसुमगोखर विजय (सा० ६०) ।

इस प्रकार दस रूपवा के लक्षणा के माग का भली भाँति विचार
करने, वस्तु का निरीक्षण करने तथा कवियों की रचनाओं का अनुशीलन
करने (परिभाष्य) नि सी कवि की अङ्गिम (अयत्नवद) अलङ्कारों से युक्त,
उदार (स्पष्ट अथ वाले) एव मधुर वाक्यों तथा स्पष्ट और सरल छांदा के
द्वारा रूपव (प्रवध) की रचना करनी चाहिये ॥७६॥

यह स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—अयत्नवद०—अयत्नवत् के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) यह कुर्यात्
का द्विधाविशेषण है अयत्नवत् कुर्यात् = बिना आयास के प्रवध-रचना करे, अर्थात्
रचना में स्वाभाविकता हो सहज प्रतिभा का उच्छलन हो, one may produce
without effort (Haas) अयत्नवत् = अनायासेन = अविनष्टम् इत्यर्थ । विनष्ट—
रचनागमनायाससम्भवात् (प्रभा) । (२) यह असङ्कृति का विशेषण है—यत्नपूर्वक लामे
गये अलङ्कारों के बिना = स्वाभाविक (अङ्गिम) अलङ्कारों से युक्त । इसके द्वारा
कवियों की वृत्ति अलङ्कारों की भरमार करने में प्रति सचेत किया गया है ।

इस प्रकार इस तृतीय प्रकाश में नाटक आदि दस रूपका क लक्षणों का विशद
निरूपण किया गया है । प्रसङ्गानुसार नाटक का वस्तु सन्निवेश भारतीय वृत्ति उसके
प्रस्तावना इत्यादि अङ्क तथा अङ्क का स्वरूप आदि भी दिखलाये गये हैं ।

इति तृतीय प्रकाश समाप्त ।

भारतीय रचना
(१) ३
मानसनाद

रवा
साय = निरुपवद

वस्तु नाच
नाच का विनाश
प्रकाश में इय गान्त रत्न
अथ यहाँ
विमात्र,

लाभ्यादन क याग
(यथ कथ्य) के
से विषय रति भाँति
श्रु (स्वामी) का सम्पने
प्रशंसित विद्यात कुसुम
के योग अर्थात् सम्पने
तथा एव कथना है ।
(= एव कुसुम रत्न का
की अर्थ समुचित क उग्र
स्वामी) कथना है,
कथना है ।

विषय—(१)
सर्वोपर रत्नविमति (ना०
(रत्नो विमति) का० ३० ।
ना० ६० (३) । (३)

पर कविचरित्रम् ।

संस्कृतम् ॥३६॥

श्रीशुक्र कथनपदसतो
मन्त्रम् ।

मम है (२०) भा० ६० ३ १३३।
रत्नर में हीर का यह चित्र ही
रत्न में जो रूप का रूप न बला
है—शुक्रनेत्र (भा० ३०) का

माता का भनी प्रति विचार
ही रचनाआ का अनुमीन
अननयत् अलङ्कार त युक्त
ग्या स्पष्ट और सरल छन्दों के
॥३६॥

अप हो तहने है—(१) यह कुमुदि
तले के प्रयुक्त-रत्न को, प्रयुक्त
छन्द ही, one may produce
न=कविचरित्र रूपन । निरुक्त—
त्रि का विशेषण है—अत्युक्त भासे
अनङ्कारों से युक्त । इनके द्वारा
प्रति दमन किया गया है ।
प्रति दमनकों के सप्तमों का विचार
वस्तु-सिद्धि वाली छति उनके
प्रति भी प्रयुक्त नये हैं ।
समाल ।

अथ चतुर्थ प्रकाश

अथेदानीं रसमेव प्रवक्षते—

(१) विभावैरनुभावश्च सात्त्विकैव्यभिचारिभिः ।

आनीयमान स्वात्सव्य स्थायी भावो रस स्मृत ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभाव-विभावानुभाव-यभिचारिसात्त्विक का-योगात्संरमिभयोपवशि
तर्वां श्रीशुक्रप्रकाशनाम-तद्विषयिण्यतमानो रसादिव्यव्ययमाणनस्य स्थायी स्वादगोचर-
ताम् = निभयान-सविदारसतामानीयमारो रस । तत्र रसिका सामाजिका काव्य तु
तथाविधान-रसविदुःशीलनहेतुभावन रसवद् आयुष तमित्यादि-यपदेशवत् ।

वस्तु नायक और रस से तीन रूपको के भेदक तत्त्व हैं । इतमे से वस्तु तथा
नायक का विस्तारपूर्वक बणन प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश मे किया गया है । चतुष
प्रकाश में क्रम प्राप्त रस का विवेचन किया जाता है ।

अब यहां रस के भेद दिखलाये जाते हैं—

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा
आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता है ॥१॥

(अथ्य हाथ्य) के श्रोताओ तथा (अभिनेय के) दर्शकों के हृदय में विशेष रूप
से चित्रमान रति आदि स्थायी भाव होता है जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा ।
वह (स्थायी) आगे बतलाये गये स्वरूप वाले काश्य मे पणित अथवा अभिनेय द्वारा
प्रदर्शित विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव और सात्त्विक भावों के द्वारा आस्वादन
के योग्य अर्थात् अत्यधिक आनन्दमय अनुभूति के रूप में कर दिया जाता है
तथा रस कहलाता है । इस प्रकार सामाजिक (श्रोता तथा दर्शक) ही रसिक
(= रस युक्त रस का आस्वादन करने वाले) हैं । काश्य तो केवल उस प्रकार
की आनन्दानुभूति के उपयोग का कारण होने से रसवत् (रसयुक्त, सरस हाथ्य
इत्यादि) कहलाता है, जिस प्रकार (लोक मे) आयुष तय' इत्यादि व्ययहार हुता
करता है ।

टिप्पणी—(१) इसका आधार यह रस सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारि
सयोगाद् रसनिष्पत्ति (ना० भा० अ० १ पृ० २७२) । तुलनाय ३०, भा० प्र०
(एम्बोडिफिकार) का० प्र० (४ २७-२८) ना० द० (३ ६३) प्रता० (पृ० १/५)
सा० द० (३ १) । (२) आयुष तय इत्यादिव्ययपदेशवत्—यह माना जाता है वि

तत्र विभाव —

(२) ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोग्गुत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

'एवमयम् एवमिषम् इतिगोप्तिरूपका यथापाराहितविगिरुत्तरूपतया
पायमानो विभाव्यमान सनालम्बनत्वोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिगमिततेभका
लादिर्वा स विभाव । यदुक्तम् — विभाव इति विनाताथ इति, ताश्च यथास्व
यथावसर च रमेपुपपादविरयाम ।

यत आनुबद्धक है । यही घत आमु वृद्धि का हेतु है । फिर भी औपचारिक रूप से यह
कह दिया जाता है—आमुघ तम् अर्थात् घत आमु ही है । इसीप्रकार वाय य या नाटय
सामाजिक वे रसास्वादन का हेतु हुआ करता है । यह सङ्घट्टो क हृदय म आन वा
नुभूति को उद्भावित करता है । यह आनन्दमय अनुभूति ही रस है और अनुभूति
धैतन का घम है । अत रस सामाजिक के हृदय में रहा करता है । वह अचेतन वाय
म नहीं रह सकता । इस प्रकार औपचारिक रूप से हा ऐसा व्यवहार हुआ करता है
कि यह वाच्य भरस (रसवत्) है ।

विभाव

उनमें विभाव का स्वरूप यह है—

उन (रस के उद्भावको) में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर
(स्वायी) भावों को पुष्ट करता है । वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो
प्रकार का होता है ॥२॥

द्विष्यो—ना० शा० (अ० ७ पु० ३४६ ३४७) भा० प्र० (पृ० ४) ना०
२० (३ १६४), प्रता० (पृ० १२८) सा० २० (३ २८ २९) ।

यथ (दुष्यत आदि) ऐसा है अथवा यह (सङ्कुत्सता आदि) ऐसी है' इस
प्रकार जो नायक आदि या अभीष्ट देगकाल आदि वाच्य के अतिगोप्ति रूप वचन
के द्वारा विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन के रूप में अथवा उद्दीपन के
रूप में जाने जाते हैं (ज्ञायमान = विभाव्यमान) वे विभाव कहलाते हैं, जवा कि
(परतनुनि ने ना० शा० पु० ३४६) कहा है विभाव अर्थात् जाना हुआ अथ ।
जिस रस के जो विभाव होते हैं (यथास्वम्) उनका यथावसर रसों (के प्रकरण) में
प्रतिपादन करने ।

द्विष्यो (१) अतिगोप्तिरूपं = अतिगोप्तिरूपेण काव्यव्यापारेण अद्विता
या विशिष्टरूपता तथा, यहाँ अतिगोप्ति का अर्थ इस नाम का अलङ्कार नहीं है
अपि तु अनूठी उक्ति या लोकोत्तर गणन है । अथ म अतिगोप्ति या वक्रोक्ति
शब्द का प्रयोग होना है (नायक) । कवि का काम काव्यव्यापार यही
है कि वह लोको के पदांशों का साक में ऊपर उठकर अतिगोप्ति द्वारा वचन
करता है । इसीनिपे इस वाच्य व्यापार क द्वारा इतिहास आदि में प्रतिष्ठ दुष्यत

वर्षा

रसा स्वरुध्यात्पलन
स्वराविभाव इति न
उक्तु भवु हरिणा—

वादि एक विगिरु (वादि के रूप में जाने जाने
(= यह) दुष्यत आदि यह अनुभवना वादि के प्रति
काय वेदार्थों से अत्र ही आदि ऐसी है (एवम् एवम्)
(२) विगिरु —
सर ।

और ये (नायक
के द्वारा अपने-अपने रूप में
(भावक) के द्वारा अपने
सहचर्यों के विस में सावान्
इमानेपे वही नायक आदि

भवु हरि ने के
अतः है अथवा जो वृद्धि
प्रत्यय के स्थान (कम आदि)
प्रत्ययों के वहाँ
रस के लक्षण के द्वारा
पृ० ३४८)

द्विष्यो—अपीना
काय में वगैर नायक क वि
के भावोद्दीपन में ज्ञायमान
रसिक ने कहा है—अपीना
साकार नायक आदि को
रसक गुरु जाना, कौतिक नरुं
में सारा अर्थगत गुरु ?

अमीया धानपेक्षितग्राह्यमस्याना प्रादोषदानादेवासाधिततद्भावाना सामाया
 त्स्यात् स्वस्वसम्पत्तिं धत्तव्यं विभाविताना साक्षाद्भाववत्तेति विपरिवर्तमानानामासत्
 म्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता ।
 तदुक्तं भवृ हरिणा—

“शब्देणहितरूपास्तानुद्धेयवियता गताम् ।
 प्रत्यक्षमित्थं कमादी साधनत्वेन मयते ॥ इति ।

घटसहस्रीकृतापुस्तकम्— एवमर्थक सामा यशुण्यधीरेन रसा निरप्यद्यते इति ।

आदि एक विशिष्ट (= लोकोत्तर) रूप धारण कर लेते हैं और वे काव्य में आलम्बन
 आदि के रूप में जाने जाते हैं (विभाव्यमान) । (२) एवम् अयम् यहाँ अयम्
 (= यह) दुप्यन् आदि नायक के लिये है । एवम् (= ऐसा है) का अविभ्राम्य है कि
 यह शकुन्तला आदि के प्रति अनुराग युक्त है जमा कि काव्य में वगित इसको वाक
 काय चेट्ताओ से प्रकट हो रहा है मि० का० प्र० शब्दकमलत) । और, यह शकुन्तला
 आदि ऐसी हैं (एवम् इयम्) कि जिसके प्रति दुप्यत्त आदि के मन में अनुराग है ।
 (२) विशिष्ट = इतिहास या लोक में प्रसिद्ध दुप्यत्त आदि की अपेना मित्र लोका
 चर ।

ओन ये (नायक आदि) बाह्य रूपा की रूपेक्षा बिधे विना ही शब्द की उपाधि
 के द्वारा अपने अपने रूप में प्रकट होते हैं सामा य रूप धारते होकर सभी सहचर्यों
 (भावक) के द्वारा अपने आपसे सम्बन्ध रखते हुए से समझे जाते ह । इत प्रकार
 सहचर्यों के चित्त में साक्षात् रूप से स्फुरित होत हुए आनम्बन आदि हो जाते ह ।
 इसलिय यहाँ नायक आदि का अभाव नहीं होता (न वस्तुशून्यता) ।

चतु हरि ने भी कहा है (?) शब्द क द्वारा विमिश्र स्वस्वय प्रकृत रस विया
 जाता है अतएव जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य (विद्यय) हो जाते उ उन कत आदि की बोद्धा
 प्रत्यक्ष के सामान (कम आदि) कारक के रूप में समझ लेता है ।

घटसहस्री के कर्ता (सरस) ने भी कहा है— इत (विभाव्य आदि) से सामाया
 मूण के सम्बन्ध के द्वारा रसों को निरपत्ति हो जाती है (न० शा० ६— के मध्य
 पु० ३४८)

टिप्पणी—अमीया न वस्तुशून्यता—यहाँ यह शब्द हो सकती है कि
 काव्य में वगित नायक अ दि तो वस्तुत इस समय विद्यमान नहीं फिर वे सहृदय
 के भावोद्बोधन में आलम्बन आदि करते हो सकत हैं ? इसका समाधान करत हुए
 धनिक ने कहा है—अमीयाम् इत्यादि। भाव यह है—(१) यह ठीक है कि
 काव्यगत नायक आदि की इन समय बाह्य जगत् में सत्ता नहीं । किन्तु इनम कई
 दोष नहीं आता क्योंकि उन्हें रस का आलम्बन बाणों के लिये उनकी बाह्य जगत्
 में सत्ता अपेक्षित नहीं (अनपेक्षित—बाह्य तत्त्वानाम्) (१) वस्तुत उनको बुद्धिगत

ननु
 म्प्रा ।। १॥

बादशाहारादिनिमित्तस्वल्प
 का भी मन्दागन्धितव्येवभा
 प्रकाशार्थं इति, तत्र यत्न

। फिर की जोरक रूप वस्तु
 है । इतिहास काय का वस्तु
 वस्तुशून्य रूप में जानना
 मुझ ही त है और मुझ
 पूरा बना है । यह अनेक नाम
 ही एक व्यवहार हुआ करता है

है जो स्वयं जाना हुआ होकर
 न और उद्घाटन क के त दो

(२०) मा० घ० (पृ० ४) ना०
 ८८६ ।

(एतत्तत्ता आदि) ऐसी ही त्त
 काव्य के अतिगमोक्ति रूप सम्य
 मन्त्र के रूप में अपना उद्घोष के
 वे विभाव्य कहसते हैं, अत कि
 नायक अमीय जाना हुआ अत
 यत्नकार रसों (के प्रकरण) में

मनोति रूपेण काव्याभ्यासोपेक्षं विना
 अथ इत नाम का अनुहार नहीं है
 । अथ में अतिगमोक्ति का प्रतीक
 र का मन काल प्यार की
 उल्लेख अतिगमोक्ति द्वारा बन
 । इतिहास आदि में अतिदुःख

तत्रानम्बनविभावो यथा—

‘अस्या सगविधौ प्रजापतिरूपेण च नु भातिप्रद

शृङ्गारकनिधि स्वयं नु मदनमासा नु पुण्याकर ।

वेदाभ्यासजड कथं नु विषयव्यावृत्तकीदृहलो

निर्मातु प्रमत्तमनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनि ॥२१॥

(बौद्धिक) सत्ता अपेक्षित है और वे माहात् रूप से सहृदय (भावक) के चित्त में स्थित रहते ही हैं (साक्षात् भावरूपेतमि विपरिच्यतमानानाम्) । कसे ? (iii) काव्य के शब्दों द्वारा उनके अपने अपने रूप उपस्थित हो जाया करते हैं (शब्दरूपाद् उपघानाद्=उपाधे आसादित प्राप्य तत्सद्भाव नायकदेशकालदिरूपता य तथा भूतानाम्) । किन्तु प्रश्न यह है कि यदि शब्दों के द्वारा शकुन्तला आदि के रूप में नायिका आदि उपस्थित हो जायें तब भी वे सहृदय सामाजिक का आत्मम्बन आदि नहीं हो सकते । इसके उत्तर में कहा गया है—सामायात्मनाम् अर्थात् शब्दों से सामान्य नायिका आदि के रूप में ही उनका बोध होता है और प्रत्येक भावक को वह नायिका आदि अपने आप से सम्बन्ध रखती सी प्रतीत हुआ करती है (स्वत्व सम्बन्धित्वन विभावितानाम्) । उस प्रकार काव्यगत नायक आदि वाह्य जगत् में विद्यमान न होते हुए भी सामाजिकों के आत्मम्बन आदि हो जाया करते हैं क्योंकि शब्दों द्वारा ज्ञान होकर भी कोई पदाय साक्षात् रूप से चित्त में विद्यमान रहता है । शब्दोपहित—बुद्धि में स्थित अथ को भी मानव माहात् रूप से विद्यमान सा समझ लेता है, इस में तब्य के समथन में भवु हरि की यह कारिका उद्घत की गई है । इसका सद्भव अज्ञात है (३) पटसहस्री—जसा कि धारदातनय (भा० प्र० दशम अधिकार पृ० २८७) में बताया है नाट्यशास्त्र की दो पाठ परम्परायें मानी जाती हैं । उनमें से एक बृहत् पाठ है जिसमें १२०० श्लोक हैं तथा जो द्वादश सहस्री कहलाता है । दूसरा सधु पाठ है जिसमें ६०० श्लोक हैं तथा जो पटसहस्री कहलाता है । दोनों के कर्ता भरत माने जाते हैं । पटसहस्रीकार=भरत ।

उनमें आत्मम्बन विभाव यह है जते (विश्वभोवशीय १० पुष्टरवा की उक्ति में वर्णित उवशी आत्मम्बन विभाव है)—इत (उवशी) के रचना काय में क्या भाति दायक चद्रमा प्रजापति है ? अथवा जिसका शृंगार ही प्रधान रस है वह कामदेव ही स्वयं इसका स्रष्टा है ? या पुरुषों का निधानभूत मास अर्थात् मधुनास वसत इसका निर्माता है ? क्योंकि वेद के अध्यास से कुण्ठित (जड) सुन्दर विषयों में ओत्सुध रहित (व्यावृत्त) पुरातन मुनि कदा इस रमणीय रूप के निर्माण में कसे समय ही स्रष्टा है ?

सद्वर्तमानो वा—

‘अप्य—’

१ २ ५

(१) अनुभासो

५ ६

सुभास एव

सन्तुम्बनमिति शान्तमा

तीक्ष्णरसायना इव तु

११५

सम्बन्ध

अप्य कांति ददा

सुय १

१२ ५

इत्या

उद्यत्त विभाव क

समान समार को जो

और शीघ्र रक्त-नताभ्या

मथान के विचरे में रथा

अनुभाव—

(रति आति)

पारवतन) अनुभाव है ।

साधोबिहो को

को वृष्ट काने काने छानि

(स्य काव्य) अथ काव्य

साम्पन्न अनुभव के इन क

अनुभाव रहस्ये हैं ।

लोक रन को स्रष्ट से

(अनुभाव) रस के नि

(अनुभाव का

अनुभव कर सुव तिते

सम्बन्धना से पुष्पार रिते

सुशुभ्रक विभव सुव पर

विचरे है सृ बनोशा (कै-
इत्या । १५

(४) हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तथो सव्यवहारत ॥३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (८ ५ पृ० ३५७) भा० प्र० (पृ० ४) ना० ८० (३ १६४) प्रता० (पृ० १५६), सा० ८० (३ १३२-१३३) । (२) यहाँ धनञ्जय ने केवल यह कहा है कि रति आदि भाव को सूचित करने वाले विकार अनुभाव कहलाते हैं । भाव यह है कि जब बुद्ध्यत आदि के चित्त में शक्तु तला तथा उद्यान आदि के द्वारा रति आदि भाव उत्पन्न एव उद्दीप्त हो जाता है तो बुद्ध्यत आदि के शरीर में भुजोत्सव (भुज फटवना) आदि विकार हुआ करते हैं जो उसके हृदय में स्थित रति आदि को सूचित करते हैं वे ही अनुभाव कहलाते हैं क्योंकि ये भाव के पर्याय उत्पन्न होते हैं (अनु परश्चाद् भवति इति) । धनिक का कथन है कि इस प्रकार यहाँ लौकिक रस की दृष्टि से ही अनुभावों को भाव सूचक विचार (= रति आदि का काय) कहा गया है । अचरसिकों द्वारा आस्वादित रस की दृष्टि से तो अनुभाव रस के कारण होते हैं काय (विकार) नहीं । उस दृष्टि से काव्य नाट्य में वर्णित या अभिनीत कटास आदि ही अनुभाव है । और अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति है—(१) सामाजिकान् स्वाधिभावान् अनुभावयति इति—जो सामाजिकों को स्थायी भावों का अनुभव कराते हैं । काव्य नाट्य में अनुभावों का वर्णन पद्वक्षर या अभिनय देखकर सामाजिकों को बुद्ध्यत आदि के रति भाव का अनुभव हो जाता है । इसी से ये अनुभाव रस पोषण के निमित्त हो जाया करते हैं । अथवा (११) काव्यनाट्ययो अनुभूयत इति अनुभावा—जिनका अनुभव किया जाता है वे अनुभाव हैं । (प्र० अनुवाद) । यहाँ भावकाना साक्षाद् अनुभवकमत्या अनुभूयते यह अवयव है । धनिक द्वारा की गई अनुभाव शब्द की य दोनों व्युत्पत्तियाँ रस स्वरूप के विशेषण में विशेष महत्त्व रखती हैं । (११) लौकिक रस का अभिप्राय है—लोक में बुद्ध्यत आदि के हृदय में होने वाले रति आदि भाव । काव्य नाट्य का रस उस लौकिक रति आदि भाव से विलक्षण है अतः यह अलौकिक रस कहलाता है । प्रायः उसने लिये केवल रस शब्द का प्रयोग होता है और रति आदि को लौकिक रस या भाव कहा जाता है ।

ये दोना । (विभाव तथा अनुभाव) क्रमशः (लौकिक रस के प्रति) कारण एव काय होते हैं अतः इनका स्वरूप लौकिक व्यवहार से ही निश्चय है ।

— ६
पुनश्चात्पुनश्चात् ॥ ३
मन्मथस्य मन्मथस्य
वदन्तः—

(१) मनुज
मनुज
पान्मन्मथ
रति ।

(विपरीत में,
मनुज इत्यादि लौकिक
व्यवहार में ही रस लिये
जगत्तिका है (सां
ही है जो कि व्युत्पत्ति
ही माने के कारण

टिप्पणी—(१)
परनाम दुःख विना
परिहास्यते इत्यादि
भावनात् दुःख इत्यादि
कं नि क पास्यन्तु
नामने मनुजस्य इत्यादि
सर्वत्र कला व्यवहार

भाव—
(रस का स्वरूप
विना रस्य ही रस) अतः
मनुज दुःख
देना भाव कहलाता है ।

जिन मनुज दुःख
है उनके द्वारा मनुजस्य (र
भाव कहलाता है । अतः
रस या मनुज से सब म विना

तयोविभावानुभावयोर्लोककरस र्पिन हेतुकायभूतया सव्यवहारदेव सिद्धत्वात्
पृथग्भावमुपगृह्यते । तदुक्तम्— विभाव नुभावो लोकसिद्धौ लोकयापानुगामिनो
लोकस्वभावोपगतव्यञ्च न पृथग्भक्षणमुच्यत इति ।

अथ भाव —

(५) सुखदुःखादिकं भावभाववस्तुद्भावभावानम् ।

अनुकार्याभ्य वेनोपनिवध्यमान मुखदुःखादिकेष्वभाववस्तुद्भावस्य भवकचेतसो
भावन सामन भाव । तदुक्तम्— अहो ह्येन र्गहन घ घेन वा सव्येतद्भाववित् वासितम्
इति ।

(कारिका मे) तयो (अन दोनो का) विभाव तथा अनुभाव का, विभाव तथा
अनुभाव क्रमया लौकिक रस (रति आदि भाव) के कारण एव रूप होते हैं । ये लोक
ध्यवहार त ही जान लिये जात ह अत उनका प्रथक लक्षण करना आवश्यक नहीं ।
जैसा कि कहा है (ना० शा० अ० ७ पु० ३५) विभाव और अनुभाव लोक मे प्रसिद्ध
ही ह ये लोक ध्यवहार का अनुसरण करते ह और लोक के स्वभाव से ही इनका ज्ञान
ही जाने के कारण इनका प्रथक लक्षण नहीं बतलाया गया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ ना० शा० अ० ७ श्लोक ८ तथा उससे पूर्व के गद्य का
भावभाव उद्धृत किया गया है । (२) लोक मे जो रति आदि भाव के उत्पादक
नायिका आदि तथा उद्दीपक चित्रिका आदि कारण हैं वे ही कान्य नाट्य मे क्रमश
आलम्बन एव उद्दीपन विभाव कहलाते हैं । इसी प्रकार लोक मे रति आदि भाव की
उत्पत्ति के पश्चात् जो रति आदि क कारण बटाया इत्यादि होते हैं वे ही कान्य
नाट्य में अनुभाव कहलाते हैं । ये दानो लोक से जान लिये जाते हैं, अत इनका
लक्षण करना आवश्यक नहीं समझा गया ।

भाव—

(रत वा स्वरूप बतलाते हुए अर्थविचारी भाव तथा स्यायो भाव का उल्लेख
किया गया है अत) अब यहाँ भाव का स्वरूप बतलाते ह ।

सुख दुःख आदि भावों के द्वारा (सहृदय के चित्त को) भावित कर
देना भाव कहलाता है ।

जिन सुख दुःख आदि भावों का अनुकाय (दुष्यत् वादि) मे दशन किया जाता
है उनके द्वारा सहृदय (रसिक प्राणक) के चित्त को भावित करता वा वासित करता
भाव कहलाता है । जैसा कि (मा० शा० अ० ७ पु० २४४) कहा गया है—अहो इत्
रत या गद्य से सब भावित—वासित (मध्यमक) हो गया है ।

मन्दरहात ३१ ।

१२३) शा० अ० (पृ० ४) ना० १०
(१२-११) । (१) यहाँ कर्मण मे
एव काने रूपे विहार अनुभाव र्पाने
न प अनुभव तथा उपाग भादि के
। भाग है तो दुष्पन्न भादि के हारे के
बतल है जो उसके हृद्य मे स्थित रति
रन्ते हैं बाकि व भाव के रूपानु
कर्म का स्वप्न है कि इन प्रकार यहाँ
अनुभव विहार (= रति भागि भागाने)
एव ही स्थिति से जो अनुभाव र्पाने
के नाम-नायक में रति भागि रतिवित्
की सुवृत्ति है—(१) कारिकावा
द्वेषों को स्वयो भावों का अनुभव
पुनर वा अर्थव्यवहार साक्षात्कारों
ही जाता है । एही से ये अनुभाव र्पाने
(२) कान्यनाट्यो अनुभवते इति
मे अनुभाव है । (३) अनुवाद) यहाँ
ने यह भाव है । अतिक द्वारा की र्पाने
स्वरूप के विवचन में विषय मन्तर र्पाने
लोक में सुपन्न आदि के हृद्य में होने वा
न लौकिक रति भागि भाव के विवचन है
एव उनके लिये केवल 'रत' भाव का प्रथम
ना भाव कहा जाता है ।
भाव) क्रमत् (लौकिक रत के प्रथि
स्वरूप लौकिक मन्वहारते ही निर्मल ।

यत्तु 'रसाभावयभाव इति कवेरतगत भाव भावयभाव' इति च तत् अभिनयवाक्ययो प्रवतमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकपणम् । त च स्थायिनी व्यभिचारिण्येति वदयमाणा ।

(६) पृथग्भावा भवत्ययेऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका ॥४॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावानम् ।

ज्ञो (भा० ना० ७ २-३, पृ० ३४६) यह कहा गया है कि रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं अथवा 'कवि के आंतरिक भाव को प्रवृत्त करने के कारण ये भाव कहलाते हैं' यह तो नाट्य (अभिनय) और काव्य के लिये प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है ।

ये भाव स्थायी तथा व्यभिचारी (दो प्रकार के) होते हैं जिनका वाग वगन किया जा रहा है ।

टिप्पणी (१) ना० भा० (अ० ७ पृ० ३४२-३४६) भा० प्र० (पृ० १३) सा० द० (३ १८१) । (२) तदाभावभावानम्—रस भाव स भावित कर देना तदाभाव भावन नाम तमपत्त्वनावयवानम् (प्रता० टीका पृ० १६०) यहाँ सुख दुःख आदि भावों का उल्लेख किया गया है तथा भावक के चित्त का प्रकरण है इसलिये धनिक ने यह अर्थ किया है—सुख दुःख आदि भावों से भावक के चित्त को भावित कर देना । भा० प्र० (पृ० १३) में भी यही कहा गया है—

रामाद्याश्रयतु छादेरनुभूतेस्तदात्मता ।

सामाजिकरूप्य भवसो या ग भाव इति स्मृत ॥

(३) ना० भा० के निम्न दो श्लोको म प्रतिपादित मत को धनिक ने रसात् भावयन्' इत्यादि के द्वारा उद्धृत किया है, जसे नानाभिनयसम्बन्धान् भावयति रसानिभान् (७ २) तथा कवेरतगत भाव भावयन् भाव उच्यते (७ ३) । धनिक व अनुसार ना० भा० के इन श्लोको पर उस भाव शब्द के प्रयोग का निमित्त (प्रवृत्ति निमित्त) बतलाया गया है जिसका भावत्वमकोऽभिनय' या 'भावात्मक का यम् आदि य प्रयोग होता है । क्याकि अभिनय रसो रसनयोग्य रति आदि भावों) का बोध कराता है (भावयति) अत भाव (- भावात्मक) कहलाता है । इसी प्रकार का य कवि के हृदयगत भाव को प्रकट करता है अत भाव (= भावात्मक) कहलाता है । इतले विपरीत दशरूपक के भाव के लक्षण म यह बतलाया गया है कि स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव इन दोनों को भाव क्या कहा जाता है । तदनुसार का य मे वर्णित या नाट्य म अभिनीत सुख दुःख आदि (अथवा रति एव चित्ता आदि) सहृदय के चित्त को भावित करते हैं—तमय करते हैं—अत य भाव कहलाते हैं ।

सात्त्विक भाव

अयं जा सात्त्विक (भाव) हैं यद्यपि ये अनुभाव (भावो व परमात् होने वाले) ही हैं तथापि पृथक रूप से भाव कहलाते हैं क्याकि उनकी 'सत्त्व' से ही उत्पत्ति हुआ करती है । 'सत्त्व' का अर्थ है किसी भाव से भावित होना (तमय होना) ॥४-५॥

सत्-सत्त्व
भावयन्भावानम् विरक्त
७
दशरूपवम् ॥ १॥

रसो है हृदय
हृदय रसो ही रसात्
७ भावक ही रस है भाव
(भिनय रस) है । भाव रस है
का सत्त्व यहाँ है कि रसात्
हृदय रस एव रसात्
काव्य के (रस के पुष्प) है
रसत्त्व हृदय के कारण रस
के समुत्पत्ति (सुख रस) है
हृदय अनुभव को भावयन्
भावयन्) शोभो रस हृदय
रसात्—(१) भा
(पृ० १३-१४) प्रता० (पृ०
२ ३) भा० की 'काव्यरस'
और सुख दुःख रतिरस के
अभिनय के कारण में 'का
के द्वारा ही रसुत्पत्ति' का
संभाव्य 'रस' शब्द का
२ ३ ३ टिप्पणी, और भावात्
कर का। भावों का सत्त्व
उत्पत्त होते हैं । यह कार्य
हृदय है इस कारण में मन
रसो 'वदभावभावानम्' मध्य
कार पर ही अभिनीत (रस)
अतः हृदय को तमय कर लेता
हो जाता है तथा वह रसात्मक
के मत में जो सुख दुःख को
७ ६ व आरोपित सुख रस ही

परगतदुःखहृषीदिभावनायामस्य तानुबुद्ध्यात् करणस्य सत्त्व यदाह—'सत्त्व नाम मन—प्रथम तत्त्व समाहितमनस्वाद्युत्पद्यत । एतदेवास्य सत्त्व यत् चिन्मि न प्रहृषितेन चाधुरामाश्रुचाद्यौ निवत्येत् । तेन सत्त्वेन निद्रु सा सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानस्तदधुस्यमतयोऽपि भावाः । भावसमूचनात्मकविकाररूपवाच्यानुभावा इति द्रुस्यभावाद् । इति ।

१३ भाव भावना' इति च द्रु
इतिप्रमाणम् । त च स्थानि

न सात्त्विकाः । ॥
न भावमानम् ।

हृषीत्वात् किं एतौ नो भावौ
त आत्त्विक भाव नो प्रो भवते
(नद्र) और सत्त्व के निम्न मुद्र
त है ।

त है ह विद्या को बल
१५२-१६० भा० प्र० (५०-११)
इति च भावित कर देना उत्पन्न
(१०), वह सुख दुःख आदि भावों
इत्यादि हैं इत्यनेन अधिक न द्रु
विन को भावित कर देता । भा०

दूसरे के हृदय में स्थित दुःख और हृष की भावना में प्रायः उसी प्रकार के हृदय वाला ही जाना सत्त्व कहलाता है । जसा कि कहा गया है (भा० शा० अ० ७ श्लोक ६३-६४ के बीच गद्य, पृ० ३७ ३७५) सत्त्व मन से उत्पन्न होने वाला (विशेष घम) है । यह मन के एकाग्र (समाहित) होने से उत्पन्न होता है । इस (मत् ?) का सत्त्व यही है कि इसके द्वारा (दूसरे के दुःख या हृष में) दुःखी होकर या हृषित हाकर अधु एव रोमाञ्च आदि उत्पन्न किये जाते हैं । उस सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये (मत् के दुःख, हृष आदि) ही भाव वस्तुत्त सात्त्विक होते हैं । किंतु उन से उत्पन्न होने के कारण अधु इत्यादि भी सात्त्विक भाव कहलाते हैं । दूसरी ओर ये अधु आदि (दुःख आदि) भाव से उत्पन्न होते हैं (विकार) तथा उनकी सूचना देते हैं अतः अनुभाव भी कहलाते हैं । इस प्रकार इन (अधु आदि) के (सात्त्विक भाव तथा अनुभाव) दोनों रूप होते हैं ।

द्विष्यन्ती—(१) भा० शा० (७६१-६४ पृ० ३७५-३७६), भा० प्र० (पृ० १३-१४) प्रका० (पृ० १५६-१६०) सा० द० (३ १३५ १३५) । (२) धानिक ने भा० शा० की 'सात्त्विक' शब्द की व्याख्या की स्पष्ट करने का प्रयास किया है और यहाँ कुछ परिवर्तन के साथ भा० शा० को उद्धृत किया है । भा० शा० म अभिनय के शब्द में सात्त्विक शब्द की व्याख्या की गई है नत् (अभिनेता) 'सत्त्व' के द्वारा ही अधु आदि का अभिनय कर सकता है अतः ये सात्त्विक कहलाते हैं । सामान्यतः 'सत्त्व' शब्द का अर्थ है—मन या निमित्त मन (भा० प्र०, पृ० ५ तथा ऊपर २ ३३ टि०) और, सभी भावों का अभिनय मन के बिना नहीं किया जा सकता तथापि अधु आदि भावों का सात्त्विक भाव कर्तन का कारण यह है कि ये सत्त्वविशेष से उत्पन्न होते हैं । यह सत्त्व (विशेष) मन की एक अवस्था में जो एकाग्रता से उपन हाती है इस अवस्था में मन दूसरे के सुख दुःख में तद्रूप (तमय) हो जाग करता है । यही तद्भावभावनम्' उसके सुख दुःख आदि से भावित होता है । इस सत्त्व का आधार ही अभिनेता (नट) अनुकाय दुष्प्रात् आदि से सुख दुःख की भावना में अपने अंत करण को तमय कर लेता है । अथवा कहिय कि वह भी सुखी और दुःखी सा हो जाता है सभी वह रोमाञ्च भाव अधु आदि को प्रकट कर सकता है । अभिनेता के मन में जो सुख दुःख की भावना हाती है वह सत्त्व-युग्म हाती है अतः वस्तुतः मनें ये आरोपित सुख दुःख ही सात्त्विक होते हैं (सात्त्विकास्त एव भावाः) । इनके

तः ।
इति नृत् ॥
इतिप्र नत् नो सत्त्विके नै सत्त्वं
भावात्तत्त्वस्यैव भावत्तत्त्व
भावात्तत्त्व (३३) । इति न
के प्रमाण भावित (इति
न' या भावात्त्व सत्त्व आदि
न रति भावि भावो का बोध
वृत्ताना है । इसी प्रकार सत्त्व रति
= भावा नत् कहलाता है । इसके
ताप्य नत् है कि स्वामी भाव वृत्त
ता है । —अनुभाव भाव में रति
न रति प्र नत् भावि) सत्त्व के
त दे भाव कहलाते हैं ।

य अनुभाव (भावों के लक्षण
भाव कहलाते हैं, क्योंकि उनका
का अर्थ है कि तीनों भावों से

हे च—

(७) स्तम्भप्रलयरोमाञ्च स्वेदो वयण्यवेपथू ॥५॥
अथुवैस्वयमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निद्रियाद्गताः ।
प्रलयो नष्टसनावसूम्, शया सुद्यत्कलशणा ॥६॥

यथा—

वेपथू से अदबदनी रोमञ्चिभ्र गतिए ववइ ।
बिलमुत्सु तु वनअ सद्द वाहोथलीए रणसि ।
शुद्धं सामासि होई छण बिमूच्छइ विअपण ।
मुद्धा मुहअत्ती सुअ वेम्मेल सावि न धि—अइ ॥२१४॥
(वेपथे स्वेदवदना रोमाञ्च मात्र वपति ।
बिलोत्सवतो वसथो लघु वाहुवन् या रणति ।
मुष श्यामल भवति क्षण बिमूच्छति विदग्धेन ।
मुष्णा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धय करोति ॥)

डारा ही नट अथु रोमाञ्च आदि को प्रकट करता है अत उसके अथु रोमाञ्च इत्यादि सात्विक भावों से उत्पन्न होने के कारण सात्विक भाव कहलाते हैं (तत् उत्पद्यमानत्वाद् अथुप्रभतयोऽपि भावा सात्विका इति वेप) । य अथु इत्यादि भाव वस्तुतः अनुभाव ही हैं, क्योंकि वे अनुभावा के समान ही हृदय में स्थित हय, दुःख आदि भावों के विचार होते हैं और उनकी सूचना देते हैं ।

और ये—

(सात्विक भाव) आठ हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, वयण्य (रङ्ग फीका पड जाता), वेपथु (कम्पन), अथु तथा वस्वर्य (स्व भङ्ग, आवाज बदल जाना) । इनमें अङ्गु का क्रिया रहित (निद्रिय) हो जाना स्तम्भ है चेतना (=संज्ञा) का नष्ट हो जाना (मुग्ध-मुग्ध छो देना) प्रलय है । शय के स्वरूप स्पष्ट ही हैं ॥५-६॥

अते (कोई सखी नायिका को काम वेदना का वरण करती हुई मायक से कहती है) मुग्धारे प्रम के कारण वह (नायिका) भी धय धारण नहीं करती, वह कायती है उसके मुख पर पसीना आता है शरीर पर रोमञ्च हो जाता है फिर चञ्चल चल्य (कण्ठ) मुन-सता मे मन्ध मन्ध रणन करता है उसका मुख काला पड गया है वह वदाम्य के साथ धरण को मूच्छित हो जाता है और उसकी मुख लता भी मुग्ध सी है ।

टिप्पणी—ना० शा० (० ३४ प० ३७५) भा० प्र० (प० १४) प्रता० (प० १६०) सा० व० (१ १२५-१४०) ।

सर्वज्ञान ल

(-) विवर ली

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

अथ व्यभिचारिय तत्र सामान्यलक्षणम्—

(८) विशेष्यव्यभिमुख्येन चरतीत्यभिचारिय ।

स्यायिद्युममननिमग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

यथा वारिधौ सत्यं कल्लोला उद्भूयति विलीयते च तद्वद्वत्त्वाद्यो स्यायिमि
सत्यव्यभिचारितरोभावाभ्यामभिमुख्येन चरतो वतमाना निर्बन्दाद्यो व्यभिचारियो
भावा ।

व्यभिचारी भाव

अथ व्यभिचारी भाव वतलाधे जाते ह । व्यभिचारी भाव का सामान्य
लक्षण है—

विविध प्रकार से (स्यायी भाव के) व्यभिमुख (अनुकूल) चलने वाले
भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, जो स्यायी भाव में त्सी प्रकार प्रकट
होकर विलीन होते रहते हैं जिस प्रकार सागर में तरङ्ग ॥७॥

अर्थात् जिस प्रकार सागर के होने पर ही तरङ्ग उच्यते हैं और विलीन
होती हैं, उसी प्रकार रति आदि स्यायी भाव के होने पर ही उसको लक्ष्य करके
(= इसके पोषण के लिये) जिनका आधिनायक और तिरोभाव हुआ करता है, वे निषेध
आदि व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

टिप्पणी—(१) ना० सा० (प० ३२५, ३२६), भा० प्र० (प० २५-२६)
ना० द० (३ १६४), प्रला० (प० १६१) सा० द० (३ १५०) । (२) यथा प्रथम
पदिक में 'यु-रसिनम्य अथ के बाधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप दिखलाया
गया है । इस प ना० सा० की छाया है । एव और अर्थ को उपसर्गों से युक्त ✓ चर
धातु से व्यभिचारी शब्द निष्पन्न होता है—विषयम् आभिमुख्येन रसेत् चरताति
व्यभिचारिणः । पाठान्तर के अनुसार 'विषयाना रसामाम् आभिमुख्येन चरतीति
दश० तथा सा० द० आदि में 'विषय' या 'विषयानां' के स्थान पर विषयार्थ
भाव रखना गया है अतः इसका भी वही अर्थ प्राप्त प्रतीत होता है । इस प्रकार
यथा विषेयार्थ का अर्थ होगा—विषय प्रकार से अथवा विविध रसों के, आभि—
मुख्य = अनुकूल लक्ष्य करके, पोषण के लिये (आभिमुख्य पोषकत्वम्, ना० द०) ।
दश० की कारिका की दूसरी पदिक में रस प्रकृति या व्यभिचारी भाव का जो
व्यर्थ होता है उसके बाधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप बतलाया गया है ।
भाव यह है कि सागर में तरङ्ग के समान स्यायी भाव में उत्पन्न होकर तथा विलीन
होकर जो निर्बन्ध आदि भाव रति आदि स्यायी भाव को विविध प्रकार से युक्त
करते हैं—उसे रसकृता की आर ल जाते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।
के लभिरिक्त इतने व्यभिचारी भाव नाम का बाधार यह है कि य किसी
स्यायी भाव के साथ नियत नहीं होते (ना० द०), अर्थात् (१) किसी स्यायी भाव

अथर्ववेदम् ॥१॥
निर्मित्तिनाम्नम् ।
मन्त्रकृतम् ॥६॥

रतिरु वरद ।
अन्नात् रमति ।
उद्य विभयन ।
उद्येन विभय ॥२१॥
उद्य वरति ।
रु वा रति ।
उद्येन विभयन ।
नि न वर करोति ॥

उद्येन अथ उद्येन अथ रोमाज्
कारिक भाव वृत्तान्ते है (उद्य
विभय) । उद्येन अथ उद्येन भाव
जो ही उद्येन से विभय ह, उद्य
उद्येन है ।

रति, रोमाज्, स्व, उद्य
अथ उद्येन अथ (उद्येन अथ,
ना रति (निष्कम्प) हा जाना
मान (युक्तयुध छो देना) प्रत्य

भा का उद्येन कर्ता ही भावके
को अथ उद्येन नहीं करते, यह
रति पर रोमा अथ उद्येन है, कि
उद्येन कर्ता है उद्येन उद्येन कर्ता पर
उद्येन ही भाव है और उद्येन उद्येन कर्ता

३२), भा० प्र० (प० १५) अन्ना

ते च—

(६) निर्वेदग्लानिगङ्गाश्रमघतिजडताहृपदन्वीग्रथचि ता
स्त्रामेव्यामपगर्वा स्मतिमरणमदा मुप्तनिद्राविबोधा ।
वीडापस्मारमोहा सुमतिरलसतावेगतकर्णह्रित्या
व्याघ्युन्नादौ विपादोत्सुकचपलयुतास्त्रिशदत्त प्रयश्च ॥८॥

तत्र निर्वेद—

(१०) तत्त्वज्ञानापदीव्यादिनिर्वेद स्वावमाननम् ।
तत्र चि ताश्रुति श्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता ॥६॥

के होने पर भी कोई व्यभिचारी भाव कभी होता है कभी नहीं, (11) एव ही व्यभि-
चारी भाव कभी किसी स्थायी भाव के साथ होता है कभी किसी दूसरे के साथ ही ।
इहू सञ्चारी भाव भी कहते हैं यथा कि ये स्थायी भाव को रसरूपता की आर ले
जाते हैं सञ्चारघात भावस्य गति सञ्चारिणोऽवित (रसायनसुधाकर द्वितीय बिलास,
तथा मि० ना० शा० प० ३५५ ३५६) ।

और ये—

व्यभिचारी भाव ३३ होते हैं—निर्वेद, र्लानि, शङ्का, श्रम, घृति,
जडता, हृप, दैन्य, ओग्रथ, चिंता त्रास, ईर्ष्या, अमय, गव, स्मति, मरण,
मद, मुप्त, निद्रा, विबोधा, वीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग,
तक, अवह्रित्या, व्याधि उन्माद, विपाद, औत्सुक्य तथा चपलता ॥८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ६३ प० ३७५), शा० प्र० (प० १५),
का० प्र० (४ ३१-३५) ना० द० (३ १८२) प्रता० (प० १६१) सा० द०
(३ १४१) । (१) विद्वानो का विचार है कि ३३ व्यभिचारी भाव (त्रिघट एते
वचन) कहना उपलक्षण मात्र है अथ भी व्यभिचारी भाव हो जाया करते हैं, जसे
तण्या मन्त्रो मुदिता श्रद्धा दया उपेक्षा इत्यादि (ना० द०) । इसके अतिरिक्त
रति आदि जो स्थायी भाव हैं वे भी अथ रसो व्यभिचारी भाव हो जाया करते
हैं, जसे शृङ्गार और वीर रस म हास्य हास्य कथन और या त मे रति, वीर म
क्रोध, कथन और शृङ्गार म भव भयानक और शा त मे जुगुप्सा, रोद एव हास्य
मे उत्साह तथा प्राय सभी रसो म विस्मय व्यभिचारी हो जाता है (काव्यप्रकाश उच्यते
तथा सा० द० ३ १७२ १७३) ।

इन निर्वेद इत्यादि ३३ व्यभिचारी भावा के लक्षण तथा उदाहरण का क्रम
निष्पन्न करते हैं—

(१) निर्वेद—

तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि वे कारण अपना ति स्कार करना
निर्वेद कहलाता है । इसमें चिंता, अश्रु, नि श्वास, वषण, उच्छ्वास और
दीनता (अनुभाव) हुया करते हैं ॥६॥

बहु

दरमन्निग दग-

रिन

रुं व

रगनि-

रगनि-

गण दग-

रग-

आश-तेय

रिंता दग-

"वशाग इन्द्र"

सायन निर्दि-

वीर्य शास्त्रोपचारी र्ति

वे बाधो न र्ति

मति

प्रकृत्ये

प्रयत्न करते शास्त्रोपचारी

विषय तो क्या ? फिर और

शरीरकारितो क कारण

आपत्ति से होते

चिर जीवन का यह कल

कुछ देश का लगन तथा

ईर्ष्या से होने वाला

कथन है कि मेरे सब हूँ ।

समीच ही सहाय मोटाओं के

इन्द्रिन्द्र (सपना) को

छोटे पाल (गमदिका) को

(लाभ) ?

भीर तथा शृङ्गार का

हृदय न तो उद में सब क वर

प्रयत्न (मन) पर सुशासन हूँ

तब से पुन हूँ, विस्मय ही से

तत्त्वगानानिर्बन्धो यथा—

'पाप्ता धिय सवत्सकामदुष्पामस्तत किं
दत्त पद शिरसि त्रिद्विपता तत किम् ।
सम्प्रोणिता प्रणयिनो विभवंस्तत किं
रूप स्थित तनुमृता तनुभिस्तत किम् ॥२११॥

शापदो यथा—

'रापो विषद्वधुवियोगदुख देशच्युतिदुग्ममासदे ।
आस्वाद्यतेजसा कटुनिष्पलाया फल मयतच्चिरबीजिताया ॥२१२॥

ईर्ष्यातो यथा—

'यश्चारी ह्ययमेव मे यदरयस्तनाप्यतो तापस
सोऽप्यनेव निहति राक्षसमटाऽजीवत्यहो रावण ।
धिग्भिषाक्रुजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्मण वा
स्वगधामटिकावित्पुष्टनपरं पीनं किमेभिपुञ्जं ॥२१३॥

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्बन्धो यथा—

ये बाह्वो न युधि धरिःकठोरकण्ठपीठोच्छलद्रुधिरारिञ्चिराजितासा ।
नापि धियापृथुपयोधरपनभङ्गसङ्गातकुडकुमरसा खनु निःफलास्ते ॥२१४॥

गहनम्योत्रयविन्ता
मुसनिद्राविरोधा ।
गबेनरविहृत्पा
गुवास्त्रिवदेत मयत्त ॥

प्रामाण्यम्

प्रामाण्यता ॥६॥

है कभी नहीं, (1) एक ही मति
है कभी किसी दूसरे के साथ ही।
भाव को रखना जो और के
(सावधान्यपूर्वक विचार विचार,

मानि, शङ्क, धम, धुति,
अप, गव, स्मति, मरु,
है, मुमति, अतथा, वेग,
एव तथा यथाता ॥६॥
(७), का ५० (१),
ग १० (११) सा ०
व्यभिचारी भाव (विषद्वधु
भावं हो भाव करते हैं, जैसे
(१०-२०)। धरु अतिरिक्त
व्यभिचारी भाव हो जाता है
य जो है साउ में से, और द
भाव से युष्पा, सौ एव हास
री हो जाता है (राज्यप्रकाश उल्लेख
के तत्त्व तथा उदाहरणों का प्रम

पारप अपना तिरस्कार करना
स्वायं, वचन, उच्छलता और

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्बंध यह है जैसे (विरामयशक ७१), 'सवत्स मनोरथ
प्रदान करने वाली सम्पत्त्यार्थ प्राप्त कर ली तो क्या ? शत्रुओं के तिर पर पर रख
दिया तो क्या ? मित्र आदि प्रियजनों को धन संपत्ति से तुल्य कर दिया तो क्या ?
शरीरछारियों के शरीर बरूपस्थल स्थित रहे तो क्या ?

आगति से होने वाला निर्बंध यह है जैसे— मेरे द्वारा इस कटु तथा निष्फल
चिर लोचन का यह फल भोगा या रहा है कि राजा से विगत यष्टुओं के वियोग का
धु छ देना का त्याग तथा दुःख माग में गमन की पीडा हो रही है ।

ईर्ष्या से होने वाला निर्बंध यह है, जैसे (महालाटक ६ ५५)—मेरा यही
अपमान है कि मेरे शत्रु हूँ । उन (शत्रुओं) में भी बहू तपस्वी (राम) और बहू भी मरे
समीप ही राक्षस योद्धाओं को मार रहा है । अहो ! फिर भी रावण (मैं) जोरित है ।
इन्द्रजित् (मैंगला) को विष्कार है । जगमे हूए कुम्भकर्मण से क्या (साध) ? स्वग रूपी
छोटे गांव (धामटिका) को लूटने में तत्पर मरी इन साक्षात्सली सुनाओं से भी क्या
(साम) ?

वीर तथा शृङ्गार का व्यभिचारी भाव होने वाला निर्बंध यह है जैसे— जो
युधार्थ में तो युद्ध में शत्रु के कठोर कण्ठस्थल से छलकते हुए सधिर की धार से स्वधा
प्रदेम (सव) पर सुसोचित हूँ न ही दिया के विनास स्तनों को पत्र रचना क कटुम
रत से युक्त हूँ, निश्चय ही ये निष्फल हैं ।'

आत्मानुरूपं रिपु रमणी वाऽनभमानस्य निर्वेदादियमुक्ति । एष रसात्तराणा
मप्यङ्गभाव उदाहाय ।

रसानङ्ग स्यत की निर्वेदो यथा—

कस्व भो क्वयामि दवहृतक मां विद्धि शाखोटक
वराय्यादिष बक्षि साधु विदिष नस्माद्यत श्रूयताम् ।
धामेनात्र घटस्तमध्वगजन सर्वात्मना सेवते
न ष्टायामि परोपकारकरो मागस्थितस्यापि मे ॥११६॥

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकभाषो निर्वेदो निदशनीय ।

अथ ग्लानि—

(११) रत्याद्यायासतृक्षुङ्गिर्यानिनिष्प्राणतेह च ।
वैवध्यकम्पानुरसाहृष्टामाङ्गवचनक्रिया ॥

अपने अनुरूप शत्रु अथवा रमणी को न प्राप्त कर सकने वाले व्यक्ति की यह
निर्वेद के कारण कही गई उक्ति है । (यहां निर्वेद नामक भाव बौर तथा शत्रुद्वारा का
अङ्ग होकर आमा है) इसी प्रकार जहाँ निर्वेद अथ रसो का अङ्ग हुआ करता है उसका
भी उदाहरण दिया जा सकता है ।

किसी रस का अङ्ग न होने वाला स्वतंत्र निर्वेद यह है (जैसे पथिक के प्रश्न
के प्रत्युत्तर में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद प्रकट हो रहा है)— अरे सुभ कौन हो ?
यतलाता हूँ—मुझे भाग्य का धारा शाखोटक (सिंहुष्य) वृक्ष जानो । तुम तो वराय्य
युक्त से बोल रहे हो । हाँ आपने ठीक जान लिया । किन्तु यह (वराय्य) किस कारण
स है ? सुनिचे—यहाँ (मग के) बाव भाग मे जो घट वृक्ष है पथिक जन उसका सब
प्रकार (छाया सारोक्षण आदि) से आश्रय लेते ह, कि तु माग मे स्थित होते हुए भी
भेरी छाया भी दूसरे का उपकार नहीं कर सकती ।

इस प्रकार विभाव अनुभाव रस के अङ्ग तथा स्वतंत्र (अनङ्ग=अङ्ग न
होने वाला) आदि भेद से निर्वेद के अनेक प्रकार विख्याये जा सकत है ।

द्विष्णो—ना० सा० (७ रम ३० पृ० ३५६) भा० प्र० (पृ० १५) ना० द०
(३ १८३) प्रता० (पृ० १०३) सा० द० (३ १४२) । (२) विभावानुभाव—यहाँ
तत्त्वान आदि निर्वेद के विभाव हैं (मि० ना० द०) । इनके आधार पर होने वाले
प्रकार ऊपर विख्याये गये हैं । इसी प्रकार अनुभावो क अनुभाव भी निर्वेद के अनेक
प्रकार हो जाते हैं । चि ता अश्रु आदि इसके अनुभाव हैं ।

(२) ग्लानि—

रति आदि की यथान, प्यास (तृट) और भूख से होने वाली जो
निष्प्राणता (शक्तिहीनता) है, वह ग्लानि कहलाती है । इसमे रग फीका
पडना, अनुसाह, शरीर, वचन और क्रिया को क्षीणता आदि (अनुभाव)
होते हैं ॥१०॥

रसोऽन्वयानुरसाङ्गानुपुन

तिर्गति

रस निर्वेदोऽप्युत्तर ।

अथ शब्दा—

(११) रम ११७
३ ११५

वचनानुभाव की
आदि से उत्पन्न होने वाला
पुनः, वचन अनुभाव
रसिनों के समान रूप
रसानुभाव नैवकमप्य भाव नैवो

(विभाव आदि के
समवेत भावों) ।

द्विष्णो—(१) ना०
ना० (३ १८२) प्रता०
द्वारा इत्यादि 'प्रत्यय'
के समान जो 'दिवसे' (गुं
(३) शब्द—

दूसरे की वृत्त्या
की सामझा है यह शब्द
उपर दिवसा (अपिचोपा),
(विभावता) आदि (अनु
वचन दूसरे की कल्या
(रसा) उपर वचनकी की
इस प्रकार (नैवक) शब्द न

निधुवनकलाभ्यासादिधमस्तुदशुद्धमनादिभिनिष्प्रायत्कारुषा स्वानि । अथवा च
वैवर्ष्यकम्पागुसाहाद्योऽनुभावः । यथा माघ—

लुलितनयनतारा क्षामवक्त्र दुःखिम्बा
रजनय इव निद्रावका तनीलोत्पलाम्प्य ।
तिमिरनिव दधाना स्रसिन केअपाभा
नवनपनिशुहेभ्यो यात्स्यमूर्खवद्व ॥

शेष निर्वेदवद्वह्यम् ।

अथ शङ्का—

(१२) अनयप्रतिभा शङ्का परत्रोपत्सवस्तुनयात् ।
कम्पशोपाभिबीक्षादिरत्र वर्णस्वरयता ॥११॥

तत्र परत्रोपायथा रत्नावत्पाम्—

'द्विधा सवस्यासौ हरति विवितास्मीति वदन
द्वयोऽप्येवमाप कस्यचित् कथामारमन्विययात् ।

अर्थात् धार धार की रतित्रीशा से होने वाली चकान, प्यास मुष्ण तथा दमन
आदि से उत्पन्न होने वाली मस्तिहीनता ही स्वानि है । इसमें वैवर्ष्य (= रग कीका
पङ्कना), कम्पन अनु साह आदि अनुभाव होते हैं । जैसे—माघकाव्य (११२०) में—
रात्रियों के समान चञ्चल नेत्र तारिकाओं वाली क्षीण मुखक इ से युक्त, निद्रा से
बलाव मीक्षकमल जते नेत्रों वाली अघकार जैसे खुले नेत्रों को धारण करती हुई दे
वारवनिताएँ राजा के भवनों से जा रही हैं ।

(विभाव आदि के भेद से रसानि के विभिन्न प्रकार इत्यादि) निर्बंध के समान
समझने चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७३१३२ पू० ३१७) भा० प्र० (प० १४),
भा० ८० (३१८४) प्रता० (पृ० १७४) वा० द० (३१७०) । (२) लुलितनयन
तारा इत्यादि रजनय (रात्रियों) की विशेषण है, जसे चञ्चल हैं नयन के तारों
के समान तारे जिसमें (लुलितान नयनतारा इव तारा मायु) इत्यादि ।

(३) शङ्का—

दूसरे की डूरता या अपने दुर्व्यवहार के कारण होने वाली जो अनर्थ
की आशङ्का है वह शङ्का कहलाती है । इसमें कम्प, शोष (सूखना), इधर-
उधर देखना (अभिबीक्षा), रग बदल जाना (वर्णायता) और स्वर भेद
(स्वरायता) आदि (अनुभाव) होते हैं ॥११॥

उनमें दूसरे की डूरता से होने वाली शङ्का यह है जसे रत्नावती (३४)
(राजा उदयन रत्नावती की अवस्था का वर्णन करते हैं)—मुझे जान लिया गया है
इस प्रकार (सौचर) यह सज्जा के कारण सबस मुह टिपाती है, जो के यत्न

परिमृष्टि । एव सान्प्रपा

शु शापोष्क
रस्मात्त शूययम् ।
इतरे
नायनिवस्थानि मे प्ररक्षा
ने निष्कनीय ।

पतेह च ।
इया ॥

कर करने वाले आदि को यह
एव भार और तथा यद्धार वा
को का अङ्ग हुआ करता है वस्तु

द्वि बहु है (जसे दमक के प्रत्य
एव है) — अरे तुम क्यों हो ?
बुझ जानो । मुझे तो बराबर
अनु यह (बराबर) किस कारण
प है वैवर्ष्यक जल उलका सब
यु माय में विद्य होते हुए भी

॥ स्तनच (अनङ्ग = अङ्ग न
प्रसाये जा सकते हैं ।
) भा० प्र० (पृ० १४), भा० ८०
) (३) विभावानुभाव—यह
। इसके आधार पर होने वाले
के अनुभाव की निर्वेद के कनेक
भाव है ।

और मुख से होने वाली जो
कहलाती है । इसमें रग कीका
को क्षीणता आदि (अनुभाव)

सखीषु स्मेरामु प्रकटयति वलद्वयमधिक
 प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥२२१॥
 स्वदुनयाद्यथा वीरचरिते—

'कूराद्वीयो धरणीघराम यस्ताटकेय तुणवद्वधुनोद ।
 हृत्वा मुबाहोरपि ताटकारि स राजमुत्रा हृदि बाधते माम् ॥२२२॥
 अनया दिशाऽप्यदनुसतध्वम् ।

अथ ध्रम—

(१३) श्रम खेदोऽन्वरत्यादे स्वेदोऽस्मि मदनदाय ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुष्णापध्वसञ्जातसेदा—
 दग्धियलपरिरम्भदससवाहनानि ।

परिमृदितमृणालीदुबलापङ्ककानि
 त्वमुरसि मम हृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥२२३॥

को देहकर उसे अपनी चर्चा समझने लगती है सखियों के मुस्कराने पर अत्यधिक लजित ही जाती है इस प्रकार प्रिया (सागरिका) हृदय में स्थित आतङ्क से व्याकुल रहती है ।

अपने दुष्यवहार से होने वाली गड्ढा जले महावीरचरित (२१) में रावण का मन्त्री (माल्यवान् बहता है) जिसने पवत के सररा ताडका-पुत्र (मारीच) को तिनके के समान बहल दूर फक बिचा जो मुबाहू का मारने वाला है तथा ताडका का शत्रु (सहारक) है वह राजपुत्र (राम) मुझे हृदय में ध्वलित कर रहा है ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिये ।

द्विषणो—ना० शा० (३३-३५ पृ० ३५०-३५८) भा० प्र० (प० १६)
 ना० द० (३ १८६), प्रता० (प० १७४) सा० द० (३ १६१) ।

(४) ध्रम—

मार्ग (अध्व) और रति आदि से होने वाली जो धकान है वह ध्रम है । इसमें स्वेद और मदन (अङ्गों को मलना) आदि अनुभाव होते हैं ।

भाग से उत्पन्न होने वाला ध्रम यह है जले उत्तररामचरित (१२४) में राम सीता से बहते हैं (यह वही स्थान है) जहा भाग में चलने से उत्पन्न धकान के कारण आलस्ययुक्त शिथिल तथा मनोहर मरे गाढ आलस्युक्तों के द्वारा बसाये गये परिमृदित मणाली के समान बुबल अङ्गों को भरे यत्र स्थल पर रखकर तुम तो गढ़ थीं ।

रिणो देवा मार—
 मार

ध्रम
 'या'...

रति—
 (१४) मन्त्रो

भार्या मनु रतिराम—
 'यन्मि'...

ध्रम ३३
 म द ध्रम रतिग

रति ३४
 मरिचा यथा स्थानम्—
 'राय' निरिङ्गम्

रति ने उत्पन्न ध्रम जले
 ध्रम का निम्ने केरा करने
 (मिण्डुनि) को वृषुकर समने
 कर ३५ ।

इत्यपि ध्रममम मर्दुने
 रतिपणे—ना० शा० (३ १८४) प्रता० (प० १७४)
 (४) ध्रम—

जान और
 है । वह व्ययगा रहित
 अनुभाव है ॥१२॥

ध्रम से होने वाली
 ध्रमो से कोई
 लक्ष्मी से । ध्रम सेनों को मुदि
 बरिच होता है जिसको ३४
 कीच रति १

रति से उत्पन्न होने
 राया उत्पन्न को रति ३४
 मार है पूरा राय है ध्रम ३४
 निम्ने के सब उत्पन्न होने कर निम्ने

शिव
शिवदुष्टिपुरा ॥२२१॥

शिव दुष्टदुष्टोत्तम
शिव हृदि बावडे मां ॥२२२॥

शिव मदनानन्द ।

शिव—
शिवानि ।

शिव
शिवानन्द ॥२२३॥

शिवानि के मुक्तावने पर शिवानि
शिवानि में शिवानि शिवानि से शिवानि

शिवानि शिवानि (२ १) में शिव
शिवानि शिवानि (शिवानि) शिवानि
शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि शिवानि

प्रचीतस्य सुता यत्तत्समयस्त्व वेति नाम्ना घति
 काम मृगपत्न्ये भय पुनमये महाप्रसव ॥२२६॥

इत्याचूह्यम् ।

अथ जडता—

(१५) अप्रतिपत्तिजडता स्याद्विष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

अनिमित्तनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र ॥१३॥

दृष्टदर्शनाद्यथा—

‘एवमासि मिश्रहीतसाध्वस शङ्को रहसि सेव्यतामिति ।

सा सखीभिन्पदिष्टम् कुला नाम्गरममुखवतिनि प्रिये ॥२२६॥’

अनिष्टध्वषाद्यथायात्तरापधे— राक्षस—

तावत्तस्ते महात्मानो निहता केन राक्षसा ।

येषा नायकता यातास्त्रिभिर खरद्रुपणा ॥२२८॥

द्वितीय—गृहीतघनुषा रामहृत्तेन । प्रथम—विभेवाकितव ? । द्वितीय—

हुई ह ऐसी प्रणी ह प्रचीन श्री पुत्री (वासववत्सा) पत्नी है वतत श्रुतु का (रमणीय) समय है और सुभ (जसा मित्र) है इम प्रकार कामदेव (भवनमहोत्सव) नाम होने से ही चाहे स तोय को प्राया कर से शत्रु से तो समन्ता हैं कि यह मेरा ही उत्सव है । इत्यादि समझना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० पा० (७ ५६-५७ पृ० ३६३) पा० प्र० (पृ० २०) ना० द० (३ १६६) प्रता० (पृ० १७८) सा० द० (३ १६८) । (२) अव्यग्रभोगम्पु = अयप्रतापक भोग करने वाली घम होने पर व्यग्रता नहीं रहती ।

(६) जडता

दृष्ट या अनिष्ट वस्तु के देखने या सुनने से (कतव्य तथा अकतव्य का) ज्ञान न रहना (अप्रतिपत्ति) जडता है । उसमें अपलक नेत्रों से देखना, चुप रहना आदि (अनुभाव होते) हैं ॥१३॥

दृष्ट के वशन से होने वाली जडता जैसे (कुमारसंभव ८ ५)—‘अथ प्रियतम (सिध) सम्पुत्र उपस्थित हुए तो पावती (सा) श्याकुल हो गई तथा सखियों के इन उपदेश का स्मरण न कर पाई कि— हे सखी भय तथा सखीच को दबाकर इस प्रकार एकान्त में शङ्कर के साथ ध्वषहार करना’ ।

अनिष्ट के ध्वषण से होने वाली जडता जैसे उद्यत्तराघव नाटक में— राक्षस त्रिशिर, खर और द्रुपथ (जिनके नायक थे उन सत्कृतात्मी) (=महात्मान) बहुरसध्वक (ताम्रत = उत्तरे) राक्षसों को फितने मार दिया ? द्वितीय—घनुष धारण किये हुये बुष्ट (हृत्क— मर जाना, मरा) ने । प्रथम—यथा अकेले (राम) ने ही । द्वितीय—विना देखे कोई बिरवास्त करता है ? देखो हमारी जननी सेना के बिलव से दृष्ट

दृष्टया इ इति ? तत्र
 दृष्टानिष्ट
 इति १
 प्रथम—एव दरा
 वर हा—
 (१६) ११

श्रीगथाया दया—
 वासते २३३
 इति
 इति

(वचन) ही राम दृष्टि में
 कृष्ण नायक नामों से
 है तो मैं इत
 द्वितीय—(१)
 २० (११३) प्रता ११
 के स्मरण पर ‘आपक बड़ा
 हीना, विभवय विदुषा ।
 () हा

उत्सव आदि ४
 द्वितीय अर्थ, १५
 मिय का अर्थ
 वाली विश की प्रथमा
 होते हैं । बने (१)
 अब शिष्ट
 करते की शक्ति
 दृष्टि इति की (वचन)
 तथा करी की शक्ति के
 ही मर की बराबर
 बल वात निरव के
 द्वितीय—(१) ना०
 २० (१२०४) प्रता (१०)
 प्रथमा, विश की प्रथमा

नेत्रि नाम्ना हवि
न पुत्रमन्वे महानक्षत्र ॥२२५॥

दृष्टानिष्टदयनयतिमि ।
दृष्टिभावाद्यस्तत्र ॥१३॥

रे रक्षति सेव्यगामिनि ।
रक्षन्वर्धतिनि निरे ॥२२५॥

त्र वस्त्रम् ।
दद्या ॥२२५॥
त्र प्रथम-विशेषास्त्रिन ? । द्विनेप-

समस्ता) यन्मि है शक्त ब्रह्म (वस्त्रो)
या वस्त्रेण (वस्त्रहोमन्) मय हेने हे
हे तो समस्तान् हि वस्त्र केत ही उत्तम है ।

-१७ पुं० ३६१) मा० प्र० (पुं० २०)
२० २० (३ १६०) । (२) ब्रह्मणोपपन्न
नेत्रे वर वस्त्रना गरी रहती ।

मुनिनेत्र (चित्तव्य सया कसतना वा)
उत्तम ज्ञानक नेत्रो हे देवना, पुत्र

नेत्रे (कुमारक चर म ५) -मर नि-
) मगुल्ल हो ह्ये सया सिकियों के इ
यो भर तथा सहायो को रत्नाकर इ
रना ।

ना, मने शरतपरक गारक में -पुत्र-
नय सतिषाती (==बहुमान्य ब्रह्मण्य
विद्या हे द्विनेत्र-पुत्रु भाष्य सिने हे
-दद्या अनेने (पत्र) वे हो । द्विनेत्र-
हवारी उक्तो तेना के पुत्रके हे म

अष्टदशा क प्रत्येति ? परम तावतोऽस्मद्वलस्य—
सद्यष्टिप्रसिद्धा स्वप्नमज्जककुमुलाकुला ।
कबघा केवल जातास्तातोस्ताला म्गाङ्गुयो ॥२२६॥
प्रथम —सने यद्येव तदाहमेवविद्य वि करवाणि । इति ।

अथ ह्य —
(१६) प्रयत्तिरस्तवादिभ्यो हर्षोऽभुस्त्वेदगद्गदा ।
श्रियामननुजनतोऽम्बादिनिभावश्चेत् प्रकाशो ह्य । तत्र शायुस्त्वेदगद्गदाद
योऽनुभावा यथा—

'जामाते दयिते मरस्त्वलमुत्रमृच्छेय वृत्त सुष्पथा
मेहिद्या परिगोपवाप्यकसितामासव्य हर्षिट मुन ।
नत्वा वीलुशमीनरीरकवला स्वेनाञ्चलेनादरा—
हुमुष्ट कर्मभय्य केसरसटाभारयुलन म् ॥० ०॥
निर्वेवित्तरदु-नेयम् ।

(कबघ) ही समर दूमि मे बचे ह आ सुरत कट हृष्ट सिरों वाले, गडकों में गिरते हुए
कङ्क नामक पक्षियों ने चिरे हुए ह, ताड़ के समान ऊंचे है । प्रथम मित्र यदि ऐसा
है तो मैं इस नशा में क्या हूँ ?

द्विष्यो—(१) ना० ग० (३६६ प० ३६६), भा० प्र० (पुं० २१) ना०
२० (२१३) प्रता० (पुं० १००) धा० २० (३ १६५) । (२) वृष्ट प्रयो मे जहता
के स्थान पर आरुप कहा गया है । (३) अवतिपति—अज्ञान कृतव्य का ज्ञान न
होना, किंचित्तम्य विमुहता ।
(-) ह्य

उत्सव आदि से होने वाली जो प्रसन्नता है, वह हर्ष कहलाती है ।
इसमें अयु स्वेद और गद्गद होना आदि (अनुभाव) होने हैं ।
प्रिय का आगमन तथा पुत्र-जन्म के उत्सव आदि विभावों से उत्पन्न होने
वाली चित्त की प्रसन्नता ही हर्ष है । इसमें अयु, स्वेद गद्गद होना आदि अनुभाव
होते हैं । अते (?)

'जब प्रियतम (पर सौदकर) आया तो मुहिनो ने परशपत्त की मुनि को पार
करने की कठिनाई को समझकर (प्रियतम के) मुख पर सन्तोष के अंगुष्ठों से परी
रहित झाली धीर (मरमुनि को पार करने वाले) ऊँट के बच्चे की (करम) पीठु शमी
तथा करीर की पत्तियों के घास देकर उसकी केसर सटा (गर्वने के बात) पर सती
हुई धूल को आभारपुष्प अपने आंख से पीछ किया ।
अन्य बातें निर्वेद के समान सामत सेकी साहित्य ।

द्विष्यो—(१) ना० ग० (३६१ पुं० ३६५) भा० प्र० (पुं० २०) ना०
२० (३ २०३) प्रता० (पुं० १७६) धा० २० (३ १६५) । (२) प्रसति =प्रवाद
प्रसधता, चित्त की प्रमुहता ।

अथ दैन्यम्—

(१७) दौर्गत्याद्यैरनौजस्य दैन्यं काण्यमिभुजादिमत् ॥१४॥

दारिद्र्यप्रयकारादिविभावं रनौजस्कता चतसो दैन्यम् । तत्र च वृष्णतामतिन
वसनदगनादयोऽनुभावा । यथा—

दृढोऽथ ण्तिरेय मञ्चकगत स्मृणावभाप शूह
कालोऽम्भणजलागम कुशलिनो वत्सस्य वार्तापि नो ।

यत्नात्सञ्चितवदिदुपटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्टया गमभारतसा सुतवधू श्वधूमिचर रोदिति ॥२३१॥

शेषं पूववद् ।

अथोपशयम्—

(१८) दुष्टेऽपराधदौर्म्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।

तत्र स्वैदेशिण कम्पतजनाताडनादय ॥१५॥

(८) दय

दुर्गति आदि के कारण निस्तेज हो जाना ही दैन्य है । यह (मुख की) मलिनता (काण्य = कालिमा) तथा वस्त्रों की अस्वच्छता (अधजा) आदि (अनुभावों) से युक्त होता है ॥१४॥

बहिर्दत्ता तथा अपमान (यश्कार = नीचा विद्याना) आदि विभावों से जो चित्त में भोजनियता का अभाव हो जाता है वह दैन्य कहलाता है । इसमें (मुख का) कालापन, वस्त्रों तथा वस्तुओं की मलिनता इत्यादि अनुभाव होते हैं । जैसे (भोजन प्रबन्ध २५५) किसी वृद्धा के बहिर्दत्ता से उत्पन्न दैन्य का वर्णन है) 'यह वृद्ध और अधा पति है जो छटिया पर पड़ा है, घर की धूनी मात्र शेष है सर्पा का समय निकट है पुत्र की कुशल वार्ता भी नहीं मिली वस्त्र धान से तैल का एक एक बिजु करके जोड़ी गई पहिया फूट गई । इन वस्तुओं से व्याकुल हुई सास पुत्र-वधु को गमभार से जलसाईं देवकर बहुत समय तक रोती रही ।

शेष पहिले के समान ही है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७५६ पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३२०६), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३२५५) ।

(९) उग्रता

अपराध, दुर्मुखता (जली कटी धात करना), क्रूरता आदि के कारण जो दुष्ट के प्रति क्रोध (प्रचण्डता) होता है, वह उग्रता कहलाती है । उसमें पसीना, सिर को हिलाना, धमकाना (तज्ज) और पीटना (साडना) आदि अनुभाव होने हैं ॥१५॥

भाष्येण—

वृष्णता

वत्सस्य

कुशल

वार्तापि

(१८) ध्यान

यथा—

शेष

अथ दौर्गत्ये (वर्षाओं की मलिनता के कारण बरने वाले शरद्वर्षा अपने रक्त से धरे हुए शीतल की कान्त बरने लगता समान भावियों के (१०) विजा

टिप्पणी—ना० (३२०५) प्रता० (पृ० (१०) विजा

दुष्ट वानु । जाटा है । विक्रमता) शरद्वर्षा नीची होगी है ।

अथे (श्री) शरीर परकों के अधःपार पर करने अपने हृत्पर पर धूमिरे के माल के पुष्पान् श्री वास कर रू

यथा वीरचरित—'बामदाय—

उद्धत्योक्तस्य गमानपि शकलयत क्षत्रसत्तानरौपा—

दुर्दामस्यैकपिभात्यपधि विरासत सवतो राजवश्यात् ।

पिभ्य सन्नकपूणहृदसवनमहान दम दायमान—

श्रीधाम्ने सुवतो मे न खनु न विरिद सवभूत स्वभाव ॥२३२॥

अथ चिन्ता—

(१६) ध्यान चिन्तेहितानाप्ले शू यत्तामवासतापकृत् ।

यथा—

'पश्यान्नप्रपिताभूवि'दुनिकरमुक्ताफलस्पर्शिमि

नुच स्या हृष्टासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।

वात वासमृगालनासवसवालङ्कारकान्ते करे

विन्यन्मानमायतासि सुकृती कोऽप त्वया स्मयते ॥२३३॥

गणप्यमृगान्दिमत् ॥१५॥

चतसो हस्यत् । तत्र च हृष्टतापरिण

यप इह

नी बन्धन्य भावार्थि नो ।

पर्यनुना

इश्वरिबर रोदिति ॥२३१॥

श्वस्तमुपुषता ।

ताडनादप्य ॥१५॥

जाना ही दस्य है । यह (सूत्र की)
की अस्फुञ्जता (अनवा) भावि

ना विद्यात्) भावि विद्यार्थी से जो
दस्य कहलाता है । इत्यं (पुत्र का)
अनुभाव होते ह) अने (वीर प्रपच
अपन है) 'यह बड़ और अजा पनि
रूप है' बर्ष का समय निरर है पुत्र
ना एक एक विन्दु करके जोती र्ण
न पुत्र-भू को अभावार से अतर्का

(३) भा० प्र० (पृ० १) वा० २०
(४) ।

न करती), कृपा भावि के कारण
है, यह उभवा कहनाती है । उन्में
न) वीर पीला (तापना) का

अने वीरचरित (२४८) में यशुराम (=जामदग्न्य) राम से कहते हैं—
सत्रियों की सत्ताम के प्रति रोग के कारण गम विपत्तों को भी काट-काट कर ध्वष्ट
ध्वष्ट करने वाले राजवशा से उत्पन्न जनों का इक्षीत बार नाश करने वाले वीर
उनके रक्त स भरि हृष्ट सरोवर में स्नान (सवन) करने के अत्यधिक आनन्द से श्लोथ
की अग्नि को शान्त करके विन्दु-सपण करने वाले उत्कृष्ट तेज से युक्त (उद्दाम) वीरा
स्वभाव समस्त प्राणियों ने नहीं जाना है ऐसा नहीं ।

(१०) चिन्ता

लिप्पणी—ना० शा० (०८१ पृ० ३७०) भा० प्र० (पृ० २३), मा० ६०

(३२२) प्र० (पृ० १८४) मा० ६० (३१४६) ।

(१०) चिन्ता

इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण जो (उसका) ध्यान किया
जाता है वह चिन्ता कहलाती है । यह शून्यता (मुक्ति तथा इन्द्रियों की
विकलता) दयास (की अधिवृत्ता) तथा ताप आदि (अनुभाव) उत्पन्न करने
वाली होती है ।

अने (कोई सच्ची मायिषा तो बहती है ?)—२ विद्यास नेत्रों वाली सुबरी
पत्तनों के अक्षमाप पर फले मोतियों से स्पर्शा करने वाले अमु विन्दुओं के सप्रह स
क्षयने हृदय पर गहारेय के हास के समान हार का आमुपन रचनी हुई, मुहु मृगाल
मास के बन्दूक मायक अलङ्कार से शोभित हाथ पर अचना मुक्ष रचकर मुप विस
पुष्पान् की धार कर रही हो' ?

यथा वा—

अस्तमितविषयसङ्गा मुकुन्तनयनात्पला बहुस्वसिता ।
दृश्यायति विमण्यलक्ष्य गाला योगाभियुक्तेव ॥२३५॥

अथ मास—

(२०) गजितादेमन क्षोभस्यासोऽग्नोत्कम्पितादय ॥१६॥

यथा मासे—

प्रस्यती चलाशकराविषट्टितोर—
वर्मिस्वरतिशयमाप विघ्नमस्य ।
अभ्यति प्रसभगहो विनापि हतो—
वीर्ताभि किमु सति वारणे रमण्य ॥२३५॥

अथामुषा—

(२१) परोल्कपाक्षमाऽसूया गवदौजयमयुजा ।
दोषोन्वत्यवज भ्रुकुटिमयुक्रोधेऽङ्गितानि च ॥१७॥

अथवा जने—(एष आदि) धिययो का सम्पक श्याग कर नेत्र कमल का बन्द किये बहुत खास लेती हुई यह खाता धागिनी (योगामिषुक्त—योग मे स्थित) के समान किसी अलक्ष्य (बस्तु) का ध्यान कर रही है ।

टिप्पणी—ना० शा० (८ ५०, पृ० २६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३ १६०) प्रता० (पृ० १७७) सा० द० (३ १ १) ।

(११) त्रास

(बादल की) गजना आदि स हाने वाला मन का क्षोभ त्रास कहलाता है । इसमे कम्पन आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१६॥

जने भाष (जल पिलार बधन ८ २५) मे—उस सुन्दर उरमा वाली एक सुन्दरी के उर से धलनी हुई मछली टकरा गई, इससे डरती हुई यह अत्यधिक अङ्ग भङ्गिमाएँ (विघ्न) प्रकट करने लगीं । बहो रमणियाँ तो बिना कारण क कवल सीताओं से भी बलात् छुन्न हो जाया करती हैं फिर यदि कारण ही तो (उनके शोभ का) क्या कहना ?

टिप्पणी—ना० शा० (७ ६१ पृ० ३७३ ३७५) भा० प्र० (पृ० २५) ना० द० (३ २०८) प्रता० (प० १८६) सा० द० (३ १६५) ।

(१२) असूया

दूसरे की उ नति को न सह सकता ही असूया है । यह गव दुजनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है । जोर, इसमे (दूसरे का) दोष-कथन, अनादर, भीड़ चढाना म यु तथा क्रोध की चेष्टाएँ आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१७॥

अथ वा शारद—

अस्तमितविषयसङ्गा मुकुन्तनयनात्पला बहुस्वसिता ।
दृश्यायति विमण्यलक्ष्य गाला योगाभियुक्तेव ॥२३५॥

यथा मासे—

प्रस्यती चलाशकराविषट्टितोर—
वर्मिस्वरतिशयमाप विघ्नमस्य ।
अभ्यति प्रसभगहो विनापि हतो—
वीर्ताभि किमु सति वारणे रमण्य ॥२३५॥

अथामुषा—

(२१) परोल्कपाक्षमाऽसूया गवदौजयमयुजा ।
दोषोन्वत्यवज भ्रुकुटिमयुक्रोधेऽङ्गितानि च ॥१७॥

अथ वा शारद—
अस्तमितविषयसङ्गा मुकुन्तनयनात्पला बहुस्वसिता ।
दृश्यायति विमण्यलक्ष्य गाला योगाभियुक्तेव ॥२३५॥
यथा मासे—
प्रस्यती चलाशकराविषट्टितोर—
वर्मिस्वरतिशयमाप विघ्नमस्य ।
अभ्यति प्रसभगहो विनापि हतो—
वीर्ताभि किमु सति वारणे रमण्य ॥२३५॥
अथामुषा—
(२१) परोल्कपाक्षमाऽसूया गवदौजयमयुजा ।
दोषोन्वत्यवज भ्रुकुटिमयुक्रोधेऽङ्गितानि च ॥१७॥

गर्वण यथा वीरचरित—

'धावित्व प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्ति प्रभा प्रत्युत्
दुष्पुं दारविषिपदचरितो युक्तस्त्वया कथया ।
उत्कच प परस्य मानयशसांबिल सग धात्मन
स्त्रीरत्न च जगत्सर्वतदक्षमुखा दृष्ट कथ मृत्युत ॥२३६॥

दोष पाचया—

यदि परगुणा न शक्यत मतस्व गुणाजन
नहि परयथा नि दाव्याजरल परिभाजितुम् ।
विरम्यति न चेद्विच्छादेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छन्ननुदुग्धममेप्यति ॥२३७॥

म गुञ्जा यथाऽमरसतक—

पुरस्तद्व्या गामस्थलनचकिताऽह तनुध
प्रदूतो वैलक्ष्या किंपपि सिञ्चितु दैवहृत्क ।
स्फुटा रेखायास कथमपि स तादृकारिणतो
गना येन ग्वानिच पुनरवयव सव तरुणी ॥२३८॥

ग नृपुत्र्या ।
रविपुत्रे ॥२३६॥

रविपुत्रे ॥२३६॥

विप्रसन्न ।

हृत्-
राज रस्य ॥२३७॥

वीरत्नगुणा ।

विभिन्नानि च ॥२३८॥

स्वच्छ स्वप्न धर मेघकमल को हव
ते (सोऽभिपुत्र=योग में स्थित) के
।।।

।।।

रा मन को साधन प्राप्त कहलाता
॥२३८॥

—उस सुन्दर उर्वारी वाली पक्ष

बल्ले वाली हुई बहु कल्पित बहू

निर्मला तो विना कारण क हवत

किर धरि कारण ही तो (उन्के मोद

३ ३०४ गम प्र० (१० २४) ना०
(२ १५१)

ही अमूना है । यह पत्र दुखपता

में (हृत्के को) दोष कल्प, अनारद

वादि (अनुमान) होते हैं ॥२३८॥

गर्ष से उत्पन्न होने वाली अमूना, जसे धीरचरित (२६) में (भाटययान्
रावण को राम के प्रति अमूना का वषण करता है)—जनक से सीता के लिये
धावना करने पर भी स्वामी (रावण) की वल प्राप्ति न हुई प्रत्युत् डोही एव विहृष्ट
काय करने वाले वरारथ-पुत्र (राम) ने उस काया को पा लिया । इस प्रकार रामु बना
उत्कच, अपने मान और परा का ह्रास और स्त्री रत्न का चला जाना—इन सबका
सतार का स्वामी गवीला रावण कसे सहन करेगा ?

बुजन्ता से होने वाली अमूना, जसे (सुभाषितत्वसो ४४३, महेश्वर कवि का
पद्य) यदि तुम दूसरे के गुणों को सहन नहीं कर सकत तो गुणों के अजन के लिये य न
करा । निम्बा के बहाने से तो दूसरों का यस साफ (समाप्त) नहीं किया जा सकता ।
यदि इच्छा हैय में लगे मनोरथ वाले तुम (पर निम्बा से) नहीं चकते हो तब तो हाथ
के छत्र से मूय की किरणों को रोकते हो अत (मूय ही) घक जाओगे ।

मयु से उत्पन्न अमूना, जसे अमरसतक (४१ ४२) में (कोई नायक कुपित
त्रिया को मनाने में असफल होकर अपने मित्र से कहता है)—उस क्षमाज्ञी के सम ।
अपने मुख से दूसरों नायिका का नाम निरत जाने (गौर स्थलन) से मैं चकित हू
गया और स-जा (वसव्य) से नीचा मुझ करके भाग्य का मारा मैं कुछ योही देख।
वीचने लगा । किन्तु बहु देवा-म्यात भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार बत ही गया कि वह
तरुणी अपने सपत्त बहूने में प्रकट हो उठी ।

ततश्चाभिनाय स्फुटदरुणगण्टस्यतरुषा

मनस्विन्या रोपप्रणयरमसाद् गदगदगिरा ।

अहो चित्र स्फुटमिति निगद्याभुनयुषु
न्या ब्रह्मास्त्र मे शिरसि निहिता वामचरण ॥२३६॥

अवामय —

(२२) अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टत्वा ।

तत्र स्वेदशिर कम्पतजनात्ताडनादय ॥२३॥

यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरित्यामि पूजयाना वो व्यतिव्रमाद् ।

न त्वेव ह्यपिप्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥२४०॥

यथा वा वगीसंहार—

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थित

श्रापता नाम विगहणा स्थितिमाता मध्येऽनुमानामपि ।

क्रोधोत्सासितशीणितास्त्रयदस्याच्छिदत कीरवा—

नचक दिवस भमासि न गुरुर्नाह विधेयस्तव ॥२४१॥

तत्र उसे पहचान कर मानिनी के कपोल फड़कने लग्ये उनकी कान्ति लाल हो गई क्रोध और प्रणय के अन्वेष से उसकी वाणी गदगद हो गई । वीर उस मानिनी ने अभु जल से मलिन होते हुए स्पष्ट ही यह अनोखा चित्र है यह कहते हुए क्रोध पूषक ब्रह्मास्त्र जते आपने वामचरण की मेरे सिर रख दिया ।

टिप्पणी—ना० शा० (७ ३६ ३७, पृ० ३५८-३५९), भा० प्र० (पृ० १६) ना० द० (३ १८७) प्रता० (पृ० १७५), सा० द० (३ १६६)

(१३) अमर्ष—

धिनकार (अधिक्षेप abuse) तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला अभिनिवेश अमर्ष कहलाता है । उसमें स्वेद, सिर हिलाना, तजना तथा ताडना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१२॥

असे वीरचरित (३८) में ऊपर उदा० ७२ ।

वीर असे वीणिसंहार (११२) में (भीमसेन सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर से कहला रहा है)—मैं आपकी आज्ञा के उल्लंघन का जल मे दूध गया हूँ मैंने आपकी आज्ञा में स्थित रहने वाले अनुजों के धोव में भी निबा प्राप्त कर ली है । अब मैं क्रोधपूषक नदा उठाकर उसे रुधिर से लाल करता हुआ कीरवों का नाश करने वाला हूँ । आज एक दिन के लिये आप मेरे अर्धे भाई नहीं हैं और न मैं आपका आज्ञाकारी (विधेय) हूँ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७७८ ७९ पृ० ३६९ ३७०) भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३ १६७) प्रता० (पृ० १८३), सा० द० (३ १५६) ।
(२) अभिनिविष्टता—अभिनिवेश, अतद्वनमिति यावत् (प्रमा), Resoluteness

यस्य सं—

(२३) २३०

यथा बाली—

हन्ति

यथा वा शर—

(Hans), ६८८८

ना० १० में बदन का
बाना बना केव का इच्छ
(२२) में ना०
(=बदन) वीर उद्यम का
फल की इच्छा करने है
एति गुरुत्व का मात्र
(१४) सं

उत्पन्न, न
तु है । हुने के
विशमपूरुष्ट (मान न
हृष्टे ॥११, ॥

यस्य वीरचित
कीर्ति—यु
शिरा कीरवा रोप से
करने वाले तथा वर से
(कीर्ति प्रसार है) वरन—

वीर कसे कर्तुं—
टिप्पणी—(१)
१० (३ २१०) प्रता० (१०
कल्प अनुभाव ।

वस्तुम्

स्वचरत्रा

रसमाद् मन्वासायाः।

पथश्चतु

किं विहिंसो वामचरम् ॥२१॥

भिन्निविद्यता।

ताडनादप्य ॥१॥

ना को व्यतिथमाद्।

भान्मद्वन्द्वमभ्रम् ॥२४॥

मया पालेन नाम सिक्क

या भिन्निविद्यता मन्वासायाः।

मन्वासायाः कौला-

मि न मुसुसि विवेकम् ॥२५॥

नील चक्रने लो उनको कानि सात हो

को रसव हो र्हा। और उत कानि

कनोका विर में यह बहने हुए जो

किर रच दिया।

२१८-२१९, भा० प्र० (५० १६)

२० (१६६)

व्यपमान आदि से उत्पन्न होने वाला

वेद, सिर हिलाना, तबना तथा

७२१।

मोक्षेण स्वदेव के द्वारा मुक्तिदा से

न क जल में डब गया है कि जापनी

को निलवा मज्ज कर लो है। मर में

करना हुआ कौलों का नाश करने वाला

र्हि नहीं है और न में अलका भावना

७२ टु० ३६६ ३०० भा० प्र० (५०

६० १८३) भा० प्र० (११४)।

भिन्नि विद्य (मन्वा), Resolutions

अप गव —

(२३) गवोऽभिजनलावण्यवलेश्वयोदिभिम्द ।

कर्मण्याधपणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१६॥

यया वीरचरिते—

मुनिरत्यमप वीरस्तादृशस्तत्रिय म

विरमतु परिक्रम्य कातरे क्षत्रियासि।

तपति विततकीर्तेदर्वण्यदुल्लसोद्य

परिचरणसमयो रामव क्षत्रियोऽहम् ॥२४२॥

यया वा तत्रव—

शास्त्रगातिक्रमत्यागो भवतामप पूतये।

जामदगदध्वं वो निममयया दुमनावते ॥२४३॥

(Haas) determination of purpose (Apte) यह शब्द यहाँ अवलप्ट सा है।

ना० द० मे अमप का रूप अधिक स्पष्ट है— तिरस्कार आदि के कारण उत्पन्न होने

वाली बदला लेने की इच्छा अमप है (क्षेपादे प्रतिकारेच्छाऽमप)। काव्याजुसासन

(२४५) में भी प्रतिचिकीर्त्यापोऽमप 'यही कहा गया है। ना० द० मे प्रतिकारेच्छा

(= अमप) और श्रेय का यह अन्वय वतलाया गया है कि अमपकारी के प्रति अमपकार

करने की इच्छा अमप है और दूसरे के द्वारा अमपकार न दिये जाने पर भी दूसरे को

क्षानि पहचान का भाव श्रेय है।

(१४) गव

उच्चकुल, सौन्दर्य, बल, ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न होने वाला मद ही

गव है। दूसरे को लग करना (आधर्षण—annoying), तिरस्कार करना तथा

विलासपूर्वक (शान के साथ) अपने अङ्गों को देखना आदि इससे (अनुभाव)

होते हैं ॥१६॥

अस वीरचरित (२ २७) में (परमुराम से डरी हुई सीता से प्रति राम की

उक्ति)—'यह (मुनि परमुराम) ऐसा वीर है यह मेरे लिये प्रसन्ना की बात है। हे

भीता कविना छोड़ दो तुम लो क्षत्रिया ही वीर में भी तपत्या में कौति का प्रसार

करने वाले तथा शर्ष से घुमाओं में घुमसाहट वाले (इस परमुराम की) सेवा में

(बोनों प्रभार से) समय रघुपथी राम है।'

वीर असे यहाँ (महावीरचरित २ १०) ऊपर २६ उवाच ८३।

द्विपत्नी—(१) ना० भा० (७ ६०, टु० ३६६), भा० प्र० (टु० २२) भा०

द० (३ २१०), प्रभा० (टु० १८०) भा० द० (३ १५४)। (२) कर्माणि=काम, विकार

वर्षा। अनुभाव।

वय स्मृति—

(२४) मह्यज्ञानचिन्तायै सस्कारात्स्मृतिरप्र च ।

ज्ञातत्वेनार्यभासि या ध्रूसामुनयनादय ॥२०॥

यथा—

'मनाक् किवय रणद्धि गगन म'यागमभ्याहृत

वात्तिस्तस्य कुत स वध्यतनाद्भोतो मद्देद्रादपि ।

तास्य सोऽपि सम दिनेव विमुना जानाति मा रावण—

मा । ज्ञात, स जटागुरेप जप्सा विचटो वघ वाच्छति ॥२४॥

यथा वा मालतीमाधवे— माधव—मम हि प्राकृतीयलम्भसभासितारमञ्जमन
सस्काररमानवरतप्रबोधाम् प्रतीयमानस्तद्विमृश प्रत्यया तरगति स्तृतप्रवाह प्रियतमा
स्मृतिप्रत्ययात्प्रतिसत्तानस्त'मयमिष करोति वृत्तिसाहच्यतश्चत'यम् ।

(१५) स्मृति

समान वस्तु के ज्ञान या चिन्ता आदि के कारण सस्कार (के उद्बुद्ध हान) से स्मृति उत्पन्न होती है यह स्मृति "मैंने पहले यह जानी थी" (ज्ञात) इस रूप में किसी वस्तु का भास करती है। इसमें भौहो को ऊँचा उठाना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥२०॥

जसे [महानाटक १ उ६, पु० १२८ (Haas) में सीता हरण करने आकाश माग ते जाता हुआ रावण जटायु को देखकर सोचता है]— क्या आकाश में मेरे अवाधित भाग को यह मनाक पक्षत रोच रहा है ? कि तु उसकी ऐसी राबिच रुद्ध ? वह तो द्रुद्र के भी वध्यपात से बड़ा हुआ है। फिर क्या यह गरुड (तास्य) है ? किन्तु वह भी अपने स्वामी (विष्णु) के सहित पुस रावण को जानता है। अजडा समझा, यह वह जटायु है जो बुझाये से तु छी हुआ (मेरे द्वारा) अपना वघ चाहता है ।

और जसे मालतीमाधव (५१०) में माधव—जो (स्मृति) पहले ज्ञान (उपलम्भ) से अपना अम पाने वाले सस्कार के निरतर प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत हो रही है अन्य भागों के द्वारा जिसका प्रवाह नहीं रोका गया है ऐसी यह प्रियतमा (मालती) की स्मृति रूपी ज्ञान की उत्पत्ति की परम्परा (सत्तान) मेरी चेतना की वृत्ति के समान रूप वाली करती हुई मालतीमय (तमय) ही कर रही है ।

वने (१५) १५
कुमुद व
१५ १५ १५ १५

सायु—

(११) मरु...

स—

वने (१५) १५
कुमुद व
१५ १५ १५ १५

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

वृत्ति (१५) १५
वने (१५) १५
कुमुद व

विनिष्य च ।

अनादय ॥२०॥

नामन्वह

उगद्धीरो भवेत्पति ।

ना बाभ्रति मा राघवम्—

विचन्दो बभूव कष्टम् ॥२४॥

इहात्कोपतन्ममपरिणाम्यमन

चमगदरति स्तब्धमरु शिष्यम्

शक्यमनम् ।

क बारण सत्कार के उद्बुद्ध

ने पूर्वत यह आगे की (जाति)

सम भोगों को ऊंचा उठाना

में सीता हला बरके आना-

ना है।—बना आना में भरे

किनु उरकी ऐसी शक्ति बढ़ी ?

र बना यह परम (साध्य) है ?

रखन को आना है । कष्ट

(बने द्वारा) अपना यह बाह्या है ?

माधव—जो (स्वति) खुले ज्ञान

विस्तार मनु होने के कारण प्रतीति

हो रोना मना है, तेसी यह सिन्धवा

रमररा (सत्ता) मरो वेरना मो

(सम्बन्ध) हो कर रही है ।

‘लोनेव प्रतिबिम्बितेव लिखिनया-कीणरूपेव च

प्रत्युत्पेव च बन्धसारघटितेवा तनिधातव च ।

सा मन्वेतसि कीलितेव बिशिष्यस्वेतीमुव पञ्चभिः—

चिच तासततिततुजासनिबिबस्फूतेव सना प्रिया ॥२४५॥

अथ मरणम्—

(२५) मरण सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्छते ।

यथा—

‘सप्राप्तेऽवधिवासरे धणमनु त्वद्दत्तमवानाम्यन

वारवामरुपेरेव निःक्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।

सन्त्येव निदेव केतिसुगरी सास सखीभ्य सिधो—

मांघव्या सहकारकेण करण पाणिप्रदो निमित्त ॥२४६॥

यह प्रिया (मावती) लीन सी, प्रतिबिम्बि सी, चित्रिन् सी खोद (उत्कीण) कर धमाई सी, जडो गई सी, (प्रत्युत्पा) यच्छेप से रची गई सी, अत करण मे गडी सी बामदेव के (वितोमुष) पाच आणों के द्वारा कील बी गई सी, बिता, सतान कपी त तुमों से मजदूती के साथ तिली सी हमारे धित मे लगी है ।,

टिप्पणी—(१) मा० शा० (७४६ पृ० ३६१) भा० प्र० (पृ० १८) ना० द० (३००६) प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३१४५) । (२) प्राक्तनेति०—प्राक्तनेन उपलभ्येन अनुभवेन सम्भावित आत्मभ्रम स्वोत्तियस्य तथाभूतस्य सत्कारण्य । (३) इतिहासह्यत—साध्य-योग के अनुधार वित (बुद्धि) का विषय रूप में जो परिणाम होता है वही इति होनी है । पतव्य (पुरव) जो कि बुद्धि मे प्रतिबिम्बित हुआ करता है वह बुद्धि मे अपना बिकर न करता हुआ अपने आवका हो इति से युक्त मा इति के सहा ममम लेता है । यही इति साध्य है (इतिहासह्यमितरप योऽयुव १४) । यहाँ मावती विषयक स्मृति (इति) हा रही है अत माधव का अत मा सातोमय हा रहा है ।

(१६) मरण

मरण का लक्षण नहीं कहा, यथोक्ति (i) वह प्रसिद्ध ही है तथा (ii) वह अनर्थ रूप होता है ।

जाने किसी प्रीयतपतिना की इती घर लौटने वाले नायक से कह रही है।— (सागमन की) अर्थात् का विषय जाने पर प्रतिसाग बार बार सुन्दर होने के भाग की बिबकी पर आकर निश्चय होकर डेर तक इत निश्चय करने सभी-अभी हीरा की बुद्धी (एक बलिणी) की अर्थात् मे साथ सतिपों को गर्मपित करके जतने अन्य आयु पासो माधवी (सता) का सहकार (माधव) के साथ करण पाणिहण कर दिया ।’

इत्यादिबच्छङ्गाराश्रयात्मन्वत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिवृत्तनीयम् ।

अथ न भामिचारो यथा वीरचरिते—'यस्य तु भवतस्ताडयाम्—

हृममभेदिपतदुरकटकङ्कपप्रसवेगतक्षणहृतस्फुरदङ्गमङ्गा ।

नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनियदुदकुदुदध्वनदगुणप्रसरा मृतय ॥२४७॥

अथ मद —

(२६) हर्षोत्कर्षो मद पानास्त्वलदङ्गवचोगति ॥२१॥

निद्रा हासोऽन रुदित ज्येष्ठमध्याधमादिपु ।

इत्यादि ने समान शृङ्गार के आश्रय (रतिभाव के आश्रय प्रिया अपवा प्रिय) को लक्ष्य करके (आलम्बनत्वेन) जो मरण होता है उसमें केवल मरण की तयारी का ही वचन करना चाहिये (साक्षात् मरण का नहीं) । अथ रसो मे इच्छानुसार (मरण की तयारी या साक्षात् मरण का) वचन किया जा सकता है । जसे वीरचरित (१३६) मे [ताडका के साक्षात् मरण वा वचन किया गया है]—आप ताडका को देखें हृदय मम का भेदन करने वाले मिरते हुए (राम ने) तेज धारणों मे वेगपूर्वक तस्मान ही उसका अङ्ग भङ्ग कर दिया है । उसके नासिकाक्षपी कुटीर के दोनों छिद्रों (कुहर) से समान रूप से सुन्दरुओं से भरी शब्द करती हुई रघिर की धारत यह रही है तो यह मर ही गई ।

द्विषणी—(१) ना० शा० (७) ८६-६० पु० ३७२-३७३, भा० प्र० (पृ० २४) ना० ६० (३) १६८ प्रता० (पृ० १८५) सा० ६० (३) १५५ । (२) शृङ्गाराश्रय०—शृङ्गारस्व य आश्रय प्रियो वा प्रिया वा ताटयात्मन्वत्वेन नात्र ताटयशृङ्गाराश्रयमुत्थिय मरण (प्रभा) । व्यवसाय=उद्योग, निरभय, तैयारी, भाव यह है कि शृङ्गार के वचन में साक्षात् मरण का वचन नहीं किया जाता अपितु मरण की तयारी का ही वचन किया जाता है । अत ना० ६० मे मृत्युसङ्कल्पो मरणम् तथा प्रता० म मरण मरणायस्तु प्रयत्न परिकीर्तित ऐसा कहा गया है । ना० शा० आदि मे जो मरण के प्रकार तथा अभिनय आदि का विस्तृत वचन किया गया है वह शृङ्गार से अथ रसो के सद्यम में समझना चाहिये ।

(१७) मद

(मद्य) पान से उत्पन्न होने वाली हर्ष की ऐसी अधिकता, जिसमें शरीर, वाणी और चाल लडखडाने लगत हैं, मद कहलाती है इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम जनों में क्रमश निद्रा, हसना तथा रुदन (अनुभाव) हुआ करते हैं ॥२१॥

वय मार—

परिपरी हंति

रतिरे

रतिरे

वय मार—

(१७) पु० ३७३ ॥

वय

परिपरी

वय मार—

(२८) ३७३ ॥

वय मार—
मैं भी हूँ वैसे ही हूँ जो
कल्पित माया में उचल

द्विषणी—ना० प्र०
(१८) ३७३ ॥

निद्रा से उत्पन्न
तथा लडखड किया

वसे (मृत्युविश्रांति
के रूप के रूप के रूप में कही
सहित विस्तार पर मोरि हुई
अथ उत्पत्ता के कारण
होकर जो उत्पन्न पर प्रभाव

द्विषणी—ना० प्र०
ना० ६० (३) १०१ प्रता
लम्बं कथा गया है

(१६) मद्य
विनया,

(वाह्य इन्द्रिया से सम्बन्ध
(अङ्गमङ्गा) वाह्य
भाव) होते हैं ॥२१॥

० वयमप्रवृत्तार ॥

नेत्रे वरुणं चन्द्रमण्डलानि चक्रेत् ।
 शोचन्ति— इत्यनु वरुणस्य चन्द्र-
 रेवत्याः उदयमुत्पन्नमज्ञा ।
 विन्दतुस्तु वरुणं वृषभगतं वृषभ ॥२१॥

स्वयन्दङ्गवचोक्ति ॥२॥
 उदयप्रभातमादिषु ।

यय (विभाषा के आशय दिया कबरादि)
 शोभा है स्वयं केवल मरण को हराती था
 नहीं। अय शोभे में व अनुसार (मरण
 का आसक्ति है। उसे शोचन्ति (१ ३६)
 शयना है— यय शोभा को शय वरुण
) नेत्र बाणों के शयनक तकार ही
 शयो वृष्टी के शोभा दिशि (वृष्ट) के
 शयि के शाला बहु रही है शो मय

३०, ५०, ३७२-३७३, ना० प्र०
 ३॥) सा० द० (३ ११०) (२)
 विभाषा तादात्म्यवत्त्वान्नान
 न=इति, निरप्य, वचरति, भाव
 वचन मया विभाषा जाता कतिपु मरण
 ना० द० में मुमुक्षुत्वो मरणम्
 शिखः एता मया मया है ना० सा०
 का विमुक्त वचना विभा मया है मय
 द्वये ।

यु की ऐसी अतिवृत्ता, विलम्ब
 है, मय कहलाती है स्वयं उत्तम,
 वसना तथा वचन (अनुपान) हुना

यथा माथे—

‘शिवहारि इमित वचनाना कौशल दृषि विचारविषयो ।
 चक्रिरे भगवृष्टोरपि बध्वा कामिनेव तरुणेन मदेन ॥२४८॥
 इत्यादि ।
 अथ सुप्तम्—
 (२७) सुप्त निद्रोद्भव तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥२२॥

यथा

‘सधुनि सुषुप्तीरे क्षेत्रकोणे यवाना
 नवकलमपलानसस्तरे सोपधाने ।
 परिहरति सुप्तं हालिन्द्र इमारत
 मुचकलेशमहोपभावदरेष्वस्तुषार ॥२४६॥

अथ निद्रा—

(२८) मनस्समीलन निद्रा चिन्तालम्ब्यलमादिभि ।
 तत्र जम्भाङ्ग भङ्गासिमीलनोत्सवपतादयम् ॥२३॥

अथे माथ (१ १३) में— कामो मुचक के समान मय में शोसी (मुग्धा) मय
 में भी हाथ से शोचिहृर हूसी, वचनों का कौशल तथा वृष्टि में विशेष प्रचार के विचार
 अत्यधिक माया में उत्पन्न कर दिये । इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० ना० (७ ३८ ४६, ५० ३६६, ३६०) भा० प्र० (५० १६
 १८) ना० द० (३ १८८) प्रला० (५० १७५), सा० द० (३ १४६ १५७) ।
 (१८) सुप्त

निद्रा से उत्पन्न होने वाला भाव सुप्त कहलाता है। उसमें श्वास
 तथा उच्छ्वास क्रिया (अनुभाव) मुख्यरूप से (परम्) होती है ॥२२॥

अस (युभाविलासित १८४०, कलमायुष नामक कवि का पद्य—Haas) ‘जो
 के शेत के एक कोने में बनी हुई छोटी शीशु में नये शानों के पुआल के लिये
 सहित बिस्तरे पर सोई हुई शालक की बोझी (बम्पती) को—स्तनभसा की अथ
 यिक उत्पत्ता के कारण रेखा-बद्ध तुषार निवृत्त से ही बचा रहा है (समीप में स्थिर
 हीरर भी उस पर प्रभाव नहीं बाल रहा) ।’

टिप्पणी—ना० ना० (७ ७३ ७६, ५० ३६८ ३६६) भा० प्र० (५० २३),
 ना० द० (३ २०१), प्रला० (५० १८२) सा० द० (३ १४२) । सा० द० में इते
 स्वप्न’ कहा गया है तथा स्वरूप में भी भेद है ।
 (१६) निद्रा

चिन्ता, आलस्य और पश्चान आदि के कारण मन का सम्मीलन
 (बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्धन होना) ही निद्रा है। उसमें जम्भाई, अगडाई
 (अङ्गभङ्ग), आर्यो मुदना तथा सोते में बध्वादाना (उत्सवपन्) आदि (अनु
 भाव) होते हैं ॥२३॥

* ‘उच्छ्वासनाय’ इति पाठान्तरम् ।

यथा—

निद्राघभीलितदृशो मयमचराणि
नाप्यथवति न च यानि निरथकानि ।

अद्यापि म मृगदृशो मधुराणि तस्या—
स्तापशाराणि हृदय किमपि ध्वनन्ति ॥२५॥

यथा च माघे—

'ग्रहरक्षमपनीय स्व निदिद्रासनीञ्च
प्रतिपदमुपहृत वनचिञ्जकाण्डीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया श्रूया
दददपि गिरमतर्बुद्धयते नो मनुष्य ॥२५॥

अथ विबोध—

(२६) विबोध परिणामादेव जूमाक्षिमर्दने ।

असे (सुभावितार्थसि १२८० कोई नायक किसी नायिका की तिरावस्था का दणन करते हुए बहला है) —आघे मु ये नेनों वाली उस मगनयनी के मद के कारण मद मद कहे गये न अथमुस्त और न ही निरथक, वे मयूर अक्षर अथ भी मेरे हृदय मे कुछ मुगमुना रहे हैं ।

और जैसे माघ (११५) ने किसी (पहरेदार) ने अपना पहरा समाप्त करने नींद लेने की इच्छा करते हुए (इतरे पहरेदार को) पग पग पर (प्रतिपवम) यह आवाज सवाई—'जानो जानो' । किंतु यह मनुष्य निद्रा के कारण अस्पष्ट अक्षरों वाला सुना सुना (अथश्रूय) सा उत्तर देते हुए भी भीतर (मन) से नहीं जागता ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७१-७५, पृ० ३६७ ३६८) प्रा० प्र० (पृ० २२) ना० द० (३२००) प्रता० (पृ० १८२), सा० द० (३१५७) । (२) मन सम्मीलनम्—मन का बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध न होना, मन निमीलन बाह्य इन्द्रिय सम्बन्धविरह (प्रा० टीका) । (३) ना० द० (३२१) के अनुसार निद्रा और सुप्त का अंतर यह है कि निद्रा में मन की वृत्ति रहती है जबल बाह्य इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध नहीं होता किंतु सुप्त में मन की वृत्ति भी रुक जाती है ।

(२०) विबोध

परिणाम (टि०) आदिसे विबोध (= जागरण) उत्पन्न होता है । उसमे जम्माई लेना, आखे मलना आदि (अनुभाव) होते हैं ।

यथा मय—

यानि

यथा मय—

(३) १५७

यथा मय—

१५५

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मय—

यथा मासे—

‘चिररतिपरिषेदप्राप्तनिद्रामुद्भवा
चरममपि क्षयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
अपरिचलित्यात्रा भ्रुवते न प्रियाणा
मसिधिलमुञ्चश्चरारोपमेद तन्म्य ॥२५०॥

अथ षोडा—

(३०) दुराचारादिभिर्यौडा घण्ट्यर्थाभावस्तमु नयेत् ।
साचीदृताङ्गवरणवैवर्ण्याजोमुद्यादिभि ॥२५॥

यथाऽमरुहसतने—

पटासने पत्यो नमयति मुख जातचिनया
दृढाश्लेष बाष्पश्लेषहरति यामाणि निमतम् ।
जेते माघ (११-१३) मे—बाद मे सोकर भी पहले ही णम जाने वाली

सदगिर्वा अपने शरीर को नहीं हिलाती तथा चिरकालीन रति की यकान से निद्रा के आनन्द को प्राप्त करने वाले अपने त्रियलमो की सुमाओ म ह्य आलिङ्गन को भी मङ्ग नहीं करती (कहीं उनको निद्रा मङ्ग न हो जाये ?) ।

दिव्यणी—(१) ना० मा० (७७७, प० ३६६), मा० प्र० (पु० २३), मा० द० (३०१५) प्रता० (पु० १८३), मा० द० (३१३१) । (२) काव्यानुशासन आदि मे इसे प्रबोध कहा गया है । (३) परिणाम—परिणामोऽवस्थात्प्रधापितस्तस्या च निद्रापगमावस्थया विबोधो जायत इत्यभिप्राय (प्रमा) अर्थात् निद्रा मङ्ग होने को अवस्था । Coming to an end of (sleep)—Haas वस्तुत एसा प्रतीत होता है कि यहाँ ना० मा० मे विबोध के कारणों का उल्लेख करने हुए आहार परिणाम को सबसे पहले रचना गया है । भारतीय स्वास्थ्य विधान क अनुसार भोजन को भी निद्रा का एक कारण माना जाता है । ना० मा० (प० ३६७) मे निद्रा के कारणों म आहार व भी निर्दिष्ट है । यह भी माना जाता है कि आहार का परिणाम हो जाने पर निद्रा टूट जाती है तथा जागरण हो जाता है जागरण के अथ भी कारण होते हैं अतः तीव्र शब्द या स्पष्ट इत्यादि । उनमे से परिणाम भी एक है । परिणाम=आहार परिणाम, भोजन का परिणाम ।

(२१) अथ षोडा

अनुचित आचरण आदि के कारण जो घण्टता (प्रगल्भता) का अभाव होता है वह षोडा कहलाती है । इसे एक ओर मोडकर (साचीवृत्त) अङ्गो को छिपाना, रग का फीका पडना, मुख नीचा कर लेना आदि (अनुभावो) के द्वारा प्रकट करना चाहिये ॥२५॥

जेते अमरुहसतक (५१) में (पति के आचरण से लग्नित होने वाली नायिका का वधान है)—यद्य पति अर्थात् छींता है तो वह विनय युक्त होकर मुख नीचा कर लेती है पति बलात् आलिङ्गन करना चाहता है तो वह चुपके से अपने अङ्ग

रसमि ।

रसमि ॥ २५॥

प

२५१५

जे मो मनुष्य ॥२१॥

निन्दरि ।

निनी कान्ता की निद्राया वर
के वन मन्मथो के मर के हाथ
के मर मर वर को मेरे हाथ

रवारा के स्थान परा लम्बत
रार को) पर पर पर (अतिराम)
मनुष्य निद्रा के कारण अस्पष्ट
के हुए भी नींदर (मा) से नहीं

१०, ३० ३६-३६८, मा० प्र० (पु०
) मा० द० (३१३१) । (३) मर
न होता, मन-मिमतल बाह्य नि
(३२) के अनुसार निद्रा और सुषु
जि है केवल बाह्य स्थितियों से उठना
भी एक जाती है ।

= जागरण उत्पन्न होता है । उनमे
नि) होत है ।

न शकनोत्याद्ययातु रिमतमुखसधीदत्तनयना ।

क्षिप्या ताम्यत्यत्र प्रथमपरिहासे नयवयु ॥२५३॥

अथापरस्मार —

(३१) आवेशो ग्रहदु छाद्यैरपरस्मारो यथाविधि (धि) ।

भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादय ॥२५४॥

यथा माथे—

आखिलष्टभूमि रसितारमुच्यसौलदनुजाकारवृहत्तरज्जुम् ।

पेनायमान पतिमापरातमानसायपरस्मारिणमाशयङ्क ॥२५५॥

हृदा लेती है । इस प्रकार पुस्कराते हुए मुख वाली सधियों पर दृष्टि डालते हुए भी यह कुछ कह नहीं सकती यह नयवयु इस प्रथम परिहास के अन्तर पर मन ही मन में उद्विग्न होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५८ ५६, पु० ३६३ ६५) भा० प्र० (प० १६) ना० द० (३ २०७), प्रता० (प० १७०) छा० द० (३ १६५) । प्रता० में श्रीश ना लगण अधिक स्पष्ट है 'नेत सकोचन श्रीशामज्जगस्तथादिभि' । (२) साचीवृत्त—मोटा हुआ, एक ओर झुकाया हुआ (turned aside), दुराचार—अकाम (शाय्यानु शासन) जो किसी पर करने योग्य न हो, श्रीश नाम—अवायकरणात्मिका (ना० शा०) ।

(२२) अपरस्मार

ग्रह (के प्रभाव) तथा आपत्ति इत्यादि से उत्पन्न होने वाला चित्त विकल्प (आवेश) ही अपरस्मार कहलाता है । इसमें यथायोग्य (यथा विधि) भूमि पर गिरना, कापना, पसीना आना मुह में लाला (राल) तथा क्षाम (पन) निकलना आदि अनुभाव होते हैं ॥२५४॥

जैसे माथ (३ ७२) में—भूमि पर पड़े हुए जोर से शरव करने हुए चञ्चल पुजाओं के समान बड़ी बड़ी तरंगों वाले, फेनयुक्त सागर (पतिम आपगानाम) को कृष्ण (शयो) ने अपरस्मार रोग वाला समझा ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ७३ ७५, प० ३६८) भा० प्र० (प० २३), ना० द० (३ १८५), प्रता० (प० १८२) सा० द० (३ १५३) । (२) आवेश = विलस madness (Haas) मन की ऐसी दशा जिसमें कर्त्तव्य तथा अकृत्यव्य ना पान नहीं रहता व्यक्ति पागल सा हो जाता है, (भिरणी का रोग), वक्त्याम = कृत्याहृत्याविवेषकत्वम् (न० द०) मन क्षेप (सा० द०) । (३) यथाविधि—(पाठ)तर यथाविधि—प्रार धानुसारिण (प्रभा), properly speaking (haas) वस्तुतः यथाविधि पाठ ही उचित प्रतीत होता है । यथाविधि = यथायोगम्, अर्थात् भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले अपरस्मार न यथायोग्य भूपात इत्यादि अनु भाव हुआ करते हैं ।

बह वृत्त—
(२२) ना० १०

दश भुजाय—
श्रीश—अकाम

दश भुजाय—
श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

श्रीश—अकाम

अथ मोह —

(३२) मोहो विचिन्तता भीतिह खावेशानुचिन्तनं ।
तानिज्ञानभ्रमाघातभूषणनादर्थानादाय ॥२६॥

यथा कुमारसम्भवे —

तीव्राभियङ्गप्रभवेन दृष्टि मोहेन सस्त्वम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभनु व्यसना मुहूत कृतोपकारेव रतिभभूव ॥२५५॥

यथा चोत्तररामचरिते —

विनिश्चेतु शक्यो न मुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो विद्रा वा किमु विविचियस ण्मु मद् ।
तव स्वयं स्वयं मम हि परिमुठेन्द्रियगणो
बिकार कोऽप्य तजदयति च ताव च कुरुते ॥२५६॥

अथ मति —

(३३) भ्रातिच्छेदोपदेशाभ्या शास्त्रादेस्तत्त्वधीमति ।

(२३) भोग,

दुःख आवेश (चित्त विक्षेप) तथा अनुचित तन्त्र आदि के कारण होने वाली मूर्च्छा (विचिन्तता = perplexity) ही मोह कहलाता है । उसमें अज्ञान भ्राति, टकराता (अघात), लचकर खाना, दिखाई न देना इत्यादि (अनुभाव) होते हैं ॥२६॥

अतः कुमारसम्भव (३७३) में इन्द्रियों की धति को रोक देने वाले अज्ञान व आने वाले तीव्र अघात (अभियङ्ग) से उत्पन्न हुए मोह के द्वारा चोरी देर के लिये रति को अपने पति (शम्भवेव) को मृत्यु (स्वस्त) वा अज्ञान न रहा । स्वतः प्रकार भावों मोह ने उसका उपकार ही किया ।

और 'अज्ञे उत्तररामचरित (१३५) में (सीता को लक्ष्म करके राम कन्ते हैं) — यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सुख है या दुःख यह मूर्च्छा है या विद्रा यह विषय का पतार है या मय । मुझारे प्रत्येक स्वप्न में मेरी इन्द्रियों को बिन्दुल भ्रष्ट कर देन वासा कोई ऐसा विकार (भाव) ही रहा है जो अत करण को जड़ बना रहा है और साराप को उत्पन्न कर रहा है ।

द्विष्यो — (१) ना० रा० (७ ५२-५३ पृ० ३६२), मा० प्र० (पृ० १६) ना० द० (३ १६६) प्रमा० (पृ० १७०), मा० द० (३ १५०) । (२) विचिन्तना — अचेतनता मूर्च्छा मूर्च्छन (प्रसा०), अर्थतय (मा० द०), इस अर्थका म चेतना विलक्षण समाप्त नहा हो जाती अपितु मुग्ध-मुग्ध नहीं रहा करनी मोह विषयस्य सूत्रत्वम् (मा० प्र०) ।

(-५) मति

शास्त्र आदि से उत्पन्न होने वाला सत्त्वान (अर्थ का निरचय) ही मति कहलाता है । यह भ्रान्ति-नाश तथा (शिक्ष्य व प्रति) उपदेन आदि (अनुभावा) से युक्त होती है ।

१ ।
ने मरश्च ॥२२३॥
व्यावृत्ति (हि) ।
रादय ॥२५॥
प्राप्तुत्तररामचरितम् ।
प्रमादशब्द ॥२५५॥
शास्त्रो लक्ष्यो वर दुष्टि शक्यो पूर
व्य परिदाम के अन्तर वर मन ही
३६३ ६५) मा० प्र० (१० २३)
० (३ १५३) । प्रमा० में सीता का
विचिन्तनामिति । (२) शक्यो —
०) दुष्टिपरा = अज्ञान (अज्ञान)
०) — अज्ञानकरणविकार (मा०
से उत्पन्न होने वाला चित्त
अर्थ यथायोग्य (यथा विधि)
में ताता (रति) तथा भाव
॥
और से शब्द करते हुए उत्पन्न
सागर (चित्त अक्षयप्रदान) को
० ३६०), मा० प्र० (१० २३)
० (३ १५३) । (२) अज्ञेति =
विषयों करीब तथा सत्त्वत्व का
(मिथी का रोग), इत्यन्वय =
(मा० द०) । (३) यथाविधि —
properly speaking (has)
। यथाविधि = यथायोग्य, अर्थात्
र में यथायोग्य प्रमाण इत्यादि वतु

यथा विचारे—

सहसा विदधीत न द्विगामाभिवेच परमापदा पदम् ।
वृणते हि विगृह्यकारिण गुणलुप्या स्वयमेव सपद ॥२५७॥

यथा च—

न पण्डिता साहसिका भवति धृत्यापि ते सतुलयति तत्त्वम् ।
तत्त्व समादाय समाचरति स्वाय प्रवृणति परस्य चापम् ॥२५८॥

अथालस्यम्—

(३४) आलस्य श्रमगमदिर्जाड्य जम्भासितादिमत् ॥३७॥

यथा ममव—

'चलति चपञ्चित्यूटा यच्छति यचन चपञ्चिचलीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुज गुरुगभमरालमा सुतनु ॥२५९॥

जसे विचाराज्जनीय (२३०) में बिना विचारे कोई काम न करना चाहिये मने घुरे का विचार न करना (अविवेक) बड़ी-बड़ी आपत्तियों का कारण होता है । निरवयव ही गुणों से युक्त हुई संपत्तियाँ विचार कर कार्य करने वाले व्यक्ति को स्वय ही वरण कर लेती हैं ।

और, जसे (?) बुद्धिमान् व्यक्ति सहसा काम करने वाले नहीं होते । वे तो किसी बात को केवल सुनकर भी तय का तुलनामक विचार कर लेते हैं और तत्त्व का ग्रहण करने आचरण करते हैं । इस प्रकार अपने काम को सिद्धि (अप) कर लेते हैं और दूसरे के भी ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (८८२ पृ० ३७१), शा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३ १६३) प्रता० (तत्त्वभागानुसंधानायनिर्धारण मति, पृ० १८४) शा० द० (नीतिभागानुसुत्यादेरवनिर्धारण मति ३ १६३) (२) शास्त्रादे—शास्त्र इत्यादि मति के विनाय (उत्पत्ति के कारण) माने जाते हैं । यद्वा आदि शब्द से उद्गा वीह (मनन), नीति माग का अनुसरण इत्यादि का ग्रहण होता है । प्राप्त छेद तथा उप देश आदि इसके अनुभाव हैं (ना० शा०) । यहाँ 'आदि शब्द से सतीष, धय इत्यादि का ग्रहण करना चाहिये । (मि०, शा० द०) ।

(२५) आलस्य

परिश्रम या गम धारण आदि से उत्पन्न होने वाली शिथिलता आलस्य है । यह जम्भाई लेना, बैठे रहना (आसित) आदि (अनुभावों) से युक्त होता है ॥२७॥

जसे मेरा (एनिक का) हो पद्य है - यह किसी प्रकार (कठिनाई से) चलती है, सखियों के द्वारा पुझे जाने पर किसी प्रकार उत्तर भी दे देती है । किंतु गम के अत्यधिक भार से अलसाई हुई वह सुन्दरी बठ रहना ही पसन्द करती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ४८, पृ० ३६१) शा० प्र० (पृ० १८) ना० द० (३ २१८) प्रता० (पृ० १७६) शा० च० (३ १५५) । (२) यद्यपि 'श्रम भी एक

कथारो—

(२१) कथारो—

कथारो एवमर्थम्—
का० उ० उ०

श्रमार्थम्—

कथारो कथं है अर्थम्—
है इतने कथं रूपम् ।
नहीं हा कथारो कथम्—
है । (शा० द०) ।
(२६) कथारो

आरो का श्रम्य
कारणों व दुःखा करता है
(१) किन्ती राजा व
श्रम तथा हाप्य
होने काय व सुनि व
(१) कथारो से—
(२) शास्त्रात् प्राप्ति
(३) मनु (कठिनाई) होता
(द्वि) द्वारा होने
न व्याहृत्य मुञ्ज
परचायु मय, मनुज

टिप्पणी—(१)
३६६ २६६) शा० २०
शा० द० (१ १२१-१२२)
उत्पात्त = विरतो कथारो,
अर्थारो का श्रम
कथारो कथं है कथं कथं
एव कथं है कथं कथं
कथं ही कथं है कथं कथं
कथारो कथारो कथं

अथवेग —

(३५) आवेग सम्भ्रमोऽस्मिन्भिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगोऽ
वातात्पात्सूपदिग्धस्वस्तपदगतविकेपजे पिण्डताडङ्ग ।

उत्पातास्तस्तताडङ्गं ध्वहितकृते शोकहर्षानुभावो
बहून्धूमानुलास्य करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसारा ॥२८॥

अभिसरो राजविद्रवादि तद्धेतुरावेगो यथा मध्व-
आनच्छगच्छ सञ्ज कुण् वस्तुप सानिदेहि द्रुते मे
घङ्ग बचासौ कृपाणीमुपनय धनुया कि मितङ्गप्रविष्टम् ।

सम्भोत्रितामा नितिभृति गहनेऽयोयमेव प्रतीच्छ्

वाद स्वप्नाभिरुष्टे स्वयि चकितृषा विद्रिगामाचिरासीत् ॥२९॥

व्यभिचारी भाव है तथापि यह आलस्य नामक व्यभिचारी भाव का विभाव हो जाता है इसमें कोई दोष नहीं। हाँ, कोई व्यभिचारी भाव एक दूसरे का व्यभिचारी भाव नहीं हो सकता, क्योंकि व्यभिचारी भाव तो किसी स्वामी भाव का ही हुआ करता है। (मा० ८०) ।

(२९) आवेग

आवेग का अर्थ है—सम्भ्रम (हृदयबाह्यता या धरवाहट) । [यह अनेक कारणों से हुआ करता है और प्रत्येक वै अनुभाव भी भिन्न भिन्न होते हैं, जैसे] (१) किसी राजा के आक्रमण आदि (अभिसर) से उत्पन्न होने वाले आवेग में शस्त्र तथा हाथी आदि की योजना की जाती है, (२) आधी (वात) से उत्पन्न होने वाले धूल से सना (उपदिग्ध=लित) व्यक्ति तेज चाल से चलता है, (३) वर्षा से उत्पन्न होने वाले आवेग में व्यक्ति अङ्गों को समेटता है (४) (उलका पात आदि) उत्पन्न से होने वाले (आवेग) में अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, (५) शत्रु (अहित) द्वारा उत्पन्न होने वाले (आवेग) में शोक होता है, मित्र (हित) द्वारा होने वाले में हृष्य होता है, (६) अग्नि में होने वाले में व्यक्ति धूम से व्याजुल युक्त वाला हो जाता है, तथा (७) हाथी से उत्पन्न होने वाले वै पशुचात भय, स्तब्धता, कम्प तथा भागना आदि अनुभाव हुआ करते हैं ।

टिप्पणी—(१) द्रुते मे छगच्छ इत्य है । (२) ना० शा० (७ ६३-६५ ७० ३६५-६६६), मा० प्र० (७० २०), ना० ८० (५, १६२), प्रता० (७० १७६-१८०) शा० ८० (३ १४३-१४४) । (३) अभिसर = आक्रमण अभियान (attack Haas) उत्पन्न = विजयी बहकना उल्का पात चन्द्र मूष का बहना इत्यादि । (ना० शा०) ।

अभिसार का अर्थ है—राजा का अभियान आदि उसके निमित्त से होने वाला आवेग यह है अतः मेरा (आत्मक वा) ही पक्ष है—हे राजन् गदन् पवत (सितम्भु) पर तसे पर सुहारे मयु अय सुहरे स्वल्प मे दय्य सेते हे तो धरवाहट से उनको निरा बङ्ग ही जाती है मेव शरित हो जाते ह और एव इतरे को सम्प बह उन्ना इम

अभावाभियोगो' इति पाठान्तरम् ।

मन्मन् ।

मनेव हयम् ॥२१॥

न ते मनुष्यत वयम् ।

मनि वयस्य वयम् ॥२२॥

अम्भासिनादिम् ॥१॥

न कृपिजनामीम् ।

दुःखम् ॥२३॥

ना विचारे कोई भाव न करता चाहे
किन्हीं आसक्तियों का भाव होता है ।
पर हर भाव करने वाले व्यक्ति को स्व

भाव करने वाले नहीं होते । वे तो
स्वयं मकर विचार कर लेते हैं और स्वयं
करने भाव को निदि (मय) करते लेते

० २०१), मा० प्र० (७० २३) ना०
विचारे मयि, ७० १८५) शा० ८
(१६३) (२) भावपते—आप स्वयं
है । यहाँ आदि बह के उदा गेह
न प्रवृत्त होता है । आसि के उदा बह
वहीं आदि भाव से मनुष्य, अय इत्यादि

उत्पन्न होने वाली विचिन्वता अतएव
(सिद्ध) आदि (अनुभावों) से युक्त होता

—यह किसी अक्षय (सिद्धि) से
अकार उत्तर को दे देती है । किन्तु वह के
के बड़े एका ही पक्ष करता है ।

८०, ७० ३६१) मा० प्र० (१० १८) ना० ८०
(३ १४४) । (२) यद्यपि 'अय' को एव

येयासि वा दिग्धतु निहू, तकोपचिह्न—

मानिहूनीत्युपकमासितिमुगोले ॥२६५॥

बह्विह्वलस्त्वन्विष्टदशमश्रवणाभ्या तद्यभोदासराधवे— चित्रमाय—(ससम्प्र
म्य) भगवत कुतपते रामभद्र परिनायता परिनायताम् (इत्याकुलता नाटयति)
इत्यादि :

पुन चित्रमाय—

मृगरूप परित्यज्य विधाय विकट वधु ।

नीमते रक्षसाग्नेन लक्ष्मणो युधि सशयम ॥२६६॥

राम—

वल्गस्याभयवारिधे प्रतिभय मये दध रक्षसात्

प्रत्तयच्य मुनिविरीति मनससास्त्वेव मे सम्प्रम ।

मा हामीजनकालमजामिति मुहु स्नेहाद् गुरुभाषत

न स्वानु न च गान्धुमाकुलमतमूडरय म निश्चय ॥२६६॥

इत्येतानानिष्टप्राविष्टसम्प्रम ।

इष्टप्रातिवृत्तो यथाश्रव—(प्रथम पटाशेषेण सम्भ्रातो वानर—

महाराज एव तु पवणग-दशागमणेण पश्रित—(महाराज, पतस्थल पवनत-दशागमने
प्रहृष—) इत्यादि दवर्न द्विआण-दजणम विभ्रलित बहुवचन । (देवस हृदयान द
जनन विदितत मधुवाम १) इत्यतम ।

को पुष्ट पुनाओं के बस दारा कसात पयत के उदाये आते को धवराहट से चञ्चल
दष्टि धारो जिया (पावती) के कोपचिह्न छिय गये हैं जो (पावती) को आसिञ्जन से
दुलभित है ।

अहितहृत भावेण सो अनिष्ट (वस्तु) के बरान या ध्वषण आदि से होता है,
जसा कि उवात्तराधय मे—चित्रमाय (धवराहट के साथ)—भगवत् कुल के स्वामी
राम रसा कोजिये रसा कोजिये (इत प्रकार ध्यकुलता का अभिपय करता है)
इत्यादि । फिर चित्रमाय—मृग क रूप को छोडकर भयायना रूप बनाकर यह रासत
पुष्ट मे सखमण (क जावन) को तराय में डाल रहा है ।

'राम—निमयता के सागर वास सखमण को रासत से भय हो सकता है यह
करो मान् ? यह मुनि (चित्रमाय) डरकर धिक्ता रहा है इसलिये मेरे मन मे धवराहट
है ही । इसरी और मुष्ट (?) मे याद-आर स्नेहपुव यह अनुरोध किया था कि जनक
पुमी को (अकेला) न छोडना । इस प्रकार मेरी बुद्धि आहुत है मैं चित्रस्थव्यविमुष्ट हूँ
मेरा न ठहरने का निश्चय ही रहा है न ही आने का ।'

यहाँ तक अनिष्ट प्राप्ति से होने वाला सखम है ;

इष्टप्राप्ति से होने वाला सखम, जते यहाँ (उवात्तराधय में ही)—(धवराय
वानर पटपरिपतन के साथ प्रवेश करने मुडोव स रहता है) वानर—पवनपुम
(हनुमान) के आगमन के आनन्द से इत्यादि से लकर महाराज क हृदय मे आनन्द
उत्पन्न करने वाला मधुवन उजाड दिया यहाँ तक ।

पद

रक ।

किंदिश

निवापकन्यागुता ।

। भव्यनी

गिरशो-बना विन्ता ॥२६२॥

इन्द्रतटपद्म इति ।

।—

मेशुम इकुमी ।

मिन्विता

मिन्विता कवर्तव्य ॥२६५॥

निगान ।

? बाओ उलम धोर को बवार करो

? है ? बवारी लालो धवुर मे (रसा)

इति ।

रर पर इत प्रकार को धवद दीदाओं

की वरती थी ।

को देना या किसी मजाल व्यक्ति के

है। — मे तापन क्याए पुन मुज बसो

पर कए रहे हूँ । और नीलो लालो

and silence Apple) को मुजल सताओ

के धर ही गये हूँ ।

वह है, परे—दापु से कएन यह उतरणे

इच्छति ।

मेरा बरतने पर भोजन परतने में लाल

को हाथों से छटाकर फिर ने मुष्ट (का)

लतों के बने बाओ के अल सने के सिने

?, जते—प-मोडर (महर्षे) की देओ

कवचन करे बिकमें रवच (नीलन)

यथा वा वीरचरिते—

एहं हि वत्स रघुन दन पूषचन्द्र
 चुम्बामि मूषानि चिरस्य परिच्छेदं त्वाम् ।
 आरोप्य वा हृदि दिवानिधमुद्रहामि
 वदेष्यवा चरणमुत्करकदम्ब त ॥२६७॥

वीरहृजो यथाऽभयसतके—

शिवो हस्तावलयन प्रसभमभिहतोऽप्याददानाऽशुक्रात्
 गृह्ण केभोत्पवास्तश्चरणनिपतितो नैशित सम्भ्रमेण ।
 आनिङ्गन योऽवपूतस्त्रिपुरयुवतिभि साधूनेनोत्पलाभि
 वामोवाद्रावराध स दहतु दुरित शाम्भवो व शरानि ॥२६८॥

यथा वा रत्नावल्याम्—

धिग्म विरम बहूँ मुञ्च धूमावृतल
 प्रसरयसि किमुच्च रात्रिया चक्रवातम् ।
 विरहहृत्तमुजाह्व यो न दण्ड भ्रियाया
 प्रलयदहनमासा तस्य कि त्व करोषि ॥२६९॥

अथवा जसे वीरचरित (१५५) में—

पूण चन्द्रमा के समान रघुकुल को आनन्द देने वाले वरत राम, आओ आओ, बहुत समय के पश्चात् तुम्हारे मस्तक का चुम्बन कर लू, तुम्हें गले लगा लू अथवा दुबय में रखकर रात दिन तुम्हें साय रबपू या तुम्हारे बानों चरण कमलों को चम्बना कर ।

अग्नि से उत्पन्न होने वाला सम्भ्रम, जैसे अमदशतक (२) में वह (त्रिपुर बहन के अक्षर की) शिप के चारों की अग्नि तुम्हारे पावों को भस्म करे, जिस (अग्नि) को अभ्युग्न नेत्रकमल वाली त्रिपुर युवतिया के द्वारा, तत्काल अपराध करने वाले वामी के समान, हाथ छूने पर शूद्रक बिया गया (शिक्ष), बलात् आँचल पकड़ते हुए भी ताश्चित किया गया क्योंकि पकड़ते हुए हटा दिया गया चरणों में गिरते हुए की सम्भ्रम (साय वा आबर) से नहीं देखा गया तथा आनिङ्गन करते हुए तुलकारा गया ।

अथवा जसे रत्नावली (४१६) में (सागरिका की बचाने के लिये अग्नि भ प्रविष्ट होते हुए उदयन की जक्ति)—हे अग्नि शात हो आओ शात हो वाओ धूम को आकुलता को छोड़ दो । तुम ऊँचा लपटों के समूह को क्यों फला रही हो ? जिस मुमको प्रसय काल की अग्नि के समान तेज वाली भ्रिया के विरह की अग्नि में नहीं जनाया उतका तुम क्या करोगी ?

करिया

करिद्वन्द्व

सागरिका ।

वय विद्वह—

(१६) उक्तो ।

यथा—

म

सिन्धुचन

रूपों से जगत्
 हृषी) ने क्षण पर में
 (सिन्धु) बचन
 बाले रथ

(१७)
 विना (प्यारों) की
 काँच से होने वाले अकरो

(२०) विद्वह—

सन्देह से उत्पन्न
 सिर तथा अन्तुगिणा
 दसम मीठे चनाया

कने (?)
 वह (सिन्धु अग्नि से पुनः)
 (माया) गुना कर दिया
 शक्या को माल ही नहीं ?
 अथवा शक्या (गुन) शक्य
 शिला (सहायन शक्या) की
 काय विरगाय में विरह है ।

करिजा यथा रघुवशे—

स चिह्नप्रभवः प्रदुतमुष्यशुभ्य भ्रान्नापपयस्तरय क्षणैत ।

रामापरिचाणविहस्तपोष सेमानिवस्य सुमुल अकार ॥२७०॥

करिग्रहणं ब्यालोपतलवधायकम् । तेन ब्याघ्रशूकृतत्वात्तरादिप्रभवा आवेगा
व्याख्याता ।

अथ वितक—

(३६) तर्को विचार सन्देहाद् भ्रूणितोऽङ्गुलिनतक ।

यथा—

किं लोभेन विलङ्घितं स भरतो येनैतदेव कृतं

सद्य स्त्रीसपुता गता किमयथा मातव्य मे मध्यमा ।

मिष्यतमम चित्तं द्वितयमप्यायानुजीञ्जी युष

माता तातकृतयमित्यनुचितं मय विद्याना कृतम् ॥२७१॥

हाथो से उत्पन्न होने वाला आयेग है जैसे रघुवश (५५६) में 'उत्त (विण्डे हाथी) ने क्षण भर में समिक सिंघिर म ऐसी गड़बड़ी मचा बो (तुमुल अकार) कि बहु (सिंघिर) अश्व को तोड़कर भाग जाने वाले अश्वों से भ्राना हो गया वही दूटी पुटी वाले रथ इधर उधर पड़े थे, दोढ़ा स्त्री स्रियों की रसा में ब्याकुल (विह्वल) थे ।

(बरा० की कारिका में) 'करिज' (हाथो से उत्पन्न) शब्द का ग्रहण (पशुजय) विनाश (भ्यालोप) को उपलक्षित करने के लिये है । इसके द्वारा ब्याघ्र, शूकृत, यामर आदि से होने वाले आशेषों को भी बतला दिया गया है ।

(२७) वितक—

सन्देह से उत्पन्न होने वाला विचार ही तक कहलाया है, यह भीहा सिर तथा अङ्गुलियों में चञ्चलता उत्पन्न करने वाला होता है (अर्थात् दूसरे भीह चलाना इत्यादि अनुभाव होते हैं) ।

जसे (?) (बनवास के निमित्त का विचार करते हुए लक्षण करते हैं)— बया बहु (बिनय आदि स युक्त) भरत लोभ से आक्रान्त हो गया और उतने 'कैकी द्वारा (मात्रा) ऐसा कर दिया ? अथवा मेरी भाली मला ही स्रियों की (स्वाभाविक) बुद्धता को प्राप्त हो गई ? नहीं, मेरे ये दोनों प्रकार क विचार मिथ्या हैं, वह मरा ज्येष्ठ भ्राना (गुरु) भरत तो आय राम का अनुज है और वह मेरी माता (कैकी) पिता (महाराम वाराध) की धमपत्नी है । इतलिये मैं समझता हूँ कि यह अनुचित कार्य विनाश में किया है ।

५५

परिचय लान ।

दशदि

कचन्द्र

व ॥२९५॥

५६० व्याख्यानंशुक्रान्त

निर्वाञ्जो वैलि कम्पय ।

निर्मि धामुनेवोलताकि

५६० पूर्णत धामुनेव व धारण ॥२९५॥

मकल

रसं बरावास ।

विनाश

कि ल करण ॥२९५॥

आमन से काने बल राम, आगे,
क का बुधर कर लु, उरुं गते लया ल
रसं या उरुं गते रोमो बला कसतो बो

जसे अवरसाक (२) में 'बहु (विपु
अविन पु हारे पावों को बल करे, निव
मुषिकर्मों के द्वारा, हकल अराय कले
विषय परा (सिर), बलाय कोल वरतो
ने हुए हवा दिया मना, बलाय में गिते हुए
या चया भाविद्वन कले हुए हुकरा मया ।

(माभरिदा को बताने के लिये अविन में
बलि जात हो जाको ताव ही जातो धन
रसों के समूह को क्या बला रही है ? कि
मेव बाली प्रिय के विरुद्ध को अविन ने रही

अथवा ।

क समुचितभिषेकाद्राम प्रख्यापयद् गुणज्येष्ठम् ।
मय ममय पुण्यै सेवावसर कृता विधिना ॥२७२॥

अथावहित्या—

(३७) लज्जाद्यैर्विक्रियागुस्तावदहित्याङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

एववादिनि देवर्षे पितृग्यामुखी ।
लीलावमतपत्राणि गणधामास पावती ॥२७३॥

अथ याधि—

(३८) व्याधय सनिपाताद्यास्तेषामयत्र विस्तर ॥२६॥

अथवा (राम वनवास क अवसर पर ही लक्ष्मण का तब है) गुणो म उद्दृष्ट राम को उचित रा याभिषेक से कौन वञ्चित कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि मेरे पुण्यों से ही विधाता ने मुझे (राम को) सेवा का अवसर दिया है ।

दृश्यन्ती—ना० शा० (७ ६२ पृ० ३७५), भा० प्र० (प० २५) ना० द० (३ २०६) प्रता० (पृ० १८), सा० द० (३ १७१) ।

(२८) अवहित्या—

लज्जा आदि के कारण (मुद्य राग आदि) अङ्ग विकार का छिपाना ही अवहित्या कहलाती है । इसमें अन्य अङ्गों का विकार आदि (अनुभाव) होते हैं ।

जैसे कुमारसम्भव (६८४) में 'देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर पास में बड़ा पार्वती भीचा मुख करके सीसा बमल के पत्तों को गिनेने लगी' ।

दृश्यन्ती—(१) ना० द० (७ ८० पृ० ३७०), भा० प्र० (प० २२) ना० द० (३ २१२) प्रता० (प० १५५) सा० द० (३ १५८) । (२) अवहित्या का अर्थिप्रय है आकार को छिपाना । अनुराग आदि का भाव मन म उदित हान पर जो मुख—राग भू-विकार आदि होने लगते हैं उन विकारों को लज्जा भय आदि क कारण छिपाना ही अवहित्या है । लज्जा, भय गौरव, कृटिलता, घटता आदि इसके विभाव होते हैं । अपने आकार का छिपाने के लिये व्यसि क्रिची अथ काय मे लग जाता है कोई और बात बहून लगता है किसी और देखने लगता है इस प्रकार की अङ्ग—विक्रिया ही अवहित्या क अनुभाव है (ना० शा० तथा ना० द०) ।

(२६) ध्याधि—

सनिपात इत्यादि व्याधियाँ बहनाती है । इनका अय स्थला (आयु वैद आदि के ग्रन्थी) में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ॥२६॥

द्वितीय दुःखा—
'विच्छिन्न'
३१
अद २२ २८

बहोना—
(१८) ७२ ॥

यथा—बा ।
कृतुजने इन्द्र—

विषयामभाव
आकर विष्टु कृत्या
न निरतर बहने
परिलोको को दो ही है,
विशेष न कल्पन होने
बस पा निर्वाण का

दृश्यन्ती—(१)
ना० द० (३ १६५),

कल्पित का अर्थ है—
ने एक काम विष्टु हा-

दिको पृष्ठ के दृष्टि
काय विष्टु होने से जो

सुख प्रकार कल्पित
अल्पन होय काय

का० २०) दृष्टकथन म
के लिये विकल्प आदि

(१०) वना—
सा नपात तथा

निना सोच समझ
रामा पाण, हृदय

कृपा करती हैं ॥३०॥
बने ।

अर्थात्—अरे जीव
सम सम्यक्—क्या ?

• स्थान • वि

दिङ्मान तु यथा—

अच्छिन्न नयनाम्बु वञ्चुतु इत चिन्ता युत्पयाऽपिता
 वत दयमशेषत परिजने ताप सञ्चोप्राहित ।
 अथ श्व परनिवृत्ति व्रजति सा श्वादि पर विद्यत
 विश्वन्धो भव विप्रयोगजनित दुःख विभक्त तथा ॥२७७॥

अथो माद —

(३८) अप्रेक्षाकारितो माद सनिपातग्रहादिभिः ।
 अस्मिन्नवस्था - रवितगीतहासासितादय ॥३०॥

यथा— अ । क्षुद्राक्षम तिष्ठ तिष्ठ नव म प्रियतमामादाय गच्छति'
 इत्युपक्रमे 'कथम्—

विष्वस्तनमात्र तो यह है जसे (अमरशतक ११०, कोई इती मायक के पास जाकर बिरह सतप्ता नायिका का उपात्ममपूवक वचन करती है) — उस बिरहिया ने निरन्तर बहने वाली अश्रु धारा व पुञ्जो को अर्पित कर दी है, यौनता प्रणत परिजनों को ब दी है, अथना सताप सणियों के पास रख दिया है । इस प्रकार उसने वियोग से उत्पन्न होन वाला दुःख घोट दिया है तुम निश्चित रहो । यह तो आज या कल पर निर्माण को प्राप्त हो जायेगी । उसे तो बचल स्वास ही दुःख दे रहे हैं ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ = ३, प्र० ३७१) शा० प्र० (प्र० २०) ना० प० (३ १६८), प्रता० (प्र० १५५), सा० द० (३ १६५) । (२) सामान्यत सनिपात वा अय है—साय मिलना । किन्तु आशुवन्द क अनुसार वात पित्त-कफ तीना के एक साथ विकृत होने को सनिपात कहा जाता है । वात पित्त और कफ में ये किसी एक के विकृत होन पर हा राग उत्पन्न हो जाया करता है । अत सामो के एक साथ विकृत होने से जो रोग उत्पन्न होता है वह अधिग कष्टसाध्य हुआ करता है । इस प्रकार सनिपात आदि किसी व्याधि (रोग) के निमित्त हुआ करत है । उनसे उत्पन्न हान बाल अवर आदि व्याधि कदाहात है (३०, ना० शा०, ना० द० तथा सा० द०) । दशरूपक म सनिपात आदि से उत्पन्न होने वाली (अवर आदि) व्याधि के लिये सनिपात आदि शब्द का प्रयोग कर दिया गया है ।

(३०) उपाय—
 सनिपात तथा ग्रह (के प्रभाव) आदि से उत्पन्न होन वाली जो विना सोचे समझे नाय करना है वह उपाय बहलाता है । उसमें रोना गाना, हँसना तथा बँठे रहना (आस्तित) आदि अवस्थाएँ (अनुभाव) हुआ करती हैं ॥३०॥

जसे (विक्रमोवशाप नाटक ५७ उचसी के वियोग में उमत्त पुष्करवा का उक्ति)—अरे नीच रागत टहर टहर । मरा प्रियतमा को लेकर कहा जाता है ? इत साधक में— क्या ? यह यथोन्म भय उचरता है, यह गवशुक्त रासत नहीं है । यह

* इत्याम० इति पा० ।

१२२
 १. पुष्करवा ।
 २. विविधा ॥२७२॥
 ३. वाञ्छुविनिम्न ।
 ४. निरुत्पाको ।
 ५. मानस पावता ॥२७३॥
 ६. निपात यत्र विस्तार ॥२८१॥
 ७. ही सत्यन का लक्ष है। कुल में अश्रु पतन कर लफा है ? है सतप्ता है कि बरे १३५) शा० प्र० (१० २४) ना० द० (१०१)।
 ८. आनि) अज्ञ विकार को छिपाना अज्ञो को विकार आदि (अनुभाव)
 ९. माद के इस प्रकार बहने पर पाल में पत्तो को मिलने लगी ।
 १०. प्र० ३००, शा० प्र० (१० २२) सा० द० (३ १५८) । (२) बरहिया । आदि वा भाव मत में उचित होने निवत है उन विकारों को स्वभावात् प्राणि भय मोक्ष, कतिना, अष्टात् आदि अमाने के लिये व्यक्ति किसी शब्द वाच म है, किसी और देखने लगता है इत प्रकार पव है (ना० शा० तथा ना० द०) ।
 ११. हापाती है । देनाका अन्य स्वप्ता (आशु वानन किया गया है ॥२८१॥

नवजलधर सनद्धोऽप्य न ह्यन्तनिशाचर
सुरधनुर्दि दूराकृष्ट न तस्य शरासन्तम् ।

अथमपि पटुर्मांसासरो न बाणपरम्परा

कनकनिकपस्त्रिन्ध्या विद्युत्प्रिया न ममोवशी ॥२७५॥ इत्यादि ।

अथ विपाद —

(४०) प्रारब्धकार्यासिद्धधादेर्विपाद सत्त्वसक्षय ।

नि श्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायायेपणादिदृष्ट् ॥३१॥

यथा वीरचरित— हा आयं ताडके, कि हि नाभतत् अम्बुनि मज्जत्यसार्त्नि
श्रावाण प्लवते ।

नयेप राक्षसपत इध्नित प्रभाप

प्राप्तोऽद्भुत परिमवो हि मनुष्यपोतात् ।

दृष्ट स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो

दंय जरा च निरुणद्धि कथ वरोमि ॥२७६॥

दूर तक कला हुआ इन्द्रधनुष है उसका धनुष नहीं है । यह भी तेज (पटु) धारा की
वर्षा है, बाणों की धारा नहीं है । कसौटी पर कनक रेखा के समान स्निग्ध यह विद्युत्
है मेरी प्रिया उससी नहीं है । इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७ ८४-८५ प० ३७२) भा० प्र० (पृ० २४)
ना० द० (३ २०५) प्रस्ता० उमादस्तुत्यवतित्व चेतनावतनेष्वपि (प० ८५)
सा० द० (३ १६०) । (२) यहाँ संपत्ता आदि उमाद के विभाव है । इसी प्रकार
इष्टजन वियोग विभव नाम आदि भी इसके विभाव होते हैं । (ना० शा०) । ऊपर
के उदाहरण में इष्टजन वियोग ही इसका विभाव है । रोमा आदि इसके अनुभाव
हैं । असम्बद्ध प्रलाप भी इसका अनुभाव होता है । (ना० शा०) ऊपर के उदाहरण में
यही अनुभाव है ।

(६१) विपाद—

प्रारम्भ किये गये काय में असफलता आदि के कारण उल्साह (सत्त्व)
का क्षीण हो जाना ही विपाद कहलाता है । यह नि श्वास उच्छ्वास, हृदय
का सताप तथा सहायक की खोज जादि (अनुभावो) का जनक होता
है ॥३१॥

जसे वीरचरित (१४०) में (रावण का विपाद है ।) हाय आर्या ताडका यह
क्या हो रहा है ? जल में बुम्बी डूब रही है और पाषाण तर रहे हैं ।

सचमुच यह राक्षसपति (रावण) का प्रताप क्षीण हो गया है क्योंकि उसको
मनुष्य के अच्चे से अबधुत पराभव प्राप्त हुआ है मने यहाँ रहते हुए ही स्वजनों का
नाश देख लिया और वीरता तथा बुद्धि, मुझे (छुड़ करने से) रोक रहे हैं कसे
करके ?

वैकुण्ठ—

(४१)

रथ रूपक—

शाननननननन

रथ का उपर—

पुत्रुप्रति

दिव्यो—(१) ना

शा० (३ २०६) दृष्टो

स्व=विन (निम्न विन

शलाक जल का आना

(शा० द०) तथा

(११) अनुभाव

रूपमान वस्तु

कारा जो धमक (१११)

उत्तम उच्छ्वास, व

प्रम जादि (अनुभाव)

धमकी रेखा में धमक

कीप्रता करते लगी ।

उपको रेखा ।

अथवा तेज वही

मनुष्य (पुत्रुनि) ने की

भाव जब धीर हुए

अथयो (वरा) पति

टिप्पणी—(१)

द० (३ २११) दृष्टो

यहाँ से प्रहार का

अर्थ=रथ का धमक

कीमुद्रा होता है । (ii)

(Intense attachment

कारण पर यहाँ रथ ।

रूपम्

पुनश्चाश्रय

न उद्वेगं प्रशंसन् ।

गाररम्परा

विदग्धिना न ममोषी ॥२०॥ इत्यपि ।

रपाद सत्त्वस्यस्य ।

सहायान्वयेनापदिह्यत ॥३॥

हे, किं हि नाशम् कश्चिन्ममं कल्पन्तस्मिन्

प्रजा

ते हि मनुष्ययोगम् ।

नरनामो

मि क्व करोमि ॥२०॥

यदृही है । यह सो तेव (पु) शारा की
र कृष्ण देखा के समान लिये वह विद्युत्

१ ०० ३०२) भा० प्र० (१० २४)
सतिच वेगवशतोऽपि (१० २४)

ति नमाने के विचार है । इको अकार
विचार होये है । (मि० भा०) । ऊपर

विचार है । रोना सोरि इको अनुभाव
है । (मि० भा०) ऊपर के उदाहरण मे

भा वादि के कारण उत्साह (सत्त्व)

। यह नि स्वाय उच्छ्वास, हृदय

आदि (अनुभावा) का उत्पन्न होता

न विषय है । (१) धृष्ट, आर्तो तावसा म्

तेर पापान्तर तरे रहे है ।

प्रकार सोय तो मया है सोकि उत्तरो
है किने मही रहते हुए ही स्वतो का
म मुने (उत्पन्न करने से) रोके रहे है किने

अधोऽनुसुयम्—

(४१) कालाक्षमत्वमीत्सुयुय रम्येच्छारतिसम्भ्रम ।

अतनोच्छ्वासास्त्वरायवासहृतापस्येद्विभ्रमो ॥३२॥

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादशबिन्द्वे स्तिमितायतासी ।

हृरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रोणा प्रियालोकफलो हि वय ॥२७७॥

यथा वा तनव—

पशुपतिरपि ता यद्वाहि कृच्छ्रावनिनमद्रिषुतासमागमात् ।

कमपरमवच न विप्रकुप्यविभ्रुमपि त यदमी त्यगति भावा ॥२७८॥

टिप्पणी—(१) ना० भा० (७ ६८-६९, प० ३६७), भा० प्र० (पृ० २२)

ना० द० (२ ००४) प्रता० (प० १२१) सा० द० (३ १६७) । (२) सत्त्वस्यस्य

सत्त्व=चित्त (निमल चित्त या निविकार चित्त) उसकी क्षीणता चित्त का अनुसाहित

तथा स तत्त्व हो जाना, मि० विषादस्ताति ताति =अनुत्साहात् तत्र चित्तस्य ताप'

(ना० द०) तथा विषादस्तेतसो भङ्ग' (प्रता०) अथात् दित्त्व दत्त जाना ।

(३२) अधोऽनुसुय (अनुसुयता)

रमणीय वस्तु की अभिलाषा, गाढ अनुराग (रति) तथा घवराहट के

कारण जो समय (विलम्ब) को न सह सक्ता है वह अधोऽनुसुय कहलाता है ।

उसमे उच्छ्वास, जल्दबाजी, दीघ प्रवास, हृदय का मत्ताप, पसीना और

भ्रम आदि (अनुभाव) होते हैं ॥३२॥

जते कुमारसम्भव (७ २२) में निश्चल (सिंमित) तथा बोध नेत्रों वाली

पायती बधन में अपने सुन्दर रूप को देखकर मगधदेव के पास जाने के लिये

शोभ्रता करने लगी । वस्तुतः स्त्रियों को साज सज्जा का कस यही है कि प्रियतम

उसको देखे ।

अथवा जोते यही (कुमारसम्भव ६९४) पायती मे मिलन न लिये उत्सुह

महादेव (पशुपति) ने भी वे दिन अत्यन्त कठिनता से ध्यस्तो रिये । ये (कामसम्बन्धी)

भाव जब धीरे धीरे सपनों (विद्यु) को भी प्रभावित करते हैं तो फिर किस दूतरे

अनमयो (अथवा) ध्याकि को बिहृत न कर देते ?'

टिप्पणी—(१) ना० भा० (७ ३०, पृ० ३४७) भा० प्र० (पृ० २१), ना०

द० (३ २११) प्रता० (पृ० १२१) सा० द० (३ १५९) । (२) रम्येच्छारति०—

यहाँ दो प्रकार का पद-छेद किया जा सकता है (१) रम्येच्छा + अरति (Hass)

अरति=रति का अभाव (lack of the pleasures of love) इस प्रकार को

अधोऽनुसुय होता है । (ii) रम्येच्छा + रति, रति=अनुराग प्रेम । ना० द० में अधिपत्यङ्ग

(Intence attachment affection) अधोऽनुसुय का निमित्त माना गया है । इसी

आधार पर यहाँ रति (=गाढ अनुराग) पदच्छेद अधिक उचित प्रतीत होना है ।

* तनोच्छ्वासास्त्वनि श्वाप०' इति पाठोत्तमम् ।

सजातीयविजातीयभावान्तररतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादि स्थायी । यथा बृहत्स्वपाया नरवाहनवत्स्य मदनमञ्जूपायामनुराग, सत्तद्व्यातरानेकनायिका नुरागरतिरस्कृत स्थायी । यथा य मालतीभाषणे श्मशानान्छु बीभत्सेन मात्स्यनुराग स्यातिरस्कार — मम हि प्राक्तनोपलभ्यम्भावितारमजमन सस्कारस्यानवरतप्रबोधार्थं

मित्त जाते हैं । इस पर धनिक की व्याख्या है—जिस रति आदि भाव का काव्य में इस प्रकार उपनिबन्धन किया जाता है कि वह सजातीय या विजातीय भावों के द्वारा तिरस्कृत नहीं होता वही रति आदि भाव स्थायी भाव है । रति आदि से उपरक्त चित्त म अविदोषी भावा तथा यथिचारिया का सम्बन्ध होता है यह सभी सहृदय के अनुभव से सिद्ध है । इस प्रकार स्थायी भाव का स्वरूप यह है —एक तो वह काव्य म इस प्रकार उपनिबन्ध किया जाता है कि सजातीय या विजातीय भावों से उसने सात्व्य में विच्छेद नहीं होता जते बृहत्स्वया आदि के उगाहरण से स्पष्ट है (स्मितधीनता) । दूसरे, यह सहृदय के मन म (रसास्वादन के समय) उद्बुद्ध रहता है । धर्म सभी भाव उसी में विलीन होत रहत हैं (प्रधानता) । (३) अग्निवयुक्त के अनुराग इनकी स्मितधीनता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में जन्म से ही ये विशेष प्रकार के भाव रहत हैं । वासना रूप म रहने बाल य भाव किसी निमित्त से उद्बुद्ध हो जाया करत हैं और अपना काय करक विलीन स हा जात हैं किन्तु य बन्धी नष्ट नहीं होते । इनकी प्रधानता यह है कि य भाव पुरुषाय चतुष्टय से सम्बन्ध रखते हैं (६० अमि० भा० प० २८२-२८३) । (४) आगे चलकर स्थायी भाव का स्वरूप परिष्कृत हुआ तथा पुष्ट होकर या अभिव्यक्त होकर जो भाव रसरूपता को प्राप्त हो जाते हैं वे ही स्थायी भाव हैं, इस बात पर अधिक बल दिया जाने जते—
प्रबुध्यमाणो यो भावो रसता प्रतिपद्यत । स एव भाव स्थायीति भरतादिभिरुच्यत ॥ भा० प्र० (प० २६) ।

विन्ध रसावस्थ पर भाव स्थायिता प्रतिपद्यते । (उद्धत सा० द० ३ १७२) । सा० द० के स्थायी भाव के लक्षण में दश० की छाया है फिर भी इसी पहलू पर अधिक बल दिया गया है—

अविरद्धा विरुद्धा वा य तिरोगातुम्यमा ।

आस्वादाडकुरक-दाडो भाव स्थायीति समन्त ॥

यहा 'आस्वादाडकुरक' यह शब्द जिसय रूप से ध्यान देने योग्य है ।

(काव्य आदि में) वगित (उपनिबध्यमान) ऐसा रति आदि भाव ही स्थायी भाव कहलाता है जिसका अर्थ सजातीय या विजातीय भावों से अग्रिमव (तिरस्कार) नहीं होता । (सजातीय भावों से अग्रिमव न होने का उगाहरण है) जते बृहत्स्वया में जो मदनमञ्जूपा के प्रति नरवाहनवत्स के अनुराग का वगन किया गया है उसका अर्थ (नायकों) के अनेक नायिकाओं के प्रति वगित अन्वतर अनुरागों से तिरस्कार नहीं होता, अत बहाँ (नरवाहनवत्स निष्ठ) रति स्थायी भाव है और (विजातीय भावों

प्रतीपादनात्पुत्र
विर्षा-गर्भविर्षा ११
ताहि-विषय
५५

के अग्रिमव न होने ।
(कव्य तथा कठ) अद्
अनुपाय का तिरस्कार अद्
(१६ के क) जो (१८)
हस्कार के तिरस्कार
प्रतीपादनात् (नयन) के
अन को उरतति को
मात्स्येन (अन) बना
सत्सय (स्थायी भाव का
स्थायी) (१)
(अन) दूसर रति भाव
विजातीय है जते उर
करपा है अन् भावों
को मालती के प्रति
(२) न विरती
और विजातीय शर्तों के
समावेश का विजातीय
स्थायित्व दिया जा

इसे ? वह 'कपा

विराज
द्वारा एकद्वारे का भाव
स्थायी भाव का (काव्य)
विशेषरत्न विरोग) अद्
प्रतीपादनात् उरती अद्
भावा जाते ही कह
सहृदयों के अनुपार के विषय
स्थायी भावों का कहें

• विरग-गर्भ

नेत्रोन्मिष्यमाना रक्षामि स्थायी ।
 गन्तुमानुष, यथा भावदरनेकमिषा
 ने भवमानुषु बीजनेत्र मानुषुपुत्र
 प्रथम मत्त सत्कारास्वावरजसवर्णानु

विश्व रति क्षामि भाव का भाव में
 सजातीय या विरोधी भावों के द्वारा
 भी भाव है। रति क्षामि से उत्पन्न
 का संचयन होता है यह सभी सृष्टियों
 का संचयन यह है—एक तो यह
 कि स्वामीय या विरोधी भावों के
 द्वारा क्षामि के उदाहरण के साथ ही
 न (सामान्य के समान) उद्भूत होता
 है कि (अपवर्ण) । (१) अनिष्टानुपुत्र
 के क्षामि के मत्त में भाव के ही से विपरीत
 भाव से भाव विरोधी विपरीत के अनुपुत्र
 रति से ही भावों हैं किन्तु वे सभी मत्त
 द्वारा स्वामीय से सम्बन्ध का स्वरूप
 हीन का भाव रहस्यता को प्राप्त हो
 कि भाव दिया भावें तथा सब—
 कि भाव स्वाधीन प्रकृतिसिद्ध्यन्तु ॥

विद्यो प्रतिपद्यते । उक्त सा २०
 में प्रथम को छाया है कि भी लो

रिपोपुत्रमानुष ।
 एवं प्रथमोक्ति समान ॥
 विद्यो रति से प्रथम से वेद्यो है ।
 प्रथम) देवा रति क्षामि भाव ही स्वामी
 या विजितभावा भावों से क्षामिभाव (सितरत्न) ही स्वामी
 न होने का उदाहरण है) जो कि कृष्णका में
 अनुपुत्र का संचयन किया गया है उनका
 रति क्षामि अन्तत्तर अनुपुत्रों से सितरत्न
 स्वाधीन भाव है और (विजितभावा

प्रथममानरतद्विषय प्रत्यया तदरतिरुत्कृतप्रवाह, प्रियतमास्मत्प्रियत्वोत्पत्तिस तान
 स्त मयमिव करोत्य तद्वृत्तिसमाख्यप्रवृत्तयम् ह्य्यादिनोपनिबद्ध । तदनेन प्रकारेण
 विरोधिनामविरोधिना च समावेधो न विरोधी ।

तथाहि—विगेम सहानवस्थान वाय्व्यायकभाषो वा । उमयरूपेणार्थि न
 तावसादात्यमसर्व्यं रूपतेनवाविमिवात् । स्थायि ना च भावादीनाः यदि विरोधस्त

ते अभिभव न होने का उदाहरण हैं) जैसे मालतीमाधव में शमशान के वपन सम्बन्धी
 (पञ्चम तथा षष्ठ) अद्भुत से भीमत्त से वपन से मालती के प्रति होने वाले (साधक के)
 अनुपुत्र का तिरस्कार नहीं होता । जसा कि इस (साधक में) वपन किया गया है—
 (५ के भाव) जो (स्मृति की धारा) मूक अनुभव (उपलम्भ) से, उत्पन्न होने वाले
 तस्कार के निरंतर प्रबुद्ध होने के कारण प्रकट हो रही है जिसका अर्थ विजातीय
 प्रतीतियों (प्रत्यय) से प्रवाह नहीं रोकना जा रहा है, ऐसी यह प्रियतम की स्मृति रूप
 ज्ञान की उत्पत्ति की धारा में सेतना का अंत करण की स्मृति के साहाय्य से
 मालतीमय (समय) बना रही है । इस प्रकार विरोधी या अविरोधी भावों का एकत्र
 समावेश (स्वाधीनभाव का विच्छेदक) नहीं होता ।

द्विपुत्रो—(१) विरह = विजातीय, अविच्छेद = सजातीय । एक रति भाव
 (अनुपुत्र) दूसर रति भाव का सजातीय है किन्तु जुगुप्सा आदि भाव रति भाव के
 विजातीय है, जसे ऊपर के उदाहरण में मरवाहनवत्स की मदनमञ्जुषा के प्रति जो
 अनुपुत्र है अर्थ मायको के अनुपुत्र उसके सजातीय है । किन्तु मालतीमाधव स माधव
 का जो मालती के प्रति अनुपुत्र है भीमत्त (जुगुप्सा) उसका विजातीय भाव है ।
 (२) न विरोधी = विच्छेदक नहीं, ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सजातीय
 और विजातीय भावों के द्वारा स्वाधीन भाव का विच्छेद नहीं होता । इस प्रकार
 सजातीय या विजातीय भावों को अङ्गी स्वाधीन भाव का सङ्ग बदकर काव्य में
 समाविष्ट किया जा सकता है उनके समावेश में कोई दोष नहीं होता ।

क्व से ? यह तथा हि चाङ्गत्वायोगात् में अतस्ताया गवा है—

विरोध का अभिप्राय है—(जो भावों का) साथ न रहे सक्ता (सहानवस्थान)
 अथवा एक दूसरे का बाध करना (बाध-बाधक—भाव) । इन दोनों रूपों में ? एक
 स्वाधीन भाव का (सम) किसी अन्य स्वाधीन भाव से विरोध (सादात्म्यम् = विच्छेदकत्वम्,
 विच्छेदकत्व विरोध) नहीं हो सकता, क्योंकि सभी भावों को एक (रस के) रूप में ही
 प्रतीति हुआ करता है । यदि स्वाधीन भावों तथा ध्वनिधारि भावों का परस्पर विरोध
 माना जाये तो यह सहानवस्थान (एक विरोध) नहीं हो सकता, क्योंकि यह सभी
 सद्दर्थों के अनुपुत्र से सिद्ध होता है कि रति आदि भाव से अविच्छेद वस्तु से अविरोधी
 ध्वनिधारियों का इसी प्रकार सम्बन्ध हो जाता है जिस प्रकार माता के सून से

•विभावादीनाम् इति पाठान्तरम् ।

नापि न तावत् सहानवस्थानम्—स्वभाववत्पुत्रक वेगति द्रव्यत्रयवायुनाविरोधितां व्यभिचारिणां चोपनिषद्य समस्तभाववत्त्वमवेदनसिद्ध । यद्यत् स्वमवेदनसिद्धस्तपयत् वायुव्यापारसम्भेदानुकार्यव्यविषयमान स्वयत्त सम्भेदेन तथाविधानामवितुनीसतनेन सम्पद्यते । तस्मात्तत्तद्भावाना सहानवस्थानम् । वायुव्यापयभाववत्तु भावांतरभां वातरतिरस्कार । स च न स्वाभिमानविरुद्धव्यभिचारिभि स्वभावितो विरुद्धत्वात् तेषामद्भवात् प्रधानविषयस्य चाद्भवात्प्रमाणम् ।

अनेक पुत्रों का (द्रव्यपुत्रवायेन) । और जिस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध होता है उसी प्रकार वायु स्वभाव के उपाय (सरस्व) द्वारा अनुकाय (राम धादि) से भी उस (रति आवि भाव से युक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारियों के सम्बन्ध) का ध्यान किया जाना है तथा सद्व्यय से अपने चित्त के साथ तांमयता (सम्भेद - मिश्रण) हो जाने के कारण वह उन प्रकार के बीजादमयी अनुप्राप्ति के आविर्भाव का निमित्त बन जाता है इत्यन्तिरे सत्त्वारी भावों का (स्वायी भाव के साथ) सहानवस्था रूप विरोध सा होना नहीं ।

वायुव्यापयभाव विरोध भी नहीं हो सकता, क्यों ? वायु वायक भाव का लय है—एक भाव के द्वारा दूसरे भाव का तिरस्कार । और स्वायी भावों का अपने अविरोधी व्यभिचारी भावों के साथ वायु-वायक भाव विरोध (स) हा नहीं सकता क्योंकि ये स्वायी भाव के विरोधी नहीं होते अर्थात् उनसे अद्भुत होते हैं । जो प्रमाण का विरोधी होता है वह तो उसका अद्भुत ही नहीं बन सकता

टिप्पणी—(१) विरोध—सहानवस्थान + वायुवायकभाव । (२) भावों के विरोध में दो सम्भावनाएँ हैं (१) या तो स्वायी भावा का परस्पर विरोध हो सकता (१) किसी स्वायी भाव का व्यभिचारी भावों के साथ विरोध हो । उपर (१) तथा—भावात् इत्यादि में यह बतलाया है कि वा स्वायी भावा में न तो सहानवस्था रूप विरोध हा सकता है और न ही वायु-वायक भाव रूप विरोध । कारण यह है कि उस रूप में वा स्वायी भाव का वायुवादन किया जाना है उसमें एक (मिश्रण) रूप में ही आम्वादन होता है (जिस प्रकार उस 'वायु भी बढ़ा जाता है) । वहाँ जो भावा की पथक प्रतीति नहीं होती । फिर उनका किसी प्रकार का विरोध वस हो सकता है ? (१) स्वायिता व चाद्भवायोगात् न यह बतलाया गया है कि किसी स्वायी भाव का अविरोधी व्यभिचारिया के साथ भी न तो सहानवस्थान रूप विरोध हो सकता है और न ही वायु वायक भाव रूप विरोध (द्र० अनुवाद) । वहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस सम्बन्ध में स्वायी भाव का अपने से अविषय व्यभिचारिया न साथ समावेश दिखलाया गया है । जो व्यभिचारी भाव किसी स्वायी भाव का विरोधी होता है वह तो स्वायी भाव का अद्भुत ही हो नहीं सकता (प्रधानविषयस्य चाद्भवायोगात्) । अर्थात् न अद्भुत रूप में साथ

वायुव्यापयभाव
नमः
देव विरोधे ॥ १ ॥
दश- १ ॥
अनुप्रा

एवम्
प्रधानविषयस्य चाद्भवायोगात्

उक्तं समवेदक वा 'राम' रूप
तथा सा० २० (१०) का
भा वत्त्व न मे
होता है ।

एव प्रकाश नहीं किया
उ साय एव वायुवायक -
तथा है । किन्तु सिद्ध स्वामी
कतुपुत्र से सिद्ध है, स्वका न
है कि कतुपुत्र विरोधी भावों

स्वामी प्रकाश (स्वो)
बने कतुपुत्री वायुव में
कतुपुत्री विरोध प्रकार की
इत्यादि विरोध कतुपुत्री
एक आम्वादन होता
जो यदि किसी अविरोधी रूप
हो तो कोई विरोध नहीं होता
आम्वादन रूप नहीं) ।

वहाँ वा कतुपुत्र
पुत्रद्वारा रूप का सम्बन्ध
आम्वादनविरोध (मिश्रण)
किया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) एव ।
२० वायुवायक है (१०-१०)
(२) स्वो का विरोध नहीं
जो एव एव साय किया किन्ती

एव

ये वेदति सन्नुत्पत्त्याविरोधिना च नसिद्धः। एवमस्वप्नेऽपिदृष्टस्वप्नस्य नसम्भेदेन तदाविधानं प्रतिनीतवद्वेदोऽयम्। बाध्यबाधकभावानु भावत्वरत्नो विरुद्धव्यभिचारिणः स्वाभिन्नो विरुद्धत्वात् नृ।

य प्रकाश एव अन्ते अनुभव ते सिद्धं होतुं (एवम्) इहात् अनुभवान् (एव आदि) मे भो प्रतीयो व्यभिचारियों के साथ) का स्वप्न के साथ सम्बन्ध (सम्भेद-विषय) हो तो अनुभूति के आविर्भाव का निमित्त बन तो भाव के साथ सहनवस्थान इव विरोध

के स्थान, क्यों ? बाध्य-बाधक भाव का निरन्तरता। और स्वप्नो भावों का अपने एक साथ विरोध (न) हो वही स्वप्न कल्पित उसके अङ्गु है। जो अज्ञान नहीं बन सकता

नृ + बाध्य-बाधकभाव । (२) भावो स्वप्नो भावो का परस्पर विरोध हो भावों के साथ विरोध हो। ऊपर गया है कि दा स्वप्नो भावो के न हो न ही बाध्य-बाधक भाव रूप विरोध। बा आश्वयान किया जाता है उनमें (विशेष पाठक एक पाठ भी बड़ा जाता है।) फिर उनका किती प्रकार का होता। फिर उनका किती प्रकार का है च बाध्य-बाधकभाव में यह स्वप्नो भावो व्यभिचारियों के भाव ही न हो पर न ही बाध्य-बाधक भाव रूप विरोध को है कि इन सत्य में स्वप्नो भाव का अभावसे विद्यमान गया है। जो व्यभिचारिण है, यह तो स्वप्नो भाव का अङ्ग ही है। अर्थात् के अङ्गों एक के रूप

आनतयविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽभास्त भवति। तथा च मात्ततोभावेव शृङ्गारानततर भीमस्तोपनिबधेऽपि न किञ्चिच्चदरस्यम्। तदेवमेव स्थिते विशदरसकालम्यन्वत्य भव विरोधे हेतु। स त्वविच्छेदस्ता तर-यधधानेनोपनिबधम्यमानो न विरोधी।

यथा—'अण्णहृणाहुमहेलिवहृनुहुपरिमलमुमुगु । मुहुक तह अणयणहअङ्ग ण पिट्ठइ मणु ॥२८१॥ (निता)तास्फुटवादस्य श्लोकस्य अछाया न लिख्यते। इत्यन भीमस्तरसस्याङ्गभूतगसा तरम्यधधानेन शृङ्गारसमावेशो न विच्छेद। प्रकारा'तरण वैकाश्वयविरोध परिहृतव्य ।

उसके समावेश का प्रकार नहीं बतलाया। ध्व'यालोच (३२५) का० प्र० (७६३) तथा सा० २० (७३०) आदि से विदित होता है कि यदि विच्छेद व्यभिचारी आदि का बाध्य रूप में निबधन किया जाता है तो कोई विरोध नहीं होता बरिपु गुण होता है।

इस प्रकार यहाँ किसी स्थायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी स्थायी भाव के साथ एव अविरोधी व्यभिचारी भावों के साथ अङ्गाङ्गिभाव से समावेश दिखलाया गया है। किन्तु जिन स्थायी भावों का विरोध (बाध्य बाधक भाव) सहयुज जनों के अनुभव से सिद्ध है, उनका तो अङ्गाङ्गिभाव ही नहीं सकता। अतः अत्र यह दिखलाते हैं कि वस्तुतः विरोधी भावों का कार्य में कते उपनिबधन किया जाता चाहिये—

प्रथम प्रकार (रत्नों) के आनतय विरोध का परिहार किया जा सकता है। जैसे मात्ततो भाव में शृङ्गार के अनन्तर भीमस्तर की योजना की गई है फिर भी यहाँ किसी प्रकार की विरसता नहीं होती। अथ ऐसा (कि भावों में सहनवस्थान इत्यादि विरोध नहीं हो सकता) सिद्ध हो जाने पर (स्थित) केवल विच्छेद रत्नों का एक आसम्भन होना (आसम्भनस्य) ही विरोध का निमित्त हो सकता है। किन्तु यहाँ भी यदि किसी अविरोधी रूप को बीच में रखकर विच्छेद रत्नों की योजना की जाती है तो कोई विरोध नहीं होता। जैसे अण्णहृ इत्यादि प्राकृत पद्य में है (इस पद्य की व्याख्या स्पष्ट नहीं)।

यहाँ पर भीमस्तर का अङ्ग जो अथ (?) रत्न है उसे बीच में रखकर शृङ्गार रत्न का समावेश किया गया है, अतः कोई विरोध नहीं होता। अथवा आश्वयव्यविरोध (विरोधी रत्नों का एक आशय में होना) का अथ प्रकार से परिहार किया जा सकता है।

टिप्पणी—(१) रत्न विरोध तथा उसके परिहार के विषय विवरण के लिये १० ध्व'यालोच ३१८-३०) बाध्यप्रकाश (७५०-५५) मा० २० (७२६-३१)। (२) रत्नों का विरोध तीन प्रकार का होता है—(१) आनतय या नरनय विरोध—जो रत्न एक साथ बिना किसी ध्वयधान के नहीं रह सकता, उनका नैरन्तर्य विरोध

मनु यत्र तत्तात्पर्येणैतरेषां विषद्भावाभिव्यक्तानां च 'प्रामुख्येनोपासनं तत्र भवत्वञ्जु
 खेनातिविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

होता है, जैसे शात (गम) और शृङ्गार (रति) दोनों एक ध्यतिक्रम अथवाहित रूप से नहीं रह सकते अतः इनका नरतय विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिये दोनों के बीच में किसी अन्य रस का वणन करना चाहिये जैसे मागानन्द में शात और शृङ्गार के बीच में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया गया है। यहाँ धनिष् ने जो शृङ्गार के अनन्तर वीभत्स के उपनिबन्धन में अविरोध दिखलाया है वस्तुतः वह आनन्द विरोध का उदाहरण नहीं। वीभत्स और शृङ्गार का आलम्बनकथ्य विरोध माना जाता है, आनन्द विरोध नहीं। (ii) आलम्बनकथ्य विरोध—जो दो रस (स्वामी भाव) एक ही आलम्बना (विभाज) के निमित्त में नहीं हो सकते, उनका आलम्बनकथ्य विरोध होता है, जैसे शृङ्गार और वीभत्स का। अतः मातली आदि किसी एक ही आलम्बन विभाजक के प्रति रति और अनुष्णा दोनों भावों का उपनिबन्धन योग्यमुक्त है। हाँ मातली के प्रति रति भाव और श्यामान आदि के प्रति अनुष्णा भाव ही सकता है। इस प्रकार आलम्बन का भेद करने से आलम्बनकथ्य विरोध दूर हो जाता है (सा० ८०)। धनिष् की टीका के अनुसार इस विरोध के परिहार का उपाय है—बीच में अविरोधी रस की योजना कर देना जो कि ऊपर प्राकृत क उदाहरण से दिखलाया गया है। (iii) आशयकथ्य विरोध—जिसमें किसी भाव की उत्पत्ति होती है वह आशय कहलाता है। जो दो रस (स्वामी भाव) एक ही आशय में नहीं हो सकते उनका आशयकथ्य विरोध होता है जैसे एक ही नायक में वीर और भयानक का उपनिबन्धन करना विरोधी होगा क्योंकि वीर का स्वामी भाव 'उत्साह' और भयानक का स्वामी भाव 'भय' दोनों एक जगह एक साथ नहीं रह सकते। ध्वन्यालोक आदि के अनुसार आशयकथ्य विरोध के परिहार का उपाय है—दोनों विरोधी रसों को मिला मिश्र आशयों में योजना करना जैसे वीर और भयानक का आशयकथ्य विरोध है अतः वीर का नायक में तथा भयानक का प्रतिनायक में उपनिबन्धन कर देना चाहिये। धनिष् ने इसके परिहार का उपाय नहीं बतलाया, केवल प्रकारांतरण परिहरण्य यह कह दिया है। वस्तुतः आलोक टीका का यह अर्थ अस्पष्ट सा हो गया है। (१) वीभत्सरसतय अद्भुततरसांतरं—वीभत्स का अद्भुत प्रायः भयानक रस हुआ करता है। प्रकारांतरणं = अद्भुतप्रभावकल्पनया (प्रभा)। वस्तुतः आशयकथ्य विरोध के परिहार का जो उपाय अभी ऊपर बतलाया गया है उसी में टीका का तात्पर्य प्रतीत होता है।

(साङ्गा) मान लिया कि जहाँ एक के तात्पर्य से (एक रस को प्रधान करके) दूसरे विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को अद्भुत रूप में (प्रामुख्येन) बयानक गीण रूप में रचया जाता है यहाँ तो उन (विरोधी तथा अविरोधी भावों) के अद्भुत हो जाने के कारण विरोध न होगा, किन्तु जहाँ समान रूप में प्रधान रखकर (समप्रधानत्वेन) अनेक भावों की योजना की जाती है, वहाँ (अविरोध) कसे होगा ? जैसे (?)—

१ गम-
 २ रति-
 ३ शृङ्गार-
 ४ वीभत्स-
 ५ अद्भुत-
 ६ अविरोध-
 ७ आलम्बन-
 ८ आशय-
 ९ प्रभाव-
 १० प्रामुख्येन-
 ११ प्रतिनायक-
 १२ प्रतिनायक-
 १३ प्रतिनायक-
 १४ प्रतिनायक-
 १५ प्रतिनायक-
 १६ प्रतिनायक-
 १७ प्रतिनायक-
 १८ प्रतिनायक-
 १९ प्रतिनायक-
 २० प्रतिनायक-
 २१ प्रतिनायक-
 २२ प्रतिनायक-
 २३ प्रतिनायक-
 २४ प्रतिनायक-
 २५ प्रतिनायक-
 २६ प्रतिनायक-
 २७ प्रतिनायक-
 २८ प्रतिनायक-
 २९ प्रतिनायक-
 ३० प्रतिनायक-

प्रधानः च न्यायुरनेनोपगतः स न्यायुः
रस्य भावस्योपनिबन्धनं यत्र कथम् ?

पर (रति) दोनों एक व्यक्ति में बनसकता है
विरोध है। इन विरोध को दूर करने के लिये
रत्न बनाया चाहिये जैसे वायुमण्डल में हवा
का दमनप्रदान किया गया है। वही लिये वे
प्रकृत में अतिरिक्त विधानमा है वस्तुतः
भीमच और भृङ्गार का वातावरण विद्या
। (ii) अन्तर्गत विरोध—जो दो
द्वार कोर कोरच का। अतः कर्तव्ये बलि
र रति और उद्युता दोनों नामों का उचितचन
भात और स्वरूप आदि के प्रति उद्युता का
के करने के अन्तर्गत विरोध दूर हो
के अन्तर्गत दृष्ट विद्या के अतिरिक्त का उद्युता
कर देता, जो कि अन्तर्गत के उद्युता के
नेत्र—जिनमें किसी नाम की उद्युता होती है
गोत्र भात) एक दो नाम में वही दो लक्ष्मी
रुद्र ही नाम में और और भगवत का
बीर का स्वामी नाम 'उत्साह' और भयानक
का नाम नहीं रह सकते। इन नामों के आदि
का उद्युता है—दोनों विरोधी नामों की विद्या
बीर भयानक का नामचय विरोध है अतः
बीर भयानक में और और कर देता रहित।
उद्युता, वैश्व प्रकाशनेत्र परितुल्य
का यह अतः प्रत्यक्ष का हो गया है।
भीमच का वल्लु प्रायः भयानक तद्वत्
भावकत्ववत् (श्रम)। उद्युता भयानक
अन्तर्गत बनाया गया है, वही में दोष का
अन्तर्गत बनाया गया है।

क के लक्षण से (एक रत्न को प्रधान कहे)
जै रत्न से (न्यायुरनेनोपगतः) रत्न का
गो तथा अतिरिक्त भावों के अर्थ हो अनेके
प्रत्यक्ष रूप में प्रधान रत्नकर (न्यायुरनेनोपगतः)
वही (अतिरिक्त) कहे होगा ? अने (?)—

१ यथा—'एककतो रुद्र इ पित्रा अण्णतो समरत्तुरिण्णतो ।
प्रेम्णा रणरथेन च भडसस डोलाइश्च द्विअयम् ॥२८२॥
[एकतो रतिरिति प्रियाऽप्यत समरत्तुरनिर्घाय ।
प्रेम्णा रणरथेन च नटस्य डोलायित हृदयम् ॥]

इत्यादौ रत्नुसाहयो । २ यथा वा—
मात्सयमुत्साय विचाय कायमार्या समयादिमिद वदतु ।
सेव्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मत्स्मेरचित्तासिनीमयो ॥२८३॥
इत्यादौ रतिभययो । ३ यथा च—
इय सा भोलासी त्रिमुत्तनललामकवसति
स चाय दुप्यात्मा स्वसुरपट्टत येन मम तत् ।
इतस्तीन्न वानो गुरुरयमित क्रोधदहन
कृतो वेपथचाय कथमिदमिति प्राग्मिति मन ॥२८४॥
इत्यादौ तु रतिक्रोधयो ।

४ 'अत्र कल्पितमङ्गलप्रसिद्धा स्त्रीहृत्तरक्तोत्पल
व्यक्तोत्समत् पिनद्धाशिरसा हृद्युत्पन्नस्रज ।

१ 'एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर रणभेरी का निर्घोष हो
रहा है। इस प्रकार प्रेम और सन्तर्क के उत्साह से योद्धा का हृदय दोलायित हो
रहा है।

इत्यादि में रतिभाव और उत्साह भाव की समान रूप से प्रधानता है।

२ अथवा जते—(भृङ्गारगतक ३६) 'भासायं को छोड़कर, विचार करके
आयजन मर्यादावृत्तक यह अन्तर्गत कि पयतों के नितम्बों का सेवन करना चाहिये या
काम भाव से मुसकराती हुई विलासिणियों के'

इत्यादि से रति और शय भाव की समान रूप से प्रधानता है। और अने—
(रावण को इस उक्ति में ?)

३ 'द्वर तो लोगों स्त्रियों के लोचनों की एकमात्र (वस्ती) यह चञ्चल नेत्रों
धाली सीता (सा) है और द्वर यह दुष्ट आदमी है जिसने मेरी बहन का बहू (माक
काटना आदि) अपकार किया है। द्वर तो तोय काय का भाव है और उद्यर यदाय
कोय की अग्नि। और, मैंने यह (सायाती का) देय बनाया है। अतः मेरा मन बचका
रहा है कि यह सब कहे हो रहा है।

इत्यादि में रतिभाव और क्रोध की समानरूप से प्रधानता है। और अने—

४ (मासतो ० १८, शमसा चपन)—'ये विशाच मारिच्यो— जो अतीत से
सांगतिक भावा (प्रसितर) बनाये हुए हैं। त्रिच्यों के बर ह्यो सास कमती के (हय)
आमुचय धारण किये हुए हैं हृदयहयो कमती को माता तिर पर बांधे हैं, अथिद की

एता शोणितपङ्कजुकुमुमयुष सभूय कार्तं विव—
त्यस्थिस्नेहपुरा कपालचपक प्रीता पिमाचाङ्गना ॥२८५॥
इत्यादावैकाश्रयत्वेन रतिपुण्ययो ।

५ एक ध्याननिर्मोसना-मुकुलित चक्षुद्वितीय पुन
पावत्या वदनाम्बुजस्तनतदे शृङ्गारभारालसम् ।
अयद दूरविष्टबापमदनक्रोधानलोदीनित
शम्भोभिप्ररस समाधिसमय नेत्रत्रय पातु व ॥२८६॥
इत्यादी शमरतित्रोधानाम् ।

६ एकनाश्या प्रविततन्या दोक्षते व्योमसस्य
भानोभिन्ध सजललुलितेनापरेणात्मकात्मम् ।
अह्लरुद्धे दमितविरहाभाङ्गिनी यत्रवाकी
दो सङ्कीर्णो रचयति रसो नतकीच प्रगल्भा ॥२८७॥
इत्यादी च रतिशोकक्रोधाना समप्राधा-नेनोपनिबधस्तत्त्वच न विरोध ?

यद्वा का कुङ्कुम लगाये हुए हैं—अपने प्रियतमों के साथ मिलकर कपाल के प्यासों में अस्थि स्नेह (चर्बी) रूषो मधिरा पान कर रही हैं ।

इत्यादि में एक आत्मधन (=आशय) के निमित्त से होने वाले रति और पुण्यसा भाव की समान रूप से प्रधानता है । और जले—(?)

५ 'एक (नेत्र) तो ध्यान से मूढ जाने के कारण रसों के समान स्थित (मुकुलित) है दूसरा नेत्र यावती के मुख कमल तथा स्तन छोर पर लगा हुआ शृङ्गार के प्रार से झलसाया है । तीसरा नेत्र दूर तक धनुष की छींचने धाले कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है । इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न भावों से युक्त तिस के तीनों नेत्र सुन्दारी रसा करे' ।

इत्यादि में शम रति तथा क्रोध की समानरूप से प्रधानता है । तथा जले—

६ (सुभाषितावलि १६१६ साङ्ग ० ३५६६ चन्द्रक कवि का पद्य) तिन की समाप्ति पर प्रियतम के बियोग की आराधना करने वाली चत्रवाकी क्रोध भरे एक नेत्र के द्वारा आकाश में स्थित मृग शिब को देखती है और आधुनों से भरे दूसरे कल्पित नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को देखती है । इस प्रकार एक निपुण नतकी के समान दो सङ्कीर्ण भावों को प्रकट कर रही है ।

इत्यादि में रति शोक और क्रोध की समप्रधान रूप में योजना की गई है । फिर भी इनका विरोध क्यों नहीं है ?

टिप्पणी—(१) मनु रूपच न विरोध—यह पूर्वपत्नी की शङ्का है । आशय यह है कि जहाँ एक रस (स्वायी भाव) प्रधान होता है अथ उसक अङ्ग होते हैं वहाँ स्वायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी भावों के साथ अविरोध हो सकता है किन्तु जहाँ दो या अधिक भावों की समान रूप से प्रधानता होती है

बनोपन—१००

यासपात

सुपगतं शान्तकरपन
शरितकरवा शीतन

(सवयायाप) वही दर्शन
ही, पुनगी का बार से
के दास्तर कयशाप की
शास् मासका एक ही
से, पूव दगाहको में श
और सुपुका शतों का
कसत यही का भावों
सङ्कीर्णो रचयति रसो ।
शिवकथ (रति) का ही

पूराणी की शङ्का
६ उदाहरणों में कसत
(यथाशान्) इन
एक रूप स्वामी भाव ही
को है—

१ एकही सा
कविशारी काव है, उच
कय से इतर (कथन)
मेरी का कयन और (उ
इस सब के प्रयोग से
सय प्रमाण होगा है व
कला अङ्गीकृत्य
(तिन भावों से अङ्गी
पूरकाय में कयन विषय
सिद्ध होगा है कि दोनों में
अने रस का एक प्रयोग
प्रमाणय रूपा निता
(रति भाव) रति को
प्रकट करता है तथा

अनौचित्ये—अनाप्येक एव स्थायी, तथा हि—? एककतो वदह विद्या' इत्यादौ स्थायीभूतोऽसाहचर्यमिच्छाविरलक्षणवितकभावेऽनुसन्नेहकारणतया करुणसंग्रामतृप्य योरुपादान वीरमेव दुष्प्रतीति भदस्त्वैत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधाय नयोरयो यमुपकार्योपकारकभाववरहितयोरेकभावयभावो युज्यते । किञ्चोपक्रान्ते सधामि सुमृदाना कार्यात्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामोदासीयेन महदनेवोचित्यम् । अतो भन्तु सधामि करसिक्ततया शीयमेव प्रवशाद्यन्तु त्रियतभावकरणो वीरमेव दुष्प्रतीति ।

(समप्रधाय) वहाँ उनम अङ्गाङ्गिभाव मही हा सकता । अत वहाँ विरोध होगा ही । पूवपक्षी की ओर से ऐसे २ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनम विरोधी भावों के परस्पर समप्रधाय की सम्भावना है । (२) एकतास्पयं—एक (भाव या रस) में तादृश्य मानकर, एक ही प्रधानता क अभिप्राय से । एकाध्य वेन—एक ही निमित्त से, पूव उदाहरण में दो भावा के आलम्बन (निमित्त) का भेद है किन्तु यहाँ रति और अनुपुसा दोनों का आलम्बन एक ही विधाचारङ्गना है । रतिशोकक्रोधादानाम—वस्तुत यहाँ दो भावा वा ही वयान है, जसा कि पद्य से भी प्रकट होता है—दो सङ्गीणो रचयति रसो । वे दो भाव हैं—रति और क्रोध । शोक की ता भावी विप्रसम्भ (रति) का ही अङ्ग बह्ना जा सकता है ।

पूवपक्षी की भाङ्गा का समाधान करत हुए सनिक यह दिखसात है कि उपर्युक्त ६ उदाहरणों में अनक भावो का सम प्रधाय नहीं है —

(समाधान) इस विषय में कहना यह है कि उपर्युक्त उदाहरणों में (अन) भी एक एक स्थायी भाव ही (प्रधान) है । (अत यहाँ समप्रधाय मानना उचित नहीं) जसे कि—

? 'एकतो रोदिति प्रिया' इत्यादि में उत्तराह स्थायी भाव है, जिसका उत्सवाध्यमिचारो भाव है, उस (वितक) का निमित्त सचेह है और सन्देह के उदाहरण के रूप में हदन (करुण) तथा रण भेरो का वयान बिया गया है । यह हदन और रण भेरो का वयान वीर (उत्साह) की हो पुष्ट करता है यह बात भदत्व्य (योद्धा के) इस शब्द के प्रयोग से प्रकट होती है । दूसरी बात यह भी है कि जिन को भावों का सम प्रधाय होता है उनमे परस्पर उपकार्य उपकारक भाव (एक दूसरे का उपकार करना अङ्गाङ्गिभाव) नहीं हुआ करता । अन उनको एकभावयता भी नहीं बत सकती (जिन भावों में अङ्गाङ्गिभाव होता है वे परस्पर सारंगत होते हैं अत उनका ही एकभावय में वयान बिया जा सकता है यहाँ दोनों का एकभावय में वयान है इससे सिद्ध होता है कि दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है) । इसके अतिरिक्त सधाम आरम्भ हो जाने पर चन्द योद्धाओं का अय काय करना और प्रस्तुत (कृत्यस्य) संगम से उदासीन रहना नितास्त अनुचित होगा । इसलिये यहाँ प्रियतमा का करुण विप्रसम्भ (रति भाव) पति की एकमान सधाम रतिरता को विच्छाकार उसकी मृता की हो प्रकट करता है तथा वीररस को ही पुष्ट करता है ।

न च हापु निव—
उः विधाचारङ्गना ॥२८॥

विजिगीम पुन
शुङ्गाभावाद्यम् ।
नोदोसि
न देवपय पातु ॥२८॥

न्योमस्य
परिनामकात्पु ।
वज्रको
न तदीय प्रकभा ॥२८॥
प्रयोगान्येनोपनिषत्सक न विरोध ?

मर्मों के साथ निरकर क्तात के प्यालों र रही हैं ।
?) के निमित्त से होते काने रति और और अने—(?)
ने के क्तात वनी के सयान निषय न तथा सान वीर रण सान हुआ युङ्गाार अनु को वीरमेव काने कायमेव के प्रति । इन प्रकार समाधि के सयान निषय री रसा कर' ।
समानरुत से प्रधानता है । तथा जने—
३३६६ च—क कति का पद्य विन की काने वानती चकवाकी क्रोध भरे एक नेन तनी है और वीरुओं से भरे दुःखे हसित इस प्रकार एक निगुण तलको के सयान री की नमप्रधान वच में योद्धा की गई है ।

विरोध—यह पूवपक्षी को हङ्गा ? ! भावों प्रधान होता है अन्य उनके अङ्ग अतिराशी भावों के साथ अतिरिध ही की समान रूप से प्रधानता होती है

२ एव मात्स्यम् इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासानामा हेतयोपादानाच्छभैव परत्वम् 'आर्मा समर्पादम्' इत्यनेन प्रकाशितम् । ३ एवम् इय सा सोलाशी इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निचाचरत्वेन मामाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारि विषादविभाववितकहेतुतया रतिकोपयोरोपादान रौद्रपरमेव । ४ अत्र कल्पितमङ्गल

दिव्यणी—(१) स्वायीभूत—यहाँ दृष्टन तथा रण भेरी क वणन स स-देह उत्पन्न होता है जो (स-देह) पच म दोलायित पद द्वारा प्रकट किया गया है स-देह से वितक उत्पन्न होता है । इस प्रकार करुण तथा रण भेरी का वणन स-देह का कारण है और स-देह है वितक का हेतु । पद का अर्थ यह है—स्वायीभूतो य उत्साहस्तस्य व्यभिचारिलक्षणो यो वितकभाव, तस्य हेतु य स-देह तत्कारणतया । एवभावय भाव = एकभावयता, अङ्गाङ्गिभाव (प्रभाव) । प्रियतमाकरण—प्रियाम म होने वाला करुण भाव । यहाँ करुण का अभिप्राय कृष्णविप्रलम्भ है । अतो पुष्पाति—इस प्रकार यहाँ रति और उत्साह का समप्रधान्य नहीं है अपितु उत्साह (भोर) की प्रधानता है और रति (करुण विप्रलम्भ) उसी को पुष्ट करता है ।

इसी प्रकार अग्रिम उदाहरणों में भी दो भावों का सम प्रधाण्य नहीं है अपितु एक भाव की ही प्रधानता है —

२ इसी प्रकार मात्स्य इत्यादि में गो चिरकाल से होने वाली रतिवासान का हेतु (स्वाम्य) रूप में ग्रहण किया गया है और यहाँ एकमात्र रान के वणन से ही तात्पर्य है । यह बात 'आर्मा समर्पादम्' इन दोनों शब्दों द्वारा प्रकट हो रही है ।

दिव्यणी—भाव यह है कि श्रेष्ठजनो से सर्पादा का ध्यान रखते हुए यह पूछा जा रहा है 'रमणियों क नितम्ब सेवनीय हैं या पवत की उपर्यकार्ये' अत स्पष्ट ही कवि का तात्पर्य पवत की उपर्यकार्यो के सेवन से है । इसलिये यहाँ श्रम भाव की प्रधानता है, रति और श्रम का सम प्रधाण्य नहीं ।

३ इसी प्रकार इय सा सोलाशी इत्यादि में भी कवल रौद्र रस में ही तात्पर्य है (रौद्रपरम्प एय) क्योंकि यहाँ रावण प्रतिपक्ष नायक है और वह निशाचर होने के कारण माया प्रधान है । रौद्र रस का व्यभिचारी भाव विषाद है और विषाद का विषाद (निमित्त) वितक है । उस वितक के हेतु के रूप में रति और द्रोप दोनों का वधान किया गया है ।

दिव्यणी—(१) भाव यह है कि परस्पर विरुद्ध रति और क्रोध या भावों के होने से यह वितक उत्पन्न होता है कि क्या करें (कथम् इदम्) इस वितक से विषाद की उत्पत्ति होती है । यह विषाद रौद्र रस का व्यभिचारी भाव है । इस प्रकार रति भाव की मोक्षना रौद्र रस को ही पुष्ट करने के लिये है । यहाँ रौद्र रस की प्रधानता है दोनो का समप्रधान्य यहाँ । (२) रौद्र हेतुतया—रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभाव आलम्बनविभाव सीता तद्विषयक कथम् इदम्-व्यङ्ग्यो यो वितकस्तद्धेतुतया

श्रीमता ।
वात्सल्य-वृत्तम्
'समर्पादम्' इत्यनेन
रति-कोपयोरोपादान

(ना) इत्युक्तं
एव भावयती भवतु इति
इहा का वृत्ता है ।

य अत्र
तात्पर्य है ।

दिव्यणी—
रावण-नाशो गुरु
कार, वर तथा शत्रु-
रस का ही प्रधान्य है
इदं रस दोनों का ही

१ एव भाव
पाशेन कि एव भाव में
कृते अत्र उत्साह एव भाव

भाव भाव (कि कथम्) से उत्पन्न
इस स से तात्पर्य है
कोय कर्तो का अर्थ-प्रधान्य

१ 'पूजितव्या'
भावी विषाद में ही तात्पर्य
रतिभाव ही ही प्रधानता है

इत प्रकार करुण
नहीं है (और स्व-नायक

दिव्यणी—
कि यहाँ एक ही भाव में
प्रधानता है यहाँ ही प्रधानता है
की भाव-रूप को कहे हीने ?

अत्र यह कहाते हैं
होता है यहाँ की वरद का
कता —

अभिप्रायतया हेतुयोगान्ता उक्त
 र्त्तु। ३ एवम् इत्ये सा सोतापी इत्या
 र्त्तु न भावप्रधानता च रोज्यविचारि
 न रोज्यपदेन। ४ अत्र इतिप्रसङ्ग

प्रतिपत्ता 'इत्यादी हास्यरसकथरत्यनेव । ५ एक ध्याननिमीलनात्' इत्यादी सम्प्रामा
 णा तररनाशित्तया शमस्यस्यापि योग्य तरभामादलस्यप्रतिपादनेन शमनपरत्सव
 समाशिसमये इत्यनेन स्फुटीकृता । ६ एकेशाया इत्यादी तु शमसतमपि बाध्य
 भविष्यद्विप्रसम्भविषयम् । इति म बवचिदनेकतात्पर्यम् ।

न तथा रस भेरी क बषक से कने
 त' द' द्वारा प्रकट किया गया है इन्हे
 तथा रस भेरी का बषक छोड़ें सा शाल
 य यह है—रसभेरीको य अल्लवृत्तस
 य छोड़ें ताकापाठया। एवबल
 । शिन्माकस्य—शित्तु में हूँके बला
 यकिरन्म है। अतो पुष्पाति—रि
 न यह है बरिपु अलाह (बीर) को
 ते को पुष्ट करता है।
 दो भाषों का सप्त प्राधाय्य नहीं है बरिपु

को बिराजाने से होने का तो विचारना
 और नहीं एकमात्र रस के बषक में ही
 शोभने का ही कारण प्रकट हो रही है।
 से प्रयोग का स्थान रहने हुए यह पूजा
 परत की उपलब्धताओं अत स्फुट ही
 से है। एतन्निव बर्हि शम भाव की
 ही।

शिव में भी केवल रोज रस में ही
 प्रतिपत्त मलक है और बहु निमात्र
 व्यभिचारी भाव विचार है और विचार
 के हेतु के रूप में रति और शोच शोच
 रस विषय रति और शोच का भावों के
 कर (कथन वस्तु) इस विदक के विचार
 का व्यभिचारी भाव है। इन अत्र रति
 ने के विषय है। यही रति रस को प्रधान
 है। उक्तया—रोज्य व्यभिचारी विचारप्र
 क कथनरस्यद्वयो को विचाररस्यद्वय

(प्रभा) वस्तुत रोज्य व्यभिचारी विचार, तस्य विभाव वितक, तस्य हेतुतया,
 एक व्यभिचारी भाव द्वारेण का विभाव हो जाया करता है, यह ऊपर (पृ. २११)
 कहा जा चुका है।

अत्र कल्पितमङ्गलपरिसरा उदाहरण में एकमात्र हास्य रस में ही
 तात्पर्य है।

दिव्ययो—युगित उपकरणों से सज धज कर पिशाचिनियाँ अपने प्रियतमा के
 साथ पान पाच्छी सुख का अनुभव कर रही है इस वगन से पिशाचिनिया के विदुत
 जाकार भय तथा चट्टाएँ प्रकट होनी हैं जो हास्य रस के विभाव हैं। अत यहाँ हास्य
 रस की ही प्रधानता है, जुगुप्सा और रति दोनों हास्य रस के ही पोषक हैं। इस
 प्रकार इन दोनों भावों का समप्राधाय्य नहीं।

५ एक ध्याननिमीलनात् इत्यादि में यह प्रतिपादन किया गया है (प्रति
 पादनेन) कि शम भाव म स्थित शिव को अय (रति आदि) भाव विशिष्ट नहीं कर
 सकने अत उनका शम भाव अय योगियों से विलक्षण है। इस प्रकार यहाँ एकमात्र
 शम भाव (कथन) में तात्पर्य है। यहाँ यात 'समाधिसमय' (समाधि के समय में)
 इस पर से स्पष्ट को गई है। इस प्रकार यहाँ शम की प्रधानता है, शम, रति तथा
 बहोप शोभो का सम प्राधाय्य नहीं है।

६ एकेशाया इत्यादि उदाहरण में तो शमसत वाद्य का (चन्द्रवाकी) के
 भावी विप्रसम्भ में ही तात्पर्य है। यहाँ क्रोध तथा शोक रतिभाव व अङ्ग हैं और
 रतिभाव की ही प्रधानता है यहाँ रति शोक तथा क्रोध का सम प्राधाय्य नहीं।

इस प्रकार ऊपर के उदाहरणों में बर्हि भी अनेक भावों के वषक में तात्पर्य
 नहीं है (और सम प्राधाय्य नहीं है)।

दिव्ययो—ऊपर अविलम्ब पदों के प्रयोग के विषय में यह बतसाया गया है
 कि यहाँ एक ही भाव में तात्पर्य होता है अनेक म नहीं। अत यहाँ दो व्यर्थों की
 प्रधानता ही नहीं हो सकती। फिर सम प्राधाय्य बसे होगा और दो भावों के विरोध
 को अंगरूपा भी कते होगी ?

अब यह बतसाते हैं कि जहाँ वदय भादि के द्वारा अनेक व्यर्थों में तात्पर्य
 होता है यहाँ भी अनेक भावों का सम प्राधाय्य तथा परस्पर विरोध नहीं हुआ
 करता —

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्याद्यभेदनं स्वतन्त्रतया चाप्यद्वयपरतैत्यदोषः । यथा—

‘श्लाघ्याश्लेषतनुं सुवधानकरं सर्वाङ्गनीलाजितम्—
त्रलोक्षया चरणारविदललितनाक्रान्तसौको हरिः ।

विभ्राणां मुष्मिन्नुषु दररुच्य चन्द्रमचक्षुदधत्
स्थाने या स्वतन्त्रीरपमयदक्षिका सा रश्मिणी बोधवतात् ॥२८॥ इत्यादौ ।

किन्तु जहाँ श्लेष आदि से युक्त वाक्या में अनेक अर्थों में तात्पर्य होता है, यहाँ वाक्याय का भेद करके स्वतन्त्र रूप से ही दो अर्थ हुआ करते हैं। इसलिये कोई दोष नहीं। जैसे—(१) सुन्दर हावों वाले (अथवा हाथ में सुवधान चक्र धारण करने वाले) (२) चरण कमल के सौन्दर्य (सलिन) से (अथवा चरण कमल की सलित नापक गति से) लोको को आक्रान्त करने वाले (३) चन्द्रमा जोते (अथवा चन्द्रमा रूपी) नेत्र की धारण करने वाले (अर्थात् चन्द्रमा त्रिनका एक नेत्र है) सूर्य तथा चन्द्रमा विष्णु के दो नेत्र माने जाते हैं। विष्णु ने (१) श्लाघनीय समस्त शरीर वाली (२) समस्त अङ्गों की सीसा से तीनों लोको को जोतने वाली (३) चन्द्रमा के समान सुन्दर भाति युक्त मुष्मिन् को धारण करने वाली जिस रश्मिणी को, उचित रूप में ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा, वह रश्मिणी सुन्दारी रक्षा करे इत्यादि में।

द्विषणी—(१) श्लेषादि—यहाँ आदि शब्द के द्वारा समासोक्त तथा अयोग्योक्त इत्यादि का ग्रहण होता है। (२) श्लेष आदि के स्वल्प में दो स्थितियाँ हुआ करती हैं—(१) कभी तो दोनों में उपमानोपमेय भाव होता है और (२) कभी दोनों अर्थ एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। पहिली स्थिति में तो उपमेय की प्रधानता होती है अतः सम प्राधाय का अवसर ही नहीं है। दूसरा स्थिति में भिन्न भिन्न दो वाक्याय होते हैं। उन दोनों का अपना अर्थ स्वतन्त्र होता है। यहाँ एक वाक्य का अर्थ दूसरे का अङ्ग नहीं होता। एक वाक्य में एक ही अर्थ प्रधान होता है अनेक नहीं। फिर अनेक अर्थों के सम प्राधाय का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरणार्थ ‘श्लाघ्याश्लेषतनुम् इत्यादि में श्लेष द्वारा विष्णु के शरीर की अपेक्षा रश्मिणी के शरीर के सौन्दर्य की उत्कृष्टता दिखलाई गई है। इसका रश्मिणी के प्रति भक्ति भाव (रति) में तात्पर्य है। यहाँ हरि (विष्णु) के तीन विशेषण हैं सुवधानकर, चरणारविदललितनाक्रान्त लोको, चन्द्रमचक्षुदधत्। इनके श्लेष द्वारा दो अर्थ होते हैं (३० अनुवाद)। एक अर्थ में विष्णु का पराक्रम तथा वभब आदि प्रकट होता है और दूसरे अर्थ में विष्णु का सौन्दर्य। इस प्रकार यहाँ उत्साह और रति दो भिन्न भिन्न भावा में तात्पर्य है तथापि इन दोनों का सम प्राधाय नहीं है, क्योंकि यहाँ वाक्यभेद के द्वारा दो अर्थ किये जाते हैं। यह नियम है कि एक बार उच्चरित मन्त्र एक अर्थ का बोध कराता है (सङ्घट्ट उच्चरित शब्द सङ्घट्ट अर्थ यमयति) अतः दो अर्थों को प्रकट करने कल्पित वाक्य भेद की कल्पना करनी होती है। इस प्रकार यहाँ सम प्राधाय न होने के कारण भावों का परस्पर विरोध नहीं होता।

श्लाघ्याश्लेष

हे व

(४४)

परि होय। और निज

उप (रति भाँति) बनने

विष्णु—दश

(१) वरा शास्त्रानुसार

में चन्द्रा विष्णु का

के शरीर का शरीर

और रश्मिणी को वरा

की शरीर नहीं

सुन्दारी

विष्णु का वरा का

विष्णु का

और

(१) रति, १५

(७) पर तथा (८)

कहते हैं, विष्णु उन

द्विषणी—

यथा

(रश्मिः) का ३० श्लो

तथा रश्मिनि विष्णु

का की निरुक्त इत्य

यत् कल्पयत् यद्

१२८ में नव श्लो

की (२) यहाँ वाक्यभेद

का विचार

भाव निज भावा है।

याने) या विचारना

उदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सवभाविरोध । यथा वाश्रूयमाणरत्या
दिपदेव्यवि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्य तथापि वरागपिप्याम् ।
ते च

(४४) रत्युत्साहयुगुप्सा क्रोधो हास स्मयो भय शोक ।

शममपि कैचित्साहु पुष्टिनाट्येषु नतस्य ॥३५॥

इस प्रकार उपयुक्त रति से रति आदि भावों के वचन में कहीं भी विरोध नहीं होता । और जिन वाक्यों में रति आदि भावों का प्रयोग नहीं होता वहाँ भी उन (रति आदि) भावों के वचन में ही तात्पर्य होता है यह बात आगे दिखलायेंगे ।

टिप्पणी—यथा वाश्रूयमाण०—यहाँ दो प्रकार का पदच्छेद किया जाता है—

(१) यथा वा श्रूयमाण० इत्यादि, भाव यह है कि यदि रति आदि पदों का काव्य में प्रयोग किया गया हो तो भी भाव वचन में ही तात्पर्य होता है । रति आदि शब्दों के प्रयोग का रस-योजना से किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इस प्रकार रस, स्वायी और व्यभिचारी भाव के शब्द द्वारा कथन (स्वशब्दवाच्यत्व) को जा दोष माना जाता है यह धनिक का अभिमत नहीं है । ना० द० (३ १८० वृत्ति) में भी स्वशब्दवाच्यत्व को दोष नहीं माना गया है । (२) यथा वा + अश्रू यमाण० इत्यादि, इस पदच्छेद में अनुसार ही अनुवाद किया गया है । अमिप्राय यह है कि रति आदि पदों का प्रयोग किया जाये अथवा न किया जाय दाना स्थितियों में काव्य वा तात्पर्य भावों के उपनिबन्धन या कहिये रस-योजना में ही होता है ।

और वे स्वायी भाव हैं —

(१) रति, (२) उत्साह, (३) युगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय तथा (८) शोक । कुछ आचार्य शम को भी (नवम) स्वायी भाव कहते हैं, किन्तु उस (शम) का पुष्टि रूपको में नहीं होती ॥३५॥

टिप्पणी—(१) ना० सा० (६ १५, १७) में दन आठ भावा का निर्देश किया गया है कि तु पाठांतर के अनुसार वहाँ शम भाव का भी निर्देश माना जाता है (अमि०) । का० प्र० (४ २६) 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृतं', प्रा० प्र० (पृ० २६) 'तस्मादष्टाभिमतं भूतं स्वयिनीनाट्येषुदिनाम्, ना० द० (३ १२) में शम भाव का भी निर्देश किया गया है तथा अयम् (३ १७७) शा त रस का भी । साथ ही वहाँ बलवृत्तक यह कहा गया है कि नाट्य में भी शा त रस होता है । प्रता० (पृ० १५८) में नव रस तथा भावों का उल्लेख है । इसी प्रकार सा० द० (३ १२) में भी (२) यहाँ धनञ्जय में शम शब्द का प्रयोग किया है । शत भाव नामक स्वायी भाव निबन्ध (व्यभिचारी भाव २६) से भिन्न है । मम्मट ने शा त रस का स्वायी भाव निबन्ध माना है । निबन्ध का अर्थ है—अपने प्रति तिरस्कार भी भावना (स्वायमानन) वा विषय अस्वभाव अथवा उत्कृष्टान्ति (निबन्धस्तत्त्वव्यो) ना० द० (३ १२) ।

रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत् रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

रत्नवत् रत्नवत्

इह शा'तरस' प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिद्गृह—'नास्त्येव शा'तो रस' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनात्संशयाकरणात् । अये तु वस्तुतस्तु स्याभावा वणयति—अनादिनासप्रवाहात्पातरागद्वेषयोस्च्छेत्तुमशक्यत्वात् । अये तु वीरवीभ्रस्तादावतर्भावो वणयति । एव वदत भ्रममपि नेच्छति । यथा तथास्तु । सबधा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि शमस्य निपिच्यते, तस्य समस्त व्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् ।

यत्तु कश्चिन्नागान'दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवस्यनुरागे णाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विशुद्धम् । न ह्येकानुकायविभावा लम्ब्यो विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो ददावीरोत्साहस्येव तत्र स्थायित्वं तत्रैव

किन्तु शम का अर्थ है—वैराग्य दशम आत्मरहित से होने वाला आनंद (शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्, सा० द० ३ १८०) अथवा किसी प्रकार की इच्छा का अभाव (निस्पृहस्य शम ना० द० ३ १८१) । नाट्यवर्णनकार ने मम्मट के मत का खण्डन किया है (ना० द० ३ १८३ वृत्ति) । (३) घञ्जय के मतानुसार नाट्य में आठ ही रस होते हैं शा'त रस नाट्य म गही होता, क्योंकि नाट्य में गम भाव की पुष्टि नहीं हो सकती । इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने बतलाया है—

शा'त रस के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं । उनमें से कुछ कहते हैं कि शा'त रस नहीं होता, क्योंकि आचार्य (भरत) ने (नाट्यशास्त्र में) न तो उसके विभाव आदि का वर्णन किया है और न ही उसका लक्षण किया है । दूसरे कहते हैं कि वस्तुतः शा'त रस ही नहीं सकता, क्योंकि (शम भाव की पुष्टि ही शा'त रस है और शम भाव का आविर्भाव राग द्वेष का नाश होना पर होता है, किन्तु) अनादि काल से धारा रूप में चले आने वाले राग द्वेष का नाश नहीं किया जा सकता । अथ आचार्य तो धीर तथा बोधस्त आदि रसों में ही शा'त रस का अन्तर्भाव बतलाते हैं । और इस प्रकार कहते हुए (विद्वान् लोग) शम भाव की स्वीकार नहीं करते । जो कुछ भी हो (इनमें से कोई भी ठीक ही), हम तो यहाँ केवल अभिनयार्थक नाट्य आदि में शम के स्थायी होने का निश्चय करते हैं । क्योंकि उस (शम की अवस्था) ने समस्त क्रियाओं (व्यापार actions) का अभाव हो जाता है, इसलिये उसका अभिनय करना सम्भव नहीं है ।

जो किन्हीं (आचार्यों) ने नागान'द आदि में 'शम' की स्थायी भाव बतलाया है यह (कथन) तो नाट्य के अन्त तक चलने वाले (जीवूतवाहन के) मलयवती के प्रति अनुराग तथा विद्याधर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के विशुद्ध हैं । क्योंकि एक ही अनुकाय का विभाव रूप से आश्रय (आलम्बन) करके (उसमें) विषया के प्रति अनुराग (रति) तथा वराग्य (अपराग=शम) कहीं नहीं पाये जाते, इसलिये (नागान'द में शम' स्थायी भाव नहीं है अपि तु) वयावीर का उत्साह ही वहाँ

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्
सा० द० ३ १८०
वृत्ति
शुभ-

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्
सा० द० ३ १८०
वृत्ति
शुभ-

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

शमो निरीहावस्यायामात्सविभ्रामज सुखम्

अत्रोच्यते -

(४४) निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्यायी स्वदते कथम् ।

वैरस्याय व तस्योपस्तनाष्टौ स्यामिनो मता ॥३६॥

(अताद्रूप्यात् =) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदेष्वस्मिन् निर्वेदादीनामभावादस्यायित्वम् । अत एव ते चिन्तादिस्वस्वभ्रमभिचाय तर्किता अपि परिपाय नीयमाना वक्ष्यमायुह्यन्ति । न च निष्पन्नावसानत्वमतेषामस्यायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्यायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि पलवत्त्वात् । अतो निष्पन्नत्वमस्यायित्वे प्रयोजक न भवति किन्तु विरुद्धभावविरतिरस्कृतत्वम् । न च तानिर्वेदादीनामिति न द्वे स्यामिन तता रसात्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्यायित्वादवतपायरसता ।

इत्यादि कथन के द्वारा अय आचार्यों ने (आठ रसों से भिन्न) अय रसों की भी स्वीकार किया है । और इसलिये अय स्यायी भावों की भी कल्पना की है । इस प्रकार आठ ही स्यायी भाव होते हैं, यह अवधारण नहीं बन सकता । (समाधान) इस पर कहा गया है—

निर्वेद आदि में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावा से विच्छिन्न न होने का गुण (ताद्रूप्य) नहीं है, अत वे स्यायी नहीं हैं और उनका आस्वादन भी नहीं हो सकता । यदि किसी प्रकार उनकी पुष्टि भी हो जाये तो वह वैरस्य उत्पन्न करने के लिये ही होगी । इसलिये आठ ही स्यायी भाव माने गये हैं ॥३६॥

(जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते वे ही स्यायी भाव कहलाते हैं = सद्रूपता), अर्थात् विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न न होना निर्वेद आदि में नहीं है । अत वे स्यायी भाव नहीं माने जा सकते (तथा उनकी रसरूपता नहीं हो सकती) । यदि (शृङ्गार आदि के) अपने अपने चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों से व्यर्थहृत होकर भी वे पुष्ट हो जाते हैं तो भी वे वैरस्य ही उत्पन्न किया करते हैं ।

कुछ विद्वाना का विचार था कि निर्वेद आदि का अत फल रहित (निष्फल) होता है अत उन्हें स्यायी नहीं माना जा सकता इस मत का निराकरण करत हुए कहते हैं—न च इत्यादि ।

अत (अवसान) में फल रहित होना तो इनके स्यायी न होने का निमित्त (निबन्धन) नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस प्रकार तो हास आदि भाव भी अस्यायी होने लगे (उनका भी मनोरजन के अतिरिक्त कोई सौकिक या पार सौकिक फल नहीं होता) यदि कहे कि परम्परा से हास आदि का फल होता है तब तो परम्परया निर्वेद आदि का भी फल होता ही है । इसलिये निष्फल होना किसी भाव के अस्यायी भाव होने का निमित्त नहीं हो सकता । विरुद्ध और

सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।

हे (सत्य) त्वं के विषय कदा कदा हो सौते
 कदा कदा हो के लक्षण है । (सत्य) त्वं
 कदा कदा हो के लक्षण है ।

सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।

हे (सत्य) त्वं के विषय कदा कदा हो सौते
 कदा कदा हो के लक्षण है । (सत्य) त्वं
 कदा कदा हो के लक्षण है ।

सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।
 सत्यमेव जयते ।

अविद्यमानों से निरहृत न होना ही स्थायी भाव कहलाने का निमित्त है । और यह बात निबेद आदि भागों में होती नहीं । अतः वे स्थायी भाव नहीं हैं । इसी हेतु उनही रसव्यथा (रसत्व) नहीं माने जाते । इस प्रकार निबेद आदि भाग रस रूप नहीं होते, क्योंकि वे स्थायी भाव ही नहीं हैं ।

टिप्पणी—(१) शब्द ने निबेद आदि की भी रसव्यथा स्वीकार की है (वाचस्पतिभूषार १२४) । शब्द ने अभिप्राय की स्पष्ट करते हुए तमि साधु लिखते हैं—अपभाषाया प्रथकारस्य—यदुत नास्ति सा वापि निश्चयतियं परिपोष्य गता न रसीभवति । अस्तेन हृदयावर्तितप्रामुखात् सनां चाविरत्याटो नव वा रसा उक्ता इति । (२) यहाँ 'निबेद' नामक व्यभिचारी भाव वे स्थायी होने का निषेध किया गया है । भाव इतने मिन होता है (मं ३३५ टिप्पणी) । उसे ता धनञ्जय भी (काव्य में ही सही) स्थायी भाव मानत है । (३) अत्रित्या अपि—व्यभिचारी अपि, भाव यह है कि शृङ्गार आदि रस की योजना में निबेद आदि भावों की हीन नतिर्मा हो सकती है । प्रथम तो, उनका रसि आदि भाव वे धनतर उपनिबन्धन विद्या जाये और वे पुष्ट हो जायें । ऐसी दशा में (शृङ्गार और शांत का) आनन्द भीरीय होगा । अतः वरस्य ही होगा । दूसरे शृङ्गार के विना आदि व्यभिचारी भावों के व्यवधान से उनका उपनिबन्धन विद्या जाये और वे पुष्ट हो जायें । ऐसी दशा में भी निबेद आदि की पुष्टि बिरसता ही उत्पन्न करेगी । तीसरे, शृङ्गार आदि की योजना में निबेद आदि भाव कर्माचित् व्यभिचारी रूप में आ जाते हैं उनकी पुष्टि नहीं होती । इस दशा में ही वे यमकारक हुआ करते हैं । (मि० प्रभा) यथा यहाँ अपि का अन्वय नीयमाना के पक्षवात—परिपोष्य नीयमाना अपि । भाव यह है कि निबेद आदि विषय तथा अविरेद भावों के द्वारा अविच्छिन्न होने वाले नहीं हैं । अतएव इनका परिपोष्य नहीं हो सकना और वे रस रूप नहीं हुआ करते । यदि यह मान भी लिया जाये कि इनका परिपोष्य हो सकता है तो इनका परिपोष्य बिरसता को उत्पन्न करने वाला ही होगा ।

स्थायी भाव तथा रस का वाक्य से सम्बन्ध

वाक्य तथा माध्यम के द्वारा सहृदयों को रस की प्रतीति कैसे होती है ? इस विषय में भारतीय साहित्य शास्त्र ने कई मत हैं । इनमें से प्रमुख वे हैं—(१) प्रमा कर मिथ क अनुभावी नीमासका के अनुसार अधिधा के दीध दीधतर व्यापार से ही रस की प्रत ति हो जाती है । (२) भाट्टमतानुयायी नीमासक मानते हैं कि तात्व्य वस्ति के द्वारा ही रस की प्रतीति होती है । (३) मुमुक्षु भट्ट न रस को सवगा का विषय भी अवलया है—तात्व्य लोचन-सामयुक्त विषयलभ्यशृङ्गारस्वभावात् इत्युया दानात्मिक संसगा (अभिधावसिमावुका १० १४) । (४) व्यक्तिविचार महियभट्ट के मतानुसार अनुमान द्वारा ही रस का बोध होता है । (५) ध्वनिवाद की स्वीकार

क पुनरेतेषां कायेनापि सम्बन्ध ? न तावद्वाच्यवाचकभाव स्वशब्दरत्नावेदि
 शब्दात्, नहि शृङ्गारादिरसेषु वाच्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा व श्रूयते येन
 तेषां तत्परिपोपस्य वाभिधेयत्व स्थात् । यत्रापि च श्रूयते तत्रापि विभावादिद्वाररूपमेव
 रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

करने वाले रसवन्दी आचार्य आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और
 पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि के मत में व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही रस की प्रतीति होती
 है । काव्य नाट्य रस के व्यञ्जक होन हैं और रस व्यञ्ज्य होता है । रस और
 काव्य में यज्ञ्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध है । धनञ्जय से पूर्व ही आनन्दवर्धन इन मत
 की स्थापना कर चुके थे । धनञ्जय (तथा धनिक) को यह मत स्वीकार्य नहीं है ।
 अतः यहाँ इस मत का खण्डन करते हुए रसप्रतीतिविषयक स्वमत की स्थापना
 करते हैं —

ध्वनिवादी की युक्तियाँ (रस आदि तथा काव्य में व्यञ्ज्य व्यञ्जक भाव)

इन (स्थायी भाव इत्यादि) का काव्य में तावत् भाव सम्बन्ध है ? भाव आदि तथा
 काव्य में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध (भाव वाच्य है और काव्य वाचक) तो ही नहीं
 गकता, क्योंकि (सबत्र ही) रति आदि शब्दों (शब्दशब्द) के द्वारा (भाव या रस का)
 कथन नहीं किया जाता । शृङ्गार आदि रस के काव्यों में (सबत्र ही) शृङ्गार आदि
 या रति आदि शब्द नहीं सुने जाते जिससे यह माना जा सकता कि रति आदि भाव
 अथवा उनके परिपुष्ट रूप (शृङ्गार आदि रस) वाच्य होते हैं । और जहाँ कहीं
 (रति आदि या शृङ्गार आदि शब्द) सुनाई भी पड़ते हैं वहाँ भी विभाव आदि के
 कथन द्वारा इन (रति आदि) की आस्वाद्यता (रसत्व) होती है केवल रति आदि शब्दों
 के वाच्य होने से नहीं ।

टिप्पणी—(१) 'रस आदि व्यञ्ज्य होते हैं', यह सिद्ध करते हुए ध्वनिवादी
 न बतलाया है कि वे न तो वाच्य हैं सकते हैं और न लभ्य ही । न तावद् वाच्य
 वाचक भाव मात्रेण इत्यादि में यह बतलाया गया है कि रस अभिप्राय का विषय
 (=वाच्य) नहीं हो सकता । कारण यह है कि रस या शृङ्गार आदि शब्दों के
 द्वारा रस बोध नहीं हुआ करता अपितु विभाव आदि के द्वारा ही रस प्रतीति हुआ
 करती है विभाव आदि के वचन में बिना रस की प्रतीति होती नहीं । अतः रस
 आदि रति या शृङ्गार इत्यादि शब्दों वाच्य नहीं हैं अपितु विभाव आदि के द्वारा
 प्रतीयमान (व्यञ्ज्य) हैं । (विशेष द्र० ध्वन्यालोक वृत्ति १४) । (२) अनवेदितत्वात्
 =कथन न करने से प्रतिपादन न किये जाने के कारण । शृङ्गारादिरसेषु=
 जिनमें शृङ्गार आदि रस हैं (शृङ्गारादयो रसा मेव तेषु कायेषु) ऐसे वाच्यो
 में । तत्परिपोपस्य—रति आदि के परिपोप का रति आदि स्थायी भाव का परिपोप
 (पुष्टि) ही रस है ।

वचनम्

पुत्रे न दास्यन्त्यस्य भ्रातृणां सख्यस्य तस्यै
पुत्रादितरेण रणसिद्धिं वा भूयसं के
। इति पत्रे च ननु कश्चिन् विचार्यमाणोऽस्ति

अत्र कश्चिन् पुत्रो, मायम्, विचार्यन् और
स्य भ्रातृणां पुत्रिं द्वारा ही रख को प्रतीति होती
है और रख व्यङ्ग्य होता है। रख और
है। अन्वय से पूरा ही मान्यपत्रन इस को
या टिकिक को बहू बहू स्वीकार नहीं है।
हूँ रख प्रतिनिधित्वक स्वयम् को स्थापना

उक्त काव्य में व्युत्पत्त्यन्वयक भाव
य के साथ क्या सम्बन्ध है ? भाव आदि तथा
र भाव्य है और काव्य भावक जो हो नहीं
सकती (तथा) के द्वारा (भाव वा रख को)
र रख के भावों में (रख ही) प्रवृत्त आदि
मेरे बहू भावा आ सखा कि रति आदि भाव
दि रत) भाव्य होते हैं। और, जहाँ बहू
जुगुप्सी को रखते हैं वहाँ भी विचार्य आदि के
भाषणा (रखत) मेरी है केवल रति आदि भावों

व्युत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध कल गुण सवित्तो
संभव है और न सत्य ही। न दास्य
सख्यताया गया है कि रख सखिना वा सिर
पुत्र यह है कि रख या भ्रूङ्गा और भावों के
ननु विचार्य आदि के द्वारा ही रख प्रतीति द्वारा
के बिना रख की प्रतीति होती नहीं। अतः रख
में के काव्य नहीं है अतः विचार्य आदि के द्वारा
= स्व भावक भावित् । यः । (२) अन्वयिकता
न सिय आने के साथ। भ्रूङ्गादितरेण
भ्रूङ्गापुत्रो रसा देवु अय भाव्ये) लो भावों
परिचयो का, रति आदि स्वामी भाव वा रति

नापि सख्यसख्यभाव — तद्दसामा नाभिप्रायितस्तु लसकस्य पदस्वाप्रयोगात् ।
नापि सखितसख्यभाव उक्त्यापि तथा 'गङ्गाया घोष इत्यादी' तत्र हि स्वायं
स्रोतोलपणे घोषस्वायस्यानासम्भवात्स्वायं स्खलद्गतिगङ्गाशब्द स्वायंविनाभूतत्वो-
पसतिष्ठत उटमुपसस्यति । अत्र तु नायकादिशब्दा स्वायंस्खलदगतस्य कथमिवाभावात्-
मुपसस्येयु ? को वा निमित्तप्रयोजनान्मा विना मुक्ये सत्पुपपरित प्रयुञ्जीत ? अत
एव सिंहो मायवक इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नैय प्रतीति ।

भावा आदि तथा भावय वा सख्य लसक भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता [यह
नहीं माना जा सकता कि रति आदि भाव सख्य हैं और काव्य उक्त का लसक है] ।
कारण यह है कि काव्य में सामान्य रस भाव आदि (तत्) के वाचक किसी लसक
शब्द का प्रयोग नहीं होता (जिससे उपादान लक्षणा द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति हो
सके ?) यहाँ लक्षण-लक्षणा के द्वारा भी भाव आदि (तत्) की प्रतीति नहीं हो सकती,
जिस प्रकार गङ्गायां घोष ' इत्यादि में ('गङ्गा' शब्द से तट की प्रतीति) होती है ।
वहाँ तो गङ्गा शब्द का जो अपना (मुख्य) अर्थ है—गङ्गा प्रवाह उसमें घोष की
स्थिति बन नहीं सकती। इसलिये गङ्गा शब्द अपने अर्थ (प्रवाह) को कहने में क्षम्य
हो जाता है (स्खलदगति = वाधित प्रयुक्ति) तथा अपने अर्थ से सम्बद्ध (अविना
भूत) गङ्गा तट को सखित करता है किन्तु यहाँ (काव्य में) तो नायक आदि (के
वाचक) शब्द (जो विभाव आदि का प्रधान करके रस की प्रतीति कराते हैं) अपने अर्थ
को बतलाने में असमर्थ नहीं हैं फिर ये अर्थ अर्थ (भाव आदि) को कैसे सखित करेंगे ?
अथवा निमित्त (मुत्पाद्यवाच्य इत्यादि) तथा प्रयोजन के बिना कौन व्यक्ति मुख्य अर्थ
सम्भव होने पर औपचारिक (सांख्यिक, गौण) शब्द का प्रयोग करेगा ? इसीलिये
सिंहो मायवक' (भासक सिंह है) इत्यादि के समान गौणी वृत्ति से भी यह (भाव
आदि की) प्रतीति नहीं हो सकती ।

टिप्पणी—(१) नापि सख्यसख्यभाव — रस आदि काव्य में द्वारा सख्य भी
नहीं हो सकते । जैसा कि ऊपर कहा गया है मुकुल भट्ट इत्यादि ने रस को लक्षणा
सम्ब भी माना है (अभिप्रायितं ० ५० १५) । धनिक ने भी आगे रति आदि भाव को
लक्षणा का विषय बतलाया है—सांख्यिकों रत्यादिप्रतीति (५ ३० अवनीर टोका) ।
यहाँ यह भी उल्लेखनीय है—मुख्य अर्थ का बोधक जो शब्द व्यापार (वृत्ति)
है वह अभिधा बहुलाता है। साधारणतः साक्यव्यवहार में अभिधा द्वारा घोषित मुख्य
अर्थ में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि
शब्द का मुख्य अर्थ प्रकृत में ठीक नहीं बैठता, वहाँ यत्ना वा टालव्य नहीं बनता
(तात्पर्यानुपपत्ति) । अतः वहाँ शब्द अपने से सम्बद्ध किसी अर्थ अथ वा बोध कराता

है। वह अथ अथ या तो लोक प्रतिष्ठ (स्व) होया है अथवा उसका बोध कराने में कोई प्रयोजन हुआ करता है। वह अथ अथ ही सत्य अथ है। उसका बोधन शब्द लक्षक या सांज्ञिक बहुलाना है और उसका बोध कराने वाला शब्द-व्यापार लक्षणा। अतः लक्ष्य=लक्षणासम्पन्=लक्षणा द्वारा बोध्य अथ। इस प्रकार लक्षणा के तीन हेतु होते हैं—मुख्याथ-नाथ मुख्याथ से शब्दार्थ तथा रुचि अथवा प्रयोजन (३० वा० प्र० २६)। जो लक्षणा रुचि (=प्रतिष्ठि) के कारण होती है वह रुचि लक्षणा कहलाती है, जैसे कर्मणि युवान् 'इत्यादि मे युवान् जन्म वा मुख्याथ (कुमारो को माने वाला) बाधित हो जाता है और उसका लक्षणाप चतुर' लिया जाता है। जो लक्षणा किसी प्रयोजन से होती है वह प्रयोजनयती कहलाती है जैसे 'गङ्गाया बोध' में गङ्गा शब्द की लक्षणा प्रयोजनयती है। वहीं शब्द पावनत्व आदि की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है।

यह स्पष्ट ही है कि रस आदि रुचि के विषय नहीं हो सकते। रही प्रयोजनयती लक्षणा। यह दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा (भोगी वृत्ति का यहाँ पथक उल्लेख किया जा रहा है) उपादान लक्षणा यहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्याथ की सङ्गति के लिये अपने स सम्बद्ध किसी अथ अथ का भी ग्रहण कर लेता है। वह अपने अथ का त्याग न करते हुए दूसरे अथ की लक्षित करता है अतः इसे अग्रहत्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। इसके स्थलों पर सामान्य अथ के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसका लक्षणाप विभिन्न अथ हो जाता है जैसे कुत्ता प्रविशति (भाले प्रवेश कर रहे हैं)। यहाँ कुत्त' शब्द से कुत्तधारी (कुत्तविभक्त) पुरुष का लक्षणा द्वारा बोध होता है। इसी प्रकार काकेभ्यो दधि स्वयताम् इत्यादि उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

दूसरी लक्षण लक्षणा है इसमें कोई शब्द अपने अथ को त्यागकर स्वसम्बद्ध अथ अथ का उपलक्षण हुआ करता है। इसी हेतु इसे अग्रहत्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। जैसे गङ्गाया बोध' (गङ्गा पर पौपियों की बस्ती है) यहाँ गङ्गा शब्द का मुख्य अथ है—गङ्गा=जल की धारा। उस पर 'पौप' नहीं रह सकता। अतः मुख्याथ का वाद्य हो सकता है। इस प्रकार शब्द पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिये गङ्गा शब्द की लक्षणा लक्षणा मानी जाती है।

ध्वनिवादी (प्रेषपरी) का आशय यह है कि उपादान लक्षणा या लक्षण लक्षणा द्वारा काव्य से रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती (इ० अनुवाद)।

(२) सामान्याभिधायिनस्तु—सामान्य अथ का वाचक जो लक्षक शब्द है, उसका काव्य में प्रयोग नहीं, अर्थात् काव्य में ऐसे सामान्य शब्दों का प्रयोग नहीं होता जो सामान्यतः रस आदि के वाचक हो किन्तु लक्षणा द्वारा शृङ्गार आदि विशेष रस का बोध करा सकें। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ उपादान लक्षणा की

को ही ही
लक्षण।
कोई शब्द
रुचि ही है।
प्रतिष्ठ
रस।

कोई शब्द
को प्रयोजन
के लिये ही
है।

विभिन्न।
के लिये ही
है, जैसे
लक्षण।
इसमें ही का
पौप' रस का
सौ ही ही
रस।

है। यहाँ
के लिये ही
लक्षण के
नती ही।
विभिन्न अथ
लक्षण की

यहाँ ही है।
जैसे विभिन्न
शब्द विशेष
लक्षण।
ही का लक्षण

प्रकाश उद्योग बोध करने में
 रूप है। उसका बोध रूप
 करने वाला भाव-व्यापार
 न अर्थ। इस प्रकार संपन्न
 तथा रुचि अथवा प्रयोजन
 के कारण होती है वह रुचि
 न दुःखों का भावमान
 उच्छ्वास सन्ध्या 'सुख' विद्या
 भीमवन्तरी बहूनाती है, जठे
 है। वही काल-मात्राव्यति

में ही रहती। रही प्रयोजनशील
 समान-संपन्नता (गौणी वृत्ति
 उदा। वही होती है) वहाँ कोई
 नष्ट विरोधी अर्थ अथवा भा
 नष्ट विरोधी अर्थ का लक्षण
 नके स्वकीय पर सामान्य अर्थ
 न्याय विहित अर्थ ही जाता
 नहीं कुछ अर्थ है कुलव्यारी
 रती प्रकार 'शक्ति' दी

य को व्यापक स्वसंबद्ध
 बहुलव्यारी वृत्ति भी बहूते
 है) वहाँ गङ्गा शब्द का मन्त्र
 वह स्वता। अतः मन्त्रण का
 प्रयोजन की प्रतीति के विदे

उपादान सत्तया वा सत्तया
 रहती (३० अनुवाच)।
 का बाधक को सत्तया अर्थ है
 सामान्य शब्दों का प्रयोग नहीं
 तु सत्तया द्वारा शृङ्गार भाँ
 है कि वही उपादान सत्तया की

बोध संकेत है, जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है। *सहित सत्तया = सत्तया
 सत्तया। काव्य से सत्तया-सत्तया द्वारा रस आदि का बोध इसलिये नहीं हो सकता
 क्योंकि यहाँ सत्तया के हेतु ही नहीं हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्दों का मुख्यार्थ बाध आदि
 नहीं होता। स्थूलवर्णित — स्थूलिता बाधिता गति प्रयुक्ति यत्तय स (शब्द), जिसकी
 प्रयुक्ति रूढ़ जाती है जो अपने अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो जाता है ऐसा
 शब्द। जो या प्रयुक्तजित — जब शब्द का मुख्य अर्थ बन सकता है तो उसका
 औपचारिक अर्थ नहीं लिया जाता। फलतः काव्य में प्रयुक्त शब्दों आदि के वाचक
 शब्दों की रति आदि भाव अथवा शृङ्गार आदि रस में सत्तया नहीं हो सकती। वे
 तो मुख्यार्थ के बोधन में ही समर्थ हैं। (३) गुणव्यवस्थापि नेप प्रतीति — क्योंकि निमित्त
 के बिना औपचारिक शब्द का प्रयोग नहीं होता। इसलिये गौणी वृत्ति से भी काव्य
 में रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। अभी कहा गया है कि उपकार का निमित्त
 (मुख्यार्थ बाध इत्यादि) वहाँ नहीं है।

मीमांसक गौणी वृत्ति को सत्तया से भिन्न मानते हैं (गौणीवृत्ति सत्तयातो
 भिन्नेति प्राभाकरः। प्रसा० टीका पृ० ३३)। उनके अनुसार सत्तया और गौणी का
 भेद यह है कि गौणी वृत्ति में लक्ष्य अर्थ के वाचक शब्द का भी प्रयोग हुआ करता
 है, जैसे 'सिंहो माणवक' (वालक सिंह है), यहाँ पर (शोभादि विनिष्ट) माणवक
 लक्ष्य है, यहाँ माणवक शब्द का भी प्रयोग किया गया है। किंतु 'पञ्चाम्या घोष'
 इत्यादि में जो तट आदि लक्ष्य है उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता
 यही दोनों का भेद है (गौण शब्द प्रयोगो न रक्षणायाम्)। मभट्ट इत्यादि आचार्यों ने
 गौणी वृत्ति को सत्तया में ही अंतर्गत माना है। तदनुसार सत्तया दो प्रकार की है
 शुद्धा और गौणी। उपयुक्त उपादान सत्तया तथा सत्तया-सत्तया ये दो भेद शुद्धा के
 हैं। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से सत्तया होती है वहाँ गौणी सत्तया है और जहाँ सादृश्य
 से भिन्न और किसी (सामोष्य आदि) सम्बन्ध से सत्तया होती है वह शुद्धा है। सिंहो
 माणवक में गौणी सत्तया है। गौणी भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीनों हेतुओं से हुला
 करती है। अतः इसका सत्तया में ही अंतर्गत माना गया है। (४) रस आदि
 ('यज्ञश्च अर्थ) को गौणी वृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता, स्वनिर्कार ने इस
 में तथ्य को इस प्रकार बतलाया है—

मुख्या वृत्ति परिरक्ष्य गुणव्यवस्थापयदानम् ।
 यद्विद्विष्य फल तत्र शब्दो नव रश्चसम्पत्ति ॥ १ (१७)

*हुल आचार्यों ने सत्तया-सत्तया नाम की एक अर्थ प्रकार की सत्तया भी
 मानी है (परमसमुत्पन्नपृष्ठा पृ० ६०)। सत्तया से अर्थ में सत्तया = सत्तया-सत्तया,
 जैसे 'द्विरा' शब्द का मुख्य अर्थ है—दो रस (१) का। इसका लक्ष्यार्थ है—अमर
 शब्द, जिसमें दो रस हैं। इससे भीरा रूप अर्थ का बोध होता है। यहाँ वाच्यकार का
 तात्पर्य उस विशेष प्रकार की सत्तया से नहीं है क्योंकि गङ्गायां घोष उसका उदाहरण
 नहीं था सकता।

यदि बाध्यत्वेन रसप्रतिपत्तिर स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रं युक्त्यनन्त
सामप्यरसिकानां रसास्वादी भवेत् । न च बाध्यनिश्चयत्वम्—अभिभागेन तवसहृदयानां
रसास्वादोद्भवते । अतः केचिदभिधातलक्षणागोपीयोभ्यो वाच्यातरपरिकल्पितवाक्यिभ्यो
व्यतिरिक्तं ध्वञ्जकत्वलक्षणं शब्दं यापारं रसातल्लुकरवस्तुविषयमिच्छति ।

तथा हि विभावात्तुभावायमिचारिमुद्येन रसादिप्रतिपत्तिरपजायमाना कथमिव
वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे—

विद्वृष्वती शलमुजापि भाममजू स्फुरद्दालकदम्बमन्व ।

साधीकृता वास्तरेण तस्यो मुद्येन पयस्तविशोचनेन ॥

द्वितीयो वात यह है कि यदि वाच्य रूप से रस की प्रतीति हुआ करे तो जो
व्यक्ति काव्य के रसिक नहीं है केवल वाच्य वाचकभाव मात्र का ज्ञान रखते हैं (अर्थात्
काव्य का अर्थ समझते हैं) उनको भी रस का आस्वादन हो जाता है (किंतु ऐसा
होता नहीं) । यह (रस आदि की प्रतीति) काल्पनिक ची नहीं है, क्योंकि समान रूप से
सभी सहृदय जनों को रसास्वादन हुआ करता है । इसलिये प्रतिपद्य आचाय ध्व
ञ्जना नामक शब्द का एक व्यापार मानते हैं जो रस, अलङ्कार तथा वस्तु प्रतीति
करता है और जो उन अभिधा लक्षणा तथा गोपीयो वृत्तियों से (नितात्) भिन्न—है
जिनका अर्थ अर्थों के बोधन में सामप्य निश्चित किया गया है ।

टिप्पणी—(१) अरसिकानां रसास्वादी भवेत्—मि० ध्वञ्जालोक शब्दाय
शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते । वेद्यते स तु वा याद्यतस्वज्ञरेव केवलम् । (१६) । (२)
कास्पनिश्चयत्वम्—रस आदि केवल काल्पनिक नहीं है उनको सत्ता वास्तविकी है, यह
अनुभव सिद्ध है । यदि रस आदि काल्पनिक होते तब तो जो इनकी कल्पना करते
उन्हीं को आस्वादन हुआ करता सभी रसिकों को समान रूप से आस्वादन न होता ।
रस आदि ध्वनि का अभाव मानने वालों के प्रति यह कथन है । मि०—यतो लभय-
कृतानेव स केवल न प्रसिद्ध तस्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाद्वाद्वाकारि काव्य
तत्त्वम् (ध्वञ्जालोक वृत्ति १३३) । तथा तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्प्रसादिलक्षणायास्या
मवयापलापतायाः । (भा० प० ५४ ध्वञ्जनावृत्ति का उपसहार) । (३) वाच्या तरपरि-
कल्पितवाक्यिभ्यम्—वाच्या तरपरि परिकल्पित वाक्यो भासा ताभ्य यह 'अभिधा
लक्षणगोपीयोभ्य' का विशेषण है । वाच्य = अर्थ । भाव यह है कि अर्थ अर्थों में
जिनकी शक्ति निश्चित की गई है ऐसी अभिधा द्वारा वृत्तियों में ध्वञ्जना भिन्न है ।

ध्वनिवादी (व्यञ्जनी) की ओर से सभी ऊपर यह कहा गया है कि व्यञ्जय
(व्यञ्जना का विषय) अर्थ हीन प्रकार का होता है रस वस्तु और अलङ्कार । इस
तीनों प्रकार के यञ्जय अर्थ के उदाहरण इस प्रकार हैं—

रस ध्वञ्जना—वर्णोक्ति रस आदि की प्रतीति विभाव, अनुभाव और 'यमिचारी
भाव के द्वारा हुआ करती है कि वह वाच्य कसे हो सकती है ? जसे कुमारसम्भव
(३६०) में—

पयतपुत्री (पावती) की भूले हुए कवच के समान (पुलकित) अङ्गों के द्वारा
(श्रेय) भाव की प्रकट करती हुई चंचल नेत्रों से युक्त तथा अधिक सुन्दर हुए मुख
के साथ कुछ तिरछी सी धरों को यह ।

गति मृगुमागतिरिति

र रसत लक्षणं

भयं ध्वञ्जक इत्येव

३११

(इयं वाचिक विरचित

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

३११

परमेश्वरवाचकानामनुत्तरान्
 श्रवण-अभिमानेन इत्युक्तं
 नो वाचक-विकारित्वमित्यो
 श्रवणमभिनिवृत्तम् ।
 तस्मिन्निवृत्तवशात् इत्यत्र

अत्रमहर्षेः ।
 अभिमानस्य ॥

एत वा अत्रनि हुआ करे तो वो
 भाव भाव वा इन एको है (अर्थात्
 भाव ही क्या करे (मि तु) वेना
 न को मी है) कौन समन इन
 है। इतने हीन भाव का
 भाव, कदाकर तथा कतु कोति
 हुंमनों में (मिचन) निम-है
 का है।

मि-मि-व्यजाक का
 कर्षक केवलम् । (१) । (२)
 इतो एता वाताकी है, यह
 भा को इतो कवला कते
 भाव न के भावमान न हीन ।
 क्वन है। मि-इतो तथा
 एव इत्युक्तान्वाकि काव्य
 सिद्धय एतन्नाशिनपणमना
 उमहाए । (३) भाव्यात्परि
 याता काव्य यह आका
 नन, यह है कि क्वय क्वी में
 कि इतिमी से व्यञ्जना मिह है ।
 र यह कदा मया है कि व्यञ्ज
 एत, वस्तु और अतद्कार । इत

है —
 विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी
 सक्ती है? अतः कुनालमत्र

समान (सुवर्तित) अर्थात् के प्राय
 उक्त तथा अर्थिक सुवर्त हुय सुव

इत्यादावनुत्तरान् यावस्थाविधेयानुभाववदृगिस्त्रिजालक्षणविभाषोपवणनादेवात्
 व्यापि शृङ्गारप्रतीतिकृति, रसा तरेज्वल्यमेव न्याय ।

न केवल रसेवैव यावद्वस्तुमात्रेण । यथा —

‘मम धम्मिन् वीसदो सो सुणमो अज्ज मारिओ तेण ।

गोलाणइकच्छकुञ्जवासिणा दारिअसीहेण ॥२६०॥

(‘मम धामिक विषय्य स यवाज्य मारित्तेन ।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिहेण ॥’)

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरसव्यापि व्यञ्जकगतिसूत्रम् ।

इत्यादि श्लोक मे अनुराग से उत्पन्न होने वाली जो विशेष प्रकार की अवस्था
 (अङ्गों का युक्त होना, नेत्रों की चञ्चलता, मुख की चावता आदि) अनुभाव के
 रूप में है उससे युक्त पावती रूप विभाव के वणन से ही शृङ्गार की प्रतीति होती है,
 जब कि यहाँ (रति या शृङ्गार का वाचक) कोई शब्द नहीं है (असवादांश) अथ रसों
 की प्रतीति में भी यही नियम है [यहाँ भी वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही विभाव
 आदि के वणन से रस की प्रतीति हुआ करती है] ।

टिप्पणी—(१) विषय्यतो—जिस समय महादेव पर काम बाण फिरने लगे
 उस समय की पावती की अवस्था का वणन है । पावती आलम्बन विभाव है । उसके
 नेत्र आदि के विकार उमके हाव (द्र०) थोपिद अलङ्कार तथा सा० द० ३ ६४) हैं,
 जिन्हें अनुभावों के अतर्गत माना जाता है । इन अनुभावों से युक्त विभाव के वणन
 से शृङ्गार रस की प्रतीति हो रही है । (२) मि० ध्वयालोक वृत्ति (१४) यतएव
 स्वाभिधानमत्तएव केवलप्रयोगि विभाषादिभ्यो विशिष्टेष्वपि रसादीना प्रतीति ।
 केवलान्ध स्वाभिधानादप्रतीति । तस्माद‘व्य’यतिरेकाप्याम् अभिधेयसामर्थ्यासिप्तत्व
 मेव रसादीनाम् न त्वभिधेयत्व कथञ्चन ।

वस्तुव्यञ्जना—रसों में ही यह वात नहीं है अपितु वस्तुमात्र (की व्यञ्जना)
 में भी यही वात है [अर्थात् जहाँ वस्तु व्यञ्ज्य होती है वहाँ भी उसके वाचक शब्द के
 प्रयोग के बिना ही उनका प्रतीति हुआ करती है] । जते (माया० २ ७४)—[सकेत
 स्थान की ओर पुण्य चवन के लिये जाने वाले किसी धार्मिक के प्रति अभिसारिका की
 उक्ति] ‘हे धार्मिक अब निरिचत होकर भ्रमण करो, क्योंकि गोदावरी नदी के कछार
 के कुञ्जों में रहने वाले वचयुक्त सिंह ने उस कुत्ते को आग मार दिया है’ ।

इत्यादि में निषेधवाचक की कोई शब्द नहीं है, केवल व्यञ्जना वति के आधार
 पर ही निषेध की प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—भ्रम धामिक० (मि०, ध्वयालोक १४)—गोदावरी के तट-कुञ्ज
 पर किसी नायिका का सङ्कट स्थान है । वहाँ कोई धार्मिक (मगल) भी पुण्यचवन
 के लिये आ जाया करता है । नायिका के काय में उसने आने से विभ्र होता है ।
 नायिका पहिले तो एव कुत्ता साप से आती है कि जिससे दर दर धार्मिक उस

तथासङ्कारेण्यपि—

साव्यकारात्परिवृत्तदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽभुना तव मुखे तरलायतासि ।
शोभ यदेति न मनायपि तन मय
सुव्यक्तमेव जलराशिरय पयोधि ॥३६१॥

इत्यादिषु 'च' इतुल्य तावीचनारवि'दम् इत्याद्युपमासङ्कारप्रतिपत्तिव्यञ्जकत्वनिबधनीति ।

न चासावर्थापत्तिजया-अनुपपद्यमानाथविशाभावात् । नापि वाक्यापत्यकुञ्ज म पुष्पचयन के लिये न आवे। किन्तु धार्मिक कुत्से से इरता-इरता भी वहाँ पुष्पचयन के लिये जाता रहता है। इस पर नाशिका न धार्मिक को भयभीत करने के लिये उपयुक्त वचन कहा है। यहाँ वाच्य अर्थ है— 'निश्चित होकर भ्रमण करो। यह अर्थ विधिरूप है। किन्तु नाशिका का अभिप्राय यह है कि कभी भूलकर भी इधर मत आना। यह अभिप्राय निषेध रूप है जो 'व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है। यह वाक्यार्थ नहीं हो सकता क्योंकि इसका वाचक कोई शब्द यहाँ नहीं है।

असङ्कार व्यञ्जना—इसी प्रकार असङ्कारों (की व्यञ्जना) में भी हुआ करता है। जैसे— हे वञ्चन शीर विद्याल नेत्रों वाली (प्रिये) इस समय साव्य और काति से विशाभों क मुख को परिपूर्ण कर देने वाले मुंहारे मुख के मुखान मुख होने पर भी जो यह सागर तनिक भी सू घ नहीं हो रहा है इरते में समझता हूँ कि यह स्पष्ट रूप से ही जलराशि (जाड्यपुञ्ज) है।

इत्यादि में तयो का मुख कमल चन्द्रमा क समान है इस उपमा असङ्कार की प्रतीति व्यञ्जना के निमित्त से होती है।

दृष्ट्यपी—(१) साव्य०—(मि०, ध्व'यालीक २२७) यहाँ जलराशि का श्लेष से जलराशि (जाड्यपुञ्ज) अर्थ है श्लेष की दृष्टि से ल और ड का अन्वेष मान लिया जाता है। भाव यह है कि यदि यह सागर जड़ न होता तो मुंहारे चन्द्रमुख मुख को देखकर भी शूय क्यों न हो जाता ? यहाँ श्लेष के द्वारा मुख और चन्द्रमा का साम्य (उपमा) व्यञ्ज्य है। यहाँ उपमा वाच्य नहीं हो सकती, क्योंकि उसका वाचक कोई शब्द नहीं है। (२) ध्व'यालीक (२२७) में इस स्थल पर रूपक असङ्कार को व्यञ्ज्य वतलाया गया है। (३) व्यञ्जकत्वनिबधनी—व्यञ्जकत्व निबधन निमित्त यस्या सा तणामुता व्यञ्जना के निमित्त से होने वाली।

यह (रस भाव आदि की प्रतीति) अर्थापत्ति से उत्पन्न होने वाली भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस (रस प्रतीति के) लिये अनुपपद्यमान अर्थ की अन्वेषा नहीं होती।

दृष्ट्यपी—भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अर्थापत्ति नामक एक प्रमाण मानते हैं। जब कोई शब्द ठीक नहीं बैठती—अनुपपद्यमान होती है—तो उन्हे ठीक बढान के लिये अर्थ बात की कल्पना कर ली जाती है। वह बात अर्थ उपपन्न हो

सङ्कार—२। १११११

नामी सवयत् ।

बला कती है (अप्यत्

सना मत करत बाया ००

कुत्से है कि रेपत्त पु २

वही दरत को पुट्टा निता

वही को वप है कि १। १०

रति में बाता होगा। नि न

नहीं बन सरणे (बारातरना

या बरापति का विषय है।

पुत्र विगो (१) का

ही हो करती है, इको ०

००। परतिगाव के अनुगा

दृष्ट्यपी में नि में मान न

अनुपपद्यमान वही हाता। काम

हो जाता है। फिर अर्थापत्ति

अप्यत् (रस अर्थ) के

(सव्यम्य शो म) क

कोक में अर्थात् साव्य कुति

अर्थ बना है। उरत बनात्

है निमें (है) धार्मिक सुप

(निश्चिन्त) पूर दिनेन क्या

इत्यादि) निवय वर के को

है। पूर व्यञ्जना कति के

इत्यादि वृ (रस आदि का

दृष्ट्यपी—(१)

(साव्यपी) के म न माने है

की कल्पना के पूर भी वर मके

के मके हति। अर्थापत्ति के

ननु च तृतीयकणान्विषयत्वमधूममाणनदायतात्पर्येषु विषय भूयद् इत्यादि वाक्येषु निषेधात्विषयम् प्रतीयत एव वाक्यमाहस्य । न चान् व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यापत्स्य नप्यत् तात्पर्यादिभ्यस्ताद् ध्वने । तत्र स्वामस्य द्वितीयकणायामविध्यात्तस्य तृतीयकणाभावात् स च निषेधकत्वात् तत्र द्वितीयकणाविधौ श्रियाकारकसप्तगणुत्पत्त प्रकरणान्वितरि वक्तारि पुनस्तस्य विषयभणनविभोगाभावात् ।

पूरवत्त के रूप म रक्षया गया है (२) वाक्याय का बोध कसे होता है ? इस विषय में दो प्रसिद्ध मत हैं—अभिहित्वाच्यवाद और अविताभिधानवाद । छाट्टु भीमांसक अभिहित्वाच्यवादी हैं । उनके अनुसार प्रथमत वाक्य में आये हुए शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा अपने अर्थ (पदाय) का बोध कराते हैं ? (यही प्रथम कणा है) । इसने पश्चात् अभिधा द्वारा अभिहित पदार्थों का आकाशा घोषयना और सन्निधि के आधार पर अर्थ (सम्यग्) होता है (अभिहितानाम् अर्थय = अभिहित्वाच्य), और एव ऐसे अर्थ का बोध ही जाता है जो पदों का अर्थ नहीं अस्तित्वाय का अर्थ होता है । यह पदाय से भिन्न होता है तथा तात्पर्य वृत्ति का विषय होता है (यही दूसरी कणा है) । इस प्रकार अभिहित्वाच्यवादी के अनुसार वाक्याय का बोध दूसरी कणा में होता है । किन्तु प्रभाकर (भीमांसक) अभिहित्वाच्यवाद को नहीं मानते वे अविताभिधानवादी हैं उनके अनुसार अभिधा वृत्ति द्वारा परस्पर सम्यग् (अचित्) अर्थ की ही प्रतीति होती है । शब्द अविज्ञ अर्थ का ही बोध कराते हैं (अवितानाम् अभिधानम्) उनके मत में तात्पर्य वृत्ति को पुन्यक मानने की आवश्यकता ही नहीं (विशेष ३० का० प्र० २-३ तात्पर्यादीनि केमुचित्) । (३) ध्वनिवादी का कथन है कि अभिहित्वाच्यवादी के मत में द्वितीय कणा में वाक्याय की परिसमाप्ति हो जाती है व्यङ्ग्यप्राय उसके पश्चात् हुआ करता है वह तृतीय कणा में होता है । फिर वह वाक्याय या तात्पर्याय कैसे हो सकता है ? तृतीय कणा में ता वाक्याय जाता ही नहीं ।

इस पर वाक्याय (तात्पर्याय) में ही तथाकथित व्यङ्ग्य अर्थ का समावेश मानने वाला ध्वनिविरोधी प्रश्न करता है—ननु च इत्यादि—

(प्रश्न) जिन वाक्यों का तात्पर्य वाक्य में अप्रयुक्त (अधूममाण) शब्द के अर्थ में होता है, वहाँ वाक्य का अर्थ तृतीय कणा का ही विषय होता है, जैसे 'विष्य खातो' इत्यादि निषेधाद्यक वाक्य का तात्पर्य (इसके घर कदाचि न जाओ इत्यादि) निषेध में है । और, इस स्थल पर व्यञ्जनावादी को भी निषेध को वाक्यार्थ मानना पड़ेगा क्योंकि उसके अनुसार ध्वनि तो तात्पर्य से (सवया) भिन्न है (अत यह निषेध ध्वनि का विषय नहीं हो सकता) ।

(उत्तर) यह कथन ठीक नहीं । कारण यह है कि जब तक द्वितीय कणा में वाक्य के अर्थ को परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कणा होती ही नहीं । अत यही निषेध अर्थ को प्रकट करने वाली वही अपरिन्द्वितीय कणा ही है । विषय भूयत् यहाँ पर (तत्र) द्वितीय कणा में (विषय पालो इस प्रकार का) विधिपरक अर्थ

तात्पर्यम्
ननु च

मे तात्पर्यम्
ननु च

ननु च
ननु च

ननु च
ननु च

ननु च
ननु च

ननु च
ननु च

यत्र तु स्वापदिश्रात् प्रतिष्ठा तावदागतम् ।

तत्प्रसपति तत्र स्यात्सवत्र ध्वनिना स्थिति ।।

इत्येव सवत्र रसाना व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु भवतिदाध्यत्यव भवति
यङ्ग्यत्वम् ।

तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यत्व प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रव ध्वनि अ यत्र गुणीभूत
व्यङ्ग्यत्वम् । तदुक्तम्—

हो जाता है और ठीक बठ जाता है फिर जो उससे आगे (किसी अर्थ में) पहुँचता है
(प्रसपति) तो उस (अर्थि अर्थ) में उस वाक्य की ध्वनि (व्यञ्जना) से ही स्थिति
होती है ।

इस प्रकार सभी जगह रस व्यङ्ग्य ही होते हैं । वस्तु और अलङ्कार तो कहीं
वाच्य होते हैं, कहीं व्यङ्ग्य ।

टिप्पणी—(१) द्र० ध्व यालोकवृत्ति तथा ध्वयालोकलोचन (१५) का०
प्र० उ० ५ 'व्यञ्जनासिद्धि का आरम्भ । (२) यद्यपि ध्वनि अनेक प्रकार की होती है
तथापि सर्वेषु मे सभी ध्वनियों का समावेश वस्तु अलङ्कार तथा रस ध्वनि में किया
जा सकता है क्योंकि वस्तु, अलङ्कार और रस आदि तीन प्रकार के ही 'व्यङ्ग्य अर्थ
हुआ करते हैं । अथवा कहिये कि काव्यप्रतिपाद्य अर्थ तीन प्रकार का होता है ।
प्रथमतः उसने दो भेद हैं—वाच्यता सह और वाच्यता असह । जो अर्थ वाच्य भी हो
सकता है—अभिप्रायवृत्ति से भी जाना जा सकता है वह वाच्यतासह है । यह भी दो प्रकार
का है अविचित्र तथा विचित्र । जो अलङ्कार रूप अर्थ है वह विचित्र कहा जाता है ।
जो अलङ्कार से भिन्न वस्तु मात्र अर्थ है वह अविचित्र कहा जाता है । ये वस्तु तथा
अलङ्कार कही वाच्य होते हैं और कही 'व्यङ्ग्य' । जहाँ ये प्रधान रूप से 'व्यङ्ग्य' होते
हैं वही वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि कही जाती है, अर्थ नहीं । तीसरा जो रस
आदि अर्थ है, वह भी वाच्यता-असह है रस आदि सभी वाच्य नहीं हो सकते । ये
तो विभाव आदि क द्वारा व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं । इन तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ
की प्रतीति तृतीय बना मे हुआ करती है प्रथम कदा म पदाय वा बोध, द्वितीय कदा
में वाक्याय (तालप्राय) का बोध और तृतीय कदा में 'व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है ।

रस आदि के व्यङ्ग्य होने पर भी (तत्रापि) जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधान
रूप में प्रतीति होती है वहाँ ध्वनि (काव्य) कहा जाता है । अर्थ स्थलों में (जहाँ
व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान नहीं होता, गौण हो जाता है) तो गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) माना
जाता है । अर्थात् (ध्वनिकार में) कहा है —

सर्व रस र
कार
रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

रस्य रस्य रस्य

मनाय शब्दो वा सम्यगनुपसङ्गनीहृतस्वाधी
 श्वरुक्त कायविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ।
 प्रधातेऽप्यत्र वाचयायै यथाङ्ग तु सादय
 काव्ये तस्मिन्मलच्छूरा रसादिरिति मे मति ।
 यथा—'उपोद्धारणेण' इत्यादि ।

'जहाँ अथ अपने आचको (स्व) तथा शब्द अपने अथ को गुणीभूत करके उस (प्रतीमान) अर्थ को क्षमिष्यक्त करते हैं, उस वाक्य विशेष को विद्वानो मे ध्वनि कहा है' । (ध्वयालोक १ १३)

जहाँ अथ (अङ्गभूत रस आदि से मिलित वाच्य या व्यङ्ग्य) अथ प्रधान रूप से वाच्यता होता है और रस आदि उसमे अङ्ग होते हैं वहाँ अङ्गभूत रस आदि अलङ्कार (रसद्वयलङ्कार आदि) के विषय होते हैं (अर्थात् वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है) यह मेरा विचार है ।' (ध्वयालोक - ५) ।

जैसे 'उपोद्धारणेण' इत्यादि में (गुणीभूतव्यङ्ग्य) है ।

टिप्पणी—(१) ३० ध्वयालोक तथा ध्वयालोकलोचन (१ १३ तथा २ ५) का० प्र० (१ ४, ५), ता० द० (४ १, १३) । (२) ध्वनिवाद के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं (ध्वयालोक ३ ४, २७ तथा का० प्र० १ ४, ५)—ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम) और चित्र (अधम) । व्यङ्ग्य अथ की दृष्टि से ही ये तीन भेद किये गये हैं । ध्वनि काव्य मे व्यङ्ग्य अथ की प्रधानता होती है अर्थात् वह वाच्यता की अपेक्षा अधिक चमत्कार करता है । इसके उदाहरण आदि भोगे जायेंगे । गुणीभूतव्यङ्ग्य मे व्यङ्ग्यता होता तो है किन्तु वह वाच्यता से दबा रहता है, वाच्यता की अपेक्षा गौण होता है । अथवा कोई एक व्यङ्ग्य अथ दूसरे व्यङ्ग्य अथ का अङ्ग हुआ करता है । जैसे (ध्वयालोक इति १ १३)—

उपोद्धारणेण विलोत्तारक तथा गृहीत मतिना निनामुद्यम् ।
 यथा समस्त तिमिरासुक्त तामा, पुरोऽपि रामाद् गवित न लगितम् ॥

(उदय काल मे) राम को धारण किये हुए चंद्रमा ने निगा के चञ्चल तारा से युक्त मुख का इस प्रकार ग्रहण किया कि राम (सौलमा वा नायिका के हृदय मे उत्पन्न अनुदाम) के कारण समस्त अंधकार रूपी वदन् विर जान पर भी उसने नहीं देखा ।

यहाँ चंद्रमा का वजन प्रस्तुत है, जो वाच्यार्थ है । किन्तु व्यङ्ग्य रूप में मायक नायिका के व्ययहार की प्रतीति ही रही है । यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है । गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य है ध्वनि नहीं, क्योंकि वाच्यता (चन्द्रोदय-वजन) की प्रधानता

निगा तिष्ठति ॥
 उपद्वारणेण रसिन्द्राव्यत रसिन्द्र
 निरुपय रसि अत्र गुणीभूत

ने अपने (निनी मय मे) पर्युहा है
 की ध्वनि (मन्त्रना) के ही निमित्त
 ने है । वस्तु और अलङ्कार को पर्यु

ध्वन्यालोकलोचन (१ ५) का
 र इति अनेक प्रकार की दृष्टि है
 अलङ्कार तथा रस रसिन्द्राव्यत
 तीन प्रकार के ही व्यङ्ग्य अथ
 से तीन प्रकार का होता है ।
 ता अर्थ । जो रस वाच्य भा हो
 वाच्यताग्रह है । यह भी दो प्रकार
 पर्यु है वह विविध कहता है ।
 चित्र कहा जान है । ये वस्तु तथा
 रसि मे प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होते
 हैं; अथवा नहीं । तीसरा जो रस
 कभी वाच्य नहीं हो सके । ये
 रस मनुष्य का शोक, शिथिल वहा
 में व्यङ्ग्यता का शोक होता है ।

गति) जहाँ व्यङ्ग्य अथ को प्रधान
 देखाता है । अत्र रसको में (अर्थ
) तो गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) माल

तस्य च ध्वनेर्विभङ्गितवाच्यविवक्षितवाच्यत्वेन द्विविध्यम् । अविबक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतसंघर्षोर्थात् तस्य सङ्गतिवाच्यत्वेति द्विधा । विबक्षितवाच्यत्वं अतस्तद्यत्र क्रम क्रमचोदयश्चेति द्विविधं तत्र रसादीनामस्तस्यत्रमध्वनित्त्वं प्राधान्येन प्रतिपत्ती सत्या अङ्गत्वेन प्रतीती रसवचनद्वार इति ।

हे, यद्गुणाय गीण ही है । काय का तीसरा भेद जो चित्रकाव्य है । वह किसी विशेषे व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन की शक्ति नहीं रखता, उसमें शब्द और अर्थ का विशेष चमत्कार ही विशेषकर होता है । जैसे—(काव्यप्रभाष उ० १ उदा० ५)—

विनिगत मानदाम्यमार्दराट् चकत्पुष्पमूल्य गृहच्छयासि यम् ।

सप्तध्रमेद्द्रुतपातितागला निमीलित्वासीव भियाऽप्ररावती ॥

अर्थात् (शुभ्रओ वा) मान मदन करने बात गिस (हृयश्रीव) को अपने भवन से बिना किसी उद्देश्य के (गो ही, इच्छानुसार) ही निकला हुआ गुनकर धवराहट के साथ जिसकी अगला गिरा भी गद भी ऐसी अगगवती (माने) भय के कारण अर्द्ध ब द की हुई सी प्रतीत होती थी ।

यहाँ उल्लेखा अगद्वार वाच्य है उसी में कवि का तात्पर्य है और यही चमत्कारक है । यद्यपि हृयगीय भी वीरता भी झलकती है तथापि वह रङ्गुतया प्रतीत नहीं होती । अतः यह अित्रकाव्य है ।

उस ध्वनि के दो भेद हैं—(१) विबक्षितवाच्य और (२) अविबक्षितवाच्य अविबक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है—अथ ततिरस्कृतवाच्य और अर्थात्तर सङ्गमितवाच्य । विबक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है—असलस्यक्रम और सलस्यक्रम व्यङ्ग्य । जब रस आदि की प्रधान रूप से प्रतीति होती है तो असलस्यक्रम ध्वनि होती है । किन्तु जब इनकी (किसी वाच्य या व्यङ्ग्य अर्थ के) अङ्ग रूप में प्रतीति होती है तो रसवद अलङ्कार होता है ।

टिप्पणी—(१) ध्वयालोको तथा लोचन (२ १२), का० प्र० (४ २४, २५) मा० द० (४ २, ३, ४) । (२) ध्वनि वाच्य के अनेक प्रकार हैं । यहाँ उनमें से चार मुख्य भेदों का उल्लेख किया गया है । प्रथमतः ध्वनि के दो भेद होते हैं—(१) अविबक्षितवाच्य और (२) विबक्षितवाच्य (१) अविबक्षितवाच्य वह ध्वनि है जहाँ वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में गढ़ी होता । वाच्यार्थ बाधित ही जाता है तथा सव्याप्य का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है । इस ध्वनि को लक्षणागुलक ध्वनि भी कहते हैं । यह अविबक्षितवाच्य ध्वनि दो प्रकार की होती है—(क) अर्थात्तरसङ्गमित तथा (ख) अत्यन्ततिरस्कृत ।

(क) अर्थात्तरसङ्गमित में वाच्यार्थ अपने रूप में बाधित होकर अपने स्वयं की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है । वह अपने अर्थ, का त्याग न करते हुए ही दूसरे अर्थ में सङ्गमित होता है अतः यह ध्वनि उपादानतत्पणा के स्वलो पर होती है । जैसे—

त्वामस्मिन् बन्धि विदुषो समवायोऽन तिष्ठति ।

आत्मीया मतिमात्पय स्थितियन् विधेहि तत् ॥

परम २५५
विनिगत मानदाम्यमार्दराट् चकत्पुष्पमूल्य गृहच्छयासि यम् ।
सप्तध्रमेद्द्रुतपातितागला निमीलित्वासीव भियाऽप्ररावती ॥

शाश्व ३११

विनिगतासि यम् ।

परम २५५

का वाते ग०

रती कठ सुकृष्टं वृत्ते ।

के शी वृत्तं तं हे का ।

वद की वीर्य कराता ।

होकर सुकृष्ट वृत्त

कराता का वीर्य

(१) विबक्षितवाच्य

विबक्षित (अर्थात्तर सङ्गमित)

का ही अर्थात्तर सङ्गमित

का प्र अर्थात्तर सङ्गमित

का ही वा तथा की वृत्त

(क)

सर्वत्र वृत्त वृत्त वृत्त ।

वृत्त वृत्त (वृत्त) वृत्त वृत्त

वृत्त के लक्षण है ।

(ख)

हे अङ्गुलार्थ कठ सुकृष्टं वृत्त वृत्त

वर्तमान

वर्तमान विना सुकृष्ट वृत्त

वर्तमान के लक्षण का विनिग

वर्तमान है । वृत्त वृत्त

वर्तमान का लक्षण वृत्त वृत्त

वृत्त वृत्त । (विबक्षित २० का० प्र०

नेन इविस्मत् । अविनिउतायो
प्रसा । विरतिप्रसाधनर सनसप
ररमाप्रतिव प्राशयेन अतिता

को विचराम्य ह । बहु किलो
उभेन ताल और अप का विलेप
२० १ उदा० १) —
उभ्यानि वपु ।
मिपाप्ररावती ॥

नेन (इयथैव) को अपने ध्वन
रना हुआ सुकर परराहृत के
(सालो) अथ के काल मीत्र

कनि का तालन है और वही
है उपाणि बहु स्तुतया प्रतीत

और (१) अविनिताय
निरस्तुताय और अविनि
को है—असलपत्रम और
मोनि हीने है तो असलपत्र
व्यङ्ग्य अथ के काल मीत्र

२), का० प्र० (४ २१, २५)
कार है । यहाँ उरभे के कार
के दो शेष होते हैं—(१) कनि
वाच्य यह ध्वनि है वीं वता
हो जाता है तथा सन्ध्या का
सु ध्वनि को सन्ध्यापूर्वक स्वनि
में होती है—(क) अविनिताय

में बाह्य होकर अपने अ
वह अपने अथ, का तालन
ध्वनि उपादानतसमा के स्वनि

अप विपत्ति ।
विद्यहि इव ।

‘अयात् मे तुम्ह यह अनजाता हूँ कि यहाँ पण्डिता का समुदाय उपस्थित है
इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर सावधानी से व्यवहार करना’ यहाँ उप
‘यच्चि’ का अर्थ है ‘बहना’ किन्तु जब वह वह ही रहा है तो ‘बहता हूँ’ (वचिन्)
यह कथन व्यर्थ है और इसका सदयाथ लिया जाता है—(वचिन् = उपदिशामि)
‘उपदेश करता हूँ। इस सन्ध्याय के द्वारा हिनकारिता व्यङ्ग्य है। (ख) अत्यन्त
तिरस्कृत वाच्य ध्वनि म वाच्यया बाधित होकर तिरस्कृत हो जाता है उसका त्याग
कर दिया जाता है और वह ल् वाच्य का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्य अथ की प्रतीति
करता है। ऐसा उपादानतसमा से भिन्न सन्ध्या के स्थल पर होता है जैसे—

उपकृत बहु तन्न किमुच्यते मुञ्जन्ता प्रथिता भवता परम् ॥
विदधदोहसनेन सदा सञ्जे सुधितमासत् तल शरदा शतम् ॥

‘अथाव् है मिय, आपन बहुत उपकार किया है। इस विषय म क्या कहा
जाये, आपने तो केवल सञ्जन्ता दिखलाई है। इसलिये ऐसा ही करत हुए सञ्जना
वर्षों तक सुखपूर्वक रहो। अनेक अपकारों से पीड़ित किसी ‘यत्कि की अपने अपकारी
के प्रति यह उक्ति है अत उपकृतम् इत्यादि का वाच्यार्थ बाधित होकर विपरीत
अथ को समित करता है, अर्थात् ‘उपकृतम् का सदयाथ होता है—अपकृतम् ।
इसी प्रकार ‘मुञ्जन्ता इत्यादि का सदयाथ मुञ्जन्ता आदि हो जाता है। और, यहाँ
अपकार को अधिक्ता’ व्यङ्ग्यपाय होता है ।

(11) विवक्षितवाच्य अथवा विवक्षिताप्यरवाच्य ध्वनि—यहाँ वाच्यया
विचिन्तित (= तारत्य का विषय) तो हाता है किन्तु अपने स अधिक रमणीय व्यङ्ग्य
अथ की प्रतीति बचने म तत्पर हो जाता है। यहाँ अविधामूलक व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य
अथ की प्रतीति हुवा करती है अत इस ध्वनि को अधिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं ।
यह भी दो प्रकार को होती है—(क) असलपत्रमथ्यङ्ग्य (ख) सदयत्रमथ्यङ्ग्य ।

(क) असलपत्रमथ्यङ्ग्य—इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यपाय तक पहुँचने का क्रम
सहित नहीं हुआ करता । जहाँ उस आदि व्यङ्ग्य होन है वहाँ यह ध्वनि होती है ।
जैसे अग्ने (उदा० २६२ इत्यादि) शृङ्गार आदि रसा के उदाहरण म ध्वनिवादी की
दृष्टि से रसध्वनि है ।

(ख) सदयत्रमथ्यङ्ग्य—यह ध्वनि अनेक प्रकार की होती है। इसमें वाच्यया
स व्यङ्ग्यपाय तक पहुँचने का क्रम स्पष्टतः समित हुआ करता है जैसे—

निशदानमसम्भारमार्गमातिवेद्य तवते ॥
जगन्निचय नमस्तस्य कलासताप्रयाय मृतिने ॥

अर्थात् बिना तूमिका आदि उपकरण सामग्री के तथा बिना आधार क विषय
आधार के सत्सार का निमाण करन याते उल चक्रमता से भोग्यायमान जिव के विषे
प्रणाम है । यहाँ बत्ताकार उपमान है तथा शिव उपाये है । उपमान को अपेक्षा
उपमेय का उत्कर्ष प्रकट हो रहा है (‘व्यङ्ग्य है) । अत यहाँ व्यतिरेक अक्षर
व्यङ्ग्य है । (विषये प्र० का० प्र० तथा सा० २०) ।

न च य सति भीतादिवल्लुब्धजनकत्वैर्धि वाच्यवाचकभावादानुपयोग । विशिष्ट विधानादिसामग्रीविद्युपामेव तथाविधरस्यादिभावनावतामेव स्वान् बोद्धव्यम् । तदने नातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः ।

(प्रश्न) यदि काय आनन्दोद्भूति का निमित्त है (एय सति) तब तो यह भी भीत आवि के समान (अप जाने विना ही) आनन्द का जनक ही सकता है फिर उसमें वाच्य वाचक भाव या कोई उपयोग नहीं होगा । (उत्तर) यह बचन ठीक नहीं क्योंकि जो व्यक्ति विशेष प्रकार की विभाव आदि सामग्री को जानते हैं तथा उस प्रकार की रति आदि की भावना से युक्त ह उन्हें ही वाच्य के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है । इस प्रकार इस बचन से (अरसिक जनों को भी वाच्य से वाच्य वाचक भाव के द्वारा रसास्वाद्य होने लगेगा इस) अतिप्रसङ्ग का भी निराकरण हो गया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ रसास्वाद्य के दो निमित्त बतलाये गये हैं—(१) किसी रस क विभाव आदि का पान और (२) सहृदय के चित्त म रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना होना । भाव यह है कि विभाव आदि का ज्ञान नाय से होता है का य के बाद ही विभाव आदि का अस्वाद्य है अत वे वाचक हैं और विभाव आदि उनके वाच्य हैं । इसलिये रसानुभूति में वाच्यवाचक भाव का उपयोग है । जिस प्रकार किसी आस्थेय सङ्गीत में राग, लय आदि से ही सामाजिकों को आनन्द की प्राप्ति हो जाती है वहाँ वाच्य वाचक भाव का कोई उपयोग नहीं होता उस प्रकार की बात का य में नहीं है । दूसरी बात यह है कि शृङ्गार आदि रस का आस्वादन उन्हें ही होता है जिनके हृदय म उस प्रकार की रति आदि भावना होती है । इस लिये जो केवल वाच्य का अप समयत है किसी रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना से युक्त नहीं है उन्हें का य का रसास्वादन नहीं हो सकता (मि० न जायते त्सास्वाद्यो विना रत्याविवासनाम्, सा० द० ३८) । इस प्रकार दोनों समुचित रूप से (मिलकर) रसास्वादन के कारण हैं (२) विशिष्टविभावाविशामग्री—प्रत्येक रस म नियत विभाव आदि सामग्री । तथाविध०—रस के आस्वादन के योग्य भाव यह है कि यदि किसी ने चित्त में रति आदि की भावना दवे रूप में है तो उसे रसास्वादन नहीं हो सकता । यदि वह भावना रसास्वादन के योग्य होगी तभी रसास्वादन हो सकेगा । (मि० रथायनुमानेऽभ्यासपाटवताम् का० प्र० वृत्ति ५२८) । अनेन—इस नियम से कि उस प्रकार की रति आदि भावना से युक्त जनों को ही वाच्य से आनन्द की अनुभूति होगी है । अतिसङ्ग—अनिष्ट की प्राप्ति, शरसिक जनों को रसास्वादन होता है यह भावना कभीष्ट नहीं । किन्तु यदि केवल वाच्य-वाचक भाव के द्वारा ही रसास्वादन होगा तो उन्हें ही होने लगेगा, यही अतिप्रसङ्ग है ।

हिं
रसो
रसो
रसो
रसो

एतत्परं हे वाच्य
(रसतः तन्म) कति हे ।
इतिहे वय कति (वाच्यः)
इतो रसप्रसन्न भवत ३३
महूप वरु ३३
रस कति वाच्यता भवत
होता है ।

विशेष (१)
रस रसप्रसन्न का रस प्रसन्न
रस रस वाच्य ही होता है ।
रसो रसो रसप्रसन्न कति हे ।
रसप्रसन्न का चित्त प्रसन्न करने पर ।
रस । रसप्रसन्न कति वाच्य
के वाच्य का वाच्य बनने के
के भाव का रस प्रसन्न के वाच्य
रसप्रसन्न का वाच्य वाच्य-वाच्य
रसि हे रसप्रसन्न के वाच्य रस
रसप्रसन्न से ही रसप्रसन्न हो
गाने की भाव-वाच्यता म् ।
रस का प्रसन्नता होती है ।

(रसिक की रसास्वादन में
होने को वरु मुक्त (वय)
कल्पित रस वाच्य के निमित्त में
रसि रसप्रसन्न का वाच्य
रसि (वय) रसि रसिक (वय)
रस वाच्य रसि कति हे को वरु
रस (वाच्य) रसि ही
रसप्रसन्न का रस प्रसन्न है ।

ईदृशिव चावयापनिष्पन्ने परिकल्पिताभिध्यादिगतिकवशेनय समस्तवाचयापार्थि वगते शाक्यतरपरिकल्पना प्रयास, यथाचोचाम काव्यनिगमे—

'तात्पयनित्रिकाञ्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनि ।
किमुक्त स्यादश्रुतायतासर्वेऽप्योक्तिरूपिणि ॥११॥
विप भसय प्रवो यरुषेव परसुतादिपु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्व केन वापते ॥१२॥

इस प्रकार के वाचयाप का निगय हो जाने पर स्वीकृत (परिकल्पित) अभिधा (तात्पय लक्षण) शक्ति के द्वारा ही सब प्रकार के वाचयाप का बोध हो जाता है । इसलिये श्राय शक्ति (व्यञ्जना) की बल्पना केवल (व्यप का) प्रयास ही है, असा कि हमने काव्यनिगय नामक ग्रन्थ में बतलाया है ।

व्यञ्जप कहा जाने वासा अथ (व्यञ्जनीय) तात्पय अय से भिन्न नहीं होता । अत कोही व्यञ्जना नामक वक्ति (ध्वनि) नहीं होती (न ही ध्वनि नामक काव्य ही होता ह) ।

टिपण्ठी (१)—ईदृशिव—सभी वाक्य वाच्यरक होने हैं, काय (पदवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन) का बोध तात्पय शक्ति से ही हो आया करता है और तात्पय शक्ति द्वारा बोध्य अथ वाचयाप ही होता है । रस (शान्ति-यौद्धर्मि) काव्य वाच्यो का काय है, उनका बोध तात्पय शक्ति न ही हो सकता है अत यह वाचयाप ही है—इस प्रकार के वाचयाप का निष्पन्न करने पर । परिकल्पित सकलपरिच्छ (प्रभा) सयके द्वारा जानी गई । अभिधावि अभिधा तात्पय तथा लक्षणा । समस्तवाचयापविगते—सब प्रकार के वाचयाप का बोध हो जाने से अर्थात् रस आदि भी वाचयाप है और उनका बोध भी मानी गई शक्तियो के आकार पर ही हो सकता है । (२) काव्यनिगय—यह ध्वनि का काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का अथ अनुवक्तव्य है । (३) तात्पयां—इस पक्ति मे ध्वनिक ने अपने मत की स्थापना की है । 'व्यञ्जप कहे जाने वाले अथ का तात्पयाप न ही अतर्भाव हो जाता है अत उसके बोध के लिये 'व्यञ्जना शक्ति की मानने की आवश्यकता नहीं । ध्वनि—'व्यञ्जना, अथवा यह काय जिसमे 'व्यञ्जप अथ की प्रधानता होती है ।

(ध्वनिक की स्थापना मे ध्वनिवाचो की साक्ष्य)—यदि ध्वनि (व्यञ्जना) नहीं होती तो जहाँ प्रयुक्त (धृत) शब्दों के (वाचय) अय में तात्पय नहीं हो सकता उस अपोक्ति रूप वाचय के विषय न श्राय क्या कहेंगे ? [अत 'कव्य भो, मा विद्वि शाश्वतकपु' अत्र क्त्वा० २१६, दस्यदि] ॥११॥ इसी प्रकार जब विना आदि एक व्यक्त (धृत) दूसरे व्यक्त (पर) पुत्र आदि मे कहलाता ह कि 'विष्य छातो यहाँ (इसके घर छाता विष्य छाते से भी बुद्धा है इत्यादि) प्रतीयमान अथ की प्रधानता के कारण यह (वाचय) ध्वनि होगा उसे पीन रोक सकता है ॥१२॥ इस प्रकार (ध्वनि और तात्पयाप का सत्त्व भेद ह) यदि वाचय अपने अय में परिकल्पित (विभात) होकर भी

एतदवयववचनैः । निरिच
एतदवयववचनैः । एतदव

न है (ए हनि) एव तो वरु को
का अर्थ होकर है, निरिच
एतदवयववचनैः । एतदव
को अर्थ है तथा इस प्रकार को
के अर्थ को अनुपुन हुआ अर्थो
को अर्थ से श्राय-वाचय का के
को निराल हो का ।

न वगण स्ते है—(१) किन्ही
विपु मे रसागण्य बोध मति
अर्थात् का अर्थ काय से होता है
के अर्थ है और विपु अर्थ
का अर्थ का अर्थ है । विपु
की कामाधिको को आनन्द की
को अर्थ नहीं होता उस प्रकार
व्यञ्जप आदि रस का आकार
के आदि भावना होती है । इस
रसागण्यन बोध यति अर्थ को
नहीं हो सकता (वि० न आते
एव दूसरा दोनों ध्वनित रूप से
आकारितवाच्यो—प्रत्येक रस में
आकारित के बोध, भाव यह है
द्वे रूप में है दो उभे रसागण्य
के बोध होनी सभी रसागण्यन हो
१० ५० इति २२०) अतः—एत
न विपु अर्थों की ही वाच्य से आनन्द
प्राप्ति, शक्ति अर्थों को रसागण्य
अतः श्राय-वाचय का के द्वारा ही
वक्तिप्रसङ्ग है ।

ध्वनिध्वनेस्त्वपविश्रात् वाक्यमयातराशयम् ।

तत्परस्व त्वविश्रातो,

तत्र विश्रात्यसम्भवात् ॥३॥

एतावत्येव विश्रातितस्तात्पर्यस्मैति किञ्चतम् ।

यावत्कायप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाघतम् ॥४॥

भ्रम धामिक विश्वघ्निति भ्रमिद्वृतास्पदम् ।

निव्याद्वृत्ति रूप वाक्य निषेधमुपसर्पति ॥५॥

अथ अथ का बोधक होता है तो वह द्वितीय अथ ध्वनि (व्यञ्जक) होता है, किन्तु यदि वाक्य अपने अर्थ में विधात नहीं होता और (अपनी विधाति के लिये) किसी अर्थ अथ का भी बोध करा देता है तो वह अथ अथ तात्पर्योपर होता है ।

टिप्पणी—धामिक की स्थापना के विरोध में ध्वनिवादी की मुक्तियाँ इस प्रकार हैं—(i) तात्पर्य का अर्थ है वक्ता की इच्छा । तात्पर्य किसी भी चेतन का होता है, यह का नहीं । अतः जहाँ उद्यतानु को सम्बोधित करके अर्थोक्ति रूप वाक्य कहा जाता है और उससे किसी अर्थ अथ की प्रतीति होती है वहाँ प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्य नहीं कहा जा सकता । जैसे ऊपर उदा० २१६ में शाब्दिक वृत्त ने प्रति जो सवाह है उससे निबंद की प्रतीति हो रही है वह तात्पर्य कसे होगी ? (ii) विषय मुहवव इत्यादि (उपर पु० ३२६) में प्रतीयमान (व्यञ्जक) अर्थ है—इतने घर भोजन करना विषय खाने से भी बुरा है और यहाँ अर्थ प्रधान है । जहाँ व्यञ्जक अर्थ की प्रधानता होती है वह काव्य ध्वनि होता है । यह व्यञ्जक अर्थ तात्पर्य ही नहीं सकता । यह ऊपर कहा जा चुका है । (iii) ध्वनि और तात्पर्य में स्पष्ट भेद भी है (ब्र० अनुवाद) । अतः ध्वनि का तात्पर्य में अंतर्भाव नहीं हो सकता ।

[ध्वनिवादी की चङ्का का समाधान तत्र इत्यादि]—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य के अर्थ को (तब तक) विधानि नहीं हो सकती (अथ तत्र कि समस्त तात्पर्य का बोध न हो जाये) ॥३॥ केवल इतने (नियत) अर्थ में ही तात्पर्य की विधाति हो जाती है इसका नियम किसन बना दिया ? यस्तुत काय (प्रकृति नियत रूप प्रयोजन) के बोध भयत तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है, यह तराजू पर तोला नहीं गया (कि यहाँ तब तात्पर्य का विषय है आगे नहीं) ॥४॥

और, (ध्वनिवादी का जो प्रश्न है कि) हे धामिक निश्चित होकर भ्रमण करो यहाँ भ्रमण दिया का ही प्रतिपादन किया गया है इस वाक्य में निषेधवाचक कोई पद नहीं (नित्याविधि) है, फिर यह वाक्य भ्रमण के निषेध अर्थ में कते जा सकता है ? (ध्वनिवादी के मत में तो निषेध अथ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत हो जाता है) ॥५॥

इत्यादि

दीप्यते

(एतत्पर्यं वा
कथं नूनं हो जाने के कारण)
धीरानि (विश्रुति) =
हे काल पूर्ण शत्रु ॥

द्विध, ध्वनि के
इस से ही मुझे बरदा
काय का = ५५ ५

टिप्पणी—(1) ॥
कालो नित्य शत्रुत्वर्पण ही ।
प्रतिपादन किया शत्रु ॥
कथा कि काल का शत्रुत्व
धामिक इत्यादि है का तात्पर्य
(निश्चित होकर भ्रमण का)
का (यही कथन का का) है
का विधानि कते तो पर ५५
कते है—तुम पर कते न बरदा
विश्रुति का ही

तात्पर्य का ही विधानि न
(अथ वाक्य) ही होता है
अर्थ-नियत तात्पर्य ही है,
ही तात्पर्य होता है। कते ही
ही बना । अतः यह है कि क्या
उसी रूप वाक्य का प्रयोग करना
की ही विधानि का प्रयोग करना
नियत में ही परी बात है । काय
होता है । अतः काल (एतत्पर्यं
कथं नूनं (कथं) विधानि
कथं नूनं (कथं) । अतः काल

ममधामप्रदायन्म् ।

न्यत्रममपाद् ॥३॥

नक्ति विहृद्म् ।

न तुलाप्रदम् ॥४॥

मिन्दुदापन्म् ।

नरदुन्दुवति ॥५॥

र इति (मनुष्य) होता है, किन्तु र (अग्नी विद्युत्) के लिये रिती अथ तात्पर्य होता है ।

में ध्वनिवादी की मुक्तियों इस प्रकार लय विधी की वस्तु का होता है, नरके अतीति रूप वाक्य कहा जाता है। अतीतिमान अथ को तात्पर्य प्रयोगिक रूप के प्रति जो अन्वय है वही होते हैं। (ii) विष्य वृत्तवा अर्थ है—इसके बाद मीमांसा करता है। अतीति अथ को प्रयोगता तात्पर्य हो नहीं सकता, यह न सत्य भेद भी है (इ० मनु) हो सकता ।

वार्धि—यह कथन ठीक नहीं, हो सकी (अतः तक कि समस्त विद्युत्) अथ में ही तात्पर्य की विद्या ? बहुत काय (अवति) प्रस्ताव होता है वह तराज पर जाने नहीं। (ii)।

धार्मिक निश्चित होकर धर्म में है इत लय में निरालम्ब अथ के निराय अथ में बने जा व्यञ्जना द्वारा प्रतीत हो जाता

प्रतिपाद्यस्य विधातिरपेसापूरणाच्छि ।

वक्तुविधिसिताप्राप्तेरविधातिन वा कथम् ॥६॥

पीरुपयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतत्रता ।

वक्तुविधिमैतताप्यमत कायस्य युज्यते ॥७॥ इति ।

(इस पर धार्मिक का उत्तर है) यदि 'अम धार्मिक' इत्यादि में (श्रोता की) आकांक्षा पूर्ण हो जाने के कारण (ध्वनिवादी के अनुत्तर) तात्पर्य (प्रतिपाद्य) अथ की परिसमाप्ति (विधाति) मानी जाती है तो यत्ना के विवक्षित अर्थ की प्राप्ति न होने के कारण यहाँ तात्पर्य की अविधाति क्यों नहीं मानी जा सकती ? ॥६॥

किञ्च, मनुष्यों के सभी वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं (कुछ कहने की इच्छा से ही मनुष्य वाक्य का प्रयोग करता है) इसलिये वक्ता के अभिप्रेत अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य मानना उचित है ॥७॥

टिप्पणी—(१) धार्मिक का अर्थ यह है—(i) विवक्षित अर्थ का पूरातया बोध कराये बिना तात्पर्याय की विधाति नहीं होती । और, वाक्य के द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादन किया जाता है वह उसके तात्पर्याय के ही अन्वय तम है । यह नहीं कहा जा सकता कि वाक्य का तात्पर्य यही तक है आगे नहीं (तान तुलाप्रदम्) । (ii) 'अम धार्मिक' इत्यादि में जो ध्वनिवादी ने कहा है कि श्रोता की आकांक्षा विधि अथ (निश्चित होकर धर्म प्रयोग करो) में पूरा हो जाती है, उसके पश्चात् होने वाला जो निषेध अथ (यहाँ अभी न आना) है वह व्यङ्ग्य है । यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि वक्ता का विवक्षित अर्थ तो पूरा नहीं होता । यहाँ वक्ता है एक कुलटा था उसका विवक्षित अर्थ है—तुम यहाँ अभी न आना । इस निषेध अथ की प्रतीति में बिना वक्ता के विवक्षित अर्थ की परिसमाप्ति नहीं होती । अतः यह निषेध अथ तात्पर्याय ही है । तात्पर्य अथ की विधाति न होने पर जा अर्थ अथ जाना जाता है वह तात्पर्याय (तथा वाक्याय) ही होता है यह ध्वनिवादी ने भी स्वीकार किया है । इस प्रकार यहाँ धर्म प्रयोग निषेध तात्पर्याय ही होगा व्यङ्ग्य नहीं । (iii) वस्तुतः यत्ना का विवक्षित अर्थ ही तात्पर्याय होता है श्रोता की आकांक्षा के पूरा हो जाने से तात्पर्य परिसमाप्त नहीं हो जाना । तस्य यह है कि वक्ता को जब कुछ कहने की इच्छा (विवक्षा) होती है तभी वह वाक्य का प्रयोग करता है । अतः मनुष्यों के वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं और जो विवक्षित अर्थ होता है उसी में वाक्य का तात्पर्य होता है । वाक्य वाक्यो के विषय में भी यही बात है । वाक्य का तात्पर्य भी वक्ता (कवि) के अभिप्रेत अर्थ में ही होता है । इस प्रकार रत्न आदि तात्पर्याय ही हैं, व्यङ्ग्य नहीं । (२) 'अमिहृतात्पर्यम् = धर्मप्रयोगनिपादनम् (प्रमा) निष्कामिहृति = धर्मप्रयोगव्याप्तित रहितम् = धर्मप्रयोगबोधपरहितम् (प्रमा) । अपेनापूरणात् = वक्ता की आकांक्षा पूरा हो जाने के कारण ।

अतो न रसादीनां काव्यं सह व्यञ्जय यञ्जकभाव । किं तद्धि ? भाव्यभावक सम्बन्ध । काव्यं हि भावक भावाया रसादयः । ते हि स्वतो भवत एव भावनेषु विशिष्टविभावादिमता कायेन भाव्यते ।

न चायं शब्दोऽपरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् कायस्य देख्यति तथा भाव्यमिति वाच्यम्- भावनाक्रियावादिभित्त्वाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च भावाय न तथास्तु अवयव्यतिरेकाभ्यामिह सत्पाठवगमात् । तदुक्तम्—

‘भावाभिनयसम्बन्धाभावयन्ति रसानिमात् ।

यस्मात्सत्पादमी भावा वित्तैः नाट्यधोवर्तुभिः ।’ इति ।

घनिक के मत का उपसंहार—

इस प्रकार रस आदि का काव्य के साथ व्यञ्जय व्यञ्जक भाव सम्बन्ध नहीं है फिर इनमे क्या सम्बन्ध है ? भाव्य भावक सम्बन्ध है । भाव्य (रस आदि का) भावक (भावना या आस्वादन करने वाले) है और रस आदि भाव्य (जिनकी भावना या आस्वादन कराया जाये) हैं । ये (रस आदि भाव) सहृदयों के चित्त में स्वत (स्वभावतः) सिद्धमान रहते हैं । भि न भि न रसों के विशेष प्रकार के विभाय आदि का वणन करने वाले काव्य के द्वारा उनकी भावना करा दी जाती है ।

टिप्पणी—(१) अत इत्यादि में घनिक ने अपने इस मत का उपसंहार किया है कि रस आदि तथा काव्य में भाव भावक सम्बन्ध है । (२) स्वतो भवत—सहृदयों के चित्त में स्वभावतः रहते हुए । इससे विदित होता है कि अभिनयगुणत से पहले ही घनिक ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सहृदयों के चित्त में रस आदि भाव विद्यमान रहा करते हैं । काव्यो ने द्वारा भावित होकर उन्हीं का आस्वादन किया जाया करता है । (३) भावकेषु—सहृदयों में सहृदयों के चित्त में । घनिक ने काव्य के लिये भी भावक शब्द का प्रयोग किया है और सहृदय को भी भावक कहा है । काव्य तो भावना (वचना आस्वादन) कराने वाला है अतः भावक है, किन्तु सहृदय जन भावना करने वाले हैं इसलिये भावक कहा जाते हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि दूसरे स्थलों पर (व्याकरण आदि के) अय शब्दों में तो भाव्य भावक रूप सम्बन्ध नहीं होता अतः काव्य के शब्दों में भी यह सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भावना के रूप में किया को मानने वाले (मीमांसकों) ने अयय भी (शब्दों में) भाव्य भावक सम्बन्ध स्वीकार किया है । दूसरी बात यह भी है कि चाहे अयय भाव्य भावक सम्बन्ध स्वीकार किया है । दूसरी बात यह भी है कि चाहे अयय भाव्य भावक सम्बन्ध न भी हो तथापि यहाँ (काव्य में) अयय व्यतिरेक के द्वारा यह सम्बन्ध माना जाता है । जसा कि कहा गया है— (नाट्यशास्त्र ७३) क्य.कि ये । (चित्ता आदि) सामाजिकों को (इत्याय) भाव तथा द्रवितनय (अथवा भाव के अभिनय) से सम्बन्ध रखने वाले रसों को भावना कराते हैं इसलिये नाट्य प्रयोक्ता जन हैं भाव मानते हैं ।

रस सुगरीयमयम
रसादिभिर्युक्तानि

रसोऽपि रसात्

रसिणः—(१)

रसुरा रसात् का वय है—रसुरा
रसुरा रसात् का वय है।

रसतः कदापि रसात् विदित नकार
इत्यादि इत्यादि इत्यादि

भावना का रसिण ही इत्यादि है।
इत्यादि के उल्लेख आदि का

भावना के जो आस्वादन (सिद्ध
—रसुरा रसात् का वय है।

भावना का रस रस को भावित
रसात् के रस को भावित कराते हैं।

रसो रसुरा रसात् में जो काव्य
के सम्बन्ध—रसो रसात् को

(रसुरा), रसिण काव्य के रस
(रसिण) में रस रसुरा के

भावना—भावना रसात् (१) में
रस रसुरा में (रसुरा रसात्) का

का वय इत्यादि रसात् के रस
रस रसुरा रसात् के रस रसात्

(रस) रसिण रसात् का
रस रसात् में रसो रसात् का

रसिण रसात् के रसात् का
रसिण रसात् के रसात् का

में जो रसो रसात् का रसुरा रसात्
के रसात् रसात् के रसात् रसात्

में जो रसो रसात् का रसुरा रसात्
के रसात् रसात् के रसात् रसात्

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् । अथ चतुर्थः । त्रिंशत् ।

कथं पुनरुद्गीतसम्बन्धस्य परमस्य स्वाम्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तयाविद्यचेष्टानुसन्धीषुसादियु रत्याद्यनिनाभावगानादिहोषिण्ये तद्व्ययनिगमये सति रत्याद्यनिनाभूतचेष्टादिप्रतिपादनादयथाऽदृश्यवादादिधेयाऽविनाशेन सादात्मिकी रत्यादि प्रतीति । यथा च काव्यायस्य रसमायकत्वं तथाऽपि वक्ष्यामि ।

द्विष्यन्ती—(१) भावनाज्ञियावादिभिस्त तयाज्ञीकारात्—भाट्ट मीमांसक के अनुसार जिया का अर्थ है—भावन । यह भावना दो प्रकार की होती है—शब्दी भावना तथा आर्था भावना । शब्दी भावना का अर्थ है किसी मनुष्य को जिया में प्रवृत्त कराने वांना विशेष प्रकार का व्यापार, जो वलात् वा अविभ्राय रूप व्यापार होता है तथा शब्दा में लिङ्गलकार आदि के द्वारा प्रवृत्त होता है (वेद में यह शादी भावना शान्तिष्ठी ही होती है) । किसी काय में प्रवृत्त होकर जब कर्ता फल की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करता है तो यह कर्ता का प्रयत्न ही आर्था भावना है जो वाक्यात् (लिङ्ग प्रत्यय) की वाच्य होती है । इस प्रकार शब्दी भावना—प्रवृत्तता, आर्था भावना—प्रयत्न । जैसे स्वयंशामो येत्येत्—स्वयं की कामना वांना याग से स्वयं को भावित करने, इस वाक्य के द्वारा याग में प्रवृत्त हुआ पुरुष याग से स्वयं को भावित करता है । यही याग क्रिया भावक है और स्वयं भाव्य है । इसी प्रकार काव्य में भी भाव्य भावक है और रस आदि भाव्य हैं (२) अयथव्यति रेकान्याय—जहाँ काव्यरस की चषणा होती है वहाँ भाव्य शब्द अवश्य हुआ करते हैं (अयथ) । यदि काव्य के शब्द मही होते तो काव्य रस की चषणा भी मही होती (व्यतिरेक) । इस अयथ व्यतिरेक से काव्य के शब्दा (=काव्य) को रस आदि का भावक माना जाता है और रस आदि को काव्य का भाव्य । (३) भाव्याभिन्नय सम्बन्धान्—नाट्यशास्त्र (७९) में नाताभिन्नयसम्बन्धान् पाठ है । यद्यपि ता० शा० व द्रष्ट श्लोक में (चित्ता आदि) भावो को रस का भावक कहा गया है तथापि भावो का बोध करने वाले काव्य के शब्द भी रस का भावक होत हैं, यह समझना चाहिये । इस प्रकार काव्य के शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर रस आदि के भावक होते हैं ।

(प्रश्न) [जिन शब्दों का जिन अर्थों के साथ सम्बन्ध ग्रहण (सकेत ग्रह) होता है उन शब्दों से जहाँ अर्थो का बोध हुआ करता है यह नियम है] किन्तु रति आदि के साथ काव्य के शब्दों का सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया गया है फिर उन शब्दों से (रति आदि) स्वायो भावों का बोध कैसे हो सकता है ? (उत्तर) लोक से रति आदि के उत्पन्न होने वाली (तथापि) चेष्टाओं से युक्त सभी पुरुषों में (उन चेष्टाओं का) रति आदि स्वायो भाव के साथ नियत सम्बन्ध (=अविनाभाव) देखा जाता है । जब काव्य में भी उसी प्रकार का यमन होता है तो रति आदि भाव के बिना न रह सकने वाली जो चेष्टाएँ हैं उनके वाचक शब्द सुने जाते हैं और उन शब्दों के साथ यम (चेष्टाओं) के साथ नियत रूप से रहने के कारण सदाशा द्वारा रति आदि भाव की प्रतीति हो जाती है । काव्याय रस को भावना कसे करता है, यह अर्थ जानसकेंगे ।

(७०) रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्त्वय वतनात् ।

नानुकायस्य वृत्तस्वात्काव्यस्मात्परस्वत ॥३८॥

द्रष्टुं प्रतीतिश्रीडेव्यारागद्वेषप्रसङ्गत ।

लौकिकस्य स्वरभरणीसयुक्तस्यैव दर्शनात् ॥३९॥

टिप्पणी—तथाभिधचेष्टा—रति आदि भाव से उत्पन्न होने वाली चेष्टा अनुभाव इत्यादि । रसार्थाविनाभावदशामानु०—इत्यादि म मोभासक की प्रथिया व अनुसार यह दिखलामा गया है कि काव्य के मादो से लक्षण द्वारा रति आदि भावो की प्रतीति होती है । कुमारिल भट्ट के अनुसार अभिधेयाविनाप्रतौतिलसामोच्यत (मि० का० प्र० २ १२) यह लक्षण का स्वरूप है । प्रथमत रति आदि स उत्पन्न होने वाली चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुषों म इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण किया जाता है कि ये चेष्टाएँ रति आदि भाव से विना नहीं हुआ करती (अथवा जहाँ जहाँ उस प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं वहाँ रति आदि भाव अवश्य होता है) । फिर काव्य म रति आदि की अविनाभावी चेष्टाओं के पाठक का सुनकर अनका अर्थ समस्त लिया जाना है और उन व्यो (चेष्टाओं) के साथ रति आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है अत रति आदि की प्रतीति हो जाती है (रसार्थाविनाप्रतौ चेष्टादि०, इस कथन से ध्यान्ति-स्मरण और पक्ष समता दिखलाई गई है, काव्य प्रकाश २ १२ के अनुसार कुमारिल के यथन म अविनाभाव का अर्थ व्याप्ति नहीं) ।

साक्षणिकी—काव्य के मादो द्वारा अभिध से चेष्टा आदि (अनुभाव इत्यादि) का बोध होता है चेष्टा आदि अभिधेय हैं । उस चेष्टा आदि म साथ नियत रूप से रहने वाले रति आदि भाव का बोध लक्षणा द्वारा होता है वह प्रतीति साक्षणिकी (लक्षणालम्ब्य) है ।

इस प्रकार रस आदि तथा काव्य का भाव्य भावक सम्बन्ध है यह बतलाकर आगे रस प्रक्रिया आदि के विषय मे बतलाते हैं—

रस का आभाव

वह (काव्याय) से भावित रति आदि स्थायी भाव) ही रस है, क्योंकि उसका आस्वादन किया जाता है (रस्यते स्वाद्यते रस) । यह (रस) रसिक के हृदय मे रहता है, क्योंकि रसिक ही (रस प्रतीति के समय) विद्यमान होता है । अनुकाय (राम, दुष्यन्त आदि) के हृदय मे यह नहीं होता, क्योंकि वे तो अतीत काल मे थे (काव्य या नाट्य के समय नहीं है) । और काव्य उनके (रसास्वादन के) लिये रचा भी नहीं जाता ॥३८॥ (यदि अनुकाय राम आदि मे रस माना जाये तो) जिस प्रकार अपनी रमणी से युक्त किसी लौकिक पुरुष को देखकर हुआ करता है उसी प्रकार अभिनय के देयक (या काव्य के श्रोता अथवा पाठक) को (इसम रति भाव है इस प्रकार की) प्रतीति मात्र होगी (रसास्वादन न होगा) अथवा लज्जा, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि होने लगेगे ॥३९॥

टिप्पणी—सा० प्र० (पृ० १५२) मा० द० (३ १६३ वृत्ति), सा० द०, अनुकायस्य रसादेष्ट्वाद्यो न रसो भवेत् (३ १८) ।

रिसकम्प्य वतनाद् ।
गाम्भ्यात्पानरत्नम् ॥३५॥
गण्ड्यप्रसृत ।
गुणस्वद दशनात् ॥३६॥

गि भाव से उत्पन्न होने वाली वृत्त
— नादि में मीमांसक को प्रिया व
कार्यों के समान द्वारा रति आदि भावों
पर बहिष्कारविनापुनरुपरीतिवसोन्मो
न्य है । प्रथम रति भावि से उत्पन्न
न प्रकार के अविनाभाव काव्य (प्रायति)
भावि भाव के विना नहीं हुआ करता
प्रतीति ही वहाँ रति भावि भाव ब्रह्म
विनामो चर्याओं के बावक बाद हुकर
रती (चर्याओं) के साथ रति भावि का
प्रतीति हो जाती है (प्रायतिवगुण
पन प्रस्ता निष्कार है वही है काव्य
में अविनाभाव का कव्य नाहित नहीं) ।
विना के चर्या भावि (ब्रह्मविना हवादि)
उप चर्या भावि के साथ विना रूप के
द्वारा होता है वह प्रतीति सापत्तिकी

मान्य भावक सम्पन्न है मन् बलवत्तर

दि स्यामी भावो ही रस है, क्याकि
नते स्वाच्छर (रस) । यह (रस)
ही (रस प्रतीति के समय) विद्यमान
दि) के हृदय म यह नहीं होता । और
मा नाट्य के समान नहीं है । और
भी नहीं जाता ॥३५॥ (भादि अनुप्राण
करे अपनी रसमी से युक्त विना
उसी प्रकार अविनाम क दमाक (क
समे रति भाव है इस प्रकार ही
गा) अथवा लज्जा, ईर्ष्या, लज्, इ

ना० ४० (३ १३३ इति), लज् क
३ (१०) ।

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्तो रत्यादि स्यामी भाव स इति प्रतिनिदिस्यते
स च स्वाच्छरतो निभरान दस विदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तोरिति वतमानत्वाद,
नानुकायरामादिवर्तो हृत वाचस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावतमानस्यापि वतमानवदभासनमित्यत एव, तथापि
सदवभासत्वात्मशाविभिरनुपुमानत्वादससमर्तवाऽऽस्वादा प्रति विभाषत्वेन तु रामाद
वतमानवदभासनमित्यत एव । किञ्च न काव्य रामादीनां रसोपजननाय कर्तृभि
भवत्यते, अपि तु सहृदयानान दमितुम् । स च समस्त भावकत्वसत्वेण एव ।

यदि चानुकायस्य रामादे शृङ्गार स्यात्ततो नाटकादौ तदुपनिन लोकिके
इव नायके शृङ्गारिणि स्वका तासयुक्ते हृदयमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणाप
प्रतीतिमात्र भवेन रसाना स्वाद, सत्पुरुषाणा च लज्जा, इतरथा स्वसुयानुसुगाप

यहाँ ('रस स एव' इत्यादि कारिका के) 'स (वह) शब्द से इस रति भावि
स्यामी भाव का निर्देश किया गया है, जो रसिकों के हृदय में रहता है और काव्याय
(विगाय आदि) के द्वारा उद्भूत हुआ करता है । यह रति भावि भाव ही आत्वादन
का विषय होकर अर्थात् गुण आन दातुमूर्ति के रूप में आकर रस कहलाता है । यह
(रस) रसिक के हृदय में रहता है, यथाकि (रस प्रतीति के समय) रसिक ही विद्यमान
होता है । अनुकाय (राम आदि) में यह नहीं रहता, क्योंकि (रस प्रतीति के समय)
वे तो हो चुके होते हैं ।

यद्यपि यह टीका है कि अनुकाय राम आदि विद्यमान न होकर भी विद्यमान
के समान प्रतीत हुआ करते हैं क्योंकि (काव्य के) शब्दों द्वारा उनका रूप उपस्थित
हो पाता है तथापि हम लोगों (सामाजिकों) को ही उनका विद्यमान के समान आभास
होता है यद्युत रसास्वादन के लिये तो वे अधिद्यमान ही होते हैं । हाँ, विगाय रूप
में तो राम आदि की विद्यमान के समान प्रतीति अभीष्ट ही है । दूसरी बात यह भी
है कि कवियों ने राम आदि को रसास्वादन कराने के लिये काव्य रचना नहीं की है
अपि तु सहृदय जनों को आनित करने के लिये ही । और, यह रस समस्त सहृदय
जनों को अपनी अनुभूति का विषय हुआ करता है ।

किञ्च यदि यह माना जाये कि अनुकाय राम आदि को शृङ्गार (रति भाव)
आदि की प्रतीति होती है तो जित प्रकार किसी लोकिक व्यक्ति को अपनी प्रिया से
युक्त देखकर केवल यह शृङ्गार युक्त है इस प्रकार को प्रतीति हुआ करता है उसी
प्रकार नाटक के दशकों (अथवा काव्य के पाठकों) को भी यह शृङ्गारी है यही
प्रतीति हुआ करेगी इस का आस्वादन न होगा । और (राम आदि रति भाव से युक्त
हैं) इस प्रकार को प्रतीति से सत्पुरुषों को लज्जा होती तथा अन्य जनों को (स्वभाव
के अनुसार) ईर्ष्या राम एव (नायिका के) अथहृदय को इच्छा भावि होने लगेगी ।

मनु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभाव नथ च सीतादीना देवीना विभाव-
वलेनाप्रविशेष ? उच्यते—

(४८) धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि प्रतिपादक ।

विभावयति रत्यादीस्त्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी रामादीनामवस्था
भित्तिहासवदुपनिवर्णनात् किं तदिह ? सबलोकसाधारणा स्वोत्प्रेक्षात्सन्निधौ धीरो
दात्ताद्यवस्था श्वचिदाश्रयमात्रदायिनी (वि) दधति ।

(४९) ता एव च परिवृत्तविशेषा रमहेतव ।

तत्र सीतादिभ्यः परित्यक्तजनकतयादिविशेषा स्त्रीमात्रवाचिन किमिवा
निष्टं नुनु ?

(प्रश्न) सामाजिको मे रहने वाले रतों का विभाव क्या होता है ? और सीता
आदि (पुण्य) देवियों को (सामाजिको के रतिभाव का) आत्मम्यन विभाव मानने में
दोष (विरोध) क्यों नहीं होता है ? इस पर कहा जाता है—(उत्तर)

(नाटक आदि में अभिनीत) राम इत्यादि धीरोदात्त आदि अवस्थाओं
का दिखलाने वाले होते हैं । ते रति आदि भावों को (सामाजिक के चित्त में)
भावित करते हैं और उन रति आदि भावा का (=तें) सहृदय सामाजिक
के द्वारा आस्वादान किया जाता है ॥४०॥

भाव यह है कि कविजन योगियों के समान ध्यानचक्षु से देखकर काव्य में
इतिहास आदि को नाँसि राम आदि की व्यक्तित्व अवस्था का वणन नहीं करते । तो
किर कवि क्या करते हैं ? वे ऐसी धीरोदात्त आदि अवस्थायें का वणन करते हैं,
(विदधति) जो सभी (धीरोदात्त आदि) जनों में साधारण होती हैं और जिनकी
योजना कवि कल्पना से करता है, केवल किसी (राम आदि) ध्यातिको जो उनका आश्रय
बना लेता है ।

और, (राम आदि की) निजी विशेषताया से रहित वे (उदात्त आदि
अवस्थाएँ—ता) ही रस वे निमित्त हुआ करती हैं ।

इस प्रकार (वाच्य में) सीता आदि शब्द जनकपुत्री होना इत्यादि विशेषताओं
को छोड़कर केवल स्त्रीमात्र के पाद्यक होते हैं । किर क्या दोष (अनिष्ट) हो सकता
है ? (अर्थात् धीरा आदि पुण्य देवियाँ सामाजिका का आत्मम्यन विभाव बने होंगी
यह शेष नहीं होता) ।

टिप्पणी—(१) प्रश्न है कि सीता आदि देवियाँ तो पूज्य हैं व सामाजिक को
रति का आश्रमन नहीं हो सकती । इसका उत्तर दशरूपक (४५०-११) तथा टीका
में दिया गया है । भाष यह है कि कविजन जो राम आदि का वणन करते हैं वह
इतिहास आदि क समान राम आदि का व्यक्तित्व वणन नहीं शूता अर्थात् धीरोदात्त
आदि अवस्था क प्रतीक रूप में उनका वणन होता है । जब कवि को धीरोदात्त

व्यङ्ग्यभावपादत्वम् । कवयो वच
न नु उदानिभाषिष्यन्महताभिष
नरैष रेषा इत्यवैरिणोः ।

द्वारा रसिक के हृदय में भावित रति
है इत मत का को निराकरण हो
गन ही चुकती है (सत्यसत्तात्म्य=)
द्वारा व्यङ्ग्य हुआ करती है उसे
रसिक क द्वारा व्यङ्ग्य (अप्यजनां)
व्यङ्ग्य नहीं कहलती जिसका
धारणों के द्वारा जनों (व्यजना के)
न में यह बात है क्योंकि विभाव
मानना कराई जती है यह रहिते ही

मने तीन प्रकार क व्यक्त हो करने
अभिनेता तोन अनुकरण करती है
क (सक शोध आदि) । इनमें के
हार्दिकभावान के बने के विचार
इस सचम के एक का अर्थ, है नाप्य
ननु सुदृढ सामाजिक (रसिक) को
न नाप्य की योग्यता या भाव
के सिधे ही की जाती है । नही
को रस का आस्वादन होता है ।
ग । कवो ? इसके सिधे दशरूपक
रत्वान् (१) काव्यसातारत्वत
चतुर्वाद) । हा, दशरूपक के अनु
सकता है, यदि यह काव्य की
वतमाना गया है उस समय नर
अस रसिक को ही रस का
है । (२) काव्यप्रयोगान्तर—
० कर ४२ अन्वक्तो टीका तथा

यह वस्तु को उदाहरित अर्थात्
एव जो उदरत अभिव्यक्त नहीं होती
है कि विभाव आदि के उदरत के
आश्रमन के योग्य हो जाता है वही
चतुर्पदिके से रसिक के निमित्त
नही अभिनीत हुआ करती है ।

किमप्य तद्गु पाद्रीयत इति चेत् ? उच्यते—

(५०) श्रीडत्ता मययद्वद्वात्सलाना द्विरदादिभि ॥४०॥

स्तोत्रसाह स्वदेत तद्वच्छोतणामर्जुनादिभि ।

एतदुक्त भवति—नाम लौकिकशृङ्गारादिवस्त्यादिप्रिभावव्योनामुपयोग, किं तद्भि प्रतिपातितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्व नाट्यपरसामान्यम् । यदाह—'अष्टौ नाट्यपरसा स्मृता' इति ।

अवस्था के किसी नायक का बणन करना होता है तो इतिहास आदि तथा लोकचुत से प्राप्त अनुभव के आधार पर अपनी उबरा कल्पना से धीरोदात्त नायक के भावों तथा कामों की उद्भावना कर नेता है और उसका चरित्र चित्रण कर देता है । यह चित्रण राम व्यक्ति का नहीं अपितु साधारणतः किसी भी धीरोदात्त नायक का हुआ करता है । राम आदि को तो उसका आशय बना लिया जाता है, क्योंकि किसी व्यक्तिविशेष या आशय जिसे बिना सामान्य अवस्था का तो चित्रण किया नहीं जा सकता । इसी प्रकार काव्यगत या नाट्यगत सीता आदि भी केवल प्रतीक मात्र होती हैं बल्कि वे जनकपुत्री सीता या राम की पत्नी सीता के रूप में नहीं होती । वे अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को छुड़कर (परिचयविशेषों) स्थीमात्र के रूप में रस का निमित्त हुआ करती हैं तथा कोई दोष नहीं जाता । (२) स्वभवे = आस्वादन के विषय होते । प्रातिस्विकीम् = किसी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली व्यक्तिगत अवस्था को । सखलोकसाधारणता = सभी शक्तियों सहित सखने वाली सभी धीरोदात्त आदि नायकों में समान रूप से रहने वाली (अवस्थाओं को) । ता = सीताया (प्रभा) वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि सा = धीरोदात्ताव्यवस्था क्योंकि पहली कारिका में धीरोदात्तादि अवस्थाओं का बणन है । परिचयविशेषता = साधारणीकृता सामान्यता नायिकादिकेषुगोपस्वित्या (प्रभा) वस्तुतः व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित केवल धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ । एसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के बणन से काव्य द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण वतलाया गया है कि ० विभावविधाविसाधारणीकरण समता भावकालव्यापारण—भट्टनायक, का० प्र० ।]

(प्रम) [अब काव्य में सीता आदि व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं अपितु स्त्री मात्र के वाचक हैं] सब सीता आदि का प्रथम क्यों किया जाता है ? उत्तर है—

श्रोता गण को अर्जुन आदि (पात्रा) के द्वारा उसी प्रकार अपने अपने उत्साह का आस्वादन होता है जिस प्रकार खेलने वाले बालकों को मिट्टी से बने हाथी इत्यादि के द्वारा (अपने उत्साह का) ॥४१॥

यह कहा जा सकता है कि काव्य-नाट्य के दशास्वादन में (अत्र) लौकिक रतिभाव के समान स्त्री आदि विभावों का उपयोग नहीं होता, प्रयुक्त, जसा कि बतलाया जा चुका है, नाट्य रस लौकिक रस से विलक्षण होते हैं । (परत ने ना० शा० ६ १५ में) कहा भी है—'नाट्य में आठ रस माने जाते हैं' ।

(११) । १ ।

मार्गदर्शक

१ । १ । १ ।

विषय

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

१ । १ । १ ।

ननु च युक्त शृङ्गारवीरहास्यादियु प्रगोदात्मकेषु वाक्यापसम्भेदाद् ज्ञानदो
 ज्ञव इति कथादी तु दुःखात्मके कथमिवासी प्रादुष्यत ? तथाहि—तत्र कथात्म
 ककाव्यप्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽभ्युपासादवश्य रसिकानामपि प्रादुर्भवति, न चैतदान
 दात्मकत्वे सति युज्यत । सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावान्द मुखदुःखान्तो यथा
 प्रहृष्यादियु सम्भोगादवस्थाया कुट्टमित स्त्रीणां च अयश्च लौकिकाल्परुणात्काव्यकरण,
 तथा ह्यभितरोत्तरा रसिकाना प्रवृत्तयः । यदि च लौकिकरणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह
 स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तते, तत्र कथनकरसाना रामायणादिमहाप्रव घातामुच्छेद
 एव भवेत् । अश्रुपादादवस्थेतिवृत्तवपनाङ्गणनेन विनिर्वाणितेषु लौकिकवक्त्रव्यदशना
 दिवत् प्रेक्षणाया प्रादुर्भवतो न विरुध्यते तस्माद्रसात्तरवत्करणस्याप्यान दात्मकत्वमेव ।

मे वित्त वा विकास होता है उसी प्रकार हास्य मे भी इसलिये हास्य शृङ्गार से
 उत्पन्न ('शृङ्गाराद् हि भवद हास्य' इत्यादि) बहू दिया जाता है । अत एव =
 यथोक्ति वित्त की विकास इत्यादि चार भूमियां होती हैं तथा प्रत्येक मे साय दो-दो
 रसों का सम्बन्ध है, इसलिय आठ ही रस हैं यह अवधारण किया गया है । तस्य =
 आन्वाद मे । यद्यपि यह आस्वाद सभी रसो म समान रूप से हुआ करता है तथापि
 प्रत्येक रस के विभाव आदि पथक पथक होते हैं अत रसिक के वित्त की तमयता
 (सभेद) भी भिन्न भिन्न प्रकार की हो जाती है । इसलिये भिन्न भिन्न रस माने जाते
 हैं । हेतुहेतुमव०— हेतुहेतुमदभाव सम्भेगापेक्षया एव दक्षित ' यह अवयव है ।

सभी रसों की आन दरूपता

(सङ्का) शृङ्गार वीर तथा हास्य आदि के रसों पर वाक्याय के साथ
 सहृदय के वित्त की तमयता (सभेद) होने से आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है यह
 तो ठीक है क्योंकि ये (शृङ्गार आदि) सुखारमक ह, किन्तु कथन आदि मे आनन्द
 की उत्पत्ति कैसे हो सक्ता है वे तो दुःखात्मक ह ? क्योंकि कथन रस का काव्य
 सुनने से सत्दर्थों (के वित्त) में दुःख उत्पन्न होता है तथा अश्रुपात आदि होते ह ।
 यदि कथन रस सुखात्मक होता तो ऐसा न हुआ करता ।

(समाधान) यह ठीक है (कि अरुण रस का काव्य सुनने से सहृदयों को दुःख
 होता है और अश्रुपात आदि हो जाते ह), किन्तु काव्य से उत्पन्न होने वाला यह
 आनन्द (रस) उसी प्रकार सुखदुःखदात्मक होता है जिस प्रकार सुरतावस्था में प्रहार
 आदि होने पर स्त्रिया के कुट्टमित (आनन्दपूरक कोय) ये होने वाला आनन्द सुख
 दुःखदात्मक होता है । लौकिक कथन से वा य पा कथन रस भिन्न भी होता ह ।
 इसलिये काव्य के कथन रस में सहृदयों की पुत्र प्रवृत्ति हुआ करती है । यदि
 लौकिक कथन के समान काव्य म (हह) भी रूप रस दुःखात्मक ही होता तो कोई
 भी (सहृदय जन) इसमें प्रवृत्त न होता । इस गान्धार लिपि कथन रस की प्रधानता

है इसे स्तम्भ की भावना
 की है।
 मैं हार का रस (गान्धार,
 जो हुने है रसों (न स्त्रीणां)
 ली। (तत्र प्रवृत्त रसो ह
 ह्यन्त- (1) ह, रस
 १) का १० (1) (1), र,
 रसों (1) त
 है -
 (1) वक्तव्य
 (2) इसी
 रस, रस शृङ्गार रसो म
 (3) शृङ्गार रस
 लौकिक, काव्यक वीर रस
 (4) शृङ्गार रसो म
 कथन विरसता
 को ही मरना है (गान्धार रस
 रस काव्य है का कथन
 होने वापे कथन का
 इस प्रकार काव्य काव्य रसों
 का मी सुख काव्यक ह, र,
 सब रस काव्यकाव्य का कथन
 रस की कथन विरसता हू हू
 की सुखिका क काव्यक रस रस
 काव्यकाव्य है—कथनकाव्यकाव्य प्र
 प्रधान है कि कथन का रस
 का काव्यक काव्यकाव्य है (1
 विरसता हुने कथने हुने क विरसता

शात रसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रेषो नास्ति तथापि सूक्ष्मा तीतादिष्वस्त्वाना सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् का यविषयत्व न निवायते । अतस्तदुच्यते—

(५३) णमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादिस्तदारमता ॥४५॥

शातो हि यदि तावत्—

‘न यत्र दुःख न सुख न चिन्ता न द्वेषरागो न च काश्चिद्विच्छा ।

रसस्तु शात कवितो मुनीन्द्र सर्वेषु भावेषु शमप्रदात ॥

इत्येवमक्षणस्तदा तस्य मोक्षायस्वायामेवात्मस्वरूपापतिलक्षणाय प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिश्चनीयता श्रुतिरपि—स एव नेति नेति इत्येवापोहूरूपेणाह । न च तयाभूतस्य शातरसस्य गह्वदया स्वादयितार सति अयापि तदुपायभूतो मुदितामश्रीकरुणोपेयादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारशोभविशेषरूपतवेति तदुक्तस्य शातरसास्वादो निरूपित ।

शात का भी विकास इत्यादि चार अवस्थानो मे अतन्मयि —

शात रस का अभिनय नहीं किया जा सकता इसलिये यद्यपि नाट्य मे शात रस का प्रवेश नहीं होता (पुष्टिनाट्येषु नतस्य ४३५) तथापि सूक्ष्म तथा अतीत और सभी वस्तुओं का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया जा सकता है अतः शात रस को काव्य का शिष्य होता है इस (तस्य) का निषेध नहीं किया जा सकता । इसलिये यह कहा गया है—

यदि शम नामक स्थायी भाव का प्रकय शात रस होता है तो वह अनिश्चनीय है (उसका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता) । किन्तु (उसको प्रकट करने के उपाय) जो मुदिता (मैत्री), करुणा तथा उपेक्षा) आदि हैं वे उन (विकास, विस्तार, शोभ तथा विशेष नामक चित्त की अवस्थाओं) के स्वरूप मे ही होते हैं । [अतः शात रस का भी उपयुक्त चित्त की चार अवस्थाओं मे ही समावेश हो जाता है] ।

शाय यह है कि शात रस का यह लक्षण माना जाये—‘जहाँ न दुःख है न सुख है, न चिन्ता है न राग द्वेष हूँ और न ही कोई इच्छा है, समस्त भावों मे शम की ही प्रधानता है, उसे श्रेष्ठ भूमिजनों ने शान्त रस कहा है । तब तो उस (शान्त रस) का प्रादुर्भाव उस मोक्ष-शवस्था मे ही हो सकता है ।’ जहाँ आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । और यह (शास्त्र) स्वरूपतः अनिश्चनीय है यह बात धृति मे भी श्रयण्यावृत्ति के रूप मे बही है कि वह (आत्मस्वरूप) यह नहीं है यह नहीं है । और उस प्रकार दे (अनिश्चनीय) शात रस का सहृदय जन आस्वाशन नहीं कर सकते । किन्तु यदि (अथापि) उस (शम) ५ उपाय होने वाले मुदिता, अश्री, करुणा तथा उपेक्षा ही उस (शास्त्र) का स्वरूप है तब तो वह (शान्त रस) को विकास विस्तार शोभ तथा विषेय के रूप मे ही होगा । इसलिये उस (विकास आदि) के कथन द्वारा ही शात रस के आस्वादन का निर्धारण कर दिया गया ।

विषयो—(१) शात रस के

(१) (२) के बारे में ४०-४१ (५३)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)

टीका) । तत्र तात्पर्य वृत्ति द्वारा विभाव आदि से सप्तष्ट रति आदि स्थायी भाव का बोध होता है, यही काव्याय कृष्टलाता है जो काव्य वाक्य का अर्थ है (तत्र विभावतादय पदापस्थायीया तत्सकृदो रत्यादिवाक्याय ४ ३७ टीका) ।

भाट्टमीमांसक के मत से 'यद्वाह' ने भी वाक्य का अर्थ तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही जाना जाता है । इसी प्रकार विभाव आदि से सप्तष्ट रति आदि स्थायी भाव (जो का य वाक्य का अर्थ होता है) भी तात्पर्य वृत्ति से ही प्रतीत हो जाता है । इस काव्याय के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (सम्भेद) हो जाती है । और, उसके चित्त में विकास, विस्तार, सोम या विशेष के रूप में एक विलक्षण आनन्द का उद्भव हुआ करता है । यही स्वाद या रस कहलाता है । का य इसका भावक होता है और यह काव्य का मान्य । इस प्रकार रस भाव आदि तथा काय मे भाव्य भावक सम्बन्ध है, व्यङ्ग्य-यञ्जक सम्बन्ध नहीं जसा ध्वनिवादियों ने माना है ।

यह आनन्द या स्वाद वाहुर से नहीं आता अपितु रमिक जन दुष्यत आदि के चित्रण द्वारा अपने चित्त में स्थित रति वादि भाव का आस्वादन किया करते हैं जिस प्रकार वालक मिट्टी के हाथी इत्यादि के द्वारा अपने उत्साह या आनन्द लिया करते हैं इस प्रकार रसिनवर्षी रति आदि स्थायी भाव ही आस्वाद्य होकर रस कहलाता है, क्योंकि आस्वादन किया जाता है (रस्येते इति रस) — रस स एव स्वाद्यःवाद्य । या कहिये कि स्थायी भाव सत्ता रस मे कार्य मोलिन अंतर नहीं है स्थायी भाव का प्रथम ही रस है (अभेदाद् रसभावयो) ।

यथ के अनुशीलन से दशरूपक का रस सिद्धांत यही प्रतीत होता है । इस रस सिद्धांत के मुख्य तत्त्व हैं — (i) रति आदि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में पहिले से विद्यमान होते हैं । इस मत तथ्य को अभिनवगुप्त आदि ने भी स्वीकार किया है । (ii) विभाव अनुभाव सारिक तथा व्याभिचारी भाव के द्वारा वह स्थायी भाव भावित हो जाता है आस्वादन योग्य हो जाता है (४) । यह! सात्त्विक भावों का प्रयुक्त ग्रहण किया गया है, जो भरत के रस सूत्र आदि में नहीं है । स्थायी भाव की पुष्टि की बात भट्टकोल्लट ने भी कही थी । किंतु वह अनुकायगत रति आदि भाव (लौकिक रस) की लौकिक विभाव (प्रमदा आदि) इत्यादि से पुष्टि है अत इससे नितांत भिन्न है । वस्तुतः दशरूपक का यह मत य अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित मत से बहुत साम्य रखता है, कि तु रस की प्रक्रिया मे अंतर है । (iii) लौकिक प्रमदा आदि काव्य के अतिशयोक्ति रूप-यापार से विभाव आदि बहुलाने लगते हैं (मि का प्र) काव्य में उनके साधारण स्वरूप का चित्रण होता है विशेष-यक्तिगत स्वरूप का नहीं । सहृदय के रति आदि भाव का पोषण करने में उनका शब्द से उपस्थित बुद्धिगत रूप ही अपेक्षित होता है, बाह्य रूप नहीं । यह मत तथ्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है भट्टनायक के विभाववादि साधारणकण्ठान्तान्त भावकव्यापारेण (का० प्र०) तथा अभिनवगुप्त के त्रासकव्यापारमायिकत्वात् (अभि भा प्र २७६) से इसकी तुलना की जा सकती है ।

विवरण-युक्त
पुनःपुनः
(३३) मन्वन्तः
गिरि गिरि काव्ये ।
(ग)
श्री दत्तना ५ ४ ५
य का कर्त्तव्यवृत्ति से रति रति
की रति, रति का ० पु०
का का कर्त्तव्य । कर्त्तव्य
साधारण कर्त्तव्य है, वह का
शाय रस की रति रति है
विभाव आदि से सप्तष्ट रति
भासक (वासना कर्त्तव्य जना)
विश्व प्रकाश का
शब्द में 'रसना व्यापार माना
रस प्रकार स्वरूप का
रस कर्त्तव्यवृत्तियुक्त का रस
विशुद्ध का है । रसकला
का ० २७२ रसकला का ०
रस प्रकार रसना का
रस सूत्र का रति का रस का
रस का सप्तष्ट, मेरे रस
रस (रति के) विभव
आदि का अतिशय कर्त्तव्य रस
के प्रयुक्त भावक कर्त्तव्य है ।
(शुद्धांतर आदि) रस
समान कर्त्तव्यता का रस है,
ही होते हैं अत रसना
कर्त्तव्यता है) ॥४४॥
(कर्त्तव्य में)
काय अत कर्त्तव्यता आदि ।
विषयो—वाक्य का मत
शुद्धांतर रस रति-वाक्यभासक
है शुद्धांतर का रति के अर्थ

ने स्रष्टु रति कति स्वामी भाव
न-भारत का बर्ण है (नविद्यापन
१० टीका)।

रत्नर का मय ताप्य इति द्वारा ही
रत्न रति का स्वामी भाव (न
ने ही प्रतीत हो जाता है। इस सम्बन्ध
हो जाता है। और उसके विल में
इतिताप आनन्द का उद्भव हुआ
मय सत्ता प्राप्त होता है और यह
या काय्य में भाव्य भावक सम्बन्ध है,
ने माना है।

म कतिनु रति-क वन इत्यत्र आदि के
र का भावनात्मक विद्या कर्मों है कि
ने उद्भव का आनन्द निरा रने ही है
भावनात्मक होकर मय इत्यादि है।
म-मय एक स्रष्टुत्वत्वात्।
म-मय ही है स्वामी भाव का

भाव्य ही प्रतीत होता है। इस
स्वामी भाव स्रष्टुत्व के विल में
समस्त आदि ने भी स्वोदाहर किया
गरी भाव के द्वारा यह स्वामी भाव
(५) यही भाविक भावों का
ने आदि में नहीं है। स्वामी भाव
इतनु यह अनन्तरात् रति आदि भाव
इत्यादि से युक्ति है अतः स्वामी
भाव्य अनन्तरात् द्वारा स्वामित्व का
ने में उदाहर है। (३३) कोविच प्रस्ता
भाव आदि बहेशोने सतते है (मि का
हीना है विशेष स्वामित्व सम्बन्ध का
ने में उदाहरण के अन्तर्गत अस्वत्त्व
भावन्य भावत महत्त्वज्ञ है अस्वत्त्व
भावन्य (का० प्र०) तथा अनन्तरात्
(३६) से इसकी तुलना की जा सकती है।

विशेषवक्षणाद्युक्त्यन्ते तत्राचार्येण स्वामिना रत्यादीना शृङ्गारादीना च
पृथक्संज्ञानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

(५५) लक्षार्थेण विभावर्थादभेदाद्विसमाभावयो ॥४७॥
त्रियते इति वाक्येण ।

(५५) विभाव आदि से समुष्ट स्वामी भाव ही काव्याय है। उसक माय स्रष्टुत्व के विल
की तमयता हो जाती है और आरमानन्द का उद्भव होता है, यही रस है। इस मत-
व्य की अभिनवगुण के रति आदि भाव के साधारणीकरण (विशेष रूपव्याभाव्याद,
नीत इति, अमि० भा० पृ० २७६, तथा साधारण्येन गोचरीकृत का० प्र०) से तुलना
की जा सकती है। साहित्यदण (३६-२०) से जो अनुकूल के साथ सामाजिक का
तादात्म्य बतलाया है, वह भी इसत समानता रखता है। (५) काय से तात्पर्य वृत्ति
द्वारा रस की प्रतीति होती है। विभाव आदि का बोध पदाय के समान है तथा
विभाव आदि से समुष्ट स्वामी भाव का बोध वाक्याय ने समान है। काव्य रस का
भावक (भावना कराने वाला) है, किन्तु तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही। यही श्रुतानामक का
विशेष प्रकार का भावना व्यापार नहीं माना गया, न ही ध्वनिवादिवा के समान
काव्य में श्रुताना व्यापार माना गया है।

इस प्रकार वक्षस्वक का रसविषयक मत य महदुल्लसत्, धीमाद्भु, क, महदनायक
तथा अभिनवश्रुताचार्य क रस सम्बन्धी चार प्रसिद्ध मतों से भिन्न है। इसका अपना
विशिष्ट रूप है। रस सम्बन्धा मता व नियम प्र० अमि० भा० रसमय व्याख्या तथा
का० प्र० चतुस्र उल्लास आदि।

इस प्रकार सामान्य रूप से रस तथा स्वामी भाव आदि का विवेचन करने
अब शृङ्गार आदि आठ रसों के विशेष लक्षण इत्यादि बतलाते हैं।
रसों के लक्षण, भेद तथा उदाहरण

अब (रस के) विशेष लक्षण बतलाये जाते हैं। आचार्य (भरत) ने तो विभाव
आदि का प्रतिपादन करते हुए रति आदि स्वामी भावों के तथा शृङ्गार आदि रसों
के पृथक लक्षण बतलाये हैं किन्तु यहाँ—

(शृङ्गार आदि) रस तथा (रति आदि) स्वामी भाव का एक ही
लक्षण बतलाया जा रहा है, क्योंकि रस और स्वामी भाव के विभाव एक
ही होते हैं अतः दोनों में अभेद होता है (स्वामी भाव का प्रकय ही रस
कहा जाता है) ॥४७॥

(कारिका में) लक्षणपद्य के साथ त्रियते (किया जाता है) यह वाक्य का
शेष अर्थ समझना चाहिये।

टिप्पणी—आचार्य भरत ने पद्य अध्याय (श्लोक ५५ से आगे पद्य) के तत्र
शृङ्गारो नाम रतिव्याविभावमवयव इत्यादि प्रकार से विभाव आदि का विवेचन करते
हुए शृङ्गार आदि रसों के लक्षण किये हैं। दूसरी और सप्तम अध्याय (श्लोक ८ से

तत्र तावच्छृङ्गार —

(५६) रम्यदेशकलाकालवेपभोगादिसेवनं ॥

प्रमोदात्मा रति संव धूनोरन्यो-यरक्तयो ।

प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितं ॥४८॥

इत्यनुपनिषद्यमान काव्य शृङ्गारात्सादाय प्रमथतीति ऋष्युपदशपरमेतत् ।

आगे गद्य) म रतिनाम प्रमोदात्मिकम्' इत्यादि के द्वारा फिर विभाव आदि का निर्देश करते हुए रति आदि स्थायी भावों के लक्षण विनये हैं । किन्तु शृङ्गार रस तथा रति भाव के विभाव एव ही हैं । घनञ्जय की दृष्टि से विभाव आदि के द्वारा आत्मा दम योग्य किया गया रति स्थायी भाव ही शृङ्गार रस है या कहिये कि आत्माद्य मान रति ही शृङ्गार है । अतः स्थायी भाव और रस में कोई तात्त्विक भेद नहीं । इसलिये दोनों का पृथक पृथक लक्षण करने की आवश्यकता नहीं ।

शृङ्गार रस का लक्षण, भेद तथा उदाहरण

उन (रसों) में शृङ्गार का लक्षण है—

रमणीय देश, कला, काल, वेप तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक युवति को जो प्रमोद होता है वह रति भाव कहलाता है, वही मधुर अङ्ग चेष्टाआ से पुष्ट होकर (प्रहृष्यमाणा) शृङ्गार रस कहलाता है ॥४८॥

भाव यह है कि इस प्रकार के वयन करने वाला काव्य शृङ्गार रस का आत्सादन कराने में समर्थ होता है । इसका अभिप्राय कवि को उपदेश (शिक्षा) देना है ।

तिप्पण्यी—(१) ना० शा० (अ० ६ श्लोक ५५ से आगे गद्य), का० प्र० (४ २६) भा० प्र० (बसुप अधिकार), ना० द० (३ १६६), प्रता० (पृ० १६३) सा० द० (३ १७६, १८३-१८६), रसगङ्गाधर (१ पृ० १३६) (१) यहाँ काव्य वयनीय शृङ्गार का स्वरूप दिखाया गया है, वह लौकिक शृङ्गार है । उसके काव्यगत वयन द्वारा जो सहृदयों के चित्त में विभेप प्रकार का आनन्द होता है वस्तुतः वही शृङ्गार रस है । इसी प्रकार अन्य रसों में भी समझना चाहिये । (३) प्रमोदात्मा—प्रमोद ही है स्वरूप (आत्मा) जिसका एक विशेष प्रकार की आनन्दत्मिक चित्तवृत्ति रति कहलाती है इस पद द्वारा रति का स्वरूप बतलाया गया है मि० 'रतिर्मादात्मिका (ना० शा० अ० ७ श्लोक ८ से आगे पृ० ३५०) तथा 'रतिमनोऽनुकूलैर्भ्य मनस प्रवगापितम् (सा० द० ३ १७६) । रम्यदेश०—रमणीय देश आदि शृङ्गार के उद्दीपन विभाव हैं । युवक तथा युवति नायक नायिका आलम्बन विभाव हैं । अयो-यरक्तयो—परस्पर अनुरक्त युवक युवति का । अभिप्राय यह है कि जहाँ नायक नायिका एक दूसरे के प्रति अनुराग रखते हैं वहाँ शृङ्गार रस हुआ करता है । यदि एक में अनुराग होता है दूसरे में नहीं तो शृङ्गारामास ही जाता है द्र० साहित्यवयण (रसो तथा अनुभवनिष्ठायायाम् ३ २६३) । मधुर अङ्ग चेष्टाएँ इसके अनुभाव हैं मि०, 'ललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिर् अनुभावे (ना० शा० अ० ६ श्लोक ५५ से आगे पृ० ३०५) तथा मधुराङ्गविहार (ना० शा० ७ ४८) । शृङ्गार के व्यभिचारी भावों का आगे (४५६) निरूपण किया जायेगा ।

ग वेदितारो इत्यात्मन्

परमर्षि सुत

५ १६

तत्तः

५ १६

परमर्षो ह्य-

परमर्षि

परमर्षि

परमर्षि

परमर्षि

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

५ १६-

तत्र देशविभागे यथोररामचरिते—

‘स्तमरसि सुतनु तस्मिं पवते सक्षमणेन
प्रतिविहितसर्पासुख्ययोस्ता यहाणि ।
स्मरसि सरसतीरा तत्र गोदावरी च ।
स्मरसि च तदुपातत्वावयवोवतनानि ॥२६२॥’

कलाविभावो यथा—

‘हस्त रतनिहितवचनी सूचित सम्यगथ
पादयावैलममुपगतस्तमयवत् रसेषु ।
शास्त्रादीनि चुरमिनय पदविकल्पोऽनुवृत्त—
भावि भावे नुदाति विषयान् रागवन्ध स एव ॥२६३॥’

यथा च—

‘व्यक्तियञ्जनघातुना दशविधेनाप्यत्र ल-ऽामुना
विस्पष्टो हृतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नदिश्याम्य सय ।
गोपुच्छप्रमुखा ऋणेण यथमरितलोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वोपायानुगताश्च वाचविषय सम्यक् यथो दक्षिता ॥६४॥’

प्रत्येक देश विभाव खादि क उदाहरण इस प्रकार है—

जनमें देश विभाव जस उत्तररामचरित (३२६) में—(‘राम सीता से कहते हैं) हे सुन्दर शरीर वाली (सीता) क्या तुम जस पवत पर सखमण के द्वारा की गई सेवा से श्रान्त-दुखक रहते हुए अपने (शानों के) उन विनों का स्मरण करती हो ? या तुमहें सरसत तट वाली गोदावरी याव है ? ओर उसके निरट हस दोनों के बिह्वर करन का स्मरण होता है ।

टिप्पणी—देश विभाव यहाँ होता है जहाँ किसी रमणीय स्थल नदीतीर हृष्यादि के निमित्त स रति भान के उद्बोध का वगन किया जाता है । यहाँ पवत तथा गोदावरी के रमणीय तटों के निमित्त से होने वाली राम की रति का वगन किया गया है ।

कला-विभाव जते (?)

जिनके भीतर (मानों) पचम छिपे ह ऐसे हाथों ने क्षय की मत्तो प्राति प्रकट कर दिया, पाव बिलेयों के द्वारा लय प्राप्त हो गई तथा हाथों में तथयता भी अनु वसों (?) के द्वारा शाखा (विचित्र प्रकार का हस्तवासन) से उत्पन्न होने वाला ६ प्रकार का कोमल अभिनय हो गया । यह प्रत्येक भाव में विषयों को प्ररित करता है यही रागवच (?) है ।

ओर जते (नामान च ११५)—यहा इस (सङ्गीत) मे सर प्रकार की ध्यञ्जन धातु के द्वारा व्यक्तता प्राप्त कर सी है, दूत मध्य तथा मितम्बित रूप से विभक्त यह तीन प्रकार का लय भी स्पष्ट हो गया है, गोपुच्छ इत्यादि सीना यतिवों की क्रमा की गई ह तथा तद्व, शोध ओर ध्रुमात सीतों वाच विचियों भती प्राति बिजला की गई हैं ।

सचन ॥
गिररक्तयो ।
सुविचेरिट ॥४५॥

गन प्रपवतीति क्युत्तररामचरितम् ।
क द्वारा फिर विभाव खादि का विभव न है । किन्तु शुङ्गार रस तथा रति से विभाव खादि के द्वारा भासा गार रस है या कहिये कि भासा र रस में कोई टाविक के नहीं । भासकटा गही ।

भोग खादि क सेवन के द्वारा होता है यह रति भान कहुवाता र (प्रहृष्यमाणा) शुङ्गार रस

ने भाता श्याम शुङ्गार रस का लय रति को उत्तरे (हिसा) देवा

क ५५ से भाव यत्), का० ३०
३१६), प्रया० (३० ११६), का०
३१६) (१) यही श्याम कथानी
शुङ्गार (१) जबके काव्यरत वचन
भाव न होता है बन्तु यही शुङ्गार
भाव न होता है बन्तु यही शुङ्गार
भावे (२) प्रमोदकला—प्रमोद ही
गिष्टे । (३) प्रमोदकला—प्रमोद ही
की भाव वाचक विरहति रति बह
गया है कि० ‘रतिमोर्गतिवका (ना०
‘रतिमोर्गतिवका’ मना प्रपामिनि
खादि शुङ्गार के वर्णन किया है ।
व है । कथनीयक्तो—रत्नर कुल
यन नागिना एक कुरी के प्रति श्रुत
दि एक न अनुभव होता है कुरी में यही
ग (रति) तथा उपनिषत्वादिन कुरुक
नितमनुशास्त्राचारवाचिनि कुरुक
३०५) तथा मुद्राङ्गु विहार (ना० का०
भा० ५४६) निरूपण किया यतः ।

कालविभावा यथा कुमारसम्भवे—

असूत सद्य कुसुमायथोकं स्व-घातप्रभृद्येव सपत्नवानि ।
पापेन नापगतं सु-दरीणा सम्पकमाशिञ्जितनूपुरेण ॥२६५॥

दस्युपक्रमे—

मधु द्विरेफ कुसुमकपाने पथी प्रिया स्वामनुवत्तमाना ।
भृङ्गण सस्यपनिमोलिताश्री मृगौमकण्डूवत कृष्णसार ॥२६६॥

टिप्पणी—(१) कला विभाव बहुरां होता है जहाँ नल्य सगीत आदि बला के निमित्त से रति भाव के उद्भव का दसान होता है। यहाँ 'हस्त' इत्यादि में नल्य के निमित्त से उद्बुद्ध होने वाली रति का वणन है तथा "रक्ति" इत्यादि में सगीत के निमित्त से उद्बुद्ध होने वाली रति का । (२) लय—क्रिया के अन्तर विश्राम ही लय है यह तीन प्रकार का होता है—दृत् मध्य और विलम्बित असा कि सगीतरत्नाकर (अ० ५) में बतलाया है—

क्रियान्तरविध्यां तलय स निविद्यो मत ।

द्रुतो मध्या विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत ।

द्विगुणद्विगुणौ नैवो तस्मान् मध्यविलम्बितौ ॥

शाखा—निविद्य प्रकार से हस्तपालन असा कि सगीतरत्नाकर (७) में कहा है—
'उप शालेति विख्याता विचित्रा करवतना'। शाखायौनि—शाखा से उत्पन्न होने वाला (शाखा योनिर यस्य तादृश, अभिनय) पदविकल्प = ६ प्रकार का, अभिनय ६ प्रकार का होता है—तीन प्रकार (शरीर, मुखज और चेष्टाहृत) का २ ३ आङ्गिक तथा ४ बाष्पिक ५ आहाय और ६ सार्विक (ना० शा० अ० ८)। (५) ध्वञ्जन घातुना ना० शा० (अ० २६) में वीणा में दस ध्वञ्जन घातुओं का प्रयोग बतलाया गया है उनके द्वारा सगीत की 'यत्नता हो जाती है वे दस "ध्वञ्जन घातु हैं, पुष्प, कल तल निष्कटित, उद्घुष्ट रेफ अनुव ध्र, अनुस्वमित बिन्दु तथा अपघुष्ट। यद्यप्य—सगीत में लय की प्रवृत्ति का नियम यति पहलाता है जसा कि सगीतरत्नाकर (अ० ५) में कहा है—'लयप्रवृत्तियमो यतिरत्यप्रधीयते। समा स्रोतोगता गानुच्छा निविधेति सा। बाधविधय—बाधन के प्रकार ये तीन होते हैं—तत्त्व अनुगत और औष (सगीतरत्नाकर अ० ६)

बाल विभाव, असे कुमारसम्भवे (३ ३६) में—(यसत के आगमन से) अशोक वक्ष ने तत्काल ही तने से लेशर ऊपर तक पत्तव सहित मृगुमों को उत्पन्न कर दिया और उसने सङ्कट नृपुर्गों वाले सुन्दरियों से चरण के स्पर्श (ग्रहण) की भी अपेक्षा न की।

इससे आरम्भ करके (कुमारसम्भवे ३ ३६) 'अमर अपनी प्रिया का अनुवचन करते हुए एक ही पुष्प मात्र से सकरद पीने लगा। काला हरिण अपने सींग से हरिणी को खुदलाने लगा जो उसके स्पर्श से अलोल मुँह रही थी।

टिप्पणी—काल विभाव बहुरां होता है जहाँ कालविशेष वसत आदि के निमित्त से रतिभाव के उद्बुद्ध होने का वणन होता है। यहाँ वसत के आगमन से सुनो तथा मृगुओं आदि में रतिभाव के उद्भव का वणन किया गया है अल वसत ध्वतु (काल विभाव है।

रतिरतो रता इव—

रतापि रतो रता—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

रतिरतो रता इव—

ने सन्तानवापि ।
अन्धजगदुत्तरे ॥२६६॥

मनुवत्तमान ।
एन इच्छाहा ॥२६६॥

ये बहुत माल संगीत आदि कला के
हैं । यहाँ 'हस्त' शब्दादि में नल के
या 'पति' इच्छादि में संगीत के
हैं—किया के अन्तर विमान ही व'
विमानिन असा कि संगीतसंगर

विद्यो मत ।
प्रसन्नो मत ।
विस्तारिविद्यो ॥

ना कि शरीरस्लाकर (०) में रहा है
प्राणानि—प्राण से उन्नत है
बल्ल—६ अक्षर का, अक्षर
कोर (वेदक) का २ वं आक्षिप
० वा ० अं ०) (१) अक्षर
वत् धातुओं का प्रयोग बल्लवा
वेदक अक्षर प्राणु है, पुन वत्
विद्यु तथा अक्षर । अक्षर
अक्षर कि संगीतस्लाकर (० २)
समा सोतोपना मायुडा विभिन्न
त है—तत्र, अक्षर कोर ओष

में—(बसल के अक्षरान से) अक्षर
परित अक्षरों को अक्षर कर निज
के स्वय (अक्षर) को को अक्षर

'अक्षर अक्षर निज का अक्षर
गा । बसल हीन अक्षर तो के
में अक्षर ही को ।
तो अक्षरविषय बसल आदि के निज
हैं बसल के अक्षरान से अक्षर वत्
किया गया है अक्षर अक्षर (अक्षर

वेपविभाषो यथा उच्यते—

अशोकनिमित्तसत्परागमाकाहृदहेमद्युतिर्गणहारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसि तुवार वस्तन्तुप्यारण्य वहुती ॥२६७॥

उपभोगविभाषो यथा—

'अनुपममपीकण कवलितस्तामूलरागोऽधरे
विभ्रा ता कबरी बपोलपलके सुज्येव प्राणसृष्टि ।
जाने सम्प्रति भानिनि प्रणयिना केरुपुपायकर्म—
अग्नो मानमहातरस्तरणि त रेत स्वतीव्यवधित ॥२६८॥

प्रमोदात्मा रतियथा मालतीमाद्यवे—

'अर्गति जयिनस्ते ते भावा नवेतुक्तालय
प्रहृतीमधुरा शन्येबाये मनो मयदपत्त ये ।
मम तु यदिय याता लोके विवोपनचन्द्रिका
मयतदियय जमयेह त एव महोत्सव ॥२६९॥

वेपविभाव जते (दुष्कारसम्भव ३५३)—(महादेव के निरुद्ध जानी हुई)

पावती वसल श्दु के पुष्पों के आभूषण धारण कर रही थी जिनमे स्थित अशोक
(पत्रों) के द्वारा पवमराग मणि तिरस्कृत हो रही थी, कणिकार के द्वारा सुवप की
काति आहृष्ट को जा रही थी, सिन्दुवार (के पुष्पों) को मोतियों को माला के समान
किया गया था ।

टिप्पणी—वेपविभाव वही होता है जहाँ रमणीय वेप विद्यास के निमित्त से
रति के उद्भव का वणन किया जाता है । यहाँ पावती ने वेप से शिव के चित्त में
रतिभाव का उद्भव दिखलाया गया है ।

उपभोग विभाग जते (?)—(नायिका में उपभोग के चिह्नों को देखकर कोई
सबो उससे कहती है) हे सबो, तुम्हारे नेत्रों का राभल रूप कष्ट छुट गया है, अक्षर
की पान की भाविष्या को बाट ली गई है—केशवारा (कबरी) कपोल तल पर बिछरा है
शरीर की काति सुप्त सी हो गई है । हे मानिनी, ऐसा जान पड़ता है कि इस समय
प्रियतम ने किहाँ उपायों से तुम्हारे चित्त को धूम में बड़ हुए मान ली वृल को
तोड़ डाला है ।

टिप्पणी—उपभोग विभाग वही होता है जहाँ नायक-नायिका के उपभोग-
चिह्नों के द्वारा रति भाव लसित होता है । यहाँ तरणी के काञ्चल की सुन्दता आदि
उपभोग चिह्नों के द्वारा नायक का रतिभाव लसित होता है ।

प्रमोदात्मक रति जते मासतोमाद्यवे (१ ३६) में 'सत्तार ने मयीन चन्द्रकला
हायावि पदाय विजयो (उच्छृष्ट) ह । स्वभाव से मधुर दूसरे की पदाय ह जो मनु को
प्रमुत्सित कर देते ह । किन्तु सत्तार में नेत्र-कोयुवी यह (मासतो) जो मेरे नेत्रों का
विषय हुई है मेरे लिये जीवन में एक यही महान् उत्सव है ।

टिप्पणी—अभी ऊपर रति भाव का स्वरूप बतलाते हुए उसे प्रमोदात्मा कहा
गया है । प्रमोद—विशेष प्रकार का आनन्द । 'अर्गति इत्यादि में आनन्द रूप रति भाव
दिखलाया गया है । यहाँ मासतो का देवकर माद्यव के प्रमोद का वणन है वही प्रमोद
रति भाव का स्वरूप है ।

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीपल शरदि दुर्कात्तवदन बाहू नतानसयो
सक्षिप्त निबिडो नतस्तनयुर पाश्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्ब जघन पादावराताङ्गुली
छद्यो नतयितुयम्व मनस स्पष्ट तथाऽस्या षणु ॥३००॥

मूनोविभावो यथा मालतीमाधवे—

‘भूयो भूय सविधनगरीरभ्यया पयटत्
दृष्टया दृष्टवा भवनवलभीतुञ्जवातायनस्या ।
साशास्त्राम नवमिष रतिमालती माधव यद्
गाढोःकण्ठातुलितललितरङ्गकस्ताम्बतीति ॥३०१॥

अयोयापुरागा यथा तवच—

यास्या युद्धनितकधरमानन त—
दाङ्गुलद्वन्तगतपत्रनिभ वदस्या ।
दिग्धोऽमुद्रिन च विप्रेण च पदमलाश्या
गाढ निष्ठात इव मे हृदये कटाक्ष ॥३०२॥

युवतिविभाव जैसे मालविकाग्निमित्र (२३) में—(राजा अग्निमित्र मन ही मन मालविका के विषय में सोच रहे हैं) ‘इसका मुख विशाल नेत्रों वाला तथा शरत् के चन्द्रमा के समान कानि वाला है। पुत्रार्थे ऋषीं परझुकीं हूँ वस स्थल घने तथा उमरे स्तनों से कृता (सक्षिप्त) है। दोनों पाश्व चाम मानों वरिष्वाजित किपे हुए हूँ मध्य प्राग मुट्ठी भर (पाणि मित) = हाथ से मापा गया) हैं। जघाये सुबर नितम्बों से युक्त है चरण मोडो झुकी हुई (अराल) अङ्गुलियों से युक्त हूँ। इस प्रकार नृत्य कराने वाले (नत्याचार्य) की भाँसी इच्छा होती है उसी प्रकार का इसका शरीर मड़ा गया है।

दियपी—युवतिविभाव यहाँ होता है जहाँ किसी युवति के शोचन का वजन रतिभाव का निमित्त हुआ करता है। यहाँ मालविका का शोचन अग्निमित्र के रति भाव के उद्भव का निमित्त दिखलाया गया है।

युवक तथा युवति दोनों का विभाव जैसे मालतीमाधव (११८) में—(कामचर्ची कहती है) महल की अटारी के ऊँचे धातयन में बड़ी रति जैसी मालती बार बार अपने समीप का नगरी की भाँसी से धूमने वाले सागात् नयोन कामदेव के समान माधव को देख-देखकर गाढ़ जलकटा से युक्त हुई कम्पित मुखर अङ्गों से पीडित हो रटा है।

दियपी—जहाँ युवक और युवति दोनों के शोचन को पारस्परिक रति भाव के निमित्त रूप में वणित किया जाता है वहाँ दोनों ही विभाव होते हैं। भूयो भूय दर्यादि में मालती तथा माधव दोनों ही शृङ्गार के विभाव हैं।

(नायक-नायिका का) परस्पर अतुराग, जैसे यहाँ (मालतीमाधव १३२) (माधव अपने मित्र मकरच से कह रहा है) अति हुए बार-बार (युव देखने के लिये)

सुवर्णसिन्धु वरा वर—

प्रतिरतितो

(३३) न कस्या १५५

दिन को ३

११ ११

दुःखी ।

आरम्भरौषध

०५

होई हीं सेवा जाने
हैं कुवर शोचों से युक्त (कम्पन
हो करण मतीं भर हुए से
दियपी—शृङ्गार
उपरा उपारण है यन्त्रों
कागण का स्वर किया जा है

बढ़ों से सुदु
से क्यूं हूँ। पर कल्प
युक्त अतुराग, तथा
नितार शोचों, तथा
दियनों का में पाश चर पाश

दियपी
शरण, प्रपन्न, कटाक्ष है
है। निमित्त भावित में

शृङ्गार के

जा काठ गाविक
भाव है वे सभी मित्रकर
का पराधीन करती है।
शृङ्गार के वाच (दिय)

मधुराङ्गविचेदित्त यथा तर्नव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलदानाम्
मधुममुकुलितानाम् प्रा'तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदशुचिचतानाम्
विविधमहमभ्रुव पात्रमालोकितानाम् ॥३०३॥

(५७) ये सत्यजा स्यामिन एव चाष्टौ
त्रिशदत्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युवत्या निवद्धा परिपोषयति । (स्यामिनम्)
आलस्यमौघ्रच मरण जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरद्धमिष्टम् ॥४६॥

मगारवरो
पारं प्रभूते इव ।
गवतानामुत्तौ
दृश्यामस्या ऋतु ॥३०॥

उ
त्रशाठ्यवशात् ।
व द्
त्याम्परीति ॥३०॥

ना ।
॥ ॥३०॥

मे—(राज्य कर्मिण्यश्च भव ही
निगत तैर्गो बाला तथा मरु के
की हूँ वष इत्यत तया उपर
राम्यिन । प्रभू इष्टे इष्टे इष्टे
मुचर निज्यो से युक्त है ।
। इत प्रकाश मुच कराने वाले
इत्या भाषेय पात्र भाव है ।
' युवति के योवन वा यवन
वा योवन कर्मिण्य के रति

मालतीमाधव' (११८) में—
राज्य में बड़ी रति गौरी मालती
वसे सामान्य योवन कायरेव के
हुई कर्मिण्य सुवर अङ्गों से यौवन

योवन को धारस्वरिण रति भाव
हो विचार होते हैं 'युवो युव'
विभाव है ।
वही (मालतीमाधव । ३१) (भाष्य
सुव बार-बार (युव रतेन के निने)

पूमी हुई प्रीया वाले अतएव मुके वस्त से युक्त ब'मल के सखा मुच को धारण करती
हुई मुचर लीमों से युक्त (पकमल) नेत्रों वाली मालती ने अमल तथा विच से युक्ता
हुया कटाल माली मेरे हृदय मे गहरा गात्र दिया है ।

टिप्पणी—शुद्धार के सवण मे जो 'अ'यो'परलभो' यह पद दिया गया है,
उसका उदाहरण है 'या'त्या' इत्यादि । यहाँ मालती और माधव दोनों के परस्पर
अनुप्राण का वयन किया गया है ।

अङ्गों की मधुर चेष्टाएं गौरी यहीं (मालतीमाधव १ ३०)—(माधव मकरद
से ब'ह रहा है) 'उस समय निश्चल तथा विकसित ऊपर की चलती श्रु'सताओं से
युक्त, अनुप्राणयुक्त (मधुम=अनुप्राण कर्मायित) तथा मुकुलित, अषाङ्ग (नेत्र छोरे) तक
वित्सार वाली, तथा मेरी रटि पड़ने पर कूट सङ्कचित हुई (मालती की) विविध
दृष्टियों का मैं पात्र बन गया ।

टिप्पणी—मधुर अङ्ग चेष्टाएं अनुभाव हैं । ना० घा० मे नायिका के नयन
चातुर्य, श्रुंशंप, कटाप के साथ नेत्र-सञ्चार आदि को मधुर अङ्ग चेष्टा कहा गया
है । स्तिमित आदि में मालती की मधुर अङ्ग चेष्टाया वा वयन है ।

शुद्धार के योवक भाव—

जो आठ सार्विक भाव तथा आठ स्थायी भाव और तैतीस व्यभिचार
भाव हैं वे सभी मिलकर ४६ होते हैं । उनको युक्तिपूर्वक योजना शुद्धार रस
का परिपोष करता है । आलस्य, उपमता, मरण और जुगुप्सा—इन भावा का
शुद्धार मे' साथ (तस्य) आलम्बनैवय विरोध माना गया है ॥४६॥

अथस्निग्धप्रतिपाचारणश्चाष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकारथेत्कीनपञ्चाशत् ।
युव या = अङ्गुल्येनोपनिबन्धयमाना शृङ्गार सम्पाद्यति । आलस्योपधनुष्ठासामरणादी
न्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गुल्येन चोपनिबन्धयमानानि विरह्यते । प्रकारातरेण
चाश्रिविरोध प्राक् प्रतिपादित एव ।

३३ स्थानिचारी भाव, आठ स्थायीभाव तथा आठ सात्त्विक भाव ये उनचात्
(४९) भाव ह । मुक्ति के साथ अर्पित अङ्ग रूप में आकर ये (भाव) शृङ्गार रस को
भावित करते ह । आलस्य उपता, लुण्ठता और मरण इत्यादि भावों की यदि एक
(अर्थात् रति भाव के) आलम्बन विभाव का ही आश्रय लेकर साक्षात् रूप से या अङ्ग
रूप से योजना की जाती है तो विरोध हो जाता है । अथ प्रकार से इनकी योजना
करने में तो कोई विरोध नहीं होता, यह पहिले (४ ३४) ही बतलाया जा चुका है ।

द्विष्णी—(१) ना० शा० (६ ४५ के परचात् गद्य तथा ७ १०९ और १०९ से
पूव का पाठांतर), का० प्र० (५ २९) भा० प्र० (चतुष्य अधिकार) ना० द०
(३ १९६) प्रस्ता० (पू० १६३), सा० द० (३ १८३-१८६) । (२) ना० शा० में
'आलस्योपधनुष्ठासामरणा' यह कहा गया है । वहाँ मरण को विप्रलम्ब के 'विभाचारी
भावों में गिनाया गया है । किन्तु व्याख्याकारों का विचार है कि वस्तुतः मरण का
शृङ्गार में वणन नहीं किया जाता । हाँ, मरणासन्नता का वणन किया जा सकता है ।
सम्भवत इतो हेतु दश० में 'मरण' नामक स्थानिचारी भाव को शृङ्गार का विरोधी
बतलाया गया है । सा० द० (३ १९३-१९४) में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है—
रतिच्छेदेहेतुवामरण नव वण्यते ।

आतत्राय तु तद् वाच्य वेतसा काङ्क्षित तथा ।

वण्यतेऽपि यदि प्रयुञ्जीवन स्थावरूरत ॥

(३) स्थायिन एव चाष्टौ—आठ स्थायी भावों में से रति तो शृङ्गार के
स्थायी भाव के रूप में रहता है और शेष सात भाव इसके सञ्चारी ही जाते हैं ।
एकानपञ्चाशत्—यहाँ परिपोषयति = सम्पाद्यति त (प्रतिक) = (उदभावयति ना०
शा० १०९) । ये सभी भाव शृङ्गार रस को उदभावित करते हैं । आगे कह गये
४ भावों को छोड़कर शेष ४५ भाव शृङ्गार रस के उदभावक हैं । ना० शा० (७ १०९
स पहले) में ४६ भाव बतलाये गये हैं क्योंकि वहाँ वंशित भावों में मरण को नहीं गिना
गया । आश्रयप्रदतिरिदम्—एकालम्बनविभावाश्रयत्वेन विरहप्रदते (प्रतिक टीका),
भाव यह है कि जो प्रमदा आदि रति भाव का आलम्बन होता है उसी को आलम्बन
करके आलस्य उपता या घृणा आदि का वणन नहीं करना चाहिये । इसका रति भाव
से विरोध है । अत रस विच्छेद हो जाता है (आलस्यदि च स्वविभावप्रमदादिविषयमेव
निगदम् अभि० भा० पू० ३०६) । प्रकारातरेण = भावा तत्त्वव्यवधानेन (प्रमा),
वस्तुन अ'यासम्बनाश्रयत्वेन—दूरेत आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर आलस्य आदि
का वणन किया जा सकता है ।

किन्तु (पद्मासु) —

(६) वनोती ॥ १०००

रत्नपुष्पि कुम्भीत न मुग्ध

पुष्ट के से—
युष्ट (शृङ्गार रस) दीन
होता ।

विद्यमानम्

कर्मणो को सायं न ह्य

स्य का प्रमेय नही किता ह्य ।

विदम्बता है । बर (गिना

पूर्वण (प्रति) कर्म को

पुष्टि गतिशा का अनुप्रास कर

मुग्ध प्रमेय हस्त है, कर्मिक

विषयो—(१) शृङ्गार

३० ३०१) प्रत्ययके हृष्टि

कर्मण शृङ्गार किन्तु त्रि ३

रत्नपुष्प (१ ३ ११) १८

३ शृङ्गार के सा दद वन ३

हृष्टि या का वन विना वन

अधिक ही प्रमा का वन

कर्म ने शृङ्गार के से वा विने

के सायं कर्मण तथा त्रि

नही किता । हृष्टि वन

है वणना । वहाँ विषयो का

भावा को हृष्टि गतिशा

विद्यमान कहते हैं । वही

कीला तथा विषयभा ही

योग तो विद्यमान है वही । १८

वच से बतलाते के विच वनि

कर्म ने नही शृष्टि कर्मि

कीलातिक वच में प्रमेय

का भावों ने

रत्न विषयो विना के निने

निशानो वाच्य वणन

विभाषास्तु (शुद्धारस्य) —

(५८) अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वादिप्रलम्भश्चतस्रामायाभिधायित्वेन विप्रलम्भश्च उपचरितवृत्तिर्निभूतिर्न प्रयुक्त, तथा हि—दत्त्वा सन्तु समप्रायेऽव्यभिक्तिश्च साद्येन नायिका तदाभूत्तरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनापत्यत्वात् ।

शुद्धार के भेद—

यह (शुद्धार रस) तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग ।

विप्रलम्भ शब्द औपचारिक न हो जाये इस हेतु से यहाँ वीरों (अयोग + विप्रयोग) को सामान्य रूप से धतलाने के लिये (वीरों के वाचक रूप में) 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । वस्तुतः विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ होता है । जब (किसी स्थान पर जाने का) संकेत देकर नायक यहाँ नहीं पहुँचता (सम्भोग) समय भी अद्यपि बीत जाती है और नायक के द्वारा (साद्येन) दूसरी नायिका का अनुसरण कर लिया जाता है उस क्षण में 'विप्रलम्भ' शब्द का मुख्यतः प्रयोग होता है, क्योंकि इसका अर्थ है—वञ्चना ।

द्विष्यो—(१) शुद्धार भेद के लिये ४०, ना० भा० ३० तथा अ० भा० ३० ६, पृ० ३०३, स्वयासौक वृत्ति (२ १३), का० प्र० (४ २८), भा० प्र० (वियोगमाग्य सम्भोगी शुद्धारो भिद्यत विद्या, तु० ८५) भा० ६० (३ १६६) सा० ६० (३ १८६), रसगङ्गाधर (१ पृ० १३८) । (२) भा० प्र० तथा ६० के अतिरिक्त प्रायः सभी में शुद्धार क दो भेद माने हैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ । सम्भोग के लिये 'सयोग' शब्द का भी प्रयोग किया गया है तथा विप्रलम्भ व लिये 'विभाग' का भी । (३) धनिक की टीका का अन्वय यह प्रतीत होता है—प्रसन्न उठ सकता है कि आषाढ मन्त्र में शुद्धार के दो भेद किये हैं सम्भोग तथा विप्रलम्भ । यहाँ 'विप्रलम्भ' शब्द के द्वारा अयोग तथा विप्रयोग दोनों को कहा गया है, फिर धनञ्जय ने ऐसा क्यों नहीं किया । इसमें उत्तर में धनिक का कथन है कि वस्तुतः विप्रलम्भ शब्द का अर्थ है वञ्चना । यहाँ किसी नायिका को संकेत देकर भी कोई नायक समय पर नहीं आता और दूसरी नायिका के पास चला जाता है उस वञ्चना को साहित्यशास्त्र में विप्रलम्भ कहते हैं । यही विप्रलम्भ का मुख्य अर्थ है । इस प्रकार विप्रार शब्द का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ है । सभी प्रकार का (सामान्य) अयोग तथा विप्रयोग तो विप्रलम्भ है नहीं, फिर सभी प्रकार के अयोग तथा विप्रयोग को सामान्य रूप में धतलाने के लिये यदि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो यह मुख्य अर्थ में नहीं होगा अपितु औपचारिक होगा । किंतु मुख्य अर्थ के सम्भन्ध होने पर औपचारिक अर्थ में प्रयोग करना दोष माना जाता है ।

अय आषाढीं ने विप्रलम्भ शब्द का पारिभाषिक माना है अतः उन्हीं अयोग तथा विप्रयोग दोनों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है—परस्परानुत्सयोपचरित विनाशिनो पारतन्त्यादेरपद्यत चित्तविकल्पेयो वा विप्रलम्भ (भा० ६० ३ १६६)

कतिपयान्नेषेसोत्तमायुः ।
 कामयोगेभुजुष्यात्सामान्ये ।
 ३ । प्रकाशजोले

। आत सात्त्विक भाव मे अनशान
 आशर मे (भाव) शुद्धार रस को
 - पचारि शक्तो को यदि एक
 सामान्य रूप से वा मङ्ग
 । अय प्रकार से इसी दोषम
 ३५) ही बनाना का युक्त है ।
 यह तथा ७ (०६ और १०८ के
 प्र० (पृथु क्रोडारो), सा० ६०
 १-१८६) । (३) भा० ३० के
 मन्त्र को विप्रलम्भ के अन्वितारी
 है कि वस्तु मन्त्र का
 वञ्चना किया का कहना है ।
 भाव को शुद्धार का विशेषता
 रस माना ही रहे है—

तथा ।
 ॥
 मे से रति ही शुद्धार के
 दक्षके उत्पत्ती ही जाते हैं ।
 (वर्तिर) —(परमार्थवति ना०
 कृत है । आने कहे कने
 ३) भा० ३० (७ १०६
 पाठो में मन्त्र का नहीं मिला
 विद्यपव (अनिक टीका),
 होता है उषो को आसन्न
 कल्प कहते । इसका रति प्राप्त
 - च स्वविभाषयन्पारिविषयक
 (रमा),
 का आशय तैत्तिरीय आशय

(५६) तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयो ॥५०॥
 पारतन्त्र्येण द्वैवाद्वा विप्रकर्षाद्विप्रनाद्याय ।

योगोऽयं स्वीकारस्तदभावात्स्वयमयोग, पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्विप्रनाद्याय
 तत्त्वाद् मागरिकाभान्त्योवत्सराजमाप्रथाभ्यामिव द्वाद्वा गौरीशिवयोरेवासमागमो-
 योगः ।

(अथ के अनुशीलन से यही आशय प्रतीत होता है इसके तथ्यातम्य का
 निगम्य विद्वान् स्वयं करेंगे) । (३) अयोगविप्रयोगविशेषत्वात्—क्योंकि विप्रलम्भ तो
 अयोगविशेष तथा विप्रयोगविशेष होता है । एतस्ताभायाभिधामित्येन—सामान्य
 अयोग तथा विप्रयोग के वाचक रूप से । उपचरितवृत्ति = उपचरिता वृत्ति यस्य,
 औपचारिक । विशेष अथ का वाचक शब्द सामान्य अथ में औपचारिक (साक्षात्तिक)
 हो जाना करता है जैसे काकेम्बो दधि रदयताम्' यहाँ 'काक' शब्द 'दध्नुषयातक'
 के अर्थ में साक्षात्तिक माना जाता है । साधयेन = नायकेन (प्रभा) ।

अयोग—

उनमें अयोग वह होता है जि' जब नवयौवन से युक्त एक चित्त वाले
 (समान रूप से अनुरक्त) नायक तथा नायिका में अनुराग तो होता है किन्तु
 दूसरे (माता पिता आदि) के अधीन होने के कारण या देववश दोनों एक दूसरे
 से दूर रहते हैं अत मिलन नहीं होता ॥५०॥

योग का अर्थ है नायक और नायिका द्वारा एक दूसरे को स्वीकार कर लेना ।
 उतका अभाव ही अयोग कहलाता है । वराधीनता के कारण दूर रहते से जो अयोग
 होता है उसका उदाहरण है, जैसे दब (?) तथा पिता आदि के अधीन होने के कारण
 सागरिका का बल्लरनाज के साथ तथा मालती का माधव के साथ मिलन नहीं होता ।
 बबवश होन वाला अयोग है जैसे पावती और शिव का (बहुत समय तक) मिलन
 नहीं होता ।

विप्रयोग—(१) का० प्र० (४ २६) में अलिप्राय हेतुक विप्रलम्भ के रूप में तथा
 ता० ६० (३ १८८) में पूवराग विप्रलम्भ के रूप में अयोग का वगन किया गया है ।
 (१) विप्रकर्षान्—दूरी होने से इसका पारतन्त्र्य तथा दवात् दोगो से सम्बन्ध है ।
 बबविप्राद्यत्स्वत्वात्—दब तथा पिता आदि के अधीन होने से । सागरिका देवी वासव
 दत्ता के अधीन है और दब भी उसके अयोग में निमित्त है ही, इसी प्रकार मालती
 माता पिता के अधीन है और दब भी यहाँ निमित्त है । दूसरी और पावती और
 शिव का अयोग केवल बबवश है, यहाँ माता पिता आदि निमित्त नहीं । अथवा
 उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि देवीविप्राधायत्त्वात्' यह पाठ रहना होगा (?) ।

(१) आरम्भ ५२ ॥

५५ ५५ ५५ ५५ ५५

ब्रह्मा मरुत ५५

(१) अलिप्राय हेतुक

एवमथ शोभति ।

५५ ५५ ५५

ये पुरुष को ब्रह्मन्—

उत्त (कौमो) ५५ ५५

तिर (इन्द्र) चित्तु, स्तुति,

ब्रह्मा और ब्रह्मा का अर्थ नद

सूत्रा म बुद्धयतिता होता है

द्विष्ये—(१)

के अर्थ ब्रह्म ५५ ५५ ५५ ५५ ५५

उत्तारे का अर्थ है—उत्तर नाम तथा

५५ (१) ५५ ५५

अर्थ में जो ब्रह्मनामा का

द्वन्द्व रूप में लिखना है—

१ अर्थ—

उत्त (उत्तर वाचो) में

का अर्थ होने पर का अर्थ

है उत्तमें विप्रलम्भ, आरम्भ एव

कते हैं (शिव का) दबन

य छाया में दबना ५५

शबन (शनि) १ पावो, ५

दूका का ता है ॥५३-५५॥

द्विष्ये—(१) न

अलिप्राय का विप्रलम्भ के

एव—अर्थोत्त विप्रलम्भ । का०

(अलिप्राय) ५५ १ ५५ (१) ।

अर्थ के, अथ

विप्रति है ।

३६७

चित्तयो ॥५०॥

पाठस्यैव विप्रकर्मद्विभागात्
१ दशद गौरीशक्तोपनिषत्प्रमाणे

दोगा है, इसके लक्षण्य वा
—सौमिक चित्ततन्त्र दो
एतलामायाप्रियवर्णित्वेन—हृदयन
तद्वृत्ति—वचनराला इति वस्तु
वच में औपचारिक (साधनिक)
वहो 'शक्त' इ—पञ्चमसद्वक
(प्रमा)।

जब से मुक्त एक चित्त वाले
म अनुपाम तो होगा है किन्तु
रग या दैवत्व दोगा एक दूसरे

इ इन्द्र का ही स्वामी बन लेता।
कारण इन्द्र रत्न से जो प्रयोग
आदि के अतीत होने के कारण
के साथ मिलने नहीं होता।
वा (अर्थ सम्यक् तत्त्व) निष्पन्न

हेतुक विप्रकर्म के रूप में तथा
प्रयोग का वचन किया गया है।
या दशद दोनों के सम्यक् है।
होने से। साधनिका ही शक्ति
निमित्त है ही, इसी प्रकार मातंगी
है। इन्द्री और पार्वती का
रिवा आदि निमित्त नहीं। ब्रह्मा
पतात्वाद्' वह पाठ यह होगा (१)।

(६०) दशावस्थय स तत्रादावभिलाषोऽय चिन्तनम् ॥५१॥

स्मृतिगुणकयोर्देगप्रलापोमादसज्वररा, ।

जडता मरण चेति दुरवस्थय यथोत्तरम् ॥५२॥

(६१) अभिलाष स्पृहा तत्र वा ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।

हृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयान दसाध्वसा ॥५३॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नलज्जामायासु दर्शनम् ।

श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागवादिगुणस्तुते ॥५४॥

अथोत्तर श्रुत्कार की अवस्थाएँ—

उस (अथोम) की दश अवस्थाएँ होती हैं। उनमें प्रथम अभिलाषा है। फिर (क्रमश) चि तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग प्रलाप, उमाद, सज्वर, जडता और मरण की अवस्थाएँ होती हैं। इनमें बाद वाली अवस्था पहली पहली से दुःखदायिनी होती है ॥५२॥

टिप्पणी—(१) वणि—साक्ष्यकाररूप दशावस्थोऽभिहित, ना० शा० (६५ से आगे गद्य पु० ३०६ तथा अ० २२), भा० प्र० (पृ० ८५), प्रभा० (पृ० १६५) में १२ दशाओं का वचन है उनमें नाम तथा क्रम में भी भेद है, सा० द० (३ १८६-१६५)। इसके अतिरिक्त रामचन्द्ररी आदि साहित्यशास्त्र के अथो में तथा वामसूत्र आदि में भी कामदशाओं का वचन किया गया है। इन अवस्थाओं का स्वरूप तथा उदाहरण आदि आगे विष्टलाते हैं—

१ अभिलाष—

उन (दश अवस्थाओं) में से अभिलाषा वह है जो सर्वाङ्गसुन्दर प्रिय का दर्शन होने पर या उससे विषय में सुनकर उसके प्रति दृच्छा (चाह) होती है उसमें विस्मय, आनन्द तथा सम्यक् (साध्वस) (ये तीन अनुभाव) हुआ करते हैं (प्रिय वा) वचन १ साक्षात् रूप से, २ चित्र में, ३ स्वप्न में, ४ छाया में दृश्यया ५ भाषा (इन्द्रजाल आदि) में हुआ करता है। उसका प्रथम (श्रुति) १ सखी, २ गीत, तथा ३ माग्य आदि द्वारा गुण-कीर्तन से हुआ करता है ॥५३-५४॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२ १५७-१५८), भा० प्र० (५ २६ इति) में अभिलाषा की विप्रसम्पत् के पाँच भदों में निश्चलाया गया है। वही अभिलाषा—पुत्र राग—अथोम विप्रसम्पत्। भा० प्र० (पृ० ८८), ना० द० (३ १६६ इति), सा० द० (भाषिताप इच्छा ३ १६१)। (२) प्रसिद्धि—चित्र। व्याजानु—हारा (प्रमा), उपाय से, सखीगीतमागवादिगुणस्तुते व्याजानु—यह अत्रय है, स्तुती में पद्यो विभक्ति है।

अभिलाषो यथा शाहु उच—

असद्यः क्षत्रपरिग्रहणमा यदायमस्यामभिलाषि मे मन ।
सतां हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणाभन्त करणप्रवृत्तयः ॥३०४॥

विष्मयो यथा—

'स्तनावालोन्मथ तवज्ञपा' सिर कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिमग्ना दृष्टियुत्पाद्यनिव ॥३०५॥

आनन्दो यथा विद्वशासमञ्जिकायाम्—

गुधावद्रासस्ववनचकौर कपनिता
किरञ्ज्योत्स्नामच्छा सखलिपलपाकप्रणयिनीम् ।

उपप्रकाराय प्रद्विषु नयने तकय मना—

गनाकाशे कोऽय गलितहरिण भीतकिरण ॥३०६॥

सात्वत यथा कुमारसम्भवे—

'त वीर्य येपयुमती सरसाङ्गपटि—
निषेपपाय पवमुद्वहतमुद्बन्धे ।
मार्गावलम्बितकराकुलितेव सिन्धु
सैलाधिपराजतनया न ययो न तस्यौ ॥३०७॥

अभिलाषा जते अभिमानशाकुन्तल (१२३) में (कण्व के आश्रम में शाकुन्तला को देखकर राजा बुध्यन्त सोचते हैं)।—'निस्त-देह' यह क्षत्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, तभी तो मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाषा करता है। स-देहास्पव विषयों में सम्जनों के अन्त करण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।

विष्मय, जते (?) हुआङ्गी के स्तनो को देखकर युवक सिर हिलाने लगता है। मानों उन स्तनों के बीच गयी हुई अपनी दृष्टि को उछाड़ रहा हो।

आनन्द जते विद्वशासमञ्जिका (१३१) में (राजमहल के परकोटे के समीप नायिका के मुख को देखकर नायक कहता है)।—तनिक परकोटे के अग्रभाग पर दृष्टि तो डावो और बिभार करते कि आकार के बिना ही, मग (के साच्छन) से रहित यह कौन सा बद्रमा है जो सबली पल के पाक में प्रणयिनी तथा अमल के प्रसव में तपन (?) उपवन के चकोरों द्वारा पाव की जाती हुई निमल धारिणी को छिटका रहा है।

सात्वत (सम्भय) जते कुमारसम्भवे (५८५) में उस (शिख) को देखकर पवतराय (हिमालय) की पुत्री (गामती) का कोमल कृश शरीर काँपने लगा। आगे रचने के लिये उठाये हुए पग को लिये हुए वह भाग में पवत के आ जाने से दुःख हुई नदी के समान न चल सकी न उठर सकी।

११-
शाहु उच—
असद्यः क्षत्रपरिग्रहणमा यदायमस्यामभिलाषि मे मन ।
सतां हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणाभन्त करणप्रवृत्तयः ॥३०४॥
विष्मयो यथा—
'स्तनावालोन्मथ तवज्ञपा' सिर कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिमग्ना दृष्टियुत्पाद्यनिव ॥३०५॥
आनन्दो यथा विद्वशासमञ्जिकायाम्—
गुधावद्रासस्ववनचकौर कपनिता
किरञ्ज्योत्स्नामच्छा सखलिपलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्रकाराय प्रद्विषु नयने तकय मना—
गनाकाशे कोऽय गलितहरिण भीतकिरण ॥३०६॥
सात्वत यथा कुमारसम्भवे—
'त वीर्य येपयुमती सरसाङ्गपटि—
निषेपपाय पवमुद्वहतमुद्बन्धे ।
मार्गावलम्बितकराकुलितेव सिन्धु
सैलाधिपराजतनया न ययो न तस्यौ ॥३०७॥

यथा हि (सम्भय ८०)
शाहु उच—
असद्यः क्षत्रपरिग्रहणमा यदायमस्यामभिलाषि मे मन ।
सतां हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणाभन्त करणप्रवृत्तयः ॥३०४॥
विष्मयो यथा—
'स्तनावालोन्मथ तवज्ञपा' सिर कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिमग्ना दृष्टियुत्पाद्यनिव ॥३०५॥
आनन्दो यथा विद्वशासमञ्जिकायाम्—
गुधावद्रासस्ववनचकौर कपनिता
किरञ्ज्योत्स्नामच्छा सखलिपलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्रकाराय प्रद्विषु नयने तकय मना—
गनाकाशे कोऽय गलितहरिण भीतकिरण ॥३०६॥
सात्वत यथा कुमारसम्भवे—
'त वीर्य येपयुमती सरसाङ्गपटि—
निषेपपाय पवमुद्वहतमुद्बन्धे ।
मार्गावलम्बितकराकुलितेव सिन्धु
सैलाधिपराजतनया न ययो न तस्यौ ॥३०७॥

यथा हि (सम्भय ८०)
शाहु उच—
असद्यः क्षत्रपरिग्रहणमा यदायमस्यामभिलाषि मे मन ।
सतां हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणाभन्त करणप्रवृत्तयः ॥३०४॥
विष्मयो यथा—
'स्तनावालोन्मथ तवज्ञपा' सिर कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिमग्ना दृष्टियुत्पाद्यनिव ॥३०५॥
आनन्दो यथा विद्वशासमञ्जिकायाम्—
गुधावद्रासस्ववनचकौर कपनिता
किरञ्ज्योत्स्नामच्छा सखलिपलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्रकाराय प्रद्विषु नयने तकय मना—
गनाकाशे कोऽय गलितहरिण भीतकिरण ॥३०६॥
सात्वत यथा कुमारसम्भवे—
'त वीर्य येपयुमती सरसाङ्गपटि—
निषेपपाय पवमुद्वहतमुद्बन्धे ।
मार्गावलम्बितकराकुलितेव सिन्धु
सैलाधिपराजतनया न ययो न तस्यौ ॥३०७॥

यथा वा—

'यथाहता प्रविषची न स दधे गानुमच्छदवतस्मितायुका ।
 सेवते स्म शयन पराङ्मुघी सा तथापि रतये विनाकिन ॥३०८॥
 (६२) सानुभावविभावान्मु चित्ताद्या पूर्वदशिता ।

गुणकीर्तन तु स्पष्टत्वात् व्याख्यातम् ।
 (६३) दशावस्थत्वमाचार्ये प्रायोवृत्त्या निर्दाशितम् ॥५५॥
 महाकविप्रबोधेय दृश्यते तदन तता ।

दिग्भ्राज सु—

(६४) दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च कि नोत्सुक्य प्रजायते ॥५६॥
 अप्राप्ते कि न निर्वेदो ग्लानि कि नाति चिन्तनात् ।

अथवा जठे (कुमारसम्पन्न ८२) 'बुद्ध बहो जाने पर उत्तर नहीं दिया, अर्थात् पकड़ लिया जाने पर चलने के लिये उछलते दौ गे । वह (पावती) शय्या पर झूठी धोर मुछ करके सोई । फिर भी शङ्कर के आनन्द का निमित्त बनी ।'

टिप्पणी—अभिलाषा (= प्राप्त करने की इच्छा) होने पर (१) विस्मय आनन्द तथा (ii) साध्व्य (सम्पन्न) हुआ करता है । ये अभिलाषा के अनुभाव हैं । ऊपर (१) 'स्तना' इत्यादि में श्रुत्याज्ञी के विशाल स्तना को देखकर युवक के विस्मय का बयन है (ii) 'सुधा' इत्यादि में भायिषा को देखकर नायक के आनन्द का बयन है । (iii) (क) त भीष्य इत्यादि में विवाह से पूर्व शङ्कर का देखकर पावती के सम्पन्न का बयन है तथा (ख) 'याहता इत्यादि में विवाह के पश्चात् शङ्कर के समस्त पावती के सकोच का बयन किया गया है । इस उदाहरण से यह प्रकट होता है कि अयोग्य भी अभिलाष नामक अवस्था (विवाह के पश्चात् भी) मिलन पर्यन्त रहती है ।

अनुभाव तथा विभाव सहित चित्ता आदि तो पहिले ही दिखलाये जा चुके हैं ।

यहाँ गुणकीर्तन (गुणबया) को व्याख्या नहीं की गई क्योंकि वह स्पष्ट ही है ।
 टिप्पणी—पूर्व-व्यभिचारी भाषा के प्रकरण में ४८-३३) । गुणबया— प्रिय के गुणा का बयन ।

आचार्यों ने (अयोग्य भी) दश ही अवस्थाएँ इसलिये दिखलाई हैं कि प्राय ये अवस्थाएँ हुआ करती हैं । वस्तुतः महारथिया की कृतिया में उन अवस्थावा के अनन्त प्रकार दृष्टिगोचर होत है ॥५५॥

केसव दिग्भ्राज के लिये यह बात है—

प्रिय को देखकर या उम (के गुणा का श्रयण कर जज अभिलाषा उत्पन्न होती है तो उम अभिलाषा स बया (मिलन की) उत्पन्नता नहीं होती, फिर प्रिय के न मिलने पर बया निर्वेद नहीं होता और अयाधिय चित्ता से बया ग्लानि नहीं हो जाती ? ॥५६॥

तथापि मे मन ।
 कल्पवृक्षतः ॥३०५॥

दं युवा ।
 निर्विद ॥३०२॥

महाकृष्णविनीयु ।
 ग मोतद्विषण ॥३०१॥

मिटि—
 सुषण्डमुद्रा ?
 तु
 न तस्थौ ॥३०॥ ॥

में (बयन के आशय में गनुलता
 'तु संशय के द्वारा प्रह्लाद करने
 भिलाषा करता है । सदैवस्वर
 न होती है ।

अकर युवक सिर हिलाने क्षण
 को उछाव रहा हो ।

के (राजमहल के दरवाजे के द्वारों
 निक परकोठे के अणुभाग पर
 के बिना हो, भग (के साम्प्रत) के
 नाक में प्रणमिनी तथा अन्न के
 न की जाती हुई मिलल कीवती को

८४) में उम (मिथ) को देखकर
 अत दृश करीर कीवते सता । बने
 भाष में स्वत के आ जाने से स्वत

शेष प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगत्तव्यम् ।

व्य विप्रयोग —

(६५) विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविलम्बयोर्द्विधा ॥५७॥

मानप्रवासभेदेन, मानाऽपि प्रणयेष्ययी ।

प्राप्तयोरप्रातिविधोभस्तस्य द्वौ भेदो—मान प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविध—प्रणयमान इत्यामानश्चेति ।

(६६) तत्र प्रणयमान स्यात्कौपावसितयोर्द्वयो ॥५८॥

प्रेमूयको वशीकार प्रणय तद्भङ्गो मान प्रणयमान स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

छिन्नकर प्रेम करना आदि (अयोग की) अवस्थाएँ कामसूत्र से जानी जा सकती हैं ।

टिप्पणी—प्रायोवस्था—प्राय ३ ही का वयन (या चवह्वार) के कारण । तदनन्तर—कामावस्था की अनन्तरता ।

विप्रयोग

जिनका गाढ अनुराग (विलम्ब) होता है ऐसे नायक तथा नायिका का पृथक हो जाना (विश्लेष) विप्रयोग कहलाता है । यह दो प्रकार का है—मान विप्रयोग और प्रवास विप्रयोग । मान भी दो प्रकार का होता है—प्रणय मे और ईर्ष्या मे ॥५७॥

एक दूसरे को प्राप्त कर लेने वाले नायक नायिका का अलग होना ही विप्रयोग है । उसके दो भेद हैं—मान और प्रवास । मानविप्रयोग भी दो प्रकार का होता है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान ।

टिप्पणी—का० प्र० (४२६ वृत्ति) मे अभिलाषा विरह ईर्ष्या, प्रवास और शाप ये हेतु से होने वाली पाँच प्रकार का विप्रलम्ब शृङ्गार बतलाया गया है । ना० २० (३१६५) में मान प्रवास शाप ईर्ष्या और विरह—ये पाँच भेद हैं, तथा सा० २० (३१८७) में प्रवराग मान प्रवास और वरुण विप्रलम्ब—ये चार भेद हैं । का० प्र० का अभिलाषा तथा सा० २० का प्रवराग दश० के अयोग के स्थान मे रखया, जा सकता है । (२) वृद्धविलम्बयो—वृद्ध अनुराग वाली (नायक नायिका) का विलम्ब—प्रणय विलम्ब प्रणयेऽपि न (अमरकोष) ।

प्रणयमान

उनमे नायक नायिका मे से किसी एक या दोनों के कोपयुक्त होने पर प्रणय मान होता है ।

प्रेम के द्वारा (प्रिय को) बध में करना प्रणय कहलाता है । उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान है । यह नायक तथा नायिका दोनों में हुआ करता है । उनमें से नायक का प्रणयमान है उत्तररामचरित (३३७) मे—

कौपावसितयो, इत्यपि पाठ ।

अभिनेतव्यम्

सा ह

१

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

अभिनेतव्यम्

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

(अभिनेतव्यम्)

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

अभिनेतव्यम्

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

अभिनेतव्यम्

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

अभिनेतव्यम्

१ ५ ६

१ ३

प्रसमुदी

१

नन्दन ।

सम्भयोद्दिष्टा ॥१७॥
प्रणयेष्या ।
मान प्रवराच । मातस्त्रिभोगेन

वसितयोद्दिष्टो ॥१८॥
प्रणयमान स च द्वयोर्नौबन्धोभवति ।

१) अरण्यम् शान्तिम् से जातो वा
न कपन (शान्तिहार) के रूप ।

ना है ऐसे नायक तथा नायिका
जाता है । यह दो प्रकार का है—
की दो प्रकार का होता है—

नायिका वा शान्ति होना ही निम्न
विविधों की दो प्रकार का होता

प्रताप विरह, ईर्ष्या, प्रव्रत और
य शूद्रार बतवाया गया है । ना०
विहृद्दने पीच भेद है, तथा सा०
विप्रसन्न—ने चार भेद हैं ।
दशा० के अयोग के स्थान में लला,
राज शाली (नायक-नायिका) न,
योग) ।

एक वा दोना के कोपयुक्त होने पर
प्रणय कहलाता है । उसको मङ्गल होने
करा दोनों में हुआ करता है । उद्ध
३७) में—

‘अस्मि नैव सतापुहे त्वमभवस्त’ मागदत्तेशम
सा हसै कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसकते ।
आयादया परिदुःखनायितमिथ त्वा वीक्ष्य बद्धस्तया
कातयदिरवि बकुडमलनिधो भुध प्रणामाञ्जलि ॥३०॥

नायिकाया यथा श्रीवाचपरितराजदेवस्य—
प्रणयकुपिता दृष्टवा देवी ससम्प्रमविरिप्त-
स्त्रियभूवनगुरुर्मात्या सय प्रणामपरोऽभवद् ।
नमितशिरसो मङ्गलात्कोके तथा चरणाहता-
वबतु भवतस्त्र्यश्वस्यैतद्विलसमवस्थितम् ॥३१०॥

उभयो प्रणयमानो यथा—
‘पण्यकुपितायो ह्ये पवि अतिवपुस्ताण मागदत्ताणम् ।
निष्कलणिलद्धमीमासदिष्णकण्णाण को मल्लो ॥३११॥
(प्रणयकुपितयोद्दिष्टो रप्यलोकप्रयुक्तयोर्गणितयो ।
निश्चलनिष्कलनिश्वासदत्तचणैयो को मल्ल ॥)

‘वनदेवी यासती राम से बहती है) इसी सतापुह में आप उस (सीता) के
आने के माग में दृष्टि लगाये हुए थे, और वह हस्तों के साथ ब्रीडा करती हुई गोदावरी
के बाणुकामय तट पर बहुत समय तक ठहरी रही । जब वह आई तो आपको कुपित
सा देखकर उसने कातरतापूर्वक कमल की कली के तामान सुन्दर (गुण) प्रणामाञ्जलि
दायी ।

नायिका का प्रणयमान उसे श्री वाचपरितराज देव के पद में—
देवी (पावती) को प्रणय से कुपित देखकर सम्प्रम और आरचन से भरे हुए
तीनों लोको के गुण निव प्रणाम करने लगे । किन्तु प्रणाम में तिर धुकाये हुए शिब के
सिर पर पङ्का को देखकर पावती ने (तया) पाव प्रहार कर दिया । अतीवचन शिब
की यह अनोखी (विलक्षण—Strange) बसा आपकी रसा करे ।

दोनों का प्रणयमान उसे (गाथा० २७)—
(दोनों के प्रणयमान से युक्त देखकर सबिर्वां आपस में बह रही हैं) दोनों
प्रणय से कुपित हैं, मानयुक्त हैं, सोने का यहमान कर रहे ह बिना हिले हुले सात दिके
हए (सीता ह वा जागता ह, यह जानने के लिये) एक दूसरे की ओर कान लगाये हुए
ह । देखो तो इमने कौन और (मस्त=पहलवान) हैं? ’

द्विष्यपी—(१) गा० प्र० (दृ० ८६) सा० द० (११६८-१६६) । (२) भा०
प्र० में ‘कोपोहस्तयोद्दिष्टो’ पाठ है । सा० द० में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है ।
नायक और नायिका के बहुत अधिक प्रेमयुक्त होने पर भी यह अकारण कोप हुआ
करता है क्योंकि प्रेम की गति ही निरासी दे—प्रेम्य कुशिलवर्णनस्थितम् ।

(६७) स्त्रीणामीष्यकृतो मान ऋषोऽयासङ्गिन प्रिये ।
श्रुते बाञ्जुमिते हृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥५६॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनमल्पित ।
त्रिघाञ्जुमानिको हृष्ट साक्षादिन्द्रियगोचर ॥६०॥

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव नायिकातरसङ्गिन स्वकात् उपलभे सति ।
अयासङ्ग श्रुतो बाञ्जुमिते हृष्टो वा स्यात् ।
तत्र श्रवण सखीवचनात् तस्मात् विस्वास्पत्वात् । यथा मम—
मुष्णु त्व नवनीतकल्गहृदया केनापि दुमन्त्रिणा
मिष्यव प्रियकारिणा मधुमुषनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षण प्रणयिनायेणास्ति कस्ते हित
किं छात्रीतनया वय किमु सखी विवा किमस्मत्सुहृत् ॥३२॥

ईर्ष्यामान

अपने प्रिय को अय नायिका मे आसक्त सुनकर, अनुमान करके या देखकर जो स्त्रियों को कीप होता है वह ईर्ष्यामान कहलाता है । इनमे सुनना तो सखी के मुख से होता है । अनुमान तीन प्रकार से हुआ करता है—स्वप्न की सङ्खडाहट (उत्स्वप्नायित) से, सम्भोग के चिह्नो (भोगाङ्क) से या भूल से दूसरी नायिका का नाम लेने (गोत्र स्खलन) से । साक्षात् इन्द्रियों का विषय होने पर देखा हुआ कहा जाता है ॥५६—६०॥

टिप्पणी—प्र० भा० प्र० (५० न६), प्रता० (ग्र० २००) सा० ६०
(३ १६६ २००) ।

अपने प्रिय को किसी दूसरी नायिका में आसक्त जानकर ईर्ष्यामान होता है । वह केवल स्त्रियों की ही हुआ करता है । प्रिय की अय नायिका मे आसक्ति सुनी हुई, अनुमान से जानी गई या अर्थो देखी हो सकती है ।

(१) इन मे से सुनना सखी के वचन से होता है क्योंकि यह (सखी) विरवत नौर्य हुआ करती है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पछ है—

(ईर्ष्यामान से युक्त नायिका से नायक कह रहा है) हे सुन्दर भीहो वाली तुम मखन के तमान (मुष्णु) हृदय वाली हो अत किसी युक्त मन्त्रणा देने वाले शूट ही सुम्हारा हितकारी बनने वाले, भीठी बात कहने वाले (मधुमुख) व्यक्त मे सुनूँ हाम पर कुपित कर दिया है किन्तु क्षण भर की यह तो विचारो कि इन सभी प्रिय जनों मे सुम्हारा (सच्चा) हितवो कौन है यह धाय की पुत्री, या यह सखी या हमारे मित्र अथवा हम ।

टिप्पणी—यहाँ सखी वचन से प्रिय की अयासक्ति को सुनकर क्रिमे जान वाले ईर्ष्यामान का वचन है । इन शब्दों क द्वारा नायक मानवती को समझा रहा है ।

(२) अनुमान से अयासक्ति का ज्ञान होने के उदाहरण इस प्रकार है—

स्त्रीणां मीष्यकृतो मान
श्रुते बाञ्जुमिते हृष्टे
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनमल्पित
त्रिघाञ्जुमानिको हृष्ट साक्षादिन्द्रियगोचर ॥५६॥
॥६०॥
ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव नायिकातरसङ्गिन स्वकात् उपलभे सति ।
अयासङ्ग श्रुतो बाञ्जुमिते हृष्टो वा स्यात् ।
तत्र श्रवण सखीवचनात् तस्मात् विस्वास्पत्वात् । यथा मम—
मुष्णु त्व नवनीतकल्गहृदया केनापि दुमन्त्रिणा
मिष्यव प्रियकारिणा मधुमुषनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षण प्रणयिनायेणास्ति कस्ते हित
किं छात्रीतनया वय किमु सखी विवा किमस्मत्सुहृत् ॥३२॥
(६) अपने प्रिय को
अय नायिका मे आसक्ति सुनी हुई
अनुमान से जानी गई या अर्थो देखी हो सकती है ।
(१) इन मे से सुनना सखी के वचन से होता है क्योंकि यह (सखी) विरवत नौर्य हुआ करती है ।
(२) अनुमान से अयासक्ति का ज्ञान होने के उदाहरण इस प्रकार है—

उत्स्वप्नाविती यथा रदस्य—

निमग्नेन मयाग्मसि स्मग्मरादाली ममालिङ्गिता
केनानीहमिद तवाद्य कथित राधे मुधा साम्यम् ।

इत्युत्स्वप्नपरासु भायने ध्रुत्वा वच शालिङ्ग
संयाज निधिमालिङ्गित कमलया वच्छग्रह पातु व ॥३१३॥

भोगाङ्गानुमितो यथा—

नवनक्षपदमङ्ग भोगयस्यशुकेन
स्यगयसि मुनरोष्ठ पाणिना दत्तदन्तम् ।

प्रतिदिनमपरस्त्रीसङ्गघासी विसपन्
नवपरिमलमद्य केन शय्यो वरीतुम् ॥३२४॥

भोगप्रस्थलनक्षलितो यथा—

केलीमासकखलणे विकृप्पए नेअव अजागती ।
दुठठ उअतु परिहास जाथा सच्छ विय चरणा ॥३२५॥
(केलीभोगप्रस्थलने विकृप्पति कतवमजानती ।
दुष्ट पश्य परिहास जाया सवयमिव प्रदतिता ॥)

(क) स्वप्न की कडबडाहट से होने वाला जैसे चद्र (7) का पद्य है—

'अल में डूयकी लगाये मैने काम यव सखो का आलिङ्गन कर लिया यह झूठी बात आज रिसने सुनसे बह बी । हे राधा सुम तो यह ही कुपित हो रही हो' इस प्रकार स्वप्न की बडबडाहट में शय्या पर सोये दृष्ण (जिष्णु) के बचा को सुनकर सन्धी (खमपी) ने कितो बहाने से (कल्प मे) कृच्छग्रहण को सिधिस कर दिया ।

(ख) भोग के पिहू से अनुमित (अयागतिक) यह है, जैसे (माघ ११ ३४ कोई नायिका नायक से कहती है)— नवोन नख क्षत से युक्त अङ्गुली को धरने से छिया रहे हो बट्ट (बट्टे) अघर को हाथ से दख रहे हो । किन्तु अय स्त्री के समागम को प्रत्येक बिरासा मे बतलाने वाला सबज फसता हुआ यह नव परितल मद्य किस प्रकार छिपाया जा सकता है ?

(ग) भोग स्थलन से अनुमित (अयागतिक) जैसे (हाल ६६७, नायिका की सखी नायक से कह रही है)— हे दुष्ट, परिहास मे सुन्दारे द्वारा अय स्त्री का नाम लिया जाने पर छल कण्ट (कतव) को न जानने वाली यह यष्ट (जाया) तत्तमुच ही रोने लगी । अपने परिहास को देखो तो ।

द्विधमी—(१) उ स्वप्नावित=स्वप्न की बडबडाहट, उससे प्रिय की अया सक्ति का अनुमान होता है, जिससे ईर्ष्यामान हुआ करता है । 'निमग्नेन इत्यादि म नौद म बडबडाहटे हुए इधम राधा से कह रहे है । उनके नयन को सुनकर कमला की राधा म आसक्ति का अनुमान करती है । यही ईर्ष्यामान का निमित्त है । (२) भोगाङ्गानुमित=भाग के पिहू से अनुमित अयागतिक, उससे द्वारा ईर्ष्यामान होता

विष्णुसङ्गिनि प्रिय ।
नार सद्योमुधात् ॥३२॥
नवर्नमित ।
त्रिभयोवर ॥६०॥
उद्भिनि स्वान्ते बतलये वसि ।

पा मयन—
ना
स्मान च-उ-उ ।
उ हित
किना किममल्लह ॥३१॥

नक्त मुनकर, अनुमान करके या
इर्ष्यामान कहनाता है । इनमे
न लीन प्रकार से हुआ करता
है, सम्भोग के पिहू (भोगाङ्ग)
के (भोग स्थलन) से । सामान्य
तादा है ॥३६—६०॥
अठ० (पृ २००) ता० २०

मासक जातरक ईर्ष्यामान होता है ।
अय नायिका में आसक्ति सुनी है,
है ।
ता है स्त्रीक यह (सखी) निरख
पद्य है—

बहु पदा है) हे सुन्दर लौहो पातो
किन्ती दुष्ट मजजा देने वाले सखे हो
बाने (मयुषुच) प्यक्ति ने सुचू हन
तो बिकारो कि नव सखी प्रिय स्त्री
नी सुमी, पा बहु सखी या हयाने निर

ने अयासक्ति को सुनकर किने बन
या नायक मानसती की समझा रहा है ।
दोने के उदाहरण इस प्रकार है—

(६६) तत्र प्रियवच साम, भेदस्तत्सव्युपाजंनम् ।
दान व्यजिन भूपादे पादयो पतन नति ॥६२॥
सामादी तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रमसनासहृपादे कोपभ शो रसातरम् ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणा प्रागेव प्रतिपादिता ।

तत्र प्रियवच साम यथा ममव—

स्मितज्योत्स्नाभिस्त घवलपति विष्व मुखधाशो
दृशस्ते धीभूषणमिव विमृञ्चति परित ।
वपुस्त सावभ्य किरति मधुर दिभु तदिव
कुतस्त पास्य मुग्धु हृदयेनाच गुणितम् ॥३१७॥

यथा वा—

इदीवरेण नयन मुधमम्युजैन
कु देन द तमधर नवपल्लवन ।

इनमे प्रिय वचन कहना साम कहलाता है । उस (नायिका) की सखियों को अपनी ओर मिला लेना (उपाजन) भद है । किसी वहाने आभूषण आदि देना दान कहलाता है और चरणों मे गिरना नति (प्रणति) है । साम आदि (चार उपायों) के विकल (क्षीण) हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीनता रखना उपेक्षा है । रमस (उद्विग्नता, शीघ्रता, जल्दवाजी) भय तथा हृष आदि से (नायिका के) कोप का नाश हो जाना ही रसान्तर (अथ रस का आ जाना) कहलाता है । नायिकों को जो कोपचेष्टाएँ हुआ करती हैं, उनका तो पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है ।

द्विष्यो—(१) सा० सा० (२३ २२-६५), मा० प्र० (५० ८६) सा० ८० (३ २०१-२०३) इत्यादि । (२) रसान्तर—अथभाव का उत्पन्न हो जाना, अस्मात् किसी भय हृष आदि का प्रसङ्ग था ज्ञान स नायिका का कोप दूर हो जाया करता है (२० आगे उदा० ३२३) । भागेव—पहले ही (रसा० २ २५, २६, २८) ।

प्रिय वचन कहना साम है जैसे मेरा (धनिष्वा) हो पछ है—(चौई नायक नायिका की मनोतो बरता हुआ कहता है) हे सुन्दर शरीर वाली (धुवन्तु) तेरा मुखवट अपनी मुखचाहट कर्णो चन्द्रिका से विलस को घबलित कर रहा है तेरी शिष्टियों चारों ओर अमृत रस का बरसा रही हैं तेरा शरीर समस्त शिष्टियों में मधुर सावभ्य बिधेर रहा है । फिर आज तेरे हृदय ने यह कठोरता कहां से बटोरी ली है ?

अथवा जस (भृङ्गरतितक ३) हे मिषा विद्यता मे नीलकण्ठ द्वारा मुंहारे नेत्रों को बनाया है सात बमल द्वारा मुख को कुट्ट रूपों से बनाया को, नई (सात) कोपल से अथर को और चम्पा की पशुद्वियों से अङ्गुली को बनाया है । फिर हृदय को पायाप से बर्णो बना दिया ?

रसाग्रम् ।

रसम् ॥३१६॥

मुपाचरेत् ।

रसान्तर ॥६॥

इसना भातया मय उपात्तर
मातम् । उपाचरेत्—निपादेत् ।

न-स्वयन द्वारा अमुनिज कृत से
गाता है । उक्त अन्वयार्थिक का
है (२० केतो ग्यादि) ।
उत्थ (?) का पछ है—
) ।

पेक्षा गया, उक्त ईर्ष्यानिज द्वारा
प्रयत्नमान से कुल की, निज
प्रयत्नमान का वचन है । किन्तु
परी सारणी यज्ञा का देख निज
रुच का उत उत अच नायिका
न उपाचरेत् है ।

से होने वाले ईर्ष्या मलो) में—
(उत्तरोत्तर) अधिक बट्टाप्र
उपायों के द्वारा अधिकार करता
या वाय रस (रसान्तर) ।

यई तथा देखो ईई अजातकि के
हले को सनेया) भारी (गु) अर्थात्
(उपलो) का अर्थ है—साथ को ।

भूम्

व ॥११८॥

यो
रथ सुभ्र बहूम् ।

तो
योगापरि निर ॥३६॥॥

नाम् ।

व ॥३२०॥

विभ्रवम् ।

शुद्धे ॥३२१॥

सितत्वम् ।

॥

र सेना सब बहुसता है, उसे देता

र भीड़ों वाली अनेक आरता का
ता ना तो सुभ्र मुक्ताकर हुए ही
यह कसा (अनोपा) असीमित कोर
स्नेह पने बचन को ध्यं हो रहे ह ।
दान है उसे माय (७५५) में—
ने है। जिसका मार्गों धरनों के दुष्कार
लका (छोटी सी बस्ता) को हनें स्तोत्रे
में आकर आज सुनने दगो कर्म

रहवाती है, उसे माया (१००)—
के केश उसके मुँहों के कोनों में लगे
रवा से उठा हुआ हृदय अनुक्त है।

उपेक्षा तदवधोरण यथा—

'किं गतेन नहि युक्तमुर्षितु मेभन्दरे परपथा सखि साध्वी ।

आनवेनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयक्षनुये ॥३२२॥

रभसशासहृपदि रसा तत्तात्कोपप्रशो यथा मर्मव—

'अभिव्यक्तालीक सकलविकलोपायविषय

श्चिर ध्यात्वा सच क्लृप्तकलसरम्भानिपुणम् ।

इत पृच्छे पृच्छे किमिदमिति सान्द्राय सहसा

कृताश्लेषा धृत स्मितमधुरमाविद्धति वधुम् ॥३२३॥

अथ प्रवासविप्रयाग—

(७०) कायत सम्भ्रमाच्छापाप्रवासो भिन्नदेशता ॥६५॥

द्वयोस्तत्राभ्युनिश्वासकाश्यलम्बालकादिता ।

(७१) स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूवक ॥६५॥

उपेक्षा का अर्थ है उस (नायिका) के प्रति उवासीमता, असे (?)—

[जब बार-बार मनाने पर नायिका नहीं मानती तो मायक उपेक्षा करने पला
जाता है इस पर परचालाप करती हुई नायिका सखी से कहती है। 'हे सखी उतने
पास जाने से क्या (नाम) ? जाना ठीक नहीं है । किंतु स्वामी के प्रति बटोरा भा
ठीक नहीं सुन उसको अनुनय करके ले आओ । अथवा (छोड़ो) अथिय जाय करने
वाले ध्यंकि से अनुनय भी फते किया जा सकता है ?'

श्रीप्रता, भय तथा हृय थावि अय भाय (रस) की उरपाति के कारण कोप
का नाम हो जाता है असे मीरा (घनिज का) ही पद्य है—'आनव्यताशीर' इत्यादि
(ऊपर २५० उदा० १७९) ।

प्रवास विप्रयोग

अथ प्रवास विप्रयोग वा स्वरूप बतलाते ह—

किसी काय से, सभ्रम (पयराइट) से या, शाप मे दौना (गायक और
नायिका) का अलग-अलग प्रदेश म रहना ही प्रवास मटलाता है । उसम
अथपात, नि प्रवास, दुःखलता वालो का यह जाना इत्यादि (अनुनाय) हुआ
करते हैं ॥६४ ६५॥

दृष्टिपदी—(१) सर० ५० (परिच्छद ५), भा० प्र० (८ २६), मा० प्र०
(५० ८६) ना० द० (३ १६६) प्रता० (५० २०६), सा० द० (३ २०४-२०५) ।
(२) भा० प्र० तथा ना० द० में प्रवास और भाय को भिन्न भिन्न माना गया है ।
भा० प्र० तथा सा० द० का निरूपण प्राय दश० के समान ही है । (३) प्रवास से
हाने वाले विभाग म नायिका प्रापितप्रिया वा प्रापितवनिता कहलाता है ।

दुःख से प्रथम (कार्य से हाने वाला) प्रवास बुद्धिपूर्वक (समझनूश कर)
हाता है । वह तीन प्रकार का है—आग हान वाला (भायी), धतमान संय
का (भवन्) और बीता हुआ (भूत) ॥६५॥

अथ मायज समुद्रगमनसेवादिकायवशाप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतभाविव्यव्रतं मानतया त्रिविधं ।

तत्र यास्वत्प्रवासो यथा—

‘हो’ उपहिंसस्व जाभा आउच्छणजीवधारणरहस्यम् ।

पुच्छती भयद् घर घरेसु पिविरहसहिरीका ॥३२४॥

(भविष्यत्पथिकस्य जाया आयु क्षणजीवधारणरहस्यम् ।

पुच्छती भ्रमति शृहाद् गृहसु प्रिविरहसहिरीका ॥)

गच्छप्रवासो यथाऽमरसातके—

‘प्रहरविरतो मध्ये वाऽहस्ततोऽपि परेऽथवा

दिनकृति गते वास्त नाथ त्वमद्य समप्यसि ।

इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य वियासतो

हरति गमन बालालाप सवाप्यगलज्जल ॥३२५॥

यथा वा तनय—

‘देशतरिता शतस्य सरितामुर्वीभता नालन

यत्नेनापि न याति लोचनपथ कातेति जानश्रपि ।

उदग्रीवचरणाघरुडयसुय श्रत्याऽश्रुसुणं दृषी

तामाशा पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिर तिष्ठति ॥३२६॥

प्रथम—काय से होने वाले प्रवास में समुद्र यात्रा तथा सेवा (नीकरी) आदि काम के लिये बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है अतः वह तीन प्रकार का होता है—भूत भविष्यत् तथा वतमान । उनमें से भविष्यत् में जाने वाले (पुरुष) का प्रवास है, जते (गाथा० ४७) —

यात्रा के लिये उद्यत पथिक की पत्नी प्रियतम क विरह की आगझुा (ह्रीका—पथ) से युक्त होकर (विरहकालीन) आयु के दायों में कसे जीवन धारण किया जाता है इस रहस्य को पुच्छती हुई घर घर घूम रही है ।

(वतमान काल में) जाते हुए (पुरुष) का प्रवास यह है जैसे अमरसातक (१२) में—(परदेश जाते हुये प्रिय से प्रिया कहती है) ‘हे प्रिय एक पहर बीतने पर या मर्यादा में या उसके बाद अथवा सूप क अस्त हो जाने तक तो तुम आज यहाँ लौट आओगे न ? यात्रा इस प्रकार की अपनी बातों में लो दिन में पहुँचने योग्य देश को जाने के इच्छुक प्रिय का जाता रोक रही है ।

अथवा जते वहाँ (अमरसातक ६६) ही—

(किसी विरही पुरुष का वचन है)—‘प्रिया सकळों प्रदेशों, नदों तथा पर्वतों के जङ्गलों से अतर्हित है, वह चल करने पर भी इतिपथ में नहीं आ सकती यह बात पथिक जानता है तथापि वह गवन उठाकर आये पग से मृगि को बद्ध करके नेत्रों को अत्युत्कृष्ट करके उस विधा की ओर कुछ सोचकर (देखकर) बहुत देर तक घूमा रहता है ।

मालो हो वसु—

‘उन्नुं वा नरिनरने०

नृपोद्भू

उनेचानं नरनरिने

दुगा दुग् सरदति

बाच्छागमनम् ॥३२४॥

संश्रुम् ।

(७२) द्वितीय - ११५५

स एव वचनर प्रवत ।

(गाथा वासना भावउभासना ।

(पुण्यगत में) जाने की

क—(एक मेष से कह रहा है)

एकद मेष नाम से युक्त घर बने

के लिये शत्रु को विनी प्रकार टोक

है (सिरी प्रिया होती इति से बरणा)

(प्रियर) लौटकर आ रहा

हो प्रवास हो रही प्रया । और

एक सफरपथ से सीधे घर नहीं

करना ही बुद्धिपूर्वक है ।

दियाली—(१) गा० ४०

अथ वा वन बादि का घट्ट

करती है कन अथवा बरणा है

हो उदरपथ बागिनि बाहर

करना है उदरपथ बाग्य

के बाग्य में बाग,

विरहकर कन दुग् वरिष्क न

है । अब प्रियम लौटकर आ

है प्रियम लौटकर जाने

है कनबाते हो यथा है ।

अप्यथ से होने यथा प्रवास

द्वितीय वचनानुसं

वा मनुष्यवत् उपदेवते है

पुण्य भाँ आरिपत्त

द्वयाने से उदरपथ होने जान ।

(७२) बागि से अरथ होने जाने

प्रवास एक प्रकार का ही होता है,

गतप्रवासो तथा मेघदूते—

'उत्सृज्य' वा मलिनवसने सौम्य निगिष्य योना
मद्भीमाद्भूः विरचितपद मेघमुदुवातुकामा ।

तन्भीमाश्रो नयनसलिल सारमिल्या कपञ्चिद

भूयो भूय स्वयमपि कृत्वा भूच्छना विस्मरती ॥३२७॥

आगच्छदपतयोस्तु प्रवासामावादेव्यत्प्रवासस्य ए गतप्रवासोऽदिनेषात्प्रविध्य
मेघ युक्तम् ।

(७२) द्वितीय सहस्रोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिज यविल्ववात् परशक्रादिज यविल्ववाद्वाऽगुद्विपूव कल्पादेक
रूप एव सम्भव प्रवास । यथोपशोभुकरवसोविभ्र मोर्धया यथा च कपासकुण्डलाप
ह्लाया मासत्या मासतीमाद्ययोः ।

(भूतकाल मे) घले गये (पुरुष) वा प्रजात यह है, जसे मेघदूत (उत्तरमेघ २३)
में—(यस मेघ से कह रहा है) अथवा, हे सौम्य मलिन वस्त्रो वाली योनी में योना
रखकर मेरे नाम से युक्त रचे गये परा वाले गीत को गाने को इच्छुक, किंतु नेत्र जल
से गीले तार को किसी प्रकार ठीक करके बार बार स्वरचित मूच्छना को भी भूलती
हूँ (मेरी प्रिया तैरा इष्टि मे पड़ेगी) ।

(प्रियतम) लोटकर आ रहा हो (आगच्छत्) या आ गया हो (आगत) तब
तो प्रवास ही नहीं रहता । और जब, (प्रियतम) लोटकर आने वाला हो (एष्यत्)
तब गतप्रवास से कोई भेद नहीं होता । इसलिये (प्रवास विप्रयोग को) तीन प्रकार का
मानना ही युक्तियुक्त है ।

टिप्पणी—(१) प्रा० प्र० (पु० ६६) सा० ६० (३२०८) । (२) विद्या,
घन वा घन आदि का समूह करना ही काय है । उसके लिये विचारपूर्वक दशांतर
गमन ही काय प्रवास कहलाता है । यदि काय के लिये देशांतर गमन ही युक्त हो
तो गतप्रवास कायोप बाहर जात हुए पुरुष का गच्छदप्रवास तथा जो भी यात्रे
जाने वाला है उसका यास्यत् प्रवास कहलाता है । (३) कुछ (?) साहित्यशास्त्रिया
के आगच्छत् प्रवास आगतप्रवास तथा एष्यत्प्रवास पृथक् भी माने थे । उनके मत का
निराकरण करते हुए घनिक न बतलाया है कि इनमे से पहिले दो तो प्रवास ही नहीं
हैं । जब प्रियतम लोटकर आ रहा है या आ गया है तो उसका प्रवास कहाँ रहा ?
हो प्रियतम लोटकर आने वाला है तब प्रवास अवश्य है, किंतु उसका गतप्रवास मे
ही अन्तर्भाव ही जाता है ।

सम्भव से होने वाला प्रवास

द्वितीय अर्थात् सम्भव से उत्पन्न होने वाला प्रवास वह है, जो देवी
या मनुष्यकृत उपद्रव से सहसा (अथायक) हो जाता है ।

भूकम्प आदि आपत्तियाँ (उत्पात) विजसो गिरना (निर्घात), जाँधी (घात)
इत्यादि से उत्पन्न होने वाले (विष्य) उपद्रव के कारण अथवा शत्रु द्वारा घेरा घासना
(भङ्ग) आदि से उत्पन्न होने वाले (मानुष) उपद्रव के कारण होने वाला सधमत्रय
प्रवास एक प्रकार का ही होता है, यथोक्त वह सभी अगुद्विपूव (पुत्र विचार के)

शुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतविप्लवात्

इत्यम् ।

इति ॥३२७॥

इत्यम् ।

॥३३॥

नन्वपि ।

उत्पन्न ॥३२७॥

इति वानप्रति ।

वक्रा विर इष्टि ॥३२६॥

या तया सेना (नीचो) ताव
न शशा का शिवा है—ब्रह्म,
ने (पुरुष) वा प्रजात है, जसे

प्रियतम के विरुद्ध भी आगच्छत्
उत्पातों में कमे शोभन कारण
न रही है ।

तब यह है जसे समरप्रवृत्त (३२)
तब एक पहर बीतने पर या
गिने तक तो युद्ध आरंभ नहीं हो
ने दिन से पहिले योना देख को

सक्यों प्रवेशों, नहीं तथा स्वतों
निदित्य में नहीं आ सकती, यह
आये पण से युद्ध को बट् बाके
नोकर (विषकर) बहुत देर तक

(७३) स्वरूपायत्वकरणाच्छापज सन्निधावपि ॥६६॥

यथा कादम्ब्याय वंशसम्पादनस्येति ।

(७७) मृते त्वेकत्र यत्राय प्रलपेच्छोत्र एव स ।

*भ्याश्रयत्वान शृङ्गार, प्रत्यापने तु नेतर ॥६७॥

यथ दुमतीवरणादजस्य करण एव रघुवशे, कादम्ब्याय तु प्रथम वरण आवाप्त सरस्वतीवपनादुध्व प्रवासशृङ्गार एवेति ।

बिना ही सहसा) हुआ करता है । जते विश्वभोथशाय नाटक में उषसी और पुरुरथा का (दवी उपग्रव से किया मय) तथा मासतीमाधव से बपालकुम्भल द्वारा मासती हरण कर लिया जाने पर मासती और माधव का (मनुष्यकृत उपग्रव से किया गया प्रवास होता है ।)

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६) सा० द० (३२०८ से आगे पद्य) ।

(२) सध्रम का अर्थ है—पवराहट आवेग । यह दवी या मानवीय उपग्रवों से उत्पन्न हुआ करता है । और उससे न यक या नायिका एक दूसरे प्रथम म पले जाते हैं तथा प्रवास हो जाता है ।

शाप से होने वाला प्रवास

नायक तथा नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने के कारण देशा तर गमन (का भान) होता है, वह शापज प्रवास है ॥६६॥ जसे कादम्बरी से वंशसम्पादन का प्रवास है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६) सा० द० (३२०८ से आगे पद्य)

इत्यादि (२) दश० का शापज प्रवास का लक्षण अतूण सा प्रतीत होता है वस्तुतः शाप क कारण जो नायक या नायिका का देशा तरगमन है वही शापज प्रवास है । येषुत म यथ वा प्रवास इसका उदाहरण है । इसी लक्षण के अनुसार कादम्बरी म वंशसम्पादन का प्रवास भी शापज प्रवास हीगा, क्योंकि स्वरूप बदल जाने के कारण समाप मे स्थित होकर हुआ भी वंशसम्पादन देशा तर म गया सा प्रतीत होता है । प्रवास विप्रयोग तथा बरण का अंतर

(‘नायक’ नायिका मे से) एक के मर जाने पर जहा दूसरा विलाप करता है, वहा तो कदण (शोक) रस ही होता है, शृङ्गार नहीं, क्योंकि वहा शृङ्गार का आवम्बन (आश्रय) ही समाप्त हो चुका होता है और याद पुनर्जीवित हो जाता है ता करण (इतर) नहीं होता (अपितु शृङ्गार) ही होता है ॥६७॥

जते रघुवश मे इद्रुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करण हो है (प्रवास विप्रयोग नहीं) । कादम्बरी मे भी पहिले तो पुष्परीक के (परलोक गमन पर) करण हो है । आकाशवाणी होने के पश्चात् वही प्रवास विप्रयोग (शृङ्गार) ही है ।

विराधयात् इत्यपि पाठ ।

३८०]

दशरूपकम्

(७३) स्वरूपायत्वकरणाच्छापज सन्निधावपि ॥६६॥

यथा कादम्ब्याय वंशसम्पादनस्येति ।

(७७) मृते त्वेकत्र यत्राय प्रलपेच्छोत्र एव स ।

*भ्याश्रयत्वान शृङ्गार, प्रत्यापने तु नेतर ॥६७॥

यथ दुमतीवरणादजस्य करण एव रघुवशे, कादम्ब्याय तु प्रथम वरण आवाप्त सरस्वतीवपनादुध्व प्रवासशृङ्गार एवेति ।

बिना ही सहसा) हुआ करता है । जते विश्वभोथशाय नाटक में उषसी और पुरुरथा का (दवी उपग्रव से किया मय) तथा मासतीमाधव से बपालकुम्भल द्वारा मासती हरण कर लिया जाने पर मासती और माधव का (मनुष्यकृत उपग्रव से किया गया प्रवास होता है ।)

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६) सा० द० (३२०८ से आगे पद्य) ।

(२) सध्रम का अर्थ है—पवराहट आवेग । यह दवी या मानवीय उपग्रवों से उत्पन्न हुआ करता है । और उससे न यक या नायिका एक दूसरे प्रथम म पले जाते हैं तथा प्रवास हो जाता है ।

शाप से होने वाला प्रवास

नायक तथा नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने के कारण देशा तर गमन (का भान) होता है, वह शापज प्रवास है ॥६६॥ जसे कादम्बरी से वंशसम्पादन का प्रवास है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६) सा० द० (३२०८ से आगे पद्य)

इत्यादि (२) दश० का शापज प्रवास का लक्षण अतूण सा प्रतीत होता है वस्तुतः शाप क कारण जो नायक या नायिका का देशा तरगमन है वही शापज प्रवास है । येषुत म यथ वा प्रवास इसका उदाहरण है । इसी लक्षण के अनुसार कादम्बरी म वंशसम्पादन का प्रवास भी शापज प्रवास हीगा, क्योंकि स्वरूप बदल जाने के कारण समाप मे स्थित होकर हुआ भी वंशसम्पादन देशा तर म गया सा प्रतीत होता है । प्रवास विप्रयोग तथा बरण का अंतर

(‘नायक’ नायिका मे से) एक के मर जाने पर जहा दूसरा विलाप करता है, वहा तो कदण (शोक) रस ही होता है, शृङ्गार नहीं, क्योंकि वहा शृङ्गार का आवम्बन (आश्रय) ही समाप्त हो चुका होता है और याद पुनर्जीवित हो जाता है ता करण (इतर) नहीं होता (अपितु शृङ्गार) ही होता है ॥६७॥

जते रघुवश मे इद्रुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करण हो है (प्रवास विप्रयोग नहीं) । कादम्बरी मे भी पहिले तो पुष्परीक के (परलोक गमन पर) करण हो है । आकाशवाणी होने के पश्चात् वही प्रवास विप्रयोग (शृङ्गार) ही है ।

विराधयात् इत्यपि पाठ ।

निम्नादि ॥६६॥

र ए व ।
गान्ने तु नर ॥२०॥
कार्यं तु नर कच बाध

द कच में नरी और पुनरा
प में वानुपुन ॥१॥ मान्ती
॥ (पुनःपुन उच्यते से विना वप

० ० (१ २०० से आने पर)
तो वा मान्तीन उच्यते से उच्य
इ इतरे शक में पन आते हैं वय

रहने पर भी जो स्वयं बदल
है, वह मान्तर प्रयास है ॥६६॥

० ० (१ २०० से आने पर)
मनुनं वा प्रतीत होता है वस्तु
गमन है वही मान्तर प्रयास है ।
तो सपना के अनुसार मान्तर में
नासि स्वयं बच आने के कारण
में क्या वा प्रतीत होता है ।

जाने पर वहाँ दूसरा विनाश
है, शूङ्गार नहीं, क्योंकि वहाँ
त हो चुका होता है और बाद
ही होता (अनिवृत्त शूङ्गार) ही

का विनाश करने ही है (मान
दरीक के (परलोक गमन पर) वचन
विशेषण (शूङ्गार) ही है ।

टिप्पणी—(१) सर० क० (परि० ५) भा० प्र० (पृ० ८६ ८७) सा० द०
(३ २०६) रसायनसमुदाहर (उल्लास २) इत्यादि । (२) कृष्ट आवाय वरण विप्रलम्भ
नामक पुष्पक भेद मानते हैं । भोजराज का कथन है—

भावो यदा रतिर्नाम प्रकथयद्यिच्छति ।
नाद्यिच्छति चाधीष्ट विप्रलम्भस्तदीच्छते ॥
पुनरापी मान्त्रव प्रवास करुणभव स ।

पुष्पकप्रकाशेपु चतु काण्ड प्रकाशते ॥ (सर० क० परि० ५)
रसायनसमुदाहर (उल्लास २) में इसे वरण का भ्रम उत्पन्न करने वाला
(करण सा मानित होने वाला) विद्योग शूङ्गार वतलाया है—

द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनाद्यथो ।
विरह करुणोऽयस्य सङ्गमाशान्विततन ।
करुणभ्रमकारित्वात् सोय वरण उच्यते ॥

सा० २० [२०६] में करुणविप्रलम्भ का कुछ अधिक विशद विवेचन है—
यूरोरेकतरमिन्तु गतवनि लोकात्तर पुनलम्भ ।
विमनाद्यते यदिकस्ततो भवेत् वरुणविप्रलम्भाद्यव ॥

इन प्रकार नामक और नामिका म से किसी एक के परलोका चले जाने पर
किंतु पुन [द्वितीय जन्म म] मिनन की आशा होने पर जो दूसरा शोक करता है वहाँ
[रति भाव का मिश्रण होने से] करुण विप्रलम्भ होता है । यदि परलोक गये व्यक्ति
के फिर मिलने की आशा नहीं रहती अथवा दूसरे जन्म में मिलने की आशा होती है
तो करुण ही होता है । सा० द० के अनुसार कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता
के वृत्तांत में करुणविप्रलम्भ है ।

इस सचम में दशरूपककार का मतव्य है कि पुण्डरीक तथा महाश्वेता के
वृत्तांत में आकाशवाणी से पुन करुण ही है क्योंकि वहाँ रतिभाव का आलम्बन ही
समान्य ही जाता है अत रतिभाव का उद्भव ही नहीं हो सकता । वहाँ आकाशवाणी
होने पर महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनमिलन की आशा हो जाती है अत
रतिभाव का उद्भव होता है तथा वहाँ विप्रयोग नामक शूङ्गार है, जिसका शापजय
प्रवास में अंतर्भाव ही जाता है । इस प्रकार दशरूपक के अनुसार करुणविप्रलम्भ
नाम का कोई एक रस नहीं होता । सा० द० [३ २०६] वृत्ति में इत्यभिपुक्ता
मय ते' कहकर दश० के मत को प्रस्तुत किया गया है ।

(३) व्याधयवयात्—आलम्बन रूप व्याधय के न रहने से । एक के मरण के
बाद आलम्बन के समाप्त हो जाने से रति भाव का उद्भव नहीं हो सकता है ।
किंतु शोक का आलम्बन तो इच्छाभाव होता है अत करुण हो सकता है । प्रत्यापने
—पुनरुज्जीवित फिर जीवित हो जाने पर, फिर जीवित होने की आशा ही जाने पर
तो रतिभाव हो सकता है ।

तत्र नायिकां प्रति नियम —

(७५) प्रणययोग्योस्तका, प्रवासे प्रीयितप्रिया ।

कलहात्तरितेर्ष्याया विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

वय सम्भोग —

(७६) अनुजुली निपेयेते यत्रा-योग्य विलासिनौ ।

दशनस्पशनादीनि स सम्भोगो मुदा विवत ॥६९॥

यथोत्तररामचरिते—

किमपि किमपि मन्द मन्दमाससिधोग

दविरलितकपोल जल्पतोरत्रमेघ ।

समुलकपरिरम्भमध्यागृतककदीप्यो—

रविदितगतयामा रात्रिरेव-यरसीत् ॥३२८॥

उन (अयोग्य तथा विप्रयोग के संबन्धों में नायिका (की अवस्था) के विषय में यह नियम है—

प्रणयमान (विप्रयोग) में तथा अयोग्य में उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) नायिका होती है प्रवास विप्रयोग में प्रीयितप्रिया, ईर्ष्यामान (सि होने वाले विप्रयोग) में कलहात्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता नायिका होती है ॥६८॥

टिप्पणी—अपरा [२ २३-२७] नायिका की आठ अवस्थाएँ बतलाई गई हैं । उनमें ही उत्कण्ठिता इत्यादि प्रकार हैं ।

सम्भोग शृङ्गार

वह आनन्दपूर्ण अवस्था सम्भोग शृङ्गार है, जब दो विलासी जन अनुजुल होकर परस्पर दशन, स्पशन आदि का उपभोग करते हैं ॥६९॥

टिप्पणी—(१) ना० प्रा० तथा अग्नि० भा० (४५ के बाद गद्य), ध्वयालोक तथा लोचन (१ १२ हृत्ति), का० प्र० (४ २६ हृत्ति) भा० प्र० (पृ० ८७) ना० द० (३ १६६), प्रता० (पृ० १६६), पा० द० (३ २१०-२१३) रसगङ्गाधर (१ पृ० १३०) । (२) प्रायः सभी ने इसे सम्भोग शृङ्गार नाम से कहा है किन्तु रसगङ्गाधर तथा आभट्टालङ्कार ने संयोग नाम से कहा गया है ।

असे उत्तररामचरित (१ २७) में—

(राम सीता से कह रहे हैं कि हे सीता तुम्हें याद है यह वही स्वयं है जहाँ) एक दूसरे के साथ कपोलों को सटाये धीरे धीरे यिना किसी क्रम के कुछ धातें करते हुए अपने एक एक बाहु को गाढ़ आलिङ्गन में लगाये हुये हूँ हम दोनों की वह रात्रि बीत गई थी, उसके बीतते हुए चहरों का पता ही न चला था ।

१०। विविङ्ग—

विपिपु-कामे-क

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

१०। विविङ्ग—

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

कम्प-वि-पु

यथा । 'प्रिये किमवत्—

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।

प्रमोहो निद्रा वा किमु विप्रविषय किमु मद ।

तव स्थसं स्थसं मम हि परिमूढैः प्रययो

विचार बोध्यं तज्जयति च ताप च कुस्ते ॥३२६॥

यथा च मम—

सावध्यायुतवर्षिणि प्रतिदिश कृष्णगुरुश्यामले

स्योणामिव ते वयोधरमरे तव चङ्गं हूरो नते ।

नासावसामनोऽनंतकृतमुर्ध्वप्रभांल्लसत्—

पुष्पश्रीस्तिलक सहेलमलकैर्भृङ्गं रिवापीयते ॥३३०॥

(७७) चेष्टास्तत्र प्रवतन्ते लीलासा दश योयिताम् ।

दाक्षिण्यमादवप्रेम्णामनुरूपा प्रिय प्रति ॥७०॥

साय च सोपाहृतयो नायकप्रकाशे दक्षिता ।

(७८) रमयेच्चाटुद्वलान्त कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।

न ग्राम्यमाचरेत् किञ्चिन्ममन्न शकर न च ॥७१॥

ग्राम्य सम्भोगो रङ्गे निपिद्योऽपि कायेऽपि न कतव्य इति पुनर्निषिध्यते ।

अथवा प्रिया, यह क्या है ? विनिश्चेतुं इत्यादि (उत्तर० १३५, ऊपर उदा० २५६) ।

और जसे मेरा (घनिक का) ही पक्ष है—

(कोई नायक, नायिका के सोदय का वयन करता है) 'हे कृपाङ्गी यर्ष भक्तु की वनपटा के समान प्रत्येक विद्या में अमृत बरसाने वाला काले अमर (की पत्र रचना) से वसामल सुन्दारा स्तन मार अत्यधिक उमर आया है । उसके उमर जाने पर सुन्दारे नास्तिका-वस (जटा हुआ अश्वि भ्रातृ) रूपी सुन्दर केतकी के कोहों रूपी पत्तों से ते निकलते हुए पुष्प की सोमा वाले तिलक का सुन्दारे केशरूपी घमरो द्वारा पान किया जा रहा है ।

सम्भोग शृङ्गार की चेष्टाएँ ।

उस (सम्भोग शृङ्गार) में युवतियों की प्रिय के प्रति लीला आदि दश चेष्टाएँ हुआ करती हैं, जो दाक्षिण्य, मुद्रता तथा प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥७०॥

वे चेष्टाएँ उदाहरण सहित-नायकविषयक द्वितीय प्रकाश (३०-४२) में लिखला भी गई हैं ।

नायक की प्रिय वचन कहते हुए (काम सम्बन्धी) कला तथा क्रीडा आदि के द्वारा उस (नायिका) के साथ रमण करना चाहिये । कोई भी ग्राम्य या नर्म को प्रप्ट करने वाला आचरण न करना चाहिये ॥७१॥

ग्राम्य सम्भोग का रमण-च पर (लिखलासे का) तो निषेध किया ही जा चुका है । यहाँ फिर इसलिये निषेध किया जा रहा है कि काव्य में भी इसका वयन न करना चाहिये ।

श्रीनिन्दिता ।

श्रीनिन्दिता ॥६८॥

विनाशिनो ।

विनाशिनो ॥६९॥

श्रीनिन्दिता ।

श्रीनिन्दिता ॥६९॥

श्रीनिन्दिता ॥६९॥

श्रीनिन्दिता (की बरखा) के लिये मैं

उत्कण्ठिता (विद्रोहितजिता)

मम, ईर्ष्यामिन् (ते होने वाले)

उदा नायिका हूँगी है ॥६८॥

भास अरस्या बरनाई गई है ।

र है, जब दो विनाशी वन वन

सम्भोग करते हैं ॥६९॥

(१४ के शा-मद), स्वगतोऽ

मा० प्र० (पृ० २७) ना० ६०

१०-२१३) रत्नसंग्रहण (१५०

नाम से कहा है किन्तु रत्नसंग्रहण

में न बला था ।

मुझे पार है यह बही स्थल है यहाँ
जहाँ किसी रूप के कुछ बला करते
पाये हुये हम दोनों की वह ललित
न बला था ।

यथा रत्नावल्याम्—

'शुद्धस्वयम्बुव दधिते स्मरपूजाव्यापुतेन हस्तेन ।

उद्भिर्नापरमृदुतरनिस्सत्य इव लक्ष्यतेऽशोक ॥३३१॥ इत्यादि ।

नायकनायिकाकाथिकीवृत्तितानाटकनाटिकासंज्ञायास्तु कविपरम्परागत स्वयं भौचिर्यसम्भावनायुग्मेनोद्येक्षित चानुस दधान सुकवि शृङ्गारमुपनिबन्धीभावः ।

(नायक के समुचित आचरण का उदाहरण है), जैसे रत्नायली (१२१) से [राजा वासववत्सा से कहते हैं] हे प्रिया शुभ्रादे द्वारा कामदेव की पूजा ने तत्पर हाथ से निष्का स्वयं किया गया है वह अशोक ऐसा प्रतीत होता है मानो उससे दूसरा अधिक कोमल नूतन पल्लव फूट आया है ।'

इस प्रकार (१) नायक, नायिका काथिकी वृत्ति, नाटक, नाटिका आदि के सणक्षों में बतलाये गये (२) कवि परम्परा से जाने गये तथा (३) भौचिर्य की सम्भावना के अनुकूल स्वयं कल्पित (तत्त्वों) का ध्यान रखते हुए श्रेष्ठ कवि को शृङ्गार रस का निबध्न (योजना) करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) चाटुक्रुक्—चाटुलारी करने वाला प्रिय वचन कहने वाला । ग्राम्यम्—असंस्कृत जनों का आचरण अधिदग्ध जनो का भाव ग्राम्य शब्द प्रयोग या अथ को साहित्यिक दोष भी माना गया है (प्र० का० प्र० तथा सा० ६०) । नम—बदध्मन्त्रोटित नम इत्यादि उपर (० ४८) । नमप्रणकरम्—नम को छुट्ट करने वाला बौद्ध आदि । (२) इस प्रकार भेद प्रभेदों सहित शृङ्गार का निरूपण किया गया है । शृङ्गार के भेद प्रभेदों के विषय में कविपय प्रमुख मत इस प्रकार है—

ना० शा०	ध्वायालीक	दशरूपक	वाच्यप्रकाश	साहित्यदपण
शृङ्गार भेद	सम्भोग, विप्रलम्भ	सम्भोग विप्रलम्भ	सम्भोग तथा अयोग + विप्रयोग (= विप्रलम्भ)	सम्भोग विप्रलम्भ
सम्भोग			(विप्रयोग)	
विप्रलम्भ भेद	१ अभिलाष २ ईर्ष्या ३ विरह ४ प्रवास	१ अभिलाष (प्रणयमान ईर्ष्यामान) २ प्रवास = (काय सप्रण तथा शाप से होने वाला)	१ अभिलाष २ विरह, ३ ईर्ष्या ४ प्रवास ५ शाप से होने वाला	१ पूव राग, २ मान ३ प्रवास = (काय शाप तथा सप्रण) विप्रलम्भ । ४ कथण—

राशौ—

(७२) शीट ५०

उल्लाहू मू सं ५५

पृष्ठा ११

श्रीरामकर्मविधिपरिचर

विनियोगप्रमुखादिना दग्ध

प्रशोभेव शी । ठा द्वागरी

पण्य गरीश

वि इति ।

शीर रस

प्रयाग विनय,
पद्यम रत्नादि (विद्यापीठ) ह
रस होता है । वृद्ध देव मुद
का तो जाता है । और उमने
कहते हैं ॥३२॥

टिप्पणी—(१) ना० शा०

१५) का० प्र० (१२१ इति)

२० (१२२-२३५)

२० का प्रयाग कर्मविधि के

(१) मतत काथि का निरूपण

पुनः है ।

प्रयाग विनय (

काथि (बहुमाली) के

कथि, किल इयादि

स्वयो काथ

दृष्ट भजन प्रारं करता है,

शीर इन्दौर और धारवीर

काथक में ओदुवायुष का

का कथण तथा शरीर

विषयक दग्ध । शीर

ताने कथने से शीरिण

है ।

११२२।
११२३।
११२४।
११२५।
११२६।
११२७।
११२८।
११२९।
११३०।
११३१।
११३२।
११३३।
११३४।
११३५।
११३६।
११३७।
११३८।
११३९।
११४०।
११४१।
११४२।
११४३।
११४४।
११४५।
११४६।
११४७।
११४८।
११४९।
११५०।

११५१।
११५२।
११५३।
११५४।
११५५।
११५६।
११५७।
११५८।
११५९।
११६०।
११६१।
११६२।
११६३।
११६४।
११६५।
११६६।
११६७।
११६८।
११६९।
११७०।
११७१।
११७२।
११७३।
११७४।
११७५।
११७६।
११७७।
११७८।
११७९।
११८०।

११८१।
११८२।
११८३।
११८४।
११८५।
११८६।
११८७।
११८८।
११८९।
११९०।
११९१।
११९२।
११९३।
११९४।
११९५।
११९६।
११९७।
११९८।
११९९।
१२००।
१२०१।
१२०२।
१२०३।
१२०४।
१२०५।
१२०६।
१२०७।
१२०८।
१२०९।
१२१०।

१२११।
१२१२।
१२१३।
१२१४।
१२१५।
१२१६।
१२१७।
१२१८।
१२१९।
१२२०।
१२२१।
१२२२।
१२२३।
१२२४।
१२२५।
१२२६।
१२२७।
१२२८।
१२२९।
१२३०।
१२३१।
१२३२।
१२३३।
१२३४।
१२३५।
१२३६।
१२३७।
१२३८।
१२३९।
१२४०।

१२४१।
१२४२।
१२४३।
१२४४।
१२४५।
१२४६।
१२४७।
१२४८।
१२४९।
१२५०।
१२५१।
१२५२।
१२५३।
१२५४।
१२५५।
१२५६।
१२५७।
१२५८।
१२५९।
१२६०।
१२६१।
१२६२।
१२६३।
१२६४।
१२६५।
१२६६।
१२६७।
१२६८।
१२६९।
१२७०।

१२७१।
१२७२।
१२७३।
१२७४।
१२७५।
१२७६।
१२७७।
१२७८।
१२७९।
१२८०।
१२८१।
१२८२।
१२८३।
१२८४।
१२८५।
१२८६।
१२८७।
१२८८।
१२८९।
१२९०।
१२९१।
१२९२।
१२९३।
१२९४।
१२९५।
१२९६।
१२९७।
१२९८।
१२९९।
१३००।

१३०१।
१३०२।
१३०३।
१३०४।
१३०५।
१३०६।
१३०७।
१३०८।
१३०९।
१३१०।
१३११।
१३१२।
१३१३।
१३१४।
१३१५।
१३१६।
१३१७।
१३१८।
१३१९।
१३२०।
१३२१।
१३२२।
१३२३।
१३२४।
१३२५।
१३२६।
१३२७।
१३२८।
१३२९।
१३३०।

१३३१।
१३३२।
१३३३।
१३३४।
१३३५।
१३३६।
१३३७।
१३३८।
१३३९।
१३४०।
१३४१।
१३४२।
१३४३।
१३४४।
१३४५।
१३४६।
१३४७।
१३४८।
१३४९।
१३५०।
१३५१।
१३५२।
१३५३।
१३५४।
१३५५।
१३५६।
१३५७।
१३५८।
१३५९।
१३६०।

१३६१।
१३६२।
१३६३।
१३६४।
१३६५।
१३६६।
१३६७।
१३६८।
१३६९।
१३७०।
१३७१।
१३७२।
१३७३।
१३७४।
१३७५।
१३७६।
१३७७।
१३७८।
१३७९।
१३८०।
१३८१।
१३८२।
१३८३।
१३८४।
१३८५।
१३८६।
१३८७।
१३८८।
१३८९।
१३९०।

बप वीर —

(७६) वीर प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व
मोहाविपादनयविस्मयविश्रमाद्यै ।
उत्साहभू स च दयारणदानयोगात्

वेधा किलाञ मतिगर्वमुत्तिप्रहर्षा ॥७२॥

प्रतापविनयादिभिर्भावित करणायुद्धदानाद्यनुभाविता गवधविहृषामपत्सु
विगतवितकप्रभृतिभिर्भावित उत्साह स्वामी स्वत्व = भावकमनोविस्तारान्दय
प्रभवतीत्येव वार । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमुत्साहहृत्स्व, युद्धवीरो वीरचरित
रामस्य दानवीर परशुरामविविप्रपृथीनाम्-त्वाग सत्यसमुद्रमुदितमहीनिध्याञ्जिदाना
वधि' इति ।

वीर रस

प्रताप विनय, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, अविपाद, नय, विस्मय,
पराक्रम इत्यादि (विभावो) के द्वारा होने वाले उत्साह (स्वामी भाव) से वीर
रस होता है । वह दया युद्ध वीर दान (अनुभावो) के योग से तीन प्रकार
का हो जाता है । वीर उसमें मति गव, धृति, प्रहृष (व्यभिचारी भाव) हुआ
करते हैं ॥७२॥

द्विष्यन्तो—(१) ना० शा० (६ ६६ से आगे गद्य तथा ६७-६८, ७ २१ ११३
११४) का० प्र० (४ २६ दृष्टि) भा० प्र० (दृ० ५, ६०) ना० द० (३ १०२) सा०
द० (३ २३२-२३४) रसगङ्गाधर (१ प० १५०) । (२) हृष क स्थान पर प्रहृष
गद्य का प्रयोग छन्द-युक्ति के विषे किया गया है, यह वधततिलका छन्द है ।
(३) प्रताप आदि का विवरण नायक के गुणा के प्रसङ्ग में (प्रमाण २) दिया जा
चुका है ।

प्रताप विनय आदि (विभावो) के द्वारा विभावित होकर, दया, युद्ध, दान
आदि (अनुभावो) के द्वारा अनुभावित होकर तथा गव धृति, हृष, अमय, स्मृति
मति, वितक इत्यादि (व्यभिचारी भावो) के द्वारा भावित होकर उत्साह नामक
स्वामी भाव का आविर्भाव होता है, अर्थात् वह सहृदयों के चित का विस्तार करते
हुए खानन्द प्रदान करता है, यही वीर रस है । (वह तीन प्रकार का होता है दया
वीर युद्धवीर और दानवीर), जनों से दयावीर (का उदाहरण) है जैसे नागानन्द
भाटक में जीमुत्साह का (उत्साह), युद्धवीर का उदाहरण है महावीरचरित में राम
का उत्साह तथा दानवीर का उदाहरण ह परशुराम तथा भीम आदि का दान
विषयक उत्साह । जैसे (महावीरचरित २ ३५ में परशुराम के प्रति राम कहे हैं)—
सार्तो सयुद्धो से सीमित भूमि को निष्पट भाव से दान करने वयत्त कायका त्याग
है ।

१	बाह्यवशात्	साहित्यरूप
२	समोप विनयम्	समोप विनयम्
३	१ अविनाश २ विनाश ३ प्रवाल ४ शिला ५ वास ६ शिला	१ दूत राग, २ मात ३ प्रवाल= (राग मात तथा लभ्य) ४ कल्प- विनाशम् ।

‘अथ प्राग्निविमुक्तस्य विषसद्वस ह्युत्तरीस्तुम्
नियन्नाभिसरोजमुडमल्लुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमस्तुनेन यस्मिन् सान्दमावीर्योक्ति
पाथाद्द्वं श्रमवधमानमहिमाधर्षं मुरारेर्जु ॥३३२॥

यथा च मनय—

‘सध्वनीपयोधरोत्सङ्गुडमुपारगितो हरे ।
बलिरेव स येनास्य निष्ठापाभीष्टत मर ॥३३३॥

विनयादिषु प्रथमुदाहृतमनुसंधेयम् । प्रतापगुणावजनाग्निविषीरणां भावा
त्वथ प्रायोवाद । प्रत्वेदरत्नत्वदननयनादिद्रोघानुभावरहितो युद्धवीरोऽयथा रीद ।

[दानवीर का दूसरा उदाहरण है]—(अग्नि से दान लेते समय यामन ने
बिराट रूप का यथन) जिस (बिराट) शरीर ने छोटी (अथ) परिपयों से सधिरत्नसों
के मुक्त हो जाने के कारण यह त्वथ विकसित हो रहा था तथा कौस्तुभ मणि चमक
रही थी मानि कमल की जली रूपी कुटी से गम्भीर साम मान की ध्वनि निकल
रही थी, जिसे शान पाम को प्राप्त करने के लिये उ-मुक्त यनि ने श्रान्तवपुर्बक देखा
यह श्रमस बढ़ते हुए शौरव एव आश्चर्य से भर हुआ विष्णु का शरीर सुशहारी
रसा करे ।

[दानवीर का ही अर्थ उदाहरण]—शौर जैसे मेरा (धनिष्क) ही यथ
है—

यह वही राजा बलि है जिसने लक्ष्मी के स्तनमण्डप के कुकुम से नास हुए
विष्णु के श्वाप को भिक्षा का पात्र बनाया था ।

विनय आदि के विषय में पहिले (नायक प्रकरण में) विषे मये उदाहरण ही
समस्तने चाहियें । प्रताप, गुण तथा आश्चर्य (आश्चर्य) इत्यादि के भेद से भी
(प्रतापवीर इत्यादि) वीर हुआ करते हैं । इसलिये (अथावीर इत्यादि) तीन प्रकार के
ही शौर उल्लाना प्रायिक कथन है (अर्थात् प्राय तीन प्रकार के वीर हुआ करते हैं,
इसलिये यहाँ तीन ही प्रकार के कहे गये हैं) । किञ्च प्रत्वेद मुख तथा नेत्रों का
लास होना इत्यादि जो क्रोध के अनुभाव ह जब ये नहीं होते तब युद्धवीर हुआ
करता है जब वे होते हैं (अथवा) तब रीद रस हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रताप आदि को सामान्य रूप से विभाव कहा गया है ।
ना० सा० तथा ना० द० म भी इसी प्रकार कुछ गुणों को विभाव कहा गया है ।
इससे यह प्रतीत होता है कि इन प्रायों के समय रसों के आलम्बन तथा उदीपन
विभावों के पक्कव निरूपण की परम्परा नहीं थी । सा० द० (३२३२ ३३४)
आदि के अनुसार विजित-य (जिस पर विजय प्राप्त करना होता है) आदि यत्कि ही
वीर रस का आलम्बन विभाव होता है—आलम्बनविभावस्तु विजित-यादयो मता ।
इस प्रकार ये प्रताप आदि वीर रस के उदीपन विभाव हैं । (२) उपर्युक्त परशुराम

संस्कृत—

(१) ३३३ ॥

के श्वाप के लक्षण का यह
रूप बलवन्तरि रस
समस्त रूप का
है रस रूप के लिए
होगा है इस लक्षण
(१) ना० सा० (१ १४) के लक्ष
सूचक तथा मन्त्राणां लक्षण
सूचक है शरत्काल में
ना० सा० (१ १३) के लक्ष
मय रस है, इससे लक्षण की
रीद का शब्द—(१) रस का
रस रूप का नवी का रस है
के मन्त्राणां लक्षण का रस है
की प्रताप शरीर है, किन्तु रस
विष्णु की श्वाप रूप के लक्षण
(१) रस के रूप का रस
का रस लक्षण है, सुशहरी के
(१) सुशहरी के लक्षण का रस
कथन की (ना० सा० ११३)
वीररस त्व

शौररस त्व
प्रकार का है (क) शौर,
वीररस होता है, (ख) शौर,
मान आदि (विभाव) म
लक्ष्य का कि प्रतीत शौररस से
नाम विज्ञान, पर फेला
तथा इससे अनेक, श्वापि (म
करते हैं ॥३३॥

सुरवेभ्युत्तं
रन्ध्रेरुत्तारनि ।
रन्ध्रेभ्युत्तं
रन्ध्रे कुरवेभ्युत्तं ॥३१२॥

रिः ।

र ॥३१३॥

गुणप्रवर्तनानि वीणां शत
गुणप्रवर्तितो मुद्रवीरोत्तारो ॥

—(वर्ण से शब्द लेने समय शब्द के
श्रेणी (वर्ण) ध्वनि से शब्दकोश
हो रस का शब्द कोश मणि चक्र
के वक्त्रेण शब्द को स्वनिमित्त
लेने मुद्रुद्ध वक्त्रे के प्रवर्तनपूर्वक देखा
के शब्द प्रवर्तन शब्द को शब्दकोश

ये नये श्रेण (वर्णिक का) ही शब्द
स्वभावपर के शब्द से शब्द मुद्रु

नवम में दिने नये उदाहरण ही
आद्यमण्डि इत्यादि के श्रेण के नये
(शब्दकोश इत्यादि) श्रेण प्रकार के
श्रेण प्रकार के श्रेण प्रवर्तन ह
स्वभाव प्रवर्तन, मुद्रु तथा श्रेणों का
श्रेण नही होने तब मुद्रुवीरोत्तार
हुआ करता है ।

शब्द रूप से विभाजक कहा गया है ।
उत्तारों को विभाजक कहा गया है ।
समय श्रेणों के आसम्बन्ध तथा उद्गीत
श्रेणों की । सा० द० (३ २३२ ३३४)
शब्द रूप का श्रेणों का श्रेणिक ही
शब्दकोशका श्रेणिक विवेचनार्थक मण्डि ।
शब्दकोशका श्रेणिक विवेचनार्थक मण्डि ।
शब्दकोशका श्रेणिक विवेचनार्थक मण्डि ।

अथ बीभत्स —

(८०) बीभत्स कृमिपूतिगन्धिमधुप्रार्थ्यंजुपुष्कम्भू

रुद्धेगी रुधिरात्रकीकसवसामासादिभिः क्षीमण ।

वैराग्याज्जघनस्तनादिपु घृणाशुद्धोऽनुभाववृत्तो

नासावक्त्रविक्रूणनादिभिर्हावेगातिशङ्कादय ॥७३॥

के उदाहरण में परशुराम का दान के प्रति उत्साह स्थायी भाव है, दान से पात्र
प्राप्त्यन आसम्बन्ध विभाव है सत्व अध्वनसाय इत्यादि उद्गीत विभाव है तथा
सवस्व त्याग इत्यादि अनुभाव है । हृष, धृति इत्यादि सञ्चारी भाव हैं । इनसे मुष्ट
होकर सहृदय के चित्त में स्थित उत्साह नामक स्थायी भाव आत्सादान का विषय
होता है तथा दानवीर रस कहलाता है । (मि०, सा० द० ३ २३२-२३४ वृत्ति) ।
(३) सा० द० (३ २३४) में वीर के चार भेद माने गये हैं—दानवीर, धमवीर,
मुद्रवीर तथा वयावीर । युधिष्ठिर आदि धमवीर के उदाहरण हैं । हेमचन्द्र ने (काव्या
नुशासन में) वीर रस के तीन ही भेद माने हैं तथा सा० प्र० (पृ० ६५) में भी ।
ना० द० (३ १७२ वृत्ति) में मुद्र दान आदि उपधियों के द्वारा वीर के अनेक भेद
माने गये हैं इसमें धनिक की टीका ने साय बहुत समानता है । (४) मुद्रवीर तथा
रौद्र का अन्तर—(i) रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है तथा मुद्रवीर का उत्साह (ii) रौद्र
में मुद्र तथा नयो का साह हो आना इत्यादि अनुभावों का बणन होता है मुद्रवीर
में नहीं (धनिक तथा सा० द०) (iii) मुद्रवीर में मोहुरहित तत्त्वनिश्चय (अध्वनसाय)
की प्रधानता रहती है, किन्तु रौद्र में तमोगुण की अधिपता के कारण मोह और
विस्मय की प्रधानता रहती है । (मि०, अमि० सा० ६ ६८ तथा काव्यानुशासन) ।
(iv) रौद्र में शत्रु का शिर फाटने के बाद भी क्रोधचक्र उसकी मुखा आदि को फाटने
का बणन होता है मुद्रवीर में नहीं यह अनुभाव भेद है (अमि० सा० ६ ६५) ।
(v) मुद्रवीर में उत्साह तथा नाय की प्रधानता होती है रौद्र में मोह अबद्धार,
जयाय की (ना० द० ३ १७२ वृत्ति) ।

बीभत्स रस

बीभत्स रस जूजुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है । (यह तीन
प्रकार का है) (क) कीडे, युगाध, यमन आदि (विभावों) से होने वाला उद्गीत
बीभत्स होता है, (ख) रुधिर, अतडियाँ, हड्डि (कीकत), मज्जा (वसा)
मांस आदि (विभावों) से होने वाला क्षीमण बीभत्स तथा (ग) जयन,
स्तन आदि के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणाशुद्ध बीभत्स होता है । यह
नाक सिक्कोडना, मुह फेरना (विद्रवण) आदि अनुभावों से युक्त होता है
तथा इसमें आवेग, व्याधि (आर्ति), शङ्का आदि (व्याभिचारी भाव) हुआ
करते हैं ॥७३॥

अथ वाह्य इमिभूतिगणिस्रावविभावेन्दुभूो जुगुप्सात्वाविभावपरिपोषण सदान उदगी भीमस्त । यथा माततोमाधवे—

उत्सृष्ट्योत्सृष्ट्य कृति प्रगममण पुष्युष्ठावभूयासि मासा—

यसस्विन्नपृच्छाविष्ठासयवमुलभा युगपुतोति जम्बा ।

आत पयस्तेनत्र प्रवटितदधान प्रेतरद्भु बरद्भु—

दद्भुस्यास्त्विससस्य स्थयुटगतमपि प्रव्यमव्यप्रमति ॥३३४॥

यधिरात्रवसाकीचसमासादिविभाव धामयो भीमसा यथा वीरधरति—

अत्रभोतवहृत्वपातनसकम् रक्त्वयलद्भुण—

प्राग्प्रहितभूरिभूणणवरपोषयत्वम्वरम् ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० १६७२ से आगे गद्य तथा ७३७४, ७२६, ११६), का० प्र० (४०६ वक्ति) भा० प्र० (गु० ६ ६३), ना० द० (३१७४) प्रता० (गु० १६) छा० द० (३२३६-२४१) रसगद्गाधर (१ गु० १७०) । (२) यहाँ मादलविभक्ति छन्द है । (३) जुगुप्सा नामव स्थायीभाव वा परिपोष ही भीमस्त रस है । मानसिक लक्षणा के आधार पर इससे तीन भेद किये गये हैं । उद्वेग, क्षोभण और शुद्ध पूणा तीन। मानस अनुभाव है । कभी उद्वेग से विभ्रित पूणा (जुगुप्सा) होती है कभी क्षाम से विभ्रित और कभी शुद्ध पूणा जसा कि आगे उदाहरणों में स्पष्ट है । (४) यहाँ भी यसी विभावों को समान रूप से कहा गया है । सा० द० के अनुसार दुःख भास रीज आदि इससे आत्ममन विभाव हैं । उनमें कीड़े पकटना आदि उद्दीपन है ।

(क) हृदय की विस्तृत अव्यये न लगने वाले बीभे तथा बुध य आदि से होने वाला जुगुप्सा नामक स्थायी भाव है उसका परिपोष ही उदगी भीमस्त रस होता है । जैसे माततोमाधव (५ ४६) में—

क्षुधा से पीड़ित सभी ओर ताकता हुआ दाँत निकाले हुए यह बरिद्र प्रत पहले धम (हृति) को उधेद्र उधेद्रकर तब कपड़े (अत) उरमुल (दिकक) तथा जया के ऊपरी भाग (गृच्छिगच्छ) आदि में सुसम बहुत पुष्टि के कारण पर्यन्त (मुमुना महता उच्छोपेन-उच्छिप्रतया पूयासि) तीव्र दुःख य बाल मास को धाकर (जाधवा) अपनी गाव में पड़े अस्थिपञ्जर (कचद्भु) में से अस्थियों के ऊँचे नीचे भागों (स्थयुट) में स्थिन कच्चे मास को (इष्य) धीरे धीरे छा रहा है । (सि० का० प्र० उदा० ४२) । [गुणुच्छोक्' पाठ मुक्त प्रतीत होता है ।]

(ख) यधिर अतद्विषां हृद्वो मजा मास आदि विभावों से क्षोभण-भीमस्त रस होता है, जैसे महावीरधरति (१ ३४) में—

अतद्विषां में विरोधे बड़े-बड़े कपाल तथा जया की हृदिद्वियों (नलक) से बने हुये भयानक गन्ध करने वाले कज्जुण आदि बहुत से पञ्चवत् (प्रक्षिप्त) धामूषणों की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करती हुई, पाँचर उगले हुए यधिर की क्षोभण से लिपटे शरीर के ऊपरी भाग पर सयज्जुल रूप से दिखाने वाले (उरसस्त) गेय

Handwritten notes in the right margin, including a list of items and a signature at the bottom right.

रमणम्

चतुर्थं प्रकाश

[३८८]

रमण (१५) बुधुषाम्निभारतिरति
-
उपभूति भाषा-
रमणानुभूतिरति रमणम् ।
रमण-
रमणि रमणानुभूति ॥३३५॥
रमणानुभाषीरति-
रमणम्-
रमणानुभूतिम् ।

पीठोच्छदितरक्तवदमपनप्राम्भारधोरोत्तस-
द्वेषापीठस्तानभारभरुवबुध धोदत धावति ॥३३५॥
रम्येव्यवि रमणोजपनहतनादियु न रायाद् घृणाशुद्धा बीभत्सो यथा -
'लासां वषत्रासव वेति मासविण्डी पयोधरी ।
मासास्त्रिभूत जपन जन कामग्रहावतु ॥३३६॥
न चाय शात एव विरक्त यतो बीभत्समानो विरज्यते ।
अप रोद्र -

(८१) त्रौघो मत्सरवैरिर्विकृतमयं पोषोज्य रौद्रोऽनुज
शोभ स्वाधरदभाकम्पभृकुटिस्नेदास्यरार्गीर्युत ।

से हिसते हुए स्तन भार से भगवने शरीर घाली, यह कीन है जो सच के कारण उद्वत रूप से 'भाग रही है । [का० प्र० उवा० २६८, वहा, बर्षोद्धत] पाठ है (बप से उद्वत) वही शुद्ध प्रतीत होता है ।

रमणो के शुद्ध जया स्तन आदि के प्रति भी धराय के निमित्त होने वाली घणा शुद्ध बीभत्स है, जसे (?) -

'काम यह से ध्याकुल जन सार को मुख मदित्रा समसता है, भात के विण्डी को स्तन ओर हाथ भांस के उठे भागों को जांच ।

यहा (संगित) विरक्त जन को शात (शात रस से युक्त) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब कोई (रमणिय विषयों से) घणा करता है तब विरक्त होता है [अत यहाँ घणा या बीभत्स ही है जो धराय का कारण है] ।

टिप्पणी-(१) उद्वत्यं इत्यादि मे शब्द आत्मन् विभाव है, शब्द को बार बार काटना आदि उरीण है । देखते बाले का घृणना नाक निकोडना आदि (जो कल्पना से जाने गये हैं) अनुभाव हैं तथा आवेग मद्धा आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनस युद्ध हीकर युधुषा भाव ही उद्रेगां बीभत्स रस कहसता है । इसी प्रकार अय उगाइरयो म भी समझना चाहिये । (२) बीभत्समानो विरज्यते-रमणिय विषयो म घणा करता हुआ व्यक्ति विरक्त होता है तथा विरक्ति के परवत्त राम युक्त (शात) होता है इस प्रकार यहाँ मा तरस नहीं है, क्योंकि यहाँ ता केवल धराय के निमित्त शुद्ध घृणा (बीभत्स) का यगन है (?) (वि० प्रभा) ।

रोद्र रस

मात्सय तथा शत्रु द्वारा किये गये अनकार आदि (विभावा) से होने वाला जा क्रोध है उसकी युद्ध रौद्र रस कहलाता है । उसने पशवात् (मानस, अनुभाव) शोभ उत्पन्न होता है, जो वीर चवाना, कापना, भीह देडी करना, पसीना, मुख लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डोंग मारना (विकल्पन = आत्मश्लाघा) (हाथ से) अपने कचे पर तथा (पंर से) मुखि पंच

के जाने वद धरा ३४, ७२६
(३० ६ ६३), ना० बा० (१ १७५)
(१) उद्वत्यं (१ ५० १५०) (१) १५०
क तथा भात का पर्यवेग ही बीभत्स
रस इन्के तैरन के निमित्त यथा
रही है । इसी उद्वत के निमित्त यथा
कीर इसी शुद्ध घणा, वना कि भागे
रस से को समान हा के वहा तथा है ।
इन्के मात्सय विभाव है । उद्वे

जाने कोर तथा गुण आदि से होने
रौद्र ही उद्वी बीभत्स रस होता है ।

मा शक्ति निकाले हुए वृद्ध बहिष्कृत
(सत) उद्वत्य (सिक्त) तथा यथा
न युक्ति से कारण यमोन (युधुषा महात्मा
से भात को शाकर (मापना) जगना
नों के अति नीचे भागों (सुदृष्ट) में
रही है । [वि० का० प्र० उवा० २६१] ।

मात आदि विभावों से शोभन-बीभत्स
र-
तथा यथा भी हृदिभयों (तलक) से होने
बहुत से घनवत् (अस्ति) भावनों को
'शाकर उगले हुए शक्ति की कृपा
रस से विचार्ये देने वाले (वस्तुतः) से

आत्मस्थो यथा रावण —

‘जात मे पर्येषण भस्मरजसा तन्त्रन्दनीद्भूलन

हारी भससि यमसूत्रमुचित किलेष्टा जटा कुतला ।

स्त्राण सकल सरस्वतलय चित्रायुव वत्कल

सीतागोचनहारि कल्पितमहो रम्य वपु कामिन ॥३३६॥

परस्थो यथा—

भिक्षो मातनिषेवण प्रकुरये ? किं तत मद्य विना

किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनामि सह ।

द्विपथी— (१) द्विविधमवयवम् आत्मस्थ परस्परम् । यदा स्वयं हासति तदाऽऽत्मस्थ । यदा तु पर हासयति तदा परस्थ ना० शा० (६४८ से आगे गद्य तथा ना० शा० ६४६, ६१, ७१०), का० प्र- (४२६ वृत्ति) शा० प्र० (पृ० ५ ६४ आदि), ना० द० (३ १६८ १६९) प्रता० (पृ० १६४) शा० द० (३ २१४ २२१) रसगङ्गाधर (१ पृ० १६८) । (२) शा० द० के अनुसार विद्वत् आकार वारी तथा चेष्टा वाला व्यक्त हास का आत्मन्वन् विभाव होता है उसकी जटायों जटोपन विभाव । (३) हास का अर्थ है वाणी आदि की विकृति को दखकर चित्त का विकास (सा० द० ३, १०६) जिसके वित्त में हास नामक भाव (वौक्तिक रस) होता है यदि उसका कही साक्षात् वयन नहा किया जाता तो भी उसको विभाव आदि के वयन से गम्य लिया जाता है । (मि० शा० द० ३ २२०-२२१) । इसी प्रकार भीमस आदि रसों के सद्यम भी जानना चाहिये । (४) द्व्यधिष्ठान—दो हैं अधिष्ठान जिसके, भाव यह है कि विकृत आकार, चेष्टा आदि ही हास के निमित्त हैं वे कही सो आत्मस्थ (—हृद्यने वाले के अपने भीतर स्थित) होते हैं और कहीं परस्थ (—किसी अय जन म स्थित) होते हैं । पद्यविध ६ प्रकार का जिनके वित्त में हास नामक भाव होता है (—हास का आश्रय) वे तीन प्रकार के होते हैं उत्तम मध्यम तथा अधम । इस प्रकार आत्मस्थ तथा परस्थ निमित्तों से होने वाला त्रयेण हास तीन प्रकार का होता है और कुल ६ प्रकार के हो जाते हैं, जसे १ आत्मस्थ उत्तम प्रकृति २ आत्मस्थ मध्यम प्रकृति ३ आत्मस्थ अधम प्रकृति, ४ परस्थ उत्तम प्रकृति ५ परस्थ मध्यम प्रकृति, ६ परस्थ अधम प्रकृति ।

अपने विकृत वेध आदि से होने वाला हास जसे (?) (रावण—अपने आपकी देवधार हैं न रहा है) — कठोर भस्म की धूलि से मेरे शरीर में यह सद्यम का लेप हो गया है । आश्रय-योग्य (उचित) यशोयशो ही यन् स्वस पर हार है उसको अजायों ही (कोमल) केस हैं समस्त यशार्था के द्वारा रत्नयुक्त वलय (कञ्जे) बन गये हैं वत्कल यत्न ही रण विरमे देशमो वत्न (—अयुक्त) है । अहो, यह सीता के नेत्रों को सुभाते वाला ऐसा सुन्दर कामी रूप क्या बन गया है !

दूसरे क विकृत वेध आदि से होने वाला हास जसे (?) — हे भिक्षु क क्या सुम मात का लेखन करते हो ? (उत्तर) भविरा के विना मात से क्या (साम) ? (प्रश्न) क्या तुम्हें भविरा को प्रिय है ? (उत्तर) अहो देवधारों के साथ ही भविरा

१- ११२२
२- ११२२
(१) ११२२
मुद्रागारि
३- ११२२

१- ११२२
२- ११२२
३- ११२२

१- ११२२
२- ११२२
३- ११२२
४- ११२२
५- ११२२
६- ११२२

१- ११२२
२- ११२२
३- ११२२
४- ११२२
५- ११२२
६- ११२२
७- ११२२
८- ११२२
९- ११२२
१०- ११२२

वेद्या इत्यर्थे च कृतस्तत्र धनम् ? द्युतेन चोपेयं वा ।

योग्यतुल्यपरिग्रहोऽपि भवतो नमस्ये चोपेयं गति ? ॥३४०॥

(३३) स्मितमिह विवासातिनयाम्, मित्रिचल्लक्ष्यद्वयित्तु हसितस्यात्
मधुरस्वर विहसितम्, सशिर कम्पमिदमुपहसितम् ॥७६॥

अपहसित सारसाक्षाम्, विशिष्टाङ्ग भवत्यतिहसितम् ।

द्वे द्वे हसिते चोपा ज्येष्ठे मध्येऽधमे प्रथम ॥७७॥

उत्तमस्य स्वरस्वविकारदर्शनात् स्मितहसित, मध्यमस्य विहसितोपहसिते,
अधमस्यापहसितातिहसित । उदाहृतय स्वयमुत्प्रेक्षया ।

प्रिय होती है । (प्रत्य) वेद्या तो धन मे श्रुचि रखने वाली होती है और तुम्हारे पास धन नहीं ? (उत्तर) धन तो द्युत या चोरी से आता है । (प्रत्य) क्या आप अक्षमा और चोरी भी करते है ? (उत्तर) जो मन्त्र हो चुका है उसको ओर गति ही क्या है ?

टिप्पणो—(१) 'जात मे' इत्यादि आत्मस्व निमित्त स होने वाले हास का उदाहरण है । यहाँ विद्वत् वेप वाता रागच स्वय ही अपने हास का आलम्बन है उसका विद्वत् वेप उदीपन है अपने को देखकर मन विवास, मुस्काराहट आदि होना अनुभाव है तथा गद्गद, ग्लानि आदि श्वाभिचारी भाव है । इनसे परिपुष्ट हुआ सहाय क चित्त का हास नामक स्वामी भाव हास्य रस कहलाता है । (२) भिन्नो इत्यादि परस्व निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है । यहाँ भिद्यु तथा उसको विद्वत् वाणी आदि ही प्रत्यक्षता के हास से निमित्त है ।

उत्तम आदि प्रकृति मे होने वाले हास के भेद

इस हास मे (द्वह) (१) वह स्मित कहलाता है जिसमे (केवल) नेत्र विवसित होने है (२) वह हसित है जिसमे दाँत कुछ कुछ दिखालाई देते है, (३) वह विहसित है जिसमे मधुर स्वर होता है (४) वह विहसित जब स्तिर हलाने से साय होता है तो उपहसित कहलाता है, (५) वह अपहसित है जिसमे नेत्र अश्रुमुक्त हो जाते हैं और (६) वह अतिहसित है जिसमे अङ्गो को (इधर उधर) फला जाता है । इन (६) मे से क्रमज दो दो उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति मे हुआ करते हैं ॥७६-७७॥

अर्थात् अपने या दूसरे के (आकार आदि) विकार को देखकर उत्तम जन को स्मित और हसित हुआ करते है मध्यम को विहसित और उपहसित तथा अधम को अपहसित और अतिहसित । इनके उदाहरण स्वय देखने चाहिये ।

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

पद्यम्

रश्मि संहारिण (व्यभिचारिण) ।

याताम रसोद्भूत ॥७८॥

भूदाता ।

नचोरिण ॥७९॥

माधुवाणधनुमानाचिद्यो तिल्ल

—

भङ्गाद्वत्—

वर्गादिभिर ।

माधोत्—

माधुर्य विभाषण ॥१२५॥

उर्ध्व (हृद्य रस के) व्यभिचारी

स्नेह नहीं किया गया । ना०
ना० ६० यदि वे नेत्रमूले,

से उत्पन्न होने वाला विस्मय
हृद्य अद्भुत रस है । साधुवाद
द्वारा होने वाला यदि उसके काय
भिचारी भाव है ॥७८-७९॥
रने वाले रसार्थ के वनन आदि
पुष्ट होकर तथा हृद्य, आर्जन
नामक स्थायी भाव ही उत्पन्न

भाव है) (रस क) पुनर्भावी
होने वाली टकार को हृद्य रस
माने आज रस के वाताराल
रस को हृद्य कहते हैं) हृद्य रस
हृद्य वात के उत्तर में पुनरे से

अथ भयानक —

(८६) विकृतस्तरस्तरादेभ्यमावो भयानक ।

सर्वाङ्गवैषम्यधुस्वेदशोषवैषम्यलक्षण ॥

दैन्यसम्भ्रमसमोहनासादिस्तत्सहोदर ॥८०॥

रीदशब्दप्रथमप्राज्ञोदसत्त्ववशात् च भवस्थायिभावप्रभवो भयानको रस, तत्र
सर्वाङ्गवैषम्यधुस्वेदशोषवैषम्यलक्षणं । दैन्यादयस्तु व्यभिचारिण ।
भयानको यथा—

‘शस्त्रभेदसमुत्पन्नं युक्तीभूय शन शन ।

यथातथागतैर्नैव यदि शननोपि मय्यन्ता ॥३५२॥

यथा च रत्नावस्था प्रागुदाहृतम्—‘नष्ट वषवर इत्यादि ।

दिल्ली—(१) ना० शा० (६७४ से आगे गद्य तथा ७५७६, ७२७
११७), ना० प्र० (४२६ वृत्ति) मा० प्र० (प० ४ ३५, ६६) ना० द० (३ १७४),
प्रता० (प० १६८), सा० द० ३ २४२-२४५) रसमज्ञाहरण (१, प० १६५) ।
(२) सा० द० के अनुभार लोकातिज्ञात इतका आत्मन विभाव है उस वस्तु
के अद्भुत गुण या काय उद्दीपनविभाव है । (३) अतिक्रम—लोकसीमातिज्ञात,
अलौकिक । साधुवाद—‘साधु इति वदनम ‘बहुत अच्छा इस प्रकार कहना वाह-
वाही करना, शान्तासी देना सराहना । (४) ‘नोद्वन्द्वं इत्यादि उदाहरण में राम द्वारा
धनुष तोड़ा जाना आत्मन विभाव है, उसको टट्टार ध्वनि उद्दीपन विभाव है,
उसको सराहना कर, अनुभाव है हृद्य, आर्जन आदि ‘व्यभिचारी भाव है ।

भयानक रस

विकृत (डराने) शब्द अथवा सत्त्व (पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि)
आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला भय नामक स्थायी भाव ही (परिपुष्ट
होकर) भयानक रस होता है । सारे शरीर का कापना पसीना छूटना, मुह
सूख जाना, रस फीका पट जाना (वैषम्य) आदि इसके चिह्न (गम्य, अनुभाव)
होते हैं । दीनता, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव
हैं ॥८०॥

भयानके शब्द को सुनने या भयानक सत्त्व को देखने से उत्पन्न होने वाले भय
स्थावो भाव से (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है । इसमें अङ्गों में कम्पन
इत्यादि अनुभाव होते हैं तथा दैन्य इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं ।

भयानक (शब्द) अतः (?)—इस शब्द को छोड़कर हुबड़े से होकर (गुरुकर)
जित किसी प्रकार से भी, यदि जा सकते हो तो चले जाओ ।

धीर (भयानक सत्त्व के वशन से होने वाला भय) अतः रत्नावस्थो (२३) में
नष्ट वषवर इत्यादि (धानर को देखकर अन्न-पुर के भय का ध्येय है) जितश्च
उदाहरण पहले (२५६ उदा० १८५) दिया जा चुका है ।

यथा—

स्वगेहार्थान् तत उपचित काननमपी
गिरि तस्मात्साद्रुमगहनमस्मादधि गुहाम् ।
तदवद्भ्यायद्गुग्गु रमिनिविशमानो न गणय—
त्यराति वृक्षीये तव विजययाभाचकितघ्नी ॥३४३॥

अथ करणः—

(८७) इष्टनाशादनिष्ठाप्तौ श्लोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निश्वासीच्छ वासवदितस्तम्भप्रलपितादय ॥८८॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमा ।
विषादजडतो मादधि ताद्या व्यभिचारिण ॥८९॥

अथवा जैसे (कोई बचि किसी राजा को स्तुति करते हुए कहता है)—आपकी विजय—यात्रा से बकित बुद्धि धारता शत्रु अपने घर से भागकर भाग में गया, यहाँ से यने वन में झोर फिर पवत पर, यहाँ से धने वृक्षो से यहन स्थान में गया झोर यहाँ से भी गुफा में घसा गया । इसक परचात् भी अपन बङ्गो में ही प्रविष्ट होता हुआ वह (शत्रु) यह नहीं सोच पाता कि नहीं छिप् ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६६८ से आगे गद्य तथा ६६-७२ ७ २२ २५ ११५), का० प्र० (४ २६ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५, ३६ ६७) ना० द० (३ १७३) प्र० (पृ० १६७) सा० द० (३ ३५-२२८) रसगङ्गाधर (१ पृ० १७०) । (२) सा० द० के अनुसार जिस व्यक्ति से भय उत्पन्न होता है वह भयानक रस का आलम्बन विभाव है, उसकी भयावनी चेट्यां उदीपन विभाव हैं । (३) 'स्वगेहात्० इत्यादि म विजेता राजा ही आलम्बन विभाव है, उसके पराक्रम आदि उदीपन विभाव है, भयभीत शत्रु का घोर-उधर भागना, छिपना आदि अनुभाव हैं, दय सम्भ्रम, सम्भोद आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे पुष्ट होकर भय नामक स्थायी भाव भयानक रस होता है । (४) सत्त्वदर्शनम् सत्त्वानां विशाधानां दयानम (अभि० भा०), अथवा सत्त्व = प्राणी भयोत्पादक प्राणी, या सत्त्व = पराक्रम बल (भि० ना० द०) ।
करण रस

करण रस का स्थायी भाव शोक है जो इष्ट वे नाश तथा अनिष्ट को प्राप्ति से उत्पन्न होता है । इसमें परचात् निश्वास, उच्छ्वास, हदन, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि (अनुभाव) होते हैं । निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जडता, उमाद तथा चिन्ता इत्यादि इसमें व्यभिचारी भाव हैं ॥८९-९२॥

• आने देवि पाटातरम् ।

अथ ब्रह्मचर्यं
सर्वतोऽप्यपारिणामान् शत्रुपतन
शक्तयो वशा इत्यादिभा—

अभि १०
एव पुर्याद्वि विदो
एषां शिबिसार । ब्रह्मिगतात्
(८८) १०५२ १५५
१११८

अथ ब्रह्मचर्यं क नाम स
क सत्त्व होने वाले
शत्रु रूप (= उत्पके सारत) आदि
विषा भया है । निद्रा समाचार
इत्यादि में होने वाले
शत्रु भीति से १० यह करुण
है केवल पुरुष हैं
इसमें प्रति का प्रभाव है ।

अनिष्ट को प्राप्ति से
के कारण होने वाला कार्यरत
टिप्पणी—(१) ना०
११ ५ १११) ना० १०
अभि० ना० द० (३ १७०),
प्र० (१ पृ० १७३) । (२)
विषाद शत्रु भाव आदि
अलम्बन विभाव है
तथा का० द० (३ २२१)
आलम्बन विभाव है,
बहुभय है तथा ईश्वर,
नायक स्वामी काय बहुभय
अप भाव आदि का
सिद्ध (गति)
(करण) इत्यादि रसा को
भाव हो जाता है ।

इष्टस्य बभ्रुयमृतेविनासादनित्यस्य तु बभ्रुनादे प्राप्यात् शोकप्रकपञ्च कश्चन,
तमभक्तिं तदनुभाषति यथासादिकथनम् स्थितिभारिणश्च स्वभावस्मरणादयः । इष्ट-
नाशात्करोमी यथा कुभारसमये—

‘अयि जीविताय जीवसोऽपिभयायोऽवितया तथा पुर ।

दृष्टम् पुत्र्यकृतिं क्षितौ हृदकीयानलभसम् केवलम् ॥३४५॥

इत्यादि रतिप्रकाश । अनित्यावधे सागरिकाया बभ्रुनायथा रत्नाभ्यामाय ।

(८८) प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।

हृषीत्साहादियु स्पष्टमन्तर्भावान् क्रीतित्वा ॥८९॥

पुत्रम् ।

१ ॥३४५॥

हृदयोऽनु तम् ।

परात्म ॥८९॥

प्रमा ।

॥८९॥

करे हृद कृदा है—आरपी
काकर माय में बला, बला
से धारण स्थान में क्या और
ने बहोती वही शक्ति हीन

तथा ६८७ ७ २२ २२

६७) मां ४० (१०१)

पुत्रावर (१९० १००)।

है वह भगवत्पुत्र रथ का

है ॥३॥ स्वोहान्

के परात्म भावि उदीन

आदि अनुभाव है, दम

होकर मय नामक स्थानी

विनाशनाश बहसम् (अभि०

सत्त्व = परात्म, दम वि०

प्रिय बभ्रु आदि के नाश से तथा अनित्य काय बभ्रुय (बन्धी होना) आदि
से उत्पन्न होने वाले शोक से परिपोष से कृष्ण रस उत्पन्न होता है । (कारिका में)
तम् अनु (=उसके पाश्चात्) आदि के द्वारा उसके अनुभाव नि स्वास आदि का कथन
किया गया है । निद्रा अथवापर आदि उसके स्थितिवारी भाव हैं ।

इष्टनाश से होने वाला कृष्ण, अतो कुभारसमय (४३) में—हे प्राणनाथ
तुम जीवित हो ? यह कहकर उठती हुई उस रति को अपने सामने धूम पर पड़ी
हुई केवल मुद्रय की आकृति वाली शाय वी बोधायिन की महत्त दिखलाई पड़ी ।
इत्यादि रति का प्रकाश है ।

अनित्य की भाँति से होने वाला कृष्ण अतो रत्नावली नादिका में बभ्रुय
के कारण होने वाला सागरिका वा (शोक) है ।

टिप्पणी—(१) मा० मा० (६९१) के आगे गद्य तथा ६२, ६३ अ० ७
११ १४ १११) का प्र० (४२६ कृति) मा० प्र० (७० ४ ४०, ४६ ६६ ६७
आदि) गा० ८० (३ १७०) प्रता० (७० ११५) सा० ८० (३ २२२ २२६), रसगङ्गा
घर (१ पू० १४३) । (२) सा० ८० के अनुसार कृष्ण रस का आत्मजन विभाव बहु
विनित्य बभ्रु पाश्चात् आदि है जिसके प्रति शोक किया जाता है, उसकी दाह आदि
भक्त्या उदीन विभाव है । (३) वरुण तथा विमलम भात भेद ३० ऊपर (४ ६५)
तथा सा० ८० (३ २२६) । (४) अयि जीविताय, इत्यादि म नित्य हुआ कामेश
आत्मजन विभाव है, उनकी महत्त आदि उदीन विभाव है, रति का प्रकाश आदि
अनुभाव है तथा द य, स्थिति आदि स्थितिवारी भाव हैं । इत्येते पुष्ट होकर शोक
नामक स्थानी भाव सहस्र्य साधारिकी को कथा रस के रूप में आस्थावनीय होता है ।
अंय भाव आदि या उक्त भावों में ही अन्तर्भाव

सोहू (मीति) भक्ति आदि भावों का, गिनार खेलना (कृमया) पृत्त
(अदा) इत्यादि रसा का हृषी तथा उत्साह आदि में ही स्पष्ट रूप में अन्त-
र्भाव हो जाता है । इसलिये उनका पृष्टम् निष्पन्न नहीं किया

के साथ तथा अनित्य
शवास, उच्छवास, रदन,
ग, अथवापर, द य, आदि,
तथा विनाश इत्यादि इतके

स्पष्टम् ।

(८६) पटत्रिशद भूपणादीनि सामावी-येकविंशति ।

अतस्मस ध्यं तराध्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥८५॥

'विभूषण चासत्सहस्रम शोभाभिमानो गुणकीर्तिन च' इत्येवमादीनि पटत्रिशद (विभूषणादीनि) कायलनपानि 'साम भेद प्रदान च इत्येवमादीनि सध्यतराध्वे कविशक्तिरूपमादिष्वलङ्कारेषु द्वयोस्ताहादिषु चातर्भावान पद्युक्तानि ।

यह (कारिका) स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) द्रष्ट काव्यालङ्कार (१५ १७ १९), सर० क० (५ २२२), रसतरङ्गिणी (६) सा० द० (३ २५१) । (२) कुछ आचार्यों ने स्नेह तथा भक्ति आदि को पद्यक भाव के रूप में माना था अतः द्रष्ट ने प्रेरयान् नामक रस माना है जिसका स्वामी भाव स्नेह है । स्नेह का अर्थ है समान प्रकृति धाले जनों का परस्पर निश्छल मधुर भाव जसा दो मित्रों में हुआ करता है (काव्या० १५ १७ १९) । इसी प्रकार 'किन्हीं ने (?) सुगया और द्यूत को भी पद्यक रस बतलाया था । उनको लय्य करके ही घनरुच्य ने यह कहा है । (३) रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति रस का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा विष्वनाथ कविराज (सा० द० ३ २५१) ने वास्तव्य रस को भरतमुनि सम्मत बतलाया है ।

(इसी प्रकार) ३६ भूषण इत्यादि जो (नाट्य, काव्य के) लक्षण कहलाते हैं तथा २१ साम इत्यादि जो सध्यतर कहलाते हैं उनका भी (उपमा आदि) अलङ्कारों तथा उन (ह्य, उत्साह आदि) भावा में ही अतर्भाव हो जाता है ॥८५॥

विभूषण, अस्तरसहस्र शोभा, अभिमान तथा गुणकीर्तन इत्यादि, ३६ काव्य लक्षण बड़े गये हैं तथा साम, भेद और दान इत्यादि २१ सध्यतर नाम से बड़े गये हैं । उनका उपमा आदि अलङ्कारों में तथा ह्य, उत्साह आदि भावों में ही अतर्भाव हो जाता है । इसलिये ये वहाँ युक्त नहीं बतलाये गये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १६) में तथा सा० द० (६ १७१ १९५) में भी विभूषण, अस्तरसहस्र इत्यादि काव्यलक्षण या नाट्यलक्षण बतलाये गये हैं । इन्हें भूषण भी कहा जाता है । भरत मुनि का कथन है कि इनकी प्रत्येक रस के अनुसार काव्य म योजना करनी चाहिये । अभिनवगुप्त ने गुण तथा अलङ्कारों से भेद दिष्टतासे हुए इन लक्षणों में स्वल्प और महत्त्व का भी निरूपण किया है । ये लक्षण महाभूषणों के पद्य आदि विज्ञा के समान काव्य के सौन्दर्य-बन्धक होते हैं । उदाहरणार्थ विचित्र अर्थ बाने तेषु सुते शोभा द्वारा बस्तु-व्यंगना ही अस्तरसयात कहलाना है अतः अभिमानशान्दल में 'राजा बन्धिव्य' सखी को नातिबाधते शरीर सताप ? प्रियवन्-सास्रत लघोपपद्युपशम गमित्यसि । प्रियवन् के इत उत्तर में एक विशेष सावध आ गया है जो शृङ्गार रस के निष्ठात अनुरूप ही है ।

● 'सामप्यन्तराध्यानि इति पाठांतरम् ।

(४) एष ३॥ १७३ ॥ ५
 भा प्रभादि १८
 पद्यवर्णु १३
 तनयि धन
 (६) विगो मुनमि
 आदिपुत्र ३
 सि
 रसिवा ९

(१) मध्यतर—पदों को मध्य बर्ण
 कला को बोधा कहते हैं ।
 क० शा० (अ० १६) में विभूषण ।
 शृंगु प्रमाण का उदाहरण
 रसपान या पुण्डित, उप
 कपीर का विह्वल ऐसी शोडि प्रा
 अस्तर लोक म नहीं है आ बदि
 मन्त्रा (समाधाय) को
 विगो—(१) क० ६
 केन कविता काव्यमात्र (अप) ।
 भावक के द्वारा कालिन् पद्य पद्य
 क का अलङ्कार
 राजा मुञ्ज की समा
 सन्तान न विदना क ह्येय
 (राजप शय) की रचना की
 टिप्पणी—रस कथन के
 पना है । शिखर क ह
 पना का राजा मुञ्ज की समा
 निरस में ही उदाहरण मिलता
 इत प्रकार

शोच

(६०) रम्य जुगुप्सितमुचारमथापि नीच—

भुग्न प्रसादि गहन विवृत च वस्तु ।

यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाष्यमान

तानास्ति यान रसभावमुपति लोके ॥८५॥

(६१) विष्णो सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरामनिव घटेतु ।

आविष्कृत मुञ्जमहोशगोष्ठीवदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥८६॥

इति श्रीविष्णुसूक्तोपनिषत्स्य कृती दशरूपवचोके

रसविचारो नाम चतुष्य प्रकाश समाप्त ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

(२) सध्यतर—रूपको भी मुख आदि सद्यो के समान ही सध्यतर भी काव्य शरीर की घोषा बढ़ाते हैं (सध्यतरापि सद्योना विशेषारस्त्वकविशति) । इनका नाम श्रा० श्रा० (ब० १६) में निरूपण किया गया है ।

चतुष्य प्रकाश का उपसंहार

रमणीय या धुंगित, उत्तम या अधम, उग्र या आह्लादक, बीर गम्भीर या विवृत ऐसी कोई भी (मूलवच्य में वर्णित) वस्तु या (कविकल्पित) अवस्तु लोक में नहीं है जो कवि तथा भावक के द्वारा भावित होकर रसरूपता (रसभाववत्) को प्राप्त नहीं होती ॥८५॥

टिप्पणी—(१) वस ततितल घटत है । (२) कविभावकभाष्यमानम्—भाव केन कविना भाष्यमानम् (ग्रन्थ) । वस्तुतः कविभावकभाष्या भाष्यमानम् (कवि तथा भावक के द्वारा भावित) यह अर्थ उचित प्रतीत होता है ।

ग्रन्थ का उपसंहार

राजा मुञ्ज की सभा में विदग्धता को प्राप्त करने वाले विष्णु के पुत्र धनञ्जय ने विद्वानों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने के लिये इस दशरूपक (नामक ग्रन्थ) की रचना की है ॥८६॥

टिप्पणी—इस कथन से धनञ्जय के जीवनवृत्त पर कुछ घुघुत्ता सा प्रकाश पड़ता है । विशेषकर यह प्रतीत होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु या धनञ्जय राजा मुञ्ज की सभा में प्रतिष्ठित विद्वान् था । इससे धनञ्जय के फाल नियम में भी सहयोग मिलती है जिसका सुमिका में विशद विवेचन किया गया है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ (दशरूपक) समाप्त होता है ।

— ० —

उत्तरपदेदशरूपमयराष्ट्रमण्डलतगत—रसूलुत्वाद्देश्यामनिर्वाहिता

श्रीषट्त्रयानुम्बरदारमहोद्यानाम् आत्म्येन

विधिधुमननधरणाधिपतविवेन

श्रीनिवासाशानिना कृता हिंदीव्याख्या समाप्ता ॥

यिकविधि ।

द्वारेण तु पुं ॥८५॥

रीतिन चं इत्येवनादीनि पर्यन्तम्
च इत्येवनादीनि पर्यन्तम्
रान् वपुस्तानि ।

० १६), धर० ब० (१ २२)

मुञ्ज भावार्थों ने स्नेह तथा भाँति

ने प्रयाग नामक रस माना है

यान् यदपि बाले वनो का वल्लर

१ है (काव्य० ११ १७ १६) ।

यक रस बतलाया था । उनको

तेवामो ने 'आकिसागुर्विकिडु

विवन्नाम कविराज (श्रा० २०

या है ।

नादय, काव्य के) तस्य

कहनात है उनका भी

आदि) भाव में ही अत

मुष्कलिन द्वापि ३६ काव्य

१ सम्प्रतः नाम से कहे गये

ह आदि भाषों में ही अतन्त

या श्रा० २० (१ १७ १६)

या मन्वन्तस्य वतवाप यव है ।

है कि इनकी प्रत्येक रस के

लेने मुञ्ज तथा अलक्ष्मी के भेद

की निरूपण किया है । ये

काव्य के लोच्य-भेदक होते हैं ।

वस्तु बनाया ही अस्वरावात

वै सखी की गतिव्याजे धरौ

ति । निरुपय के इस उत्तर में

निवात लनक ही है ।

१

अन्यथात्मा धातुवर्णात्
रुचि ११ ११६ २०६ २१४

१) १४६, १४९ (कर्म), १४४
१४०) ११६ ११४ ११०

१६ १२४ (कर्म) १११
१२०, २२२, २२२ २०६ २१६

१ १० २०६ २०४ २१६

११६, ११४, ११०, ११०,
२०६, २१६, २१६, २२२
३१०

१४२, १६४, १६६, १००, १०६
१६६, २१०, २१६, ३३० (वर्णात्)
१६, ३००, ३०३, ३०६

३४६ (मन्त्रि) ३०४
वोरव), २४८ (द्वे) २४८,
१४६ (सप्त) २०६ (सप्त)
न विहित ।

- पद्मगुप्त (नवसाहस्राब्दचरितम्)—१७४
- पाण्डवान दम् (अनुपलव्यम्)—२१६
- पुण्ड्रयितकम् (अनुपलव्यम्)—२३८
- प्रियदर्शिका (प्रियदर्शना)—१८६
- शुद्धकथा—१०७, ३०२
- भट्टबाण—१६८
- भरतमुनि, (भरत, मुनि)—४, १२६ २३६, २४०, २४८
- मत्स्य हरि—२४६
- मत्स्य हरिचरितम्—११२ २६ (प्राप्ता ०), २७३, ३०७ (मातृमय ०)
- भवभूति—१२१
- भोजप्रवच (?)—२७६
- महाभारतम्—२२८
- महावीरचरितम् (वीरचरितम्)—४४, ६६, १००, ३१०, १११, ११२, १२०,
१२१, १२६, १३०, १३२, १६१ १६२, १६३, २२६, २७२, २७३, २७६,
२८०, २८१, २८४, ३०४, ३०८ ३१०, ३११, ३१६ (दोषण)
- माघ (शिशुपालवधम्)—१४०, १४३ (निज ०), १४४ (मव ०), १४७ (न व ०),
१५७ (तद ०) २७१, २७३, २७८, २८४ २८८ ३७४ (मव ०) ३७६
- मायुराज—२२६
- मालतीमाधवम्—३३, ११४, १२७, १६०, १७१, १७३, १८६, १६४, २८२,
३०२, ३०७ (अत्रे), ३६१, ३७६, ३८८
- मालविकाग्निमित्रम्—१०१, ११३, १२३ (उचित ०) १४८, १८८ २२४ ३६२,
३६३
- मुञ्ज (?)—३७४
- मुद्राराक्षसम्—१०७ १६२, २२३
- मुञ्जकटिका—७२, ११४ १४० २३८
- मेघदूतम्—३७६
- रघु (रघुवधमहाकाव्यम्)—१११, २६४, ३००
- रत्नावली—१४, १४ १८, १६ २१-२३ २७-३१, ३४-३६, ३६-४८ ५०-
६०, ६२, ६४, ६४ ६८ ७० ७१, ७३, ७८, ८०, ८२-६१, ११४,
१५७, १६६, २०८ २११ २१३, २२०, २७१, २७३ २६४,
३०४, ३१४ ३१७
- रामायणम् (यशोवमहत्तमम्, अनुपलव्यम्)—७३
- रामायणम्—१२, १०७, १२०, १६२ १६४, २२८
- (?) रुद्र ३७३

परिशिष्टम् २
उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

३, ३६

१, ४२ ४४, १५, १८, ६०, ६८
१, ८०-९०, ९३, ९४ ११३, ११६

१ (कहूत्या) १३१ (कर्मो),
०) २८२ (पनाक ०)
१) १११ (सत्या) ११८ (दास),
६६०) १८० (सालो) २२१
०) ३०६ (पदा) ३०७ (द्वेष)

पद्य	श्लोकसंख्या	पद्य	श्लोकसंख्या
अहंप्रथमति काम जीव्यात्	६०	आलापान् विलास	११२
अच्छिन नयनाम्बु	२७४	आशस्त्रप्रह्लादादकुण्डपरशो	१६६
अणुद्वयाद्गुह्येति	२८१	आमिलष्टमृमि रसितारमुच्चै	२५४
अनातरे किमपि यातिप्रथम-	१६०	आसादितयवटनिमल	१८८, १९४
अथ किं न विद्युजेयमहम्	४७	आहृतस्याभिपेकाय	७६, ९७
अद्वयं मुखदुःखयो	८८	इवीवरैषु नयनम्	३१८
अनाघातं पुनः किसलय	१५१	इय गेहे लम्बीरियममुत	२०४
अत्रपीतबुद्धरुपात्	३३५	इय सा लोलाशो निमुचन	२८४
अत्र स्वर्गपि समताप्रचरण	६३	उचित प्रणयो वर विहन्तु	८५
अत्र कल्पितमङ्गल	२८५	उच्छ्वस मञ्जुलप्रात	१०७
अथासु तावदुपमद	२७६	उज्ज्वलमाननमुल्लसत्कुच	२१३
अथोपास्पालभिनद्विप-	१३	उरह्लतोद्वय इतिम्	३३५
अभियागि करोत्येव	४६	उत्तल्योक्तम धर्मानपि	२३२
अभिव्यक्तालोक	१७६, ३२३	उत्तालताहकोत्पादवसने	६१
अभ्युदयते शान्तिनि	१६२	उत्तित् द्वृति धामो धामो	१२५
अम्बु नतस्तनपुरो नयने	११६	उत्पत्तिजमदग्नि	६७
अयमुदयति चन्द्र	२१२	उत्सक्तं वा भस्तिनवसने	३२७
अयि जीवितनाय जीवति	३४४	उद्दामोत्कण्ठिकाम्	२
अचिन्मति विदाय	२०५	उन्मीलद्दन्ते दुर्दोषि	१५२
अपित्ये प्रकटीकृतैःपि	२१६	उपोजरागेण	७०
अतससुनितमुग्धा यच्छ	२२३	उरसि निहितस्तारो हार	१३७
अथोक्तिभस्तितापस-	२६७	एकसाधनसंस्थिति	१२४
असस्य क्षयपरिपद्	३०४	एकस्याननिमीलना मुकु-	२८६
अमृतं सद्यः कुमुदायशोः	२६५	एकेनाडना प्रविशतदर्या	२८७
अस्तमितवियसङ्गा	२३४	एकवक्तो वलद् पिशा	२८२
अस्तापास्तसमस्तभासि	५	एता पशवः पुरः स्वपीतिह	६२
अस्मिन्नेव सताष्टौ	३०६	एत वधममीदारा	१०२
अस्या सगविधो	२११	एववदिनि देवयो	२७३
आपच्छामच्छ सञ्जम्	२६०	एवमालिनिद्विहीतसाम्बसम्	२७७
आतासतामपनयाभि	२६	एहो हि सत्स रघुनन्दन	२६७
आत्मानमाशोषय च	२७७	ओत्सुक्वेन कृतस्वरा	१६०
आदित्यप्रसवाःप्रियस्म	१३६	क समुचितभिपेकादाम	२७२
आनन्दाय च विद्यमयाय	१८१	कच्छे कृत्वावशेषम्	१८५
आपस्ता कलहं पुरेव	१२४	कपोते जातक्या	६६
आयाते दक्षिते	२३०	कण्डु मासनवघात्	३२
		कणापितो रोद्रकण्ठायस्त्रे	१६१

परिशिष्टम् २
उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

३, १०६

११, ४२, ४४, ४५, १८, १९, १११
-१, ८१-९०, ९३, ९४, २११, २१६

६ (आहूतान्) १३१ (स्वर्गते),
०), २८२ (मनाह ०)
०), १३६ (मनाह ०) १३६, (मनाह ०),
०), १८० (मनाह ०) २१२
०) ३०६ (पठर) ३०८ (होत)

पद्यम्	श्लोकक्रमाङ्कः	पद्यम्	श्लोकक्रमाङ्कः
अकृपणमति काम जी-यात्	६०	आलापाद् प्र विलास	११२
अच्छिन्न नयनान्धु	२७४	आशस्त्रमद्गुणवकुण्डपरमो-	१६
अण्णद्गुणाद्गुमहेभिष	२८१	आशिश्टमूमि रवितारमुच्च	२४४
अत्रा तरे किमपि मानिभव	१६०	आसादितप्रन टनिमल	१८८, १९४
अथव कि म विभुजेमहम्	४७	आहृतस्याभिपेकाय	७९, ९७
अद्वय सुखदु खयो	८८	इ-दोवरेण नयनम्	३१८
अनाघ्रात पुष्प किसलय	१५१	इय गेहे नदमीरियममुत	२०४
अनपोतद्वल्पाव	३३४	इय सा सोलासी त्रिभुवन	२८४
अथ स्वरपि सयतामचरण	९३	उचित प्रणयो वर विह्वलु	८४
अथ कल्पितमङ्गल	२८५	उच्छवस मण्डलप्रात	१०७
अथामु तावदुपमद	२७९	उज्ज्वभाननमुल्लसत्कुच	२३३
अथो मस्फालभि नद्विप-	१३	उत्कृत्योहृत्प कृत्तित्	३३४
अथियाणि करोत्येव	४६	उत्कृत्योहृत्प कर्मनिपि	२३२
अभिव्यक्तालीक	१७६, ३२३	उत्सासताडकोरपाददगने	९१
अभ्युदगते भासित	१६२	उत्तिष्ठ कृति यामो यामो	१३५
अभ्यु नतस्वतमपुरो नयन	११९	उत्पत्तिजमदनिन	६७
अवमुदपति च द्र	२१२	उत्सङ्ग य मनिनवसने	३२७
अपि जीवितनाय जीवति	३४४	उदाभोत्कलिकाम्	२
अपिचिन्ति विद्वय	२०५	उ-मीलद्रवने दुदीपित	१५२
अपितरे प्रकटीकृतेऽपि	२३६	उपोद्धारणेण	७० ३२९
अलससुनिमित्तमुग्धा पथ	२२३	उरति निहितस्तारो हार	१३७
अथोक्तिनिमित्तितपाप-	२९७	एकत्रासनसत्पिति	१२४
अथथय धानपरिग्रह	३०४	एकव्यानिमीलना-मुकु-	२८६
असूत सव कुसुमा यथोक्त	२९४	एकैनाथना प्रविततरथा	२६७
अस्तमितवपिसङ्गा	२२४	एककतो स्वङ्ग विना	२८२
अस्ताप्रातरसमस्तभासि	५	एता पथय पुर स्वस्तीमिह	९२
अस्मि नव लताहृते	३०६	एत मयममीधारा	१०२
अस्या सगविधो	२११	एवभाविति देवयो	२७३
आमच्छामच्छ धञ्जम्	२६०	एवमभिनियुद्धोत्सायव्यसम्	२२७
आता प्रतामपनयामि	२९	एष हि वत्स रघुन दन	२६७
आत्मानमानोभव च	२७७	ओत्सुक्तेन इतत्करा	१९०
आहृष्टिप्रसरतिप्रयस्य	१३६	क समुचितानिपेकाद्राम	२७२
आनन्दाय च विस्मयवय	१८१	कण्ठो इत्यावशेषम्	१८४
आमस्ता क्लह पुरेव	१२५	कपोते जानवम्	९६
आयाते दयिते	२३०	कण्ठ आसनवयाद्	३२
		कर्गापितो रोमकपायस्थे	१६१

यातोऽसि पद्मनये	१	शस्त्रप्रयोगदुःखीकलहे	१८०
यास्या मुहुर्नसितकधर	६, ३०२	शस्त्रमेतत्समुत्पन्नम्	३४२
मुष्मच्छासनलक्षपनाम्भसि	२४१	शस्त्रेषु निष्ठा सहजवध	१४०
ये सत्वारो दिनकर—	७१	गिरामुष्मत्स्यन्दत एव	७८, १०१
येनाहृत्य मुखानि	३३	शीतामुष्मत्स्यन्दत	२४
ये बाह्वो न युधि	२१८	शोक इतीव नयनसवित	४८
योगान्दयसा शेष	६२	शोरेया पागिरस्या	२१
रसो नाह न भूतो	५४	श्रीहर्षो निपुण कवि	१६१
रण्डा चण्डा दिविधदा	१६८	श्रुतासरोगेतिरपि	१४४
रति श्रीटायुते कयमपि	१६४	श्रुत्वायात बहि कातम्	१६३
रात्रो विपद्	२१६	श्लाघ्याशेषतनु सुदशानकर	२८८
राज्य निर्जितवान्—	७४, २२६	सकलरिपुत्रयासा	४१, ३०२
रात्र रात्र नयनाभिराम	६४	सखि स विजितो वीणा	१३२
रात्रो मुद्गिन निधाय	१८६	सच्च ज्ञानद ददतु सरि	१४२
सहमीपयोधरोत्तङ्ग—	३३३	सच्छिन्नब घट्टतुयमश्रुयम्	२७०
अधुनि वृणकुटीरे	२४६	सततमनिवृत्तमानसम्	२०६
सज्जापञ्जतपसाह्वान्	१०५	सद्यच्छिन्नगिर	२२६
साक्षाद्गृहानलविषास—१६३	३३८	सत सत्कारितोदयम्यसनिन	२१०
सागालम् सलदपट्टम्	८७	सध्र भङ्ग करकिलयया	१७०
साला वनशासव वेत्ति	३३६	समाख्या प्रीति	२६
सावप्यकात्तपरिपूरित—	२६१	सप्राप्तोऽवधिवासरे	२४६
सावयममयविलास—	१००	सरसिजमनुविद्धम्	१४३
सावण्यामृतवपिणि	३३०	सव्याज तिलकालकान्	१६६
लीनेव प्रतिनिम्बतेव	२४५	सयाज धापये प्रियेण	३७
लुलितनयनतारा	२२०	सहभूर्यपथ सवाध्वम्	१४
संसस्याधवारिधे	२६६	सहसा विदधीत न क्रियाम्	२४७
सयनिह परिशुत्वा	२४५	सालोए चिञ्ज मुरे	१७४
याताहल वसनमाकुलमुत्तरीयम् यु०	२६२	मुधाबद्धप्रसैर्यवनचकोर	३०६
विनिकपणरक्तकोरध्वदा	२८०	सुभ्रूल वननीतकल्पहृद्यया	३१२
विनिषेत् शक्य	२४६, ३२६	स्वनतदमिदमुत्तङ्गम्	१२०
विषम विषम बहू	२६६	स्तनावालोच्य तावङ्गथा	३०५
विगोघो विघात प्रसरति	३८	स्तिमितविकसितानाम्	३०३
विह्वलतो धनसुतापि	२८६	स्नाता तिष्ठति कुतलश्वरसुता	८६
विशुभ सुन्दरि	१७७	स्पृष्टस्त्वयप दमिते	३३१
विस्तारो स्वनभार एप—	१०६	स्पृष्टञ्जलहृदमिमित—	६६, ६४
वृद्धास्ते न विषाण्ण्यीय—	३५	स्मरदवधुनिमित्तमुद्धम्	१६७
वृद्धोऽय प्रतिरेप भञ्जक—	२३१	स्मरनवनदीपूरेगोडा	११३
वेदहेत्वदवदनी	२१४	स्मरसि सुवनु सस्मिन्	२६२
व्यक्तियञ्जनघातुना	२६४	स्मितज्योस्नाभिस्ते	३१७
बाहूता प्रतिषधो न	१०६, ३०८	स्वपेहृत्स्वयान सत—	३४३
शतोऽप्यस्या बाञ्चीमणि	८६	स्वमुखनिरमिलाप	८२

संस्कृत-
शब्द-
कोश-
संस्कृत-
शब्द-
कोश-
संस्कृत-
शब्द-
कोश-

संस्कृत-
शब्द-
कोश-

पृ. 227271 विज्ञापक प्रेमोदयिका 39-40 एच स्ट्रट कोट पत्ता 40804 बृहस्पति वैदिक प्रेमोदयिका एच सर्विस सेक्टर रोड पिन 40804, एच स्ट्रट, पत्ता 20230 जोधपुर वैदिक प्रेमोदयिका काशीय इलिया बॉयसने टैड पिन 35950 पानी सुरेंद्र एरिडोर पिन 24730 झालावाला श्यामी इलेक्ट्रिकल पिन 40702 पिन 7287 पवनपट्ट जयमी इलेक्ट्रिकल नुम्बोड पिन 33-32 पवनपट्ट इलेक्ट्रिकल 22 सी ब्लॉक पिन 32569

नभयोःतु रवीकण्ठे
 मनस्यसमुत्पन्ने
 स्रग् नित्या हृदयवत्
 पपुच्छ स्तन उ हृद
 गामुत्सुतने
 क स्त्रीवन्धनगतित्त
 रेखा पाणिस्थया
 हृषो निरुप कवि
 शम्भरोतीतिरी
 न्यायात बहि कायम्
 शम्भरावतन सुभनकर
 श्वीरुभयमा
 न स विविदी शीपा
 न् बान्द डट्ट तारि
 उन्नय च तपुभू यम्
 उमनिवृ उमानसम्
 पिठनितर
 हृषीतीवपम्यतनि
 शङ्क करालवका
 म्ना मीति
 तेजविवाहरे
 उभयपुत्रिभ्यम्
 न्द विलकावकम्
 न्द शयन शिपि
 न्द यम सवाचयम्
 ग विदवीव न विद्याम्
 ग्ने चिब हुरे
 वदशालसन्मयकोर
 त्व नवनीतकृष्णहृदया
 त्रिदशियमुत्तुङ्ग
 शर्वातोत्प श्वरङ्गपा
 नितिकविवाद्याम्
 ता तिच्छेन्न कुमलवस्तुता
 प्दस्त्वय वहिते
 न्दशयवसतिनि-
 र्दशुनिवित्तु दुग्म्
 न्दकनगिर्नुरोद्योग
 नसि सुमुत्त तसिम्
 न्दशयस्वाभिले
 न्दशयस्वाभिले वृत्त-
 न्दशयस्वाभिले

१०
 ११
 १४
 ४५, १०१
 १६
 ४८
 २१
 १०१
 १४४
 १११
 ११
 २१, २०२
 ११२
 १२२
 २००
 २०६
 २२६
 २१०
 १००
 २६
 २४६
 १६३
 १६६
 ३०
 १४
 २४०
 १०४
 २०६
 १२२
 १२०
 ३०६
 १०६
 ८६
 २११
 १६ १४
 १६०
 १११
 २६२
 १०
 १४३
 ८१

स्वैदाम्भ कणिकाञ्चिते
 हस प्रयच्छ मे काताम्
 हस्तु किञ्चित्परिसुप्तर्षय
 हर्म्याणा हेमशृङ्गाभियमिव
 हसिब्रमविभारमुद
 हस्तर तमिहितवचनै-

१४६
 ३४
 १०४
 २६३

हुरम्बदन्तु
 होत्तपहिव
 ह्यिया सय



१०१
 १०२
 १०३
 १०४
 १०५
 १०६
 १०७
 १०८
 १०९
 ११०
 १११
 ११२
 ११३
 ११४
 ११५
 ११६
 ११७
 ११८
 ११९
 १२०

